श्रीअरविन्द
का
बंगला साहित्य

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

श्रीअरविन्द
का
बंगला साहित्य

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९७३
द्वितीय संशोधित और परिवर्धित संस्करण : १९९९

अनुवादक : हृदय

मूल्य : रु० १00.00

ISBN 81-7058-555-4

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९९९
प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी - ६0५00२
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी - ६0५00२

पुस्तक के बारे में

प्रस्तुत पुस्तक श्रीअरविन्द की 'बंगला रचना' के हिंदी अनुवाद का संशोधित और परिवर्धित द्वितीय संस्करण श्रीअरविन्द की १२५वीं वर्षगांठ के अवसर पर प्रकाशित हो रही है।

श्रीअरविन्द ने बंगला सीखनी शुरू कर दी थी विलायत में रहते हुए ही, यद्यपि उनके पिता की सख्त हिदायत थी कि श्रीअरविन्द को किसी भी तरह से भारतीयों के संपर्क में न आने दिया जाये। पर कॉलिज की बात कुछ और ही थी। वहां उन्हें भारतीयों के साथ मिलने-मिलाने का काफी मौका मिला। इसके अतिरिक्त आई० सी० एस० के पाठ्यक्रम में बंगला और हिन्दुस्तानी भाषाएं भी थीं। इस बारे में 'बंगला रचना' के संपादक श्री नलिनीकांत गुप्त जी ने हमें एक मजेदार घटना सुनायी थी। उन्होंने कहा, श्रीअरविन्द के बंगला के शिक्षक थे एक सेवानिवृत्त आई० सी० एस० अंग्रेज अफसर। मास्टर साहब की विद्या की दौड़ जानने के लिये एक दिन एक शरारती छात्र ने बंकिमचन्द्र के ग्रंथ से कुछ नकल कर मास्टर साहब के हाथ में थमाते हुए कहा—यह बंगला लेख बहुत ही कठिन लग रहा है, कुछ पल्ले नहीं पड़ रहा सर, इसे समझाने का कष्ट करें। साहब ने कुछ देर तक बड़े गौर से देखा, उलट-पलट कर परखा। फिर आई० सी० एस० के अंदाज में बोले—This is not Bengali (यह तो बंगला ही नहीं है)।

श्रीअरविन्द ने स्वयं ही विधिवत् बंगला सीखनी आरंभ की बड़ौदा आते ही : पढ़ना, लिखना, बोलना सभी कुछ। इसका आश्चर्यजनक परिणाम हुआ बंकिमचन्द्र के ग्रंथों पर विलक्षण निबन्धावली। २२ वर्ष की उम्र में अंग्रेजी में लिखी गयी यह लघु पुस्तक अनूठी है, अनुपम है। फिर चण्डीदास, विद्यापति, होरू ठाकुर आदि कवियों का अंग्रेजी भाषा में रूपांतरण। "वसुमति" संस्करण की संपूर्ण ग्रन्थावली उनके निजी पुस्तकालय में थी। बड़े अध्यवसाय और मनोयोग से उन ग्रंथों का अध्ययन किया था श्रीअरविन्द ने। अध्ययन करते समय हाशिये पर टिप्पणियां भी लिखते जाते थे, जैसे, मधुसूदन दत्त की कृतियों पर। बंकिमचन्द्र के उपन्यासों और मधुसूदन के काव्यों का मूल्यांकन भी कर सकते थे इतनी छोटी उम्र में।

साहित्य की सभी विधाओं पर चली थी श्रीअरविन्द की कलम : काव्य, कहानी, विविध विषयों पर निबन्ध, नाटक, समालोचना, पत्र और पत्रिका के संपादकीय। सब पर एक समान अधिकार। श्रीअरविन्द के अग्रज मनमोहन स्वयं अंग्रेजी के विश्रुत कवि थे। गहरा परिचय था उनका रवीन्द्रनाथ से। उन्होंने एक बार रवीन्द्रनाथ को श्रीअरविन्द की कुछ अंग्रेजी कविताएं भेजी थीं उनका मन्तव्य जानने के लिये। उन्होंने

रवीन्द्रनाथ को लिखा : अरविन्द अपने काव्य के बारे में आपकी राय जानने को बहुत उत्सुक है। मैंने उससे कहा है कि आजकल आप बहुत ही व्यस्त हैं। समय मिलते ही आप अपना मंतव्य लिख भेजेंगे। लेकिन खेद है कि आजकल वह बंगला कविता करने में अपना समय बरबाद कर रहा है। उसमें प्रतिभा है। अंग्रेजी कविता लिखने में वह खूब ही दक्ष है। पर लिख रहा है बंगला में "उषाहरण" काव्य मधुसूदन की शैली में।

उनके बंगला में लिखने का प्रथम निदर्शन हमें मिलता है अपनी पत्नी के नाम लिखे पत्रों से और अंतिम निदर्शन पांडिचेरी में कुछ साधिकाओं को लिखी पत्रावली से। पांडिचेरी आने के पहले अधिकतर रचनाएं लिखी गयी थीं बंगला साप्ताहिक पत्रिका 'धर्म' के लिये। 'धर्म' के अंतिम कुछ अंकों को छोड़कर सारे लेख स्वयं श्रीअरविन्द के हुआ करते थे। इसके कुछ संपादकीयों को सामयिक मानकर छोड़ दिया गया है। "कारा-कहानी", "स्वप्न" और कुछ लेख छपे थे अन्यत्र। पांडिचेरी में लिखा था ऋग्वेद और उपनिषदों पर, उनका किया था कुछ अनुवाद, लिखी थीं कुछ टीकाएं और कुछ स्वतंत्र लेख। उन्हींमें से एक लेख "प्रवर्तक" पत्रिका में पहली बार छपा था १९१८ में। बाद में यही लेख 'जगन्नाथ का रथ' शीर्षक से कई बार छपा है। लेकिन बंगला में भाषण देने के बारे में स्वयं एक बार उन्होंने लिखा था कि इस भाषा पर उनका अधिकार अंग्रेजी जितना नहीं था अतः उन्होंने अपनी मातृभाषा में भाषण देने का कभी साहस नहीं किया।

श्रीअरविन्द की बंगला-रचना की शैली जहां एक ओर संस्कृत-बहुल है वहीं हम उसमें पाते हैं सहज, सरल, बोलचाल की भाषा। व्यंग्य-विनोद भी कुछ कम नहीं उनमें, विशेषकर 'कारा-कहानी' और 'धर्म' के संपादकीय में। विषय-वस्तु के स्वभाव के अनुसार है यह विविधता। ऐसा प्रयास रहा है कि पाठकगण श्रीअरविन्द की रचना-शैली और वाक्य-विन्यास के मूल का रसास्वादन कर सकें। अतः वाक्य कहीं-कहीं कठिन, बोझिल, दुरूह हो गये हैं। शायद सौ साल पहले बंगीय रचनाओं की ऐसी ही शैली का प्रचलन रहा हो। कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों की छौंक भी है, विशेषकर बारीन को लिखे पत्र में।

इस संस्करण में कुछ नये लेख जोड़े गये हैं, जो हाल ही में प्राप्त हुए हैं, विशेषकर वेद और उपनिषद्-विषयक। रचना, सूक्तों के अनुवाद व भाष्य, कुछ लेख और चिट्ठियां। कुछ फुटकर अंश भी मिले हैं। काव्य को छोड़कर छोटा-बड़ा, जो भी मिल सका है सभी का इस संस्करण में समावेश किया गया है। रचना के काल-क्रम को ध्यान में रखकर इसे संजोया गया है। विषयानुसार कुछ लेखों को स्थानान्तरित किया गया है। एक आपसी सामंजस्य बनाये रखने की चेष्टा की गयी है। 'गीता की भूमिका' और 'कारा-कहानी' पुस्तकाकार में छपी थीं पर असंपूर्ण हैं। उनके अन्य सारे लेख निबन्धों के रूप में हैं।

उल्लेखनीय है कि नव-प्राप्त पांडुलिपि में अधिकांश लेख जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पाये गये हैं। कई जगहों पर पेंसिल से लिखे गये हैं जो मिट से गये हैं। शब्द अस्पष्ट हो गये हैं, पढ़े ही नहीं जाते। काफी कुछ नोट के रूप में लिखे गये हैं। ऐसे स्थलों का संकेत टिप्पणी में दे दिया गया है।

'पत्र' परिच्छेद में श्रीअरविन्द के नव-प्राप्त पत्रों को भी संकलित किया गया है। पत्नी को लिखे अंत के दो पत्र उन्होंने मृणालिनी को पांडिचेरी से लिखे थे जो कभी भेजे नहीं गये। "पांडिचेरी का पत्र" के नाम से जो विख्यात पत्र है उसे श्रीअरविन्द ने अपने छोटे विप्लवी भाई बारीन को लिखा था। कभी उसे बहुत ही काट-छांट कर प्रकाशित किया गया था पर इस संस्करण में उसे पूरा-का-पूरा प्रकाशित किया जा रहा है। इस पत्र द्वारा उनके निजी जीवन व उनकी तत्कालीन साधना पर काफी प्रकाश पड़ता है। श्रीअरविन्दाश्रम की साधिकाओं द्वारा लिखे गये साधना-विषयक पत्रों के ऊपर या हाशिये में उनके उत्तर लिखे होते थे। उन्हें प्रश्न और उत्तर के रूप में सजाया गया है।

श्रीअरविन्द की १२५वीं वर्ष-गांठ के अवसर पर अंग्रेजी में "Complete Works of Sri Aurobindo" नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित हो रही है। यह उस ग्रन्थमाला के ३५ खण्डों में से नौवां खण्ड है जिसका शीर्षक है "Writings in Bengali and Sanskrit" और बंगला में मुद्रित हो रही पुस्तक "बांगला रचना" का यह हिंदी अनुवाद है।

—प्रकाशक

विषय-क्रम

प्रार्थना १
दुर्गा-स्तोत्र ३

कारा-कहानी

कारा-कहानी ७
कारागृह व स्वाधीनता ४६
आर्य आदर्श और गुणत्रय ५३
नवजन्म ६१

धर्म और राष्ट्रीयता

धर्म :

हमारा धर्म ६७
माया ७०
अहंकार ७४
निवृत्ति ७६
प्राकाम्य ७८
स्तव-स्तोत्र ८१

राष्ट्रीयता :

हमारा राजनीतिक आदर्श ८४
मिथ्यात्व की पूजा ८९
हमारी वर्तमान राजनीतिक अवस्था ९१
राष्ट्रीय उत्थान ९३
अतीत की समस्या ९७
स्वाधीनता का अर्थ १०३
हिरोवूमि इतो १०५
कोरिया और जापान १०७
देश और राष्ट्रीयता १११
हमारी आशा ११३

हमारी निराशा ११६
प्राच्य और पाश्चात्य ११८
भ्रातृत्व १२२
भारतीय चित्रविद्या १२५

'धर्म' पत्रिका के संपादकीय

'धर्म' पत्रिका के संपादकीय १३१

कुछ फुटकर लेख

पुरातन व नूतन २१७
पूर्णता २१८
पूर्णयोग के मुख्य लक्षण २१९
मानव समाज के तीन क्रम २२१
समाज २२४
जगन्नाथ का रथ २२५

गीता

गीता का धर्म २३१
संन्यास और त्याग २३४
विश्वरूपदर्शन २३७
गीता की भूमिका २४०

उपनिषद् और वेद

उपनिषद् २९५
पुराण २९७
ईशा उपनिषद् २९९
उपनिषदों में पूर्णयोग ३०२
ईश उपनिषद् ३०४
वेद-रहस्य ३०९
ऋग्वेद ३१४

पत्र

मृणालिनी को ३४५
बारीन को ३५७
प्रवर्तक को ३६८

साधना-विषयक पत्र

(क) 'न' को ३८१
(ख) 'स' को ४७३
(ग) 'ए' को ५०८

कहानी

स्वप्न ५१५
क्षमा का आदर्श ५२२

कुछ बिखरे अंश

कुछ बिखरे अंश ५२७

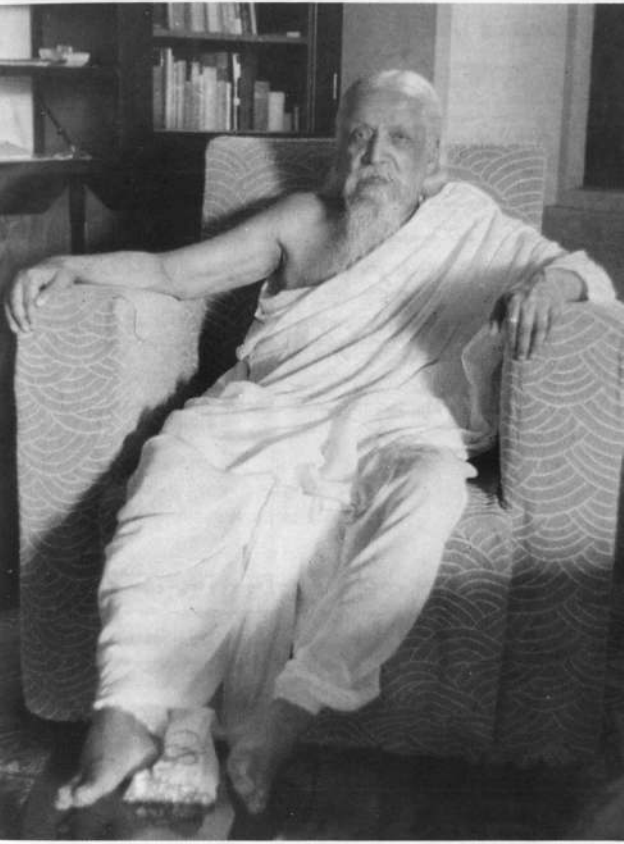

श्रीअरविन्द

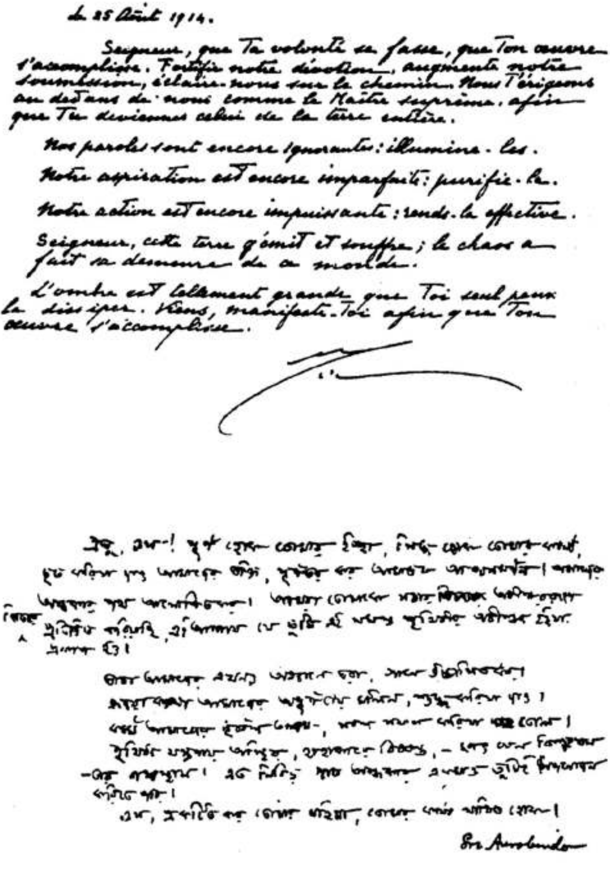

le 25 Août 1914.

Seigneur, que Ta volonté se fasse, que Ton oeuvre s'accomplisse. Fortifie notre dévotion, augmente notre soumission, éclaire-nous sur le chemin. Nous T'érigeons au dedans de nous comme le Maître suprême, afin que Tu deviennes celui de la terre entière.

Nos paroles sont encore ignorantes: illumine-les.

Notre aspiration est encore imparfaite: purifie-la.

Notre action est encore impuissante: rends-la effective.

Seigneur, cette terre gémit et souffre; le chaos a fait sa demeure de ce monde.

L'ombre est tellement grande que Toi seul peux la dissiper. Viens, manifeste-Toi afin que Ton oeuvre s'accomplisse.

Sri Aurobindo

শ্রীমায়ের একটি প্রার্থনার শ্রীঅরবিন্দকৃত বঙ্গানুবাদের হস্তাক্ষর-প্রতিলিপি। (পৃঃ ৩ দ্রষ্টব্য)

श्रीमां की एक प्रार्थना

हे प्रभु, आओ ! पूरी हो तुम्हारी इच्छा, सिद्ध हो तुम्हारा कार्य, दृढ़ कर दो हमारी भक्ति, पूर्णतर कर दो हमारा आत्मसमर्पण। आलोकित करो हमारा अंधकारमय पथ। हमने तुम्हें अपने भीतर सत्ता के अधीश्वर के रूप में इस आशा से प्रतिष्ठित किया है कि तुम इस सारी धरती के अधीश्वर के रूप में प्रकट होओ।

भाषा हमारी अभी भी अज्ञानभरी है, उसे ज्ञान से उद्‌भासित कर दो।

हृदयाकांक्षा हमारी है अपूर्णता से मलिन, उसे शुद्ध कर दो।

कर्म हमारे दुर्बल अक्षम, उन्हें सबल सफल कर दो।

पृथ्वी यंत्रणा से पीड़ित है, हाहाकार से विध्वस्त,—सारा जगत् मानों विश्रृंखलता का आवास। इतने निविड़ गाढ़ अंधकार को केवल तुम ही दूर कर सकते हो।

आओ, प्रकट करो अपनी महिमा, साधित हो तुम्हारा कार्य।

—श्रीअरविन्द

(श्रीमां द्वारा लिखित पुस्तक "प्रार्थना और ध्यान" में से २५ अगस्त, १९१४ की प्रार्थना का श्रीअरविन्दकृत बंगाली अनुवाद का हिन्दी रूपांतर)

दुर्गा-स्तोत्र

मातः दुर्गे ! सिंहवाहिनि सर्वशक्तिदायिनि मातः शिवप्रिये ! तुम्हारे शक्त्यंश से उत्पन्न हम भारत के युवकगण तुम्हारे मंदिर में आसीन हैं, प्रार्थना करते हैं,—सुनो मातः, भारत में आविर्भूत होओ, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! युग-युग में मानव शरीर में अवतीर्ण हो जन्म-जन्मांतर में तुम्हारा ही कार्य कर तुम्हारे आनन्दधाम को लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म ले तुम्हारे ही कार्यव्रती हैं हम, सुनो मातः, भारत में आविर्भूत होओ, हमारी सहायता करो।

मातः दुर्गे ! सिंहवाहिनि, त्रिशूलधारिणि, वर्म-आवृत-सुन्दर-शरीरे, मातः जयदायिनि ! भारत तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, तुम्हारी वही मंगलमयी मूर्ति देखने के लिये उत्सुक है। सुनो मातः, भारत में आविर्भूत होओ, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! बलदायिनि, प्रेमदायिनि, ज्ञानदायिनि, शक्तिस्वरूपिणि भीमे, सौम्य-रौद्र-रूपिणि ! जीवन-संग्राम में, भारत-संग्राम में तुम्हारे ही प्रेरित योद्धा हैं हम, दो मातः, प्राण में, मन में असुर की शक्ति, असुर का उद्यम दो और हृदय और बुद्धि में दो देवता का चरित्र, देवता का ज्ञान।

मातः दुर्गे ! जगत्-श्रेष्ठ भारतजाति निविड़ तिमिर से आच्छन्न थी। तुम मातः, गगनप्रांत में धीरे-धीरे उदय हो रही हो, तुम्हारे स्वर्गीय शरीर की तिमिर-विनाशी आभा से उषा का प्रकाश हुआ है। आलोक-विस्तार करो, मातः, तिमिर का विनाश करो।

मातः दुर्गे ! श्यामला, सर्वसौन्दर्य-अलंकृता, ज्ञान-प्रेम-शक्ति का आधार भारतभूमि तुम्हारी विभूति है, इतने दिनों तक शक्ति-संवरण के लिये उसने आत्मगोपन किया था। आगामी युग में, आगामी दिनों में समस्त विश्व का भार कंधों पर ले भारतमाता उठ रही है, आओ मातः, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! तुम्हारी सन्तान हम, तुम्हारे प्रसाद से, तुम्हारे प्रभाव से महत् कार्य के, महत् भाव के उपयुक्त हों। विनष्ट करो क्षुद्रता, विनष्ट करो स्वार्थ, विनष्ट करो भय।

मातः दुर्गे ! कालीरूपिणी नृमुंडमालिनि दिगंबरि, कृपाणपाणि देवि असुरविनाशिनि ! क्रूरनिनाद से अंतःस्थ रिपुओं का विनाश करो। एक भी हमारे भीतर जीवित न रह जाये, हम विमल, निर्मल हो जायें, बस, यही प्रार्थना है मातः, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! स्वार्थ से, भय से, क्षुद्राशयता से म्रियमाण हो रहा है भारत। हमें महत् बनाओ, महत्प्रयासी बनाओ, उदारचेता बनाओ, सत्संकल्पी बनाओ। अब और अल्पाशी, निश्चेष्ट, अलस, भयभीत न बने रहें हम।

मातः दुर्गे ! योगशक्ति का विस्तार करो। तुम्हारी प्रिय आर्य-सन्तान हैं हम, लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, भक्ति-श्रद्धा, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य-ज्ञान का हममें विकास कर जगत् में वितरण करो। मानवसहायि दुर्गतिनाशिनि जगदम्बे, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! अन्तःस्थ रिपुओं का संहार कर बाहर के बाधा-विघ्नों को निर्मूल करो। बलशाली, पराक्रमी, उन्नतचेता जाति भारत के पवित्र काननों में, उर्वर खेतों में, गगनसहचर पर्वतों के नीचे, पूतसलिला नदियों के किनारे, एकता में, प्रेम में, सत्य में, शक्ति में, शिल्प में, साहित्य में, विक्रम में, ज्ञान में श्रेष्ठ बन निवास करे, मातृचरणों में यही प्रार्थना है, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! हमारे शरीर में, योगबल से प्रवेश करो। यंत्र तुम्हारे, अशुभविनाशी खड्ग तुम्हारे, अज्ञानविनाशी प्रदीप तुम्हारे बनेंगे हम, भारतीय युवकों की यह अभिलाषा पूर्ण करो। यंत्री होकर यंत्र चलाओ, अशुभहंत्री होकर खड्ग घुमाओ, ज्ञान-दीप्तिप्रकाशिनी होकर प्रदीप हाथ में लो मातः, प्रकट होओ।

मातः दुर्गे ! तुम्हें पाने पर फिर विसर्जन नहीं करेंगे, श्रद्धा-भक्ति-प्रेम की डोरी से बांधे रखेंगे। आओ मातः, हमारे मन में, प्राण में, शरीर में प्रकट होओ।

वीरमार्गप्रदर्शिनि, आओ ! अब विसर्जन नहीं करेंगे। हमारा अखिल जीवन अनविच्छिन्न दुर्गापूजा हो, हमारे समस्त कर्म अविरत पवित्र प्रेममय शक्तिमय मातृसेवाव्रत हों, यही प्रार्थना है, मातः, भारत में आविर्भूत होओ, प्रकट होओ।

कारा-कहानी

कारा-कहानी

मैं पहली मई सन् १९०८ ई०, शुक्रवार के दिन 'वंदेमातरम्' के दफ्तर में बैठा था, तभी श्रीयुत श्यामसुन्दर चक्रवर्ती ने मुजफ्फरपुर से आया एक टेलीग्राम मेरे हाथ में थमाया। पढ़कर मालूम हुआ कि मुजफ्फरपुर में बम फटा है, जिससे दो मेमों की मृत्यु हो गयी है। उसी दिन के 'एम्पायर' अंग्रेजी अखबार में यह भी पढ़ा कि पुलिस कमिश्नर ने कहा है—हम जानते हैं, इस हत्याकाण्ड में किन-किन का हाथ है और वे शीघ्र ही गिरफ्तार कर लिये जायेंगे। तब यह नहीं जानता था कि मैं ही था इस संदेह का मुख्य निशाना, पुलिस के विचार में प्रधान हत्यारा, राष्ट्र-विप्लव-प्रयासी युवकदल का मंत्रदाता और युद्ध-नेता। नहीं जानता था कि आज का दिन ही होगा मेरे जीवन के एक अंक का अंतिम पृष्ठ। मेरे सम्मुख था एक वर्ष का कारावास, इस समय से ही मनुष्य-जीवन के साथ जितने बंधन हैं, सब छिन्न-भिन्न होंगे, एक वर्ष के लिये मानव समाज से अलग पशुओं की तरह पिंजरे में बंद रहना पड़ेगा। फिर जब कर्मक्षेत्र में वापस आऊंगा तब वह पुराना परिचित अरविन्द घोष नहीं होगा वरन्, एक नया मनुष्य, नया चरित्र, नयी बुद्धि, नया प्राण, नया मन ले और नये कार्य का भार उठा अलीपुरस्थ आश्रम से बाहर होगा। कहा है एक वर्ष का कारावास पर कहना उचित था एक वर्ष का वनवास, एक वर्ष का आश्रमवास। बहुत दिनों से हृदयस्थ नारायण के साक्षात् दर्शन करने की प्रबल चेष्टा में लगा था; उत्कट आशा संजोये हुए था कि जगद्धाता पुरुषोत्तम को बन्धुभाव में, प्रभुभाव में प्राप्त करूं। किंतु संसार की सहस्रों वासनाओं के बंधन, नाना कर्मों में आसक्ति और अज्ञान के प्रगाढ़ अंधकार के कारण कर न पाया। अंत में परम दयालु सर्व मंगलमय श्री हरि ने इन सब शत्रुओं को एक ही वार में समाप्त कर उसके लिये सुविधा कर दी, योगाश्रम दिखलाया और स्वयं गुरु रूप में, सखा रूप में उस क्षुद्र साधन कुटीर में अवस्थान किया। वह आश्रम था अंग्रेजों का कारागार। मैं अपने जीवन में बराबर ही यह आश्चर्यमय असंगति देखता आया हूं कि मेरे हितैषी बंधुगण मेरा जितना भी उपकार क्यों न करें, अनिष्टकारी—शत्रु किसे कहूं, मेरा अब कोई शत्रु नहीं—शत्रुओं ने ही अधिक उपकार किया है। उन्होंने अनिष्ट करना चाहा पर इष्ट ही हुआ। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की कोप-दृष्टि का एकमात्र फल—भगवान्—मुझे मिले। कारावास के आंतरिक जीवन का इतिहास लिखना इस लेख का उद्देश्य नहीं, कुछ एक घटनाओं को वर्णित करने की ही इच्छा है, किन्तु कारावास के मुख्य भाव का उल्लेख लेख के आरंभ में ही करना उचित समझा, नहीं तो पाठक समझ बैठेंगे कि कष्ट ही है कारावास का सार। कष्ट नहीं था ऐसी बात नहीं। किंतु अधिकांश समय आनंद से ही बीता।

शुक्रवार की रात को मैं निश्चिंतता से सो रहा था। सवेरे करीब पांच बजे मेरी बहिन संत्रस्त-सी मेरे कमरे में आयी और मेरा नाम ले मुझे पुकारने लगी। मैं जाग पड़ा।

क्षण-भर में मेरा छोटा-सा कमरा सशस्त्र पुलिस से भर गया; उनमें थे सुपरिण्टेण्डेण्ट क्रेगन, २४ परगना के क्लार्क साहब, हमारे सुपरिचित श्रीमान् विनोदकुमार गुप्त की आनंदमयी और लावण्यमयी मूर्ति और कई एक इंस्पेक्टर, लाल पगड़ियां, जासूस और खानातलाशी के साक्षी। हाथों में पिस्तौल लिये वे वीर-दर्प से ऐसे दौड़े आये मानों तोपों और बन्दूकों से सुरक्षित किला दखल करने आये हों। आंखों से तो नहीं देखा पर सुना कि एक श्वेतांग वीर पुरुष ने मेरी बहिन की छाती पर पिस्तौल तानी थी। मैं बिछौने पर बैठा हुआ हूं, अर्द्धनिद्रित अवस्था, क्रेगन साहब ने पूछा, "अरविन्द घोष कौन हैं ? क्या आप ही हैं ?" मैंने कहा, "हां, मैं ही हूं अरविन्द घोष।" तुरत उन्होंने एक सिपाही को मुझे गिरफ्तार करने को कहा। उसके बाद क्रेगन साहब की किसी एक अश्लील बात पर लहमे-भर के लिये आपस में कहा-सुनी हो गयी। मैंने खानातलाशी का वारंट मांगा, पढ़कर उसपर सही की। वारंट में बम की बात देखकर समझ गया कि इस पुलिस सेना का आविर्भाव मुजफ्फरपुर में हुए खून से संबंधित है। परंतु यह समझ में नहीं आया कि बम या कोई स्फोटक पदार्थ मेरे मकान में पाये जाने के पहले ही और बिना 'बॉडी-वारंट' के मुझे क्यों गिरफ्तार किया गया। तो भी इस बारे में व्यर्थ कोई आपत्ति नहीं खड़ी की। इसके बाद ही क्रेगन साहब के हुकुम से मेरे हाथों में हथकड़ी और कमर में रस्सी बांध दी गयी। एक हिन्दुस्तानी सिपाही वह रस्सी पकड़े मेरे पीछे खड़ा रहा। ठीक उसी समय श्रीयुत अविनाशचंद्र भट्टाचार्य और श्रीयुत शैलेंद्र वसु को पुलिस ऊपर ले आयी, उनके भी हाथों में हथकड़ी और कमर में रस्सी थी। करीब आधे घंटे बाद, न जाने किसके कहने से उन्होंने हथकड़ी और रस्सी खोल दीं। क्रेगन की बातों से ऐसा लगता था मानों वह किसी खूंखार मांद में घुस आये हों, मानों हम थे अशिक्षित, हिंस्र और स्वभाव से कानून-भंगी, हमारे साथ भद्र व्यवहार या भद्रोचित बात करना है निष्प्रयोजन। परंतु झगड़े के बाद साहब जरा नरम पड़ गये थे। विनोद बाबू ने मेरे बारे में उन्हें कुछ समझाने की चेष्टा की। तब क्रेगन ने मुझसे पूछा, "आपने शायद बी० ए० पास किया है ? ऐसे मकान में, ऐसे सज्जाविहीन कमरे में जमीन पर सोये थे, इस तरह रहना आप जैसे शिक्षित व्यक्ति के लिये क्या लज्जाजनक नहीं ?" मैंने कहा, "मैं दरिद्र हूं, दरिद्र की तरह ही रहता हूं।" साहब ने तुरत गरजकर कहा, "तो क्या आपने धनी बनने के लिये ही यह सब षड्यंत्र रचा है ?" देश-हितैषिता, स्वार्थत्याग या दारिद्र्य-व्रत का माहात्म्य इस स्थूल बुद्धि अंग्रेज को समझाना भैंस के आगे बीन बजाना था अतः मैंने वैसी चेष्टा नहीं की।

इस बीच खानातलाशी चलती रही। यह सवेरे साढ़े पांच बजे आरंभ हुई और प्रायः साढ़े ग्यारह बजे समाप्त हुई। बक्स के बाहर, भीतर जितनी कापियां, चिट्ठियां, कागज, कागज के टुकड़े, कविताएं, नाटक, पद्य, गद्य, निबंध, अनुवाद—जो कुछ भी मिला कुछ भी इन सर्वग्रासी खानातलाशियों के कवल से नहीं बच पाया। खानातलाशी के गवाहों में रक्षित महाशय क्षुण्णमना-से थे। बाद में बड़े दुःख के साथ उन्होंने मुझे बताया कि

पुलिस अचानक बिना कुछ कहे-सुने उन्हें यहां घसीट लायी है, उन्हें रत्तीभर भी इसकी भनक नहीं थी कि ऐसे घृणित कार्य में उन्हें सहयोग देना होगा। रक्षित बाबू ने बड़े ही करुण भाव से इस हरण-काण्ड की कथा सुनायी। दूसरे साक्षी समरनाथ का भाव कुछ और ही था। उन्होंने बड़ी स्फूर्ति से एक सच्चे राजभक्त की तरह यह खानातलाशी का कार्य सुसंपन्न किया मानों to the manner born—इसी के लिये जनमे हों। खानातलाशी के समय और कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। पर याद आती है गत्ते के एक छोटे डिब्बे में दक्षिणेश्वर की जो मिट्टी रखी थी क्लार्क साहब उसे बड़े संदिग्ध चित्त से बहुत देर तक परखते रहे मानों उनके मन में शंका थी कि हो न हो यह कोई नया, भयंकर, तेजविशिष्ट स्फोटक पदार्थ है। एक तरह से क्लार्क साहब का संदेह निराधार भी नहीं कहा जा सकता। अंत में यह मान लिया गया कि यह मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं, और इसे रासायनिक विश्लेषणकारियों के पास भेजना अनावश्यक है। खानातलाशी के समय बक्स खोलने के सिवा मैंने और कुछ नहीं किया। मुझे कोई भी कागज या चिट्ठी दिखलायी या पढ़कर सुनायी नहीं गयी, केवल अलकधारी की एक चिट्ठी क्रेगन साहब ने अपने मनोरंजन के लिये उच्च स्वर में पढ़ी। बंधुवर विनोदगुप्त अपने स्वाभाविक ललित पदविन्यास से घर को कंपाते हुए चक्कर काट रहे थे, शेल्फ में से या और कहीं से कागज या चिट्ठी निकालते, बीच-बीच में "बहुत जरूरी, बहुत जरूरी" कह उसे क्रेगन साहब को थमाते जाते। मैं जान नहीं पाया कि ये आवश्यक कागज क्या थे ? इस बारे में कोई कुतूहल भी नहीं था क्योंकि मुझे पता था कि मेरे घर में विस्फोटक पदार्थ बनाने की प्रणाली या षड्यंत्र में हाथ होने का कोई भी सबूत मिलना असंभव है।

मेरे कमरे का कोना-कोना छान मारने के बाद पुलिस हमें पासवाले कमरे में ले गयी। क्रेगन ने मेरी छोटी मासी का बक्स खोला, एक-दो बार चिट्ठियों पर नजर डालकर "औरतों की चिट्ठियों की जरूरत नहीं" कह उन्हें छोड़ गये। इसके बाद एकतल्ले पर पुलिस महात्माओं का अविर्भाव हुआ। वहां क्रेगन का चाय-पानी हुआ। मैंने एक प्याला कोको और रोटी ली। ऐसे सुअवसर पर साहब अपने राजनीतिक मतों को युक्तितर्क द्वारा प्रतिपादित करने की चेष्टा करने लगे। मैं अविचलित चित्त से यह मानसिक यंत्रणा सहता रहा। तो भी जिज्ञासा होती है कि शरीर पर अत्याचार करना तो पुलिस की सनातन प्रथा रही है, मन पर भी ऐसा अमानुषिक अत्याचार करना unwritten law (अलिखित कानून) की चौहद्दी में पड़ता है क्या ? आशा है हमारे परम मान्य देशहितैशी श्रीयुत योगेन्द्रचंद्र घोष इस बारे में विधान सभा में प्रश्न उठायेंगे।

नीचे के कमरों और 'नवशक्ति कार्यालय' की खानातलाशी के बाद 'नवशक्ति' के एक लौहसंदूक को खोलने के लिये पुलिस फिर से दोतल्ले पर गयी। आध घंटे तक व्यर्थ सिर फोड़ने के बाद उसे थाने ले जाना ही निश्चित हुआ। इस बार एक पुलिस साहब ने एक द्विचक्र-यान ढूंढ निकाला, उसपर लगे रेलवे-लेबल पर 'कुष्टिया' लिखा

था। तुरत ही कुष्टिया में साहब पर गोली चलानेवाले का वाहन मान इसे एक गुरुतर प्रमाण समझ सानंद उठा ले गये।

प्रायः साढ़े ग्यारह बजे हम घर से रवाना हुए। फाटक के बाहर मेरे मौसाजी एवं श्रीयुत भूपेंद्रनाथ वसु गाड़ी में उपस्थित थे। मौसाजी ने मुझसे पूछा, "किस अपराध में गिरफ्तार हुए हो ?" मैंने कहा, "मैं कुछ नहीं जानता, इन्होंने घर में घुसते ही गिरफ्तार कर लिया, हाथों में हथकड़ी पहनायी, 'बॉडी वारण्ट' तक नहीं दिखाया।" मौसाजी के हथकड़ी पहनाये जाने का कारण पूछने पर विनोद बाबू बोले, "महाशय, मेरा दोष नहीं, अरविन्द बाबू से पूछिये, मैंने ही साहब से कहकर हथकड़ी खुलवायी है।" भूपेन बाबू के पूछने पर कि क्या अपराध हैं, गुप्त महाशय ने नरहत्या की धारा दिखायी। यह सुन भूपेन बाबू स्तंभित रह गये और कोई भी बात नहीं की। बाद में सुना, मेरे सौलिसिटर श्रीयुत हरेन्द्रनाथ दत्त ने ग्रे स्ट्रीट में खानातलाशी के समय मेरी ओर से उपस्थित रहने की इच्छा प्रकट की थी पर पुलिस ने उन्हें लौटा दिया।

हम तीनों को थाने ले जाने का भार था विनोद बाबू पर। थाने में उन्होंने हमारे साथ विशेष भद्र व्यवहार किया। वहीं नहा-धोकर, खा-पीकर लालबाजार के लिये चले। कुछ घंटे लालबाजार में बिठा रखने के बाद रायड स्ट्रीट ले गये, शाम तक उसी शुभ स्थान पर अपना समय काटा। वहीं जासूस-पुङ्गव मौलवी शम्स-उल्-आलम के साथ मेरा पहली भेंटवार्ता हुई। मौलवी साहब का तबतक न इतना प्रभाव था और न उनमें इतना उत्साह व उद्यम, बम-केस के प्रधान अन्वेषक या नॉर्टन साहब के prompter (प्रेरक) या जीवन्त स्मरण-शक्ति के रूप में तबतक नहीं चमके थे। रामसदय बाबू ही थे इस केस के प्रधान पण्डा। मौलवी साहब ने धर्म पर अतिशय सरस वक्तृता सुनायी। हिन्दू-धर्म और इस्लाम-धर्म का मूल मंत्र एक ही है, हिंदुओं के ओंकार में तीन मात्राएं हैं—अ उ म, कुराने के पहले तीन अक्षर हैं अ ल म, भाषातत्त्व के नियम से ल के बदले उ व्यवहृत होता है अतएव हिन्दू और मुसलमान का मंत्र एक ही है। तथापि अपने धर्म का पार्थक्य अक्षुण्ण रखना होता है, मुसलमान के साथ खाना खाना हिंदू के लिये निन्दनीय है। सत्यवादी होना भी है धर्म का एक प्रधान अंग। साहब लोग कहते हैं कि अरविन्द घोष हत्याकारी दल के नेता हैं, भारतवर्ष के लिये यह बड़े दुःख और लज्जा की बात है, फिर भी सत्यवादिता अपनाने से situation saved हो सकती है (स्थिति संभाली जा सकती है)। मौलवी का दृढ़ विश्वास था कि विपिन पाल और अरविन्द घोष जैसे उच्च चरित्रवान् व्यक्तियों ने चाहे जो भी किया हो, उसे मुक्तकण्ठ से स्वीकार करेंगे। श्रीयुत पूर्णचंद्र लाहिड़ी वहीं बैठे थे, उन्हें इसमें संदेह था किन्तु मौलवी साहब अपनी बात पर अड़े रहे। उनकी विद्या-बुद्धि और उत्कट धर्मभाव देख मैं बहुत रोमांचित और हर्षित हुआ। ज्यादा बोलना धृष्टता होगी यह सोच मैंने नम्र भाव से उनका अमूल्य उपदेश सुना और उसे सयत्न हृदयांकित किया। धर्म के लिये इतने मतवाले होने पर भी मौलवी साहब ने जासूसी

नहीं छोड़ी। एक बार कहने लगे, "अपने छोटे भाई को बम बनाने के लिये आपने जो बगीचा दे दिया सो बड़ी भूल की, यह बुद्धिमानी का काम नहीं हुआ।" उनकी बात का आशय समझ मैं मुस्कराया; कहा, "महाशय, बगीचा जैसा मेरा वैसा मेरे भाई का, मैंने उसे दे दिया है या दिया भी तो बम तैयार करने के लिये दिया, यह खबर आपको कहां से मिली ?" मौलवी साहब अप्रतिभ हो बोले, "नहीं, नहीं, मैं कह रहा था यदि आपने ऐसा किया हो तो।" यह महात्मा अपने जीवन-चरित का एक पन्ना खोल, मुझे दिखाते हुए बोले, "मेरे जीवन में जितनी नैतिक या आर्थिक उन्नति हुई है उसका मूल कारण है मेरे बाप का एक बहुत ही मूल्यवान् उपदेश। वे हमेशा कहा करते थे, 'परोसी थाली कभी नहीं ठुकराना'। यही महावाक्य है मेरे जीवन का मूलमंत्र, इसे सदा याद रखने के कारण ही हुई मेरी यह उन्नति।" ऐसा कहते समय मौलवी साहब ने ऐसी तीव्र दृष्टि से मेरी ओर घूरा मानों मैं ही हूं उनके सामने परोसी थाली। संध्या समय स्वनामधन्य श्रीयुत रामसदय मुखोपाध्याय का आविर्भाव हुआ। उन्होंने मेरे प्रति अत्यन्त दया और सहानुभूति दिखायी, सभी को मेरे खाने और सोने का प्रबंध करने को कहा। तुरत बाद कुछ लोग आकर मुझे और शैलेन्द्र को मूसलाधार वर्षा में लालबाजार हवालात में ले गये। रामसदय के साथ बस यही एक बार ही मेरी बातचीत हुई। समझ गया कि आदमी बुद्धिमान् और उद्यमी हैं किंतु उनकी बातचीत, भावभंगी, स्वर, चलन, सब कुछ है कृत्रिम और अस्वाभाविक, हमेशा जैसे रगमंच पर अभिनय कर रहे हों। ऐसे भी आदमी होते हैं जिनका शरीर, बात, क्रिया सब मानों अनृत के अवतार हों। कच्चे मन को भुलाने में वे पक्के हैं, किंतु जो मानव चरित्र से अभिज्ञ हैं एवं बहुत दिनों तक मनुष्यों के साथ मिलते-जुलते रहे हैं, उनकी पकड़ में वे प्रथम परिचय में ही आ जाते हैं।

लालबाजार में दूसरी मंजिल के एक बड़े कमरे में हम दोनों को एक साथ रखा गया। खाने को मिला थोड़ा-सा जलपान। कुछ देर बाद दो अंग्रेज कमरे में घुसे, बाद में पता चला कि उनमें से एक थे स्वयं पुलिस कमिश्नर हैलिडे साहब। हम दोनों को एक साथ देख हैलिडे सार्जंट पर बरस पड़े, मुझे दिखाकर बोले, "खबरदार, इस व्यक्ति के साथ न कोई रहे न कोई बोले।" तुरत ही शैलेंद्र को हटा दूसरे कमरे में बंद कर दिया गया। और सब चले गये तो हैलिडे साहब मुझसे पूछते हैं—"इस कापुरुषोचित दुष्कर्म में भाग लेते हुए आपको शर्म नहीं आती ?" "मैं इसमें लिप्त था यह मान लेने का आपको क्या अधिकार है ?" उत्तर में हैलिडे ने कहा, "मैंने मान ही नहीं लिया, मैं सब जानता हूं।" मैंने कहा, "क्या जानते हैं या क्या नहीं यह आपको ही पता होगा पर मैं इस हत्याकाण्ड के साथ अपना संपर्क पूर्णतया अस्वीकार करता हूं।" हैलिडे ने और कोई बात नहीं की।

उस रात मुझे देखने और कई दर्शक आये, सभी पुलिस के। इनके आने में एक रहस्य निहित था, उस रहस्य की आजतक थाह नहीं ले पाया। गिरफ्तारी से डेढ़ माह

पहले एक अपरिचित सज्जन मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने कहा था, "महाशय, आपसे मेरा परिचय नहीं फिर भी आपके प्रति श्रद्धा-भक्ति है, इसीलिये आपको सतर्क करने आया हूं और जानना चाहता हूं कि कोननगर में किसी से आपका परिचय है क्या ? वहां कभी गये थे या वहां कोई घर-बार है क्या ?" मैंने कहा, "घर नहीं है, कोननगर एक बार गया था, कइयों से परिचय भी है।" "और कुछ नहीं कहूंगा पर कोननगर में अब और किसी से मत मिलियेगा, आप और आपके भाई बारीन्द्र के विरुद्ध दुष्टजन षड्यंत्र रच रहे हैं, शीघ्र ही आप लोगों को विपत्ति में डालेंगे। मुझसे और कोई बात न पूछें।" मैंने कहा, "महाशय, मैं समझ नहीं पाया इस अधूरे संवाद से मेरा क्या उपकार हुआ, फिर भी आप उपकार करने आये थे उसके लिये धन्यवाद। मैं और कुछ नहीं जानना चाहता। भगवान् पर मुझे पूर्ण विश्वास है, वे ही सदा मेरी रक्षा करेंगे, उस विषय में स्वयं प्रयत्न करना या सतर्क रहना निरर्थक है।"

उसके बाद इस संबंध में और कोई खबर नहीं मिली। मेरे इस अपरिचित हितैषी ने मिथ्या कल्पना नहीं की थी, इसका प्रमाण उस रात मिला। एक इन्स्पेक्टर और कुछ पुलिस कर्मचारियों ने आकर कोननगर की सारी बात जान ली। उन्होंने पूछा, "कोननगर क्या आपका आदि स्थान है ? वहां मकान है क्या ? वहां कभी गये थे ? कब गये थे ? क्यों गये थे ? कोननगर में बारीन्द्र की कोई सम्पत्ति है क्या ?"—इस तरह के अनेक प्रश्न पूछे गये। बात क्या है यह जानने के लिये मैं इन सब प्रश्नों का उत्तर देता गया। इस चेष्टा में सफलता नहीं मिली, किंतु प्रश्नों से और पुलिस के पूछने के ढंग से लगा कि पुलिस को जो खबर मिली है वह सच है या झूठ इसकी छान-बीन चल रही है। अनुमान लगाया जैसे ताई महाराज के मुकदमे में तिलक को भण्ड, मिथ्यावादी, प्रवंचक और अत्याचारी करार कर देने की चेष्टा हुई थी एवं उस चेष्टा में बंबई सरकार ने योग दे प्रजा के धन का अपव्यय किया था,—वैसे ही मुझे भी कुछ लोग मुसीबत में डालने की चेष्टा कर रहे हैं।

रविवार का सारा दिन हवालात में कटा। मेरे कमरे के सामने सीढ़ी थी। सवेरे देखा कि कुछ अल्पवयस्क लड़के सीढ़ी से उतर रहे हैं। शक्ल से नहीं जानता था पर अंदाज लगाया कि ये भी इसी मुकदमे में पकड़े गये हैं, बाद में जान पाया कि ये थे मानिकतला बगीचे के लड़के। एक माह बाद जेल में उनसे बातचीत हुई। कुछ देर बाद मुझे भी हाथ-मुंह धोने नीचे ले जाया गया—नहाने का कोई प्रबंध नहीं था अतः नहीं नहाया। उस दिन सवेरे खाने को मिला दाल-भात, जबरदस्ती कुछ-एक कौर उदरस्थ किये, बाकी छोड़ना पड़ा। शाम को मिले मुरमुरे। तीन दिन तक यही था हमारा आहार। किंतु इतना जरूर कहूंगा कि सोमवार को सार्जेंट ने स्वयं ही मुझे चाय और टोस्ट खाने को दिये।

बाद में सुना कि मेरे वकील ने कमिश्नर से घर से खाना भेजने की अनुमति मांगी थी पर हैलिडे साहब नहीं माने। यह भी सुना कि आसामियों से वकील या अटर्नी का

मिलना निषिद्ध है। पता नहीं यह निषेध कानूनन ठीक है या नहीं। वकील का परामर्श मिलने से यद्यपि मुझे कुछ सुविधा होती फिर भी नितांत आवश्यकता नहीं थी, किंतु उससे अनेकों को मुकदमे में क्षति पहुंची। सोमवार को हमें कमिश्नर के सामने हाजिर किया गया। मेरे साथ थे अविनाश और शैलेन। सबको अलग-अलग दल में ले जाया गया। पूर्वजन्म के पुण्यफल से हम तीनों पहले गिरफ्तार हुए थे और कानून की जटिलता काफी अनुभव कर चुके थे इसलिये तीनों ने ही कमिश्नर के आगे कुछ भी बोलने से इनकार कर दिया। अगले दिन हमें थौर्णहिल मजिस्ट्रेट की कचहरी में ले जाया गया। इसी समय श्रीयुत कुमारकृष्ण दत्त, मान्युएल साहब और मेरे एक संबंधी से भेंट हुई। मान्युएल साहब ने मुझसे पूछा, "पुलिस कहती है आपके घर में अनेक संदेहजनक चिट्ठी-पत्रियां मिली हैं। ऐसी चिट्ठियां या कागजात क्या सचमुच में थे ?" मैंने कहा, "निस्संदेह कह सकता हूं, नहीं थे, होना बिलकुल असंभव है।" निश्चय ही तब "मिष्टान्न पत्र" ('sweet letter') या scribbling (घसीट लेख) की बात नहीं जानता था। अपने संबंधी से कहा, "घर में कह देना कि डरें नहीं, मेरी निर्दोषिता संपूर्णतया प्रमाणित होगी।" उस समय से मेरे मन में दृढ़ विश्वास उपजा कि ऐसा ही होगा। पहले-पहल निर्जन-कारावास में मन जरा विचलित हुआ किंतु तीन दिन प्रार्थना और ध्यान में बिताने के फलस्वरूप निश्चला शांति और अविचलित विश्वास ने प्राण को पुनः अभिभूत किया।

थौर्णहिल साहब के इलजास से हमें गाड़ी में अलीपुर ले जाया गया। उस दल में थे निरापद, दीनदयाल, हेमचंद्र दास आदि। इनमें से हेमचंद्र दास को पहचानता था, एक बार मेदिनीपुर में उनके यहां ठहरा था। तब किसे पता था कि इस तरह बंदीभाव में जेल जाते हुए उनसे मिलना होगा। अलीपुर में मजिस्ट्रेट की अदालत में हमें काफी देर ठहरना पड़ा पर मजिस्ट्रेट के सामने हाजिर नहीं किया, केवल अंदर से वे हुकुम लिखा लाये। हम फिर से गाड़ी में चढ़े, तब एक सज्जन मेरे पास आकर बोले, "सुनता हूं कि इन्होंने आपके निर्जन कारावास की व्यवस्था की है, हुकुम लिखा जा रहा है। शायद किसी से भी भेंट मुलाकात करने नहीं देंगे। इस बार यदि घर पर कुछ कहलाना चाहें तो मैं संदेश पहुंचा दूंगा।" मैंने उन्हें धन्यवाद दिया, किंतु जो कहना था वह मैं अपने आत्मीय द्वारा कहला चुका था अतः उनसे और कुछ नहीं कहा। अपने प्रति देशवासियों की सहानुभूति और अयाचित अनुग्रह के दृष्टांत के रूप में मैंने इस घटना का उल्लेख किया। इसके बाद कोर्ट से जेल में पहुंचा। हमें जेल के कर्मचारियों के हाथों में सौंप दिया गया। जेल में घुसने से पहले हमें स्नान कराया, जेल की पोशाक पहनने को दी और हमारे कुर्ते, धोती आदि धोने के लिये ले गये। चार दिन बाद स्नान करने पर हमें स्वर्गसुख की अनुभूति हुई। स्नान के बाद सबको अपनी-अपनी कोठरी में पहुंचा दिया गया। मैं भी अपने निर्जन कारागार में घुसा, छोटी-सी कोठरी के लौह-कपाट बंद हो गये। अलीपुर कारावास का आरंभ हुआ था

५ मई को। मुक्त हुआ अगले साल ६ मई को।

मेरा निर्जन कारागृह था नौ फीट लंबा और पांच-छः फीट चौड़ा, इसमें कोई खिड़की नहीं, सामने था एक बृहत् लौह-कपाट; यह पिंजरा ही बना मेरा निर्दिष्ट वासस्थान। कमरे के बाहर था एक छोटा-सा पथरीला आंगन और ईंट की ऊंची दीवार, सामने लकड़ी का दरवाजा। उस दरवाजे के ऊपरी भाग में मनुष्य की आंख की ऊंचाई पर था एक गोलाकार छेद, दरवाजा बंद होने पर संतरी उसमें आंख सटा थोड़ी-थोड़ी देर में झांकता था कि कैदी क्या कर रहा है। किंतु मेरे आंगन का दरवाजा प्रायः खुला रहता। ऐसे छः कमरे पास-पास थे, इन्हें कहा जाता था छः 'डिक्री'। डिक्री का अर्थ है विशेष दण्ड का कमरा, न्यायाधीश या जेल सुपरिण्टेण्डेण्ट के हुकुम से जिन्हें निर्जन कारावास का दण्ड मिलता था उन्हें ही इन छोटे-छोटे गह्वरों में रहना होता था। इन निर्जन कारावासों की भी श्रेणी होती है। जिन्हें विशेष सजा मिलती है उनके आंगन का दरवाजा बंद रहता है; मनुष्य संसार से पूर्णतया वंचित हो जाते हैं, उनका जगत् से एकमात्र संपर्क रह जाता है संतरी की आंखों और दो समय खाना लानेवाले कैदी से। सी० आई० डी० की नजरों में हेमेंद्र दास मुझसे भी ज्यादा आतंककारी थे, इसीलिये उनके लिये ऐसी व्यवस्था की गयी। इस सजा के ऊपर भी सजा है—हाथ-पैर में हथकड़ी और बेड़ी पहन निर्जन कारावास में रहना। यह चरम दण्ड केवल जेल की शांति भंग करनेवालों या मारपीट करनेवालों के लिये नहीं, बार-बार काम में गफलत करने से भी यह दण्ड मिलता है। निर्जन कारावास के मुकदमे के आसामी को दण्ड-स्वरूप ऐसा कष्ट देना नियमविरुद्ध है परंतु स्वदेशी या 'वंदेमातरम्'-कैदी नियम से बाहर हैं, पुलिस की इच्छा से उनके लिये भी सुबंदोबस्त होता है।

हमारा वासस्थान तो था ऐसा, साजसरंजाम में भी हमारे सहृदय कर्मचारियों ने आतिथ्य सत्कार में कोई त्रुटि नहीं की थी। एक थाली और एक कटोरा आंगन को सुशोभित करते थे। खूब अच्छी तरह मांजे जाने पर मेरा सर्वस्व थाली और कटोरा चांदी की तरह इस कदर चमकते कि प्राण जुड़ा जाते और उस निर्दोष किरणमयी उज्ज्वलता में 'स्वर्गजगत्' में विशुद्ध ब्रिटिश राजतंत्र की उपमा पा राजभक्ति के निर्मल आनंद का अनुभव करता था। दोषों में एक दोष था कि थाली भी उसे समझकर आनंद में इतनी उत्फुल्ल हो उठती थी कि अंगुली का जरा-सा जोर पड़ते ही वह घुमक्कड़ अरबी दरवेशियों की तरह चक्कर काटने लगती, ऐसे में एक हाथ से खाना और एक हाथ से थाली पकड़े रहने के सिवा कोई चारा नहीं रह जाता था। नहीं तो चक्कर काटते-काटते जेल का अतुलनीय मुट्ठी-भर अन्न लेकर वह भाग जाने का उपक्रम करती। थाली की अपेक्षा कटोरा था और भी अधिक प्रिय और उपकारी। जड़ पदार्थों में मानों यह था ब्रिटिश सिविलियन। सिविलियनों में जैसे सब कार्यों में स्वभावजात निपुणता और योग्यता होती है, जज, शासनकर्ता, पुलिस, शुल्क-विभाग के कर्ता, म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष, शिक्षक, धर्मोपदेशक, जो चाहो वही, कहने-भर से

ही, बन सकते हो, जैसे उनके लिये, एक शरीर में, एक ही साथ अनुसंधाता, अभियोगकर्ता, पुलिस मजिस्ट्रेट और कभी-कभी वादी के परामर्शदाता का भी प्रीतिसम्मिलन सहज-साध्य था, वैसा ही था मेरा प्यारा कटोरा भी। कटोरे की जात नहीं, विचार नहीं। कारागृह में उसी कटोरे से पानी ले शौच किया, उसी कटोरे से मुंह धोया, स्नान किया, कुछ देर बाद उसी में खाना पड़ा, उसी कटोरे में दाल या तरकारी डाली गयी, उसी कटोरे से पानी पिया और कुल्ला की। ऐसी सर्वकार्यक्षम मूल्यवान् वस्तु अंग्रेजों की जेल में ही मिलनी संभव है। कटोरा मेरे ये सब सांसारिक उपकार कर योग-साधना में भी सहायक बना। घृणा परित्याग कराने का ऐसा सहायक और उपदेशक कहां पाऊंगा ? निर्जन कारावास की पहली अवधि के बाद जब हमें एक साथ रखा गया तब मेरे सिविलियन के अधिकारों का पृथकीकरण हुआ,—अधिकारियों ने शौच के लिये अन्य उपकरण जुटाया। किंतु महीने-भर में घृणा पर काबू पाने का अयाचित पाठ पढ़ लिया था। शौच की सारी व्यवस्था ही मानों इस संयम की शिक्षा को ध्यान में रखकर की गयी थी। पहले कहा है, निर्जन कारावास विशेष दण्ड में गिना जाता है और उस दण्ड का मूल सिद्धांत है यथासाध्य मनुष्य-संसर्ग और मुक्त आकाश-सेवन का वर्जन। बाहर शौच की व्यवस्था करने से तो यह सिद्धांत भंग होता अतः कोठरी में ही तारकोल पुती दो टोकरियां दी जाती थीं। सवेरे-शाम मेहतर साफ कर जाता, तीव्र आंदोलन और मर्मस्पर्शी भाषण देने पर दूसरे समय भी सफाई हो जाती, किंतु असमय पाखाना जाने से घंटों-घंटों तक दुर्गन्ध भोगकर प्रायश्चित्त करना पड़ता। निर्जन कारावास की दूसरी अवधि में इसमें थोड़ा-बहुत सुधार हुआ किंतु सुधार होता है पुराने जमाने के मूलतत्त्वों को अक्षुण्ण रखते हुए शासन में सुधार। किं बहुना, इस छोटी-सी कोठरी में ऐसी व्यवस्था होने से हमेशा, विशेषकर खाने के समय और रात को, भारी असुविधा भोगनी पड़ती थी। जानता हूं, शयनागार के साथ पाखाना रखना प्रायः विलायती सभ्यता की विशेषता है किंतु एक छोटे-से कमरे में शयनागार, भोजनालय और पाखाना—इसे कहते हैं too much of a good thing (भलाई की सीमा पार कर जाना)। हम ठहरे कु-अभ्यासग्रस्त भारतवासी, सभ्यता के इतने ऊंचे सोपान पर पहुंचना हमारे लिये कष्टकर है।

गृह-सामग्री में और भी चीजें थीं : एक नहाने की बाल्टी, पानी रखने को एक टीन की नलाकार बाल्टी और दो जेल के कम्बल। स्नान की बाल्टी आंगन में रखी रहती, वहीं नहाता था। पहले हमारे भाग्य में पानी का कष्ट नहीं था पर बाद में यह भी भोगना पड़ा। पहले पास के गोहालघर के कैदी नहाते समय मेरी इच्छानुसार बाल्टी में पानी भर देते थे, इसीलिये नहाने का समय ही था जेल की तपस्या के बीच प्रतिदिन गृहस्थ की विलासवृत्ति और सुखप्रियता को तृप्त करने का अवसर। दूसरे आसामियों के भाग्य में इतना भी नहीं जुटा था; एक बाल्टी पानी से ही उन्हें शौच, बर्तन-मंजाई, स्नान सब करना होता था। विचाराधीन कैदी थे इसीलिये, इतना-सा विलास भी

मिला हुआ था, कैदियों को तो दो-चार कटोरे पानी में ही स्नान करना पड़ता था। अंग्रेज कहते हैं भगवत् प्रेम व शरीर की स्वच्छंदता प्रायः समान और दुर्लभ गुण हैं, जेलों में यह व्यवस्था इस प्रवाद की यथार्थता को सिद्ध करने के लिये है या अतिरिक्त स्नान के सुख से कैदियों की अनिच्छा-जनित तपस्या के रस भंग होने के भय से यह व्यवस्था प्रचलित की गयी है, यह निर्णय करना कठिन है।

आसामी अधिकारियों की इस दया को काक-स्नान कह खिल्ली उड़ाते थे। मनुष्यमात्र ही है असंतोषप्रिय। नहाने की व्यवस्था से पीने के पानी की व्यवस्था थी और भी निराली। गर्मी का मौसम, मेरे छोटे-से कमरे में हवा का प्रवेश था लगभग निषिद्ध। किंतु मई महीने की उग्र और प्रखर धूप बेरोक-टोक घुस आती थी। कमरा जलती भट्टी-सा हो उठता था। इस भट्टी में तपते हुए अदम्य जलतृष्णा को कम करने का उपाय था वही टीन की बाल्टी का अर्ध-उष्ण जल। बार-बार वही पीता था, प्यास तो नहीं ही बुझती थी वरन् पसीना छूटता और कुछ देर में फिर से प्यास लग आती थी। पर हां, किसी-किसी के आंगन में मिट्टी की सुराही रखी होती, वे अपने पूर्वजन्म की तपस्या का स्मरण कर अपने को धन्य मानते। घोर पुरुषार्थवादी को भी भाग्य में विश्वास करने को बाध्य होना पड़ता था, किसी के भाग्य में ठण्डा पानी बदा था तो किसी के भाग्य में प्यास, सब था भाग्य का फेर। अधिकारिगण, किंतु, पूर्ण पक्षपात-रहित हो कलसी या बाल्टी वितरण करते थे। इस यदृच्छा-लाभ से मेरे संतुष्ट होने या न होने से भी मेरा जल-कष्ट जेल के सुहृदय डाक्टर बाबू को असह्य हो उठा। वे कलसी जुटाने में लगे किंतु क्योंकि इस बंदोबस्त में उनका हाथ नहीं था इसलिये बहुत दिन तक इसमें सफल नहीं हुए, अंत में उनके ही कहने से मुख्य जमादार ने कहीं से कलसी का आविष्कार किया। उससे पहले ही तृषा के साथ अनेक दिन के घोर संग्राम से मैं पिपासा-मुक्त हो चला था। तिसपर इस तप्त कमरे में बिस्तर के नाम को थे दो जेल के बने मोटे कम्बल। तकिया नदारद, एक कम्बल को नीचे बिछा लेता और दूसरे की तह करके तकिया बना सोता। जब गर्मी असह्य हो उठती और बिस्तर पर न रहा जाता तब मिट्टी में लोट लगा, बदन ठण्डा कर आराम पाता था। माता वसुन्धरा की शीतल गोद के स्पर्श का क्या सुख है यह तभी जाना। फिर भी, जेल में उस गोद का स्पर्श बहुत कोमल नहीं होता, उससे निद्रा के आगमन में बाधा आती अतः कम्बल की शरण लेनी पड़ती। जिस दिन वर्षा होती वह दिन भारी आनंद का दिन होता। इसमें भी एक असुविधा यह थी कि झड़ी-झंझा होते ही धूल, पत्ते और तिनकों से भरे प्रभंजन के ताण्डव नृत्य के बाद मेरे पिंजरे के अंदर बाढ़-सी आ जाती। ऐसे में रात को भीगा कम्बल ले कमरे के एक कोने में दुबकने के सिवा कोई चारा न रहता। प्रकृति की इस विशिष्ट लीला के समाप्त होने पर भी जलप्लावित धरती जबतक सूख नहीं जाती थी तबतक निद्रादेवी की आशा छोड़ विचारों का दामन पकड़ना पड़ता था। एकमात्र सूखी जगह थी शौच के आसपास किंतु वहां कम्बल

बिछाने की प्रवृत्ति न होती। इन सब असुविधाओं के होते हुए भी झड़ी-झंझा के दिन भीतर खूब हवा आती और कमरे की जलती भट्टी का ताप दूर हो जाता इसलिये झड़ी-झंझा का सादर स्वागत करता।

अलीपुर के गवर्नमेण्ट होटल का जो वर्णन मैंने किया है एवं आगे और भी करूंगा वह निजी कष्ट-भोग की विज्ञप्ति के लिये नहीं वरन् सुसभ्य ब्रिटिश राज्य में विचाराधीन कैदियों के लिये कितनी अद्भुत व्यवस्था थी, निर्दोषों को दीर्घकालव्यापी कितनी यंत्रणा भोगनी पड़ सकती है, यह बतलाने के लिये ही है यह वर्णन। कष्टों के जो कारण दिखलाये हैं, वे तो थे ही किंतु भगवान् की दया दृढ़ थी इसलिये थोड़े दिनों तक ही कष्ट अनुभव किया, उसके बाद तो—किस उपाय से वह बाद में बताऊंगा—मन उस दुःख से अतीत हो कष्ट अनुभव करने में असमर्थ हो गया था। इसीलिये मन में जेल की स्मृति जगने पर क्रोध या दुःख नहीं, हंसी ही आती है। पहले-पहल जब जेल की विचित्र पोशाक पहन अपने पिंजरे में घुसकर रहने का बन्दोबस्त देखा था तब यही भाव मन में उदित हुआ था। मन-ही-मन हंस रहा था। अंग्रेज जाति का इतिहास और आधुनिक आचरण का निरीक्षण कर बहुत पहले ही मैंने उनके विचित्र और रहस्यमय चरित्र को समझ लिया था, इसीलिये अपने लिये उनकी ऐसी व्यवस्था देखकर भी जरा भी आश्चर्यान्वित या दुःखी नहीं हुआ। साधारण दृष्टि से हम लोगों के साथ उनका ऐसा व्यवहार अतिशय अनुदार व निंदनीय था। हम सब थे कुलीन घरानों के, बहुत-से थे जमींदारों के बेटे, कितने ही वंश, विद्या, गुण और चरित्र में थे इंग्लैण्ड के शीर्षस्थानीय व्यक्तियों के समकक्ष! हम जिस अपराध में पकड़े गये थे वह भी सामान्य खून, चोरी, डकैती नहीं था, था देश के लिये विदेशी सरकार के विरुद्ध युद्ध-चेष्टा या समरोद्योग का षड्यंत्र। तिसपर कइयों को दोषी ठहराने में प्रमाण का नितांत अभाव था; पुलिस का संदेह ही था उनके पकड़े जाने का एकमात्र कारण। ऐसे स्थान में सामान्य चोर-डकैतों की तरह रखना—चोर डकैत ही क्यों, पशुओं की तरह पिंजरे में रख, पशुओं का अखाद्य आहार खिलाना, जलकष्ट, क्षुत्पिपासा, धूप, वर्षा व शीत सहन कराना—इससे ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जाति की गौरव-वृद्धि नहीं होती। यह है किंतु उनका जातीय चरित्रगत दोष। अंग्रेजों में क्षत्रियोचित गुण होते हुए भी शत्रु या विरुद्धाचरणकारी के साथ व्यवहार करते समय वे हैं सोलह आने बनिये। मेरे मन में तब विरक्ति की भावना ने स्थान नहीं पाया बल्कि मुझमें और देश के साधारण अशिक्षित लोगों में कुछ भेद नहीं रखा गया यह देखकर कुछ आनंदित हुआ, और फिर इस व्यवस्था ने तो मातृभक्ति के प्रेमभाव में आहुति का काम किया। मैंने इसे योग-शिक्षा और द्वंद्व-जय का अपूर्व उपकरण और अनुकूल अवसर माना, तिसपर मैं था चरमपंथी दल का जिनके मत में प्रजातंत्र एवं धनी-दरिद्र का साम्य है राष्ट्रीय भाव का एक प्रधान अंग। याद हो आया—मत को कार्यान्वित करना अपना कर्तव्य समझ सूरत जाते समय सभी ने एक साथ तीसरे दर्जे में यात्रा की थी, कैंप में नेतागण अपना-

अपना अलग प्रबंध न कर सबके साथ एकभाव से, एक ही कमरे में सोते। धनी, दरिद्र, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, बंगाली, मराठी, पंजाबी, गुजराती—सब दिव्य भ्रातृभाव से एक साथ रहते, सोते, खाते। जमीन पर सोना, दाल-भात, दही ही खाना, सब चीजों में था स्वदेशी का बोलबाला। कलकत्ते और बंबई के विदेश से लौटे हुए लोग और मद्रास के तिलकधारी ब्राह्मण सब एक साथ मिल-जुल गये थे। इस अलीपुर जेल में रहते समय अपने देश के कैदी, अपने देश के किसान, लुहार, कुम्हार, डोम-बाग्दियों के समान आहार, समान रहन-सहन, समान कष्ट, समान मानमर्यादा पा समझा कि सर्वशरीरवासी नारायण ने इस साम्यवाद, इस एकता, इस देशव्यापी भ्रातृभाव से सहमत हो मानों मेंरे जीवन-व्रत पर अपनी मुहर लगा दी हो। जिस दिन जन्मभूमि-रूपिणी जगज्जननी के पवित्र मण्डप में सारा देश भ्रातृभाव में एक प्राण हो जगत् के सामने उन्नतमस्तक हो खड़ा होगा, सहवासी आसामी और कैदियों के प्रेमपूर्ण आचरण एवं सरकार के इस साम्यभाव में, इस कारावास में उस शुभ दिन का हृदय में पूर्वाभास पा कितनी ही बार हर्षित व पुलकित हो उठता था। अभी उसी दिन पूना के "Indian Social Reformer" ने मेरी एक सहज बोधगम्य उक्ति पर व्यंग्य कसते हुए कहा था, "जेल में तो भगवत्सान्निध्य की बड़ी बाढ़-सी आ गयी दीखती है।" हाय रे मान-सम्मान के अन्वेषी, अल्प विद्या से, अल्प सद्गुण से गर्वित मनुष्य के अहंकार और क्षुद्रता! जेल में, कुटीर में, आश्रम में, दुःखी के हृदय में भगवान् प्रकट नहीं होंगे तो क्या धनी के विलास-भवन में, सुखान्वेषी स्वार्थांध संसारी की सुख-शय्या पर होंगे? भगवान् विद्या, सम्मान, लोकमान्यता, लोकप्रशंसा, बाह्य स्वच्छंदता व सभ्यता नहीं देखते। वे दुःखी के सामने ही दयामयी मां का रूप धरते हैं। जो मानवमात्र में, जाति में, स्वदेश में, दुःखी-गरीब, पतित-पापी में नारायण को देख उनकी सेवा में जीवन समर्पित करते हैं उन्हींके हृदय में आ बसते हैं नारायण और उत्थानोद्यत पतित जाति में, देश-सेवक की निर्जन कारा में ही संभव है भगवत्-सान्निध्य की बाढ़।

कंबल, थाली-कटोरी का प्रबंध कर जेलर के चले जाने पर कंबल पर बैठ मैं जेल का दृश्य देखने लगा। लालबाजार की हवालात की अपेक्षा यह निर्जन कारावास अधिक अच्छा लगा। वहां उस विशाल कमरे की निर्जनता मानों अपनी विशाल काया को विस्तारित करने का अवकाश पा निर्जनता को और भी गहन करे दे रही थी। यहां छोटे-से कमरे की दीवारें मानों बंधुरूप में पास आ, ब्रह्ममय हो आलिंगन में भर लेने को तैयार थीं। वहां दोतल्ले के कमरे की ऊंची-ऊंची खिड़कियों से बाहर का आकाश भी नहीं दीखता था, इस संसार में पेड़-पत्ते, मनुष्य, पशु-पक्षी, घर-द्वार भी कुछ है, बहुत बार उसकी कल्पना करना भी कठिन हो जाता था। यहां आंगन का दरवाजा खुला होने पर सरियों के पास बैठने से बाहर जेल की खुली जगह और कैदियों का आना-जाना देखा जा सकता है। आंगन की दीवार से सटा वृक्ष था, उसकी नयनरंजक नीलिमा से प्राण जुड़ा जाते। छः डिक्री के छः कमरों के सामने जो संतरी घूमता रहता

उसका चेहरा और पदचाप बहुत बार परिचित बंधु के चलने-फिरने की तरह प्रिय लगता। कोठरी की पार्श्ववर्ती गोहालघर के कैदी कोठरी के सामने से गौएं चराने ले जाया करते। गौ और गोपाल थे प्रतिदिन के प्रिय दृश्य। अलीपुर के निर्जन कारावास में अपूर्व प्रेम की शिक्षा पायी। यहां आने से पहले मनुष्यों के साथ मेरा व्यक्तिगत प्रेम अतिशय छोटे घेरे में घिरा था और पशु-पक्षियों पर रूद्ध प्रेम-स्रोत तो बहता ही नहीं था। याद आता है, रवि बाबू की एक कविता में भैंस के प्रति एक ग्राम्य बालक का गभीर प्रेम बहुत सुंदर ढंग से वर्णित हुआ है, पहली बार पढ़ने पर वह जरा भी हृदयङ्गम नहीं हुई थी, भाव-वर्णन में अतिशयोक्ति और अस्वाभाविकता का दोष देखा था। अब पढ़ने पर उसे दूसरी ही दृष्टि से देखता। अलीपुर में रहकर समझ सका कि सब तरह के जीवों पर मनुष्य के प्राणों में कितना गभीर स्नेह स्थान पा सकता है, गौ, पक्षी, चींटीतक को देख कितने तीव्र आनन्द के स्फुरण में मनुष्य का प्राण अस्थिर हो सकता है।

कारावास का पहला दिन शांति से कट गया। सभी कुछ था नया, इससे मन में स्फूर्ति जगी। लालबाजार की हवालात से तुलना करने पर इस अवस्था में भी प्रसन्नता हुई और भगवान् पर निर्भर था इसलिये यहां निर्जनता भी भारी नहीं पड़ी। जेल के खाने की अद्‌भुत सूरत देखकर भी इस भाव में कोई व्याघात नहीं पड़ा। मोटा भात, उसमें भी भूसी, कंकड़, कीड़े, बाल आदि कितने तरह के मसालों से पूर्ण—स्वादहीन दाल में जल का अंश ही अधिक, तरकारी में निरा घास-पात का शाक। मनुष्य का खाना इतना स्वादहीन और निस्सार हो सकता है यह पहले नहीं जानता था। शाक की यह विषण्ण गाढ़ी कृष्ण मूर्ति देखकर ही डर गया, दो ही ग्रास खा उसे भक्तिपूर्ण नमस्कार कर एक ओर सरका दिया। सब कैदियों के भाग्य में एक ही तरकारी बदी थी और एक बार कोई तरकारी शुरू हो जाये तो अनंत काल तक वही चलती थी। उस समय शाक का राज्य था। दिन बीते, पखवारे बीते, माह बीते किंतु दोनों समय वही शाक, वही दाल, वही भात। चीजें तो क्या बदलनी थीं, रूप में भी कतई कोई परिवर्तन नहीं होता था, उसका वही नित्य, सनातन, अनाद्यनंत, अपरिणामातीत अद्वितीय रूप! दो दिन में ही कैदी में इस नश्वर माया-जगत् के स्थायित्व पर विश्वास जनमने लगेगा। इसमें भी अन्य कैदियों की अपेक्षा मैं भाग्यशाली रहा, यह भी डाक्टर बाबू की दया से। उन्होंने हस्पताल से मेरे लिये दूध की व्यवस्था की थी, इससे कुछ दिन के लिये शाक-दर्शन से मुक्ति मिली।

उस रात जल्दी ही सो गया; किंतु निश्चिंत निद्रा निर्जन कारावास का नियम नहीं, उससे कैदियों की सुखप्रियता जग सकती है। इसीलिये नियम है कि जितनी बार पहरा बदले उतनी बार कैदी को हांक मारकर उठाया जाता है और हुंकार भरने तक छोड़ते नहीं। जो जो छः डिक्री का पहरा देते थे उनमें बहुत-से इस कर्तव्य-पालन से विमुख थे,—सिपाहियों में प्रायः ही कठोर कर्तव्य ज्ञान की अपेक्षा दया और सहानुभूति

अधिक थी, विशेषतः हिन्दुस्तानियों के स्वभाव में। किंतु कुछ लोगों ने नहीं बख्शा। वे हमें इस तरह जगा यह कुशल संवाद पूछते : "बाबू, ठीक हैं तो ?" यह असमय का हंसी-मजाक सदा नहीं सुहाता पर समझ गया था कि जो ऐसा करते हैं वे सरलभाव से नियमवश ही हमें उठाते हैं। कई दिन विरक्त होते हुए भी इसे सह गया। अंततः निद्रा की रक्षा के लिये धमकी देनी पड़ी। दो-चार बार धमकाने के बाद देखा कि रात को कुशल-क्षेम पूछने की प्रथा अपने-आप ही उठ गयी।

अगले दिन सवेरे सवा चार बजे जेल की घंटी बजी। कैदियों को जगाने के लिये यह पहली घंटी थी। कुछ मिनट बाद दूसरी बजती, इसके बाद कैदी पंक्तिबद्ध हो बाहर आ हाथ-मुंह धो, 'लपसी' खा दिनभर की मशक्कत में लग जाते। इतनी घंटियों के बजते हुए सोना असंभव जान मैं भी उठ जाता।

पांच बजे लौह-द्वार खोला जाता, मैं हाथ-मुंह धो फिर से कमरे में आ बैठा। कुछ देर बाद मेरे दरवाजे पर लपसी हाजिर हुई किंतु उस दिन उसे खाया नहीं, केवल चाक्षुष परिचय हुआ। इसके कुछ दिन बाद पहली बार इस परमान्न का भोग लगाया। लपसी अर्थात् मांड़सहित भात, यही थी कैदियों की छोटी हाजिरी। लपसी की त्रिमूर्ति या तीन अवस्थाएं हैं। पहले दिन लपसी का प्राज्ञभाव, अमिश्रित मूलपदार्थ, शुद्ध शिव शुभ्र-मूर्ति। दूसरे दिन लपसी का हिरण्यगर्भ रूप, दाल के साथ सीजा हुआ खिचड़ी के नाम से अभिहित, पीतवर्ण, नाना धर्मसंकुल। तीसरे दिन थोड़े-से गुड़ में मिश्रित लपसी की विराट् मूर्ति, धूसर वर्ण, कुछ परिमाण में मनुष्य के व्यवहार योग्य। प्राज्ञ और हिरण्यगर्भ का सेवन साधारण मर्त्य मनुष्य के बूते से बाहर मान मैंने उसे त्याग दिया था। कभी-कभार विराट् के दो ग्रास उदरस्थ कर ब्रिटिश राज्य के नाना सद्गुण और पाश्चात्य सभ्यता के उच्च दर्जे के humanitarianism (लोकहितवाद) के बारे में सोच-सोचकर आनंदमग्न होता रहता था। कहना चाहिये कि लपसी ही था बंगाली कैदियों का एकमात्र पुष्टिकर आहार, बाकी सब था सारशून्य। वह होने से भी क्या होगा ? उसका जैसा स्वाद था, वह केवल भूख से सताये जाने पर ही खाया जा सकता है, वह भी जोर-जबरदस्ती, मन को बहुत समझा-बुझाकर।

उस दिन साढ़े ग्यारह बजे स्नान किया। घर से जो पहनकर आया था, पहले चार-पांच दिन वही पहने रहना पड़ा। नहाते समय गोशाला के जो वृद्ध कैदी वार्डर मेरी देख-रेख के लिये नियुक्त हुए थे उन्होंने कहीं से डेढ़ हाथ चौड़ा एंडी का कपड़ा जुटा दिया था, अपने एकमात्र कपड़े सूखने तक वही पहने बैठा रहता। मुझे कपड़े धोने और बर्तन मांजने नहीं पड़ते थे, गोशाला का एक कैदी यह कर देता था। ग्यारह बजे खाना। कमरे की टोकरी के सान्निध्य से बचने के लिये ग्रीष्म की धूप सहते हुए प्रायः ही आंगन में खाया करता। संतरी भी इसमें बाधा नहीं देते थे। शाम का खाना होता पांच, साढ़े पांच बजे। उसके बाद लौह-द्वार खुलना निषिद्ध था। सात बजे शाम का घण्टा बजता। मुख्य जमादार कैदी वार्डरों को इकट्ठा कर उच्च स्वर में नाम पढ़ते

जाते थे, उसके बाद सब अपनी-अपनी जगह चले जाते। श्रांत कैदी निद्रा की शरण ले जेल के इस एकमात्र सुख का अनुभव करते। इस समय दुर्बलचेता अपने दुर्भाग्य या भावी जेल-दुःख की चिंता कर रोया करते। भगवद्भक्त नीरव रात्रि में ईश्वर का सान्निध्य अनुभव कर प्रार्थना या ध्यान में आनंद लूटते। रात को इन अभागे, पतित, समाज-पीड़ित तीन सहस्र ईश्वर-सृष्ट प्राणियों का यह अलीपुर जेल, प्रकाण्ड यंत्रणा-गृह विशाल नीरवता में डूब जाता।

जो मेरे साथ एक ही अभियोग के अभियुक्त थे उनसे जेल में मिलना-जुलना नहीं के बराबर था। उन्हें कहीं और रखा गया था। छः डिक्री के पिछली तरफ छोटी-छोटी कोठरियों की दो पंक्तियां थीं, इन दोनों पंक्तियों में कुल मिलाकर थीं ४४ कोठरियां, इसीलिये ये चवालीस डिक्री कहलाती थीं, इसी डिक्री की एक पंक्ति में अधिकांश आसामियों का वासस्थान निर्दिष्ट था। कोठरी में बंद रहते हुए भी वे निर्जन कारावास नहीं भोग रहे थे, क्योंकि एक-एक कमरे में तीन-तीन थे। जेल के दूसरे भाग में और एक डिक्री थी, उसमें कुछ एक बड़े कमरे थे; एक-एक कमरे में बारह आदमी तक रह सकते थे। जिसके भाग्य में यह डिक्री पड़ती वे अधिक सुख से रहते। इस डिक्री में बहुत-से एक ही कमरे में बंद थे, रात-दिन बातचीत करने का मौका और मनुष्य-संसर्ग पा सुख से समय बिताते। तो भी, उनमें से एक इस सुख से वंचित थे। वह थे हेमचंद्र दास। न जाने क्यों अधिकारियों को इनसे विशेष भय या इनपर क्रोध था, इतने लोगों में से निर्जन कारावास की यंत्रणा भोगने के लिये अधिकारियों ने उन्हें ही चुना। हेमचंद्र की निजी धारणा थी कि पुलिस भरपूर चेष्टा करने पर भी उनसे दोष स्वीकार न करा सकी इसीलिये था उनपर यह क्रोध। उन्हें इस डिक्री के एक बहुत ही छोटे-से कमरे में बंद करके बाहर का दरवाजा तक बंद रखा जाता था। कह चुका हूं कि यही थी इस विशेष सजा की चरमावस्था। बीच-बीच में पुलिस नाना जाति, नाना वर्ण, नाना आकृतियों के साक्षी ला identification (शिनाख्त) के प्रहसन का नाटक कराती। उस समय हम सबको आफिस के आगे एक लंबी कतार में खड़ा किया जाता। जेल के अधिकारी हमारे साथ जेल के दूसरे-दूसरे मुकदमे के आसामियों को मिला उन्हें दिखाते थे। किंतु यह था केवल नाम के लिये। इन आसामियों में शिक्षित और सज्जन तो एक भी नहीं था, जब उनके साथ एक ही पंक्ति में खड़े होते तो दोनों तरह के आसामियों में इतना भेद होता कि एक तरफ तो बम-केस के अभियुक्त लड़कों का तेजस्वी, तीक्ष्णबुद्धि प्रकाशक चेहरे का भाव और गठन और दूसरी तरफ साधारण कैदियों की मलिन पोशाक और निस्तेज मुख को देख जो यह न बता पाये कि कौन किस श्रेणी का है उन्हें मूर्ख तो क्या न्यूनतम मनुष्यबुद्धि से भी रहित कहना होगा। यह शिनाख्त की परेड आसामियों को अप्रिय नहीं लगती थी। इससे जेल के एकरस जीवन में वैचित्र्य आता और आपस में दो-एक

बात कहने का भी मौका मिल जाता। गिरफ्तारी के बाद पहली बार ऐसी परेड में अपने भाई बारीन्द्र को देख पाया किंतु तब उसके साथ कोई बातचीत नहीं हुई। प्राय: नरेंद्रनाथ गोस्वामी ही मेरी बगल में खड़े होते थे इसलिये उस समय उनके साथ बातचीत जरा ज्यादा हुई। गोसाईं अतिशय सुन्दर, लंबे, गोरे, बलिष्ठ, पुष्टकाय थे किंतु उनकी आंखों से कुवृत्ति झलकती थी, बातों में भी बुद्धिमत्ता का कोई लक्षण नहीं मिला। इस बारे में उनमें और अन्य युवकों में विशेष अंतर था। उनके चेहरे में प्राय: ही उच्च और पवित्र भाव अधिक और बातचीत में प्रखरबुद्धि, ज्ञानलिप्सा और महत् स्वार्थहीन आकांक्षा की अभिव्यक्ति पाता। गोसाईं की बात मूर्खतापूर्ण और लघुचेता मनुष्य की बात की तरह होते हुए भी तेज और साहस से पूर्ण थी। उन्हें उस समय पूरा विश्वास था कि वे बरी हो जायेंगे। वे कहा करते थे, "मेरे पिता मुकदमे में पारंगत हैं, पुलिस उन्हें कभी भी नहीं हरा सकेगी। मेरे इजहार भी मेरे विरुद्ध नहीं जायेंगे, क्योंकि यह प्रमाणित हो जायेगा कि पुलिस ने मुझे शारीरिक यंत्रणा देकर मेरे इजहार लिये हैं।" मैंने पूछा, "तुम तो पुलिस के हाथों में थे। साक्षी कहां है ?" अम्लानवदन गोसाईं बोले, "मेरे पिता सैंकड़ों मुकदमें लड़ चुके हैं, वे अच्छी तरह सब समझते हैं। साक्षी का अभाव नहीं होगा।" ऐसे लोग ही बनते हैं approver (मुखबिर) !

अबतक आसामियों की अनर्थक असुविधा और नाना कष्टों की बात कही है किन्तु यह भी कहना चाहिये कि सभी कुछ था जेल की प्रणाली के दोष के कारण; जेल के ये सब कष्ट किसी की व्यक्तिगत निष्ठुरता या मनुष्योचित गुण के अभाव से नहीं मिले। अलीपुर जेल के तो सभी अधिकारी बहुत ही भद्र, दयावान् और न्यायपरायण थे। यदि किसी जेल में कैदी की यंत्रणा कम हुई है, यूरोपीय जेल-प्रणाली की अमानुषिक बर्बरता या दया और न्यायपरायणता घटी है तो इस बुराई से भलाई हुई है अलीपुर जेल में और इमर्सन साहब के राजत्व में। इस भलाई के दो प्रधान कारण थे जेल के अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्ट इमर्सन साहब और हस्पताल के असिस्टेण्ट बंगाली डाक्टर वैद्यनाथ चटर्जी के असाधारण गुण। इनमें से एक थे यूरोप के लुप्तप्राय क्रिश्चियन आदर्श के अवतार और दूसरे हिन्दूधर्म के सारमर्म दया और परोपकार की जीवंत मूर्ति। इमर्सन साहब जैसे अंग्रेज इस देश में कहां आते हैं, विलायत में भी कम ही मिलते हैं। एक क्रिश्चियन सज्जन में जो गुण होने चाहियें वे सब उनमें एक साथ अवतीर्ण हुए थे। वे थे शांतिप्रिय, विचारशील, दया-दाक्षिण्य में अतुलनीय, न्यायवान् भद्र व्यवहार को छोड़ अधम के प्रति भी अभद्रता दिखलाने में स्वभाव से अक्षम, सरल, निष्कपट, संयमी। दोष यही था कि कर्मकुशलता और उद्यम की कमी थी, जेलर पर सारा कार्यभार छोड़ वे स्वयं निश्चेष्ट रहते। मेरा ख्याल है कि इससे कोई बड़ी भारी क्षति नहीं हुई। जेलर योगेंद्र बाबू दक्ष और योग्य पुरुष थे, मधुमेह से अतिशय पीड़ित होने पर भी अपने-आप सब काम-काज देखते और साहब का स्वभाव पहचानते थे इसलिये जेल में न्यायनिष्ठा और क्रूरता के अभाव की रक्षा करते। किंतु वे इमर्सन

साहब की तरह महात्मा नहीं थे, थे मात्र बंगाली सरकारी नौकर, साहब को खुश करना जानते थे, दक्षता और कर्तव्यबुद्धि के साथ काम करते, स्वाभाविक भद्रता और शांतभाव से लोगों से साथ व्यवहार करते, इसके अतिरिक्त और कोई विशेष गुण उनमें नहीं देखा। नौकरी से प्रबल मोह था। विशेषकर तब मई का महीना था, पैंशन पाने का समय पास ही आ गया था, जनवरी में पैंशन ले दीर्घ परिश्रमोपार्जित विश्राम का सुख लूटने की आशा बंधी थी। अलीपुर बम-केस के आसामियों का आविर्भाव देख हमारे जेलर महाशय अत्यंत भीत और चिंतित हो उठे थे। ये उग्र-स्वभाव तेजस्वी बंगाली लड़के किस दिन क्या काण्ड कर बैठें इसी चिंता से वे उद्विग्न रहते। वे कहा करते ताड़-वृक्ष पर केवल डेढ़ इंच चढ़ना बाकी है। किंतु उस डेढ़ इंच का केवल आधा ही वे चढ़ पाये थे। अगस्त के अंत में बोकानन साहब जेल का पर्यवेक्षण कर संतुष्ट हुए। जेलर महाशय आनंदित हो बोले, "मेरे कार्य-अवधि में साहब का यह अंतिम आगमन था, अब पैंशन का डर नहीं।" हाय री मनुष्य की अंधता! कवि ने ठीक ही कहा है, विधाता ने दुःखी मनुष्य के दो परम उपकार किये हैं। पहला, भविष्य को निविड़ अंधकार से ढक रखा है, दूसरा, उसका एकमात्र अवलंबन और सांत्वना—अंधी आशा—उसे दी है। उनके कहने के चार-पांच दिन बाद ही नरेन गोसाईं कानाई के हाथों मारे गये, बोकानन का बार-बार जेल में आना शुरू हुआ। फलस्वरूप योगेंद्र बाबू की असमय ही नौकरी छूट गयी और शोक और रोग के मिलित आक्रमण से देह भी छूट गयी। ऐसे कर्मचारी पर संपूर्ण भार न छोड़ इमर्सन साहब स्वयं यदि सब कार्य देखते तो उनके राज्य में अलीपुर जेल के अधिक सुधार और उन्नति की संभावना थी। वे जितना देखते उसे सुसंपन्न भी करते, उनके चरित्रगत गुण से ही जेल नरक न बन मनुष्य को कठोर दंड देने का स्थान-भर बनकर रह गया था। उनकी बदली हो जाने पर भी उनकी साधुता का फल पूरी तरह मिट नहीं गया, अबतक भी परवर्ती कर्मचारी उनकी साधुता दस आना बचाये रखने को बाध्य हैं।

जैसे जेल के अन्यान्य विभागों में बंगाली योगेन बाबू कर्ता-धर्ता थे वैसे ही हस्पताल के सर्वेसर्वा थे बंगाली डाक्टर वैद्यनाथ बाबू। उनके उच्च अधिकारी डॉ० डैलि, इमर्सन साहब की तरह दयावान् न होते हुए भी अत्यंत सज्जन और विचक्षण व्यक्ति थे। वे लड़कों का शांत आचरण, प्रफुल्लता और बाध्यता देख भूरि-भूरि प्रशंसा करते और अल्पवयस्कों के साथ हंसी-मजाक और दूसरे आसामियों के साथ राजनीतिक, धर्म और दर्शनविषयक चर्चा करते। डाक्टर साहब थे आयरिश वंशजात, उस उदार और भावप्रवण जाति के अनेक गुण उनमें साकार हुए थे। उनमें क्रूरता रत्ती-भर भी नहीं थी, कभी-कभी क्रोध के वशीभूत हो कोई कड़ी बात या कठोर आचरण कर बैठते लेकिन प्रायः ही उपकार करना उन्हें प्रिय था। वे जेल के कैदियों की चालाकी और कृत्रिम रोगों को देखने के अभ्यस्त थे; किंतु ऐसा भी होता कि असली

रोगी की भी कृत्रिमता के संदेह में उपेक्षा कर देते थे, तो भी, सच्ची बीमारी का पता लगने पर बहुत ही यत्न से और दयापूर्वक रोगी की व्यवस्था करते। मुझे एक बार हल्का बुखार आया। उस समय थी वर्षाऋतु। अनेक वातायनयुक्त विशाल दालान में जलसिक्त मुक्त पवन अठखेलियां करता, फिर भी मैं हस्पताल जाना या दवा खाना नहीं चाहता था। रोग और चिकित्सा के संबंध में मेरे विचार बदल गये थे, औषधि-सेवन में अब ज्यादा आस्था नहीं रह गयी थी, मुझे विश्वास था कि रोग कठिन न हो तो प्रकृति की साधारण क्रिया से ही स्वास्थ्यलाभ होगा। बरसाती हवा के स्पर्श से जो अनिष्ट संभव है उसका योगबल से दमन कर योगशिक्षागत सारी क्रियाओं का याथार्थ्य और साफल्य अपनी तर्कबुद्धि के सामने प्रतिपादन करने की इच्छा थी। किंतु डाक्टर साहब मेरे लिये महा चिंतित थे, बड़े आग्रह के साथ उन्होंने मुझे हस्पताल जाने की आवश्यकता समझायी। हस्पताल जाने पर जितना हो सका उन्होंने घर की तरह रहने-खाने की व्यवस्था कर मुझे सौजन्य से रखा। वर्षा में जेल-वार्ड में रहने से मेरा स्वास्थ्य खराब न हो इस कारण वे मुझे ज्यादा दिन यहां सुख से रखना चाहते थे। किंतु मैं जबरदस्ती वार्ड में लौट आया, हस्पताल में और अधिक रहने को सहमत नहीं हुआ। सबपर उनका समान अनुग्रह नहीं था। खासकर जो पुष्टशरीर और बलवान् थे उन्हें बीमारी होते हुए भी हस्पताल में रखने से डरते थे। उनकी यह भ्रांत धारणा थी कि यदि जेल में कोई भी काण्ड घटता है तो वह इन सबल और चंचल लड़कों द्वारा होगा। अंततः ठीक इसका विपरीत फल हुआ, हस्पताल में जो काण्ड घटा वह घटा व्याधिग्रस्त, विशीर्ण, शुष्ककाय सत्येंद्रनाथ वसु और रोगक्लिष्ट, धीरप्रकृति, अल्पभाषी कानाईलाल द्वारा। डाक्टर डैलि में ये सब गुण होते हुए भी बैद्यनाथ बाबू ही थे उनके अधिकांश सत्कार्यों के प्रवर्तक और प्रेरणादायक। सचमुच बैद्यनाथ बाबू के समान हृदयवान् मनुष्य मैंने न पहले कभी देखा और न बाद में ही दीखने की आशा है, उन्होंने मानों दया और उपकार करने के लिये ही जन्म लिया था। किसी भी दुःखगाथा से अवगत होना और उसे हल्का करने को तत्काल दौड़ना ही उनके चरित्र का स्वाभाविक कारण और अवश्यंभावी कार्य बन गया था जैसे। वे इस यंत्रणापूर्ण दुःखालय में मानों नरक के प्राणियों को स्वर्ग का सयत्न-संचित नंदनवारि वितरण करते। किसी भी अभाव, अन्याय या अनर्थक कष्टमोचन का श्रेष्ठ उपाय था उसे डाक्टर बाबू के कानों तक पहुंचा देना। उसे दूर करना यदि उनके बस का होता तो वैसी व्यवस्था करने से नहीं चूकते थे। वैद्यनाथ बाबू हृदय में गभीर देशभक्ति संजोये थे लेकिन सरकारी नौकर होने के कारण प्राणों की उस भावना को चरितार्थ करने में अक्षम थे। उनका एकमात्र दोष था जरूरत से ज्यादा सहानुभूति। किंतु वह भाव जेल के अधिकारी के लिये दोष होते हुए भी उच्च नीति के अनुसार मनुष्यत्व का चरम विकास और भगवान् का प्रियतम गुण कहलाता है। उनके लिये साधारण कैदियों और 'वंदे मातरम्' के कैदियों में कोई भेद नहीं था; पीड़ित देखते ही सभी को सयत्न

हस्पताल में रखते और पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्यलाभ हुए बिना छोड़ना नहीं चाहते थे। यह दोष ही था उनके बरखास्त किये जाने का असली कारण। गोसाईं की हत्या के बाद अधिकारियों ने उनके इस आचरण पर संदेह कर उन्हें अन्यायपूर्वक कर्मच्युत कर दिया।

इन सब अधिकारियों की दया और मनुष्योचित स्वभाव का वर्णन करने का विशेष अभिप्राय है। जेल में हमारे लिये जो व्यवस्था की गयी थी, पहले उसकी आलोचना करने को बाध्य हुआ था और उसके बाद भी ब्रिटिश जेलप्रणाली की अमानुषिक निष्ठुरता सिद्ध करने की चेष्टा करूंगा। बाद में कोई भी पाठक इस निष्ठुरता को कर्मचारियों के चरित्र का कुफल न मान लें इसीलिये किया है मुख्य कर्मचारियों के गुणों का बखान। कारावास की प्रथम अवस्था के विवरण में उनके इन सब गुणों के और भी प्रमाण मिलेंगे।

निर्जन कारावास में पहले दिन की मानसिक अवस्था का वर्णन कर चुका हूं। इस निर्जन कारावास में समय बिताने के लिये पुस्तक या दूसरी कोई वस्तु के बिना कुछ दिन रहना पड़ा था। बाद में इमर्सन साहब मुझे घर से धोती, कुर्ता और पढ़ने को किताबें मंगवाने की अनुमति दे गये। मैंने कर्मचारियों से कलम, दवात और चिट्ठी के लिये जेल के छपे कागज मंगवा अपने पूजनीय मौसा, 'संजीवनी' के सुप्रसिद्ध संपादक को धोती, कुर्ता और पढ़ने की किताबों में गीता और उपनिषद् भेजने का अनुरोध किया। इन दो पुस्तकों को मुझतक पहुंचने में दो-चार दिन लगे। तबतक निर्जन कारावास का महत्त्व समझने का यथेष्ट अवसर मिला। यह भी जाना कि ऐसे कारावास में दृढ़ और सुप्रतिष्ठित बुद्धि भी नष्ट होती है और जल्द ही उन्मादावस्था को पहुंच जाती है और इसी अवस्था में भगवान् की असीम दया और उनके साथ युक्त होने का कितना दुर्लभ सुअवसर है यह भी हृदयंगम हुआ। कारावास से पहले मुझे एक घंटा सवेरे और एक घंटा शाम को ध्यान करने का अभ्यास था। इस निर्जन कारावास में और कोई काम न होने से ज्यादा देर ध्यानावस्थित रहने की चेष्टा की। किंतु मनुष्य के सहस्रों दिशाओं की ओर भागनेवाले चंचल मन को ध्यानार्थ यथेष्ट संयत और एक लक्ष्यमुखी रखना अनभ्यस्त मनुष्य के लिये सहज नहीं। किसी तरह डेढ़-दो घंटे एकमन हो रह पाता, फिर मन विद्रोही हो उठता, देह भी अवसन्न पड़ जाती। पहले नाना विचारों में व्यस्त रहता था। बाद में मनुष्य की उस आलापरहित चिंतन की विषयशून्य असहनीय अकर्मण्यता से मन धीरे-धीरे चिंतनशक्ति-रहित होने लगा। ऐसी अवस्था होने लगी मानों सहस्र अस्पष्ट विचार मन के सब द्वारों के चारों ओर चक्कर काट रहे हैं किंतु प्रवेश-पथ निरूद्ध है; दो-एक प्रवेश करने में समर्थ होने पर भी उस निस्तब्ध मनोराज्य की नीरवता से भयभीत हो निःशब्द भाग खड़े होते। इस अनिश्चित अवश अवस्था से अतिशय मानसिक कष्ट पाने लगा। प्रकृति की शोभा से चित्तवृत्ति स्निग्ध होने और तप्त मन को सांत्वना मिलने की आशा से बाहर की

ओर निहारा, किंतु उसी एकमात्र वृक्ष, नीलाकाश के परिमित टुकड़े और जेल के उसी नीरस दृश्य से मनुष्य का ऐसी अवस्थाप्राप्त मन भला कितनी देर सांत्वना पा सकता है ? दीवारों की ओर ताका, जेल की कोठरी की उस निर्जीव सफेद दीवार के दर्शन से मन और भी अधिक निरुपाय हो केवल बद्धावस्था की यंत्रणा ही उपलब्ध कर मस्तिष्क के पिंजरे में छटपटाने लगा। फिर से ध्यान करने बैठा, किसी भी तरह ध्यान न कर सका वरन् उस तीव्र विफल चेष्टा से मन और भी श्रांत, अकर्मण्य और दग्ध होने लगा। चारों ओर नजर दौड़ायी, अंततः जमीन पर कुछ बड़ी-बड़ी काली चीटियों को विवर के पास घूमते-फिरते देखा, उनकी गतिविधि, चेष्टा और चरित्र का निरीक्षण करते-करते समय कट गया। उसके बाद देखता हूं कि छोटी-छोटी लाल चींटियां भी चल-फिर रही हैं। काली और लाल में बड़ा झगड़ा, काली चीटियां लाल को देख काट-काट कर उन्हें मार डालने लगीं। अत्याचार से पीड़ित लाल चींटियों पर बड़ी दया और सहानुभूति उपजी। मैं काली चीटियों को भगा उन्हें बचाने लगा। इससे एक काम जुटा, सोचने का विषय भी मिला, चींटियों की सहायता से ये कुछ दिन कट गये। फिर भी दीर्घ दिनार्द्ध बिताने का कोई उपाय नहीं जुटता था। मन को समझाया, जबरदस्ती विचारों को खींच लाया किंतु दिन प्रतिदिन मन विद्रोही होने लगा, हाहाकार करने लगा। काल मानों उसपर असह्य भार बन पीड़ा पहुंचा रहा हो, उस चाप से चूर्ण हो हांफने तक की शक्ति वह नहीं पा रहा था, मानों स्वप्न में शत्रु द्वारा आक्रांत व्यक्ति गला घोटने से मरा जा रहा हो एवं हाथ-पैर होते हुए भी हिलने-डुलने की शक्ति न हो। यह अवस्था देख मैं आश्चर्यचकित रह गया। सच है कि मुझे अकर्मण्य और निश्चेष्ट रहना कभी न रुचा, फिर भी कितनी ही बार एकाकी रह चिंतन-मनन में समय गुजारा है, अब मन में ऐसी क्या दुर्बलता आ गयी है कि थोड़े दिन के इस एकांत से आकुल हो उठा हूं। सोचने लगा कि शायद उस स्वेच्छाप्राप्त एकांत और इस परेच्छाप्राप्त एकांत में प्रभेद है। घर में रहते हुए एकाकी रहना एक बात है और परेच्छावश कारागृह में यह निर्जनवास बिलकुल दूसरी बात। वहां, जब चाहूं मनुष्य का आश्रय ले सकता हूं, पुस्तकगत ज्ञान और भाषालालित्य में, बंधु-बांधव के प्रिय संभाषण में, रास्ते के कोलाहल में, जगत् के विविध दृश्यों में मन की तृप्ति का साधन पा प्राणों को शीतल कर सकता हूं। किंतु यहां कठोर नियमों में आबद्ध हो परेच्छा से सब संसर्गों से रहित हो रहना होगा। कहते हैं, जो निर्जनता सह सकता है वह या तो देवता है या पशु, मनुष्य के लिये यह संयम है साध्यातीत। पहले इस बात में विश्वास नहीं कर पाता था, अब समझा कि सचमुच योगाभ्यस्त साधकों के लिये भी यह संयम सहजसाध्य नहीं। याद हो आया इतालवी राजहत्यारे ब्रेशी का भयंकर अंत। उनके निष्ठुर न्यायाधीशों ने उन्हें प्राण दण्ड न दे सात साल के निर्जन कारावास की सजा दी थी। एक साल बीतते-न-बीतते ब्रेशी पागल हो गया। तो भी इतने दिन तो सहा ! मेरे मन की दृढ़ता क्या इतनी कम है ? उस समय नहीं समझ सका था कि भगवान् मेरे

साथ खेल रहे हैं, खेल-खेल में कुछ आवश्यक शिक्षाएं दे रहे हैं। मन की कैसी अवस्था में निर्जन कारावास के कैदी पागलपन की ओर दौड़ते हैं, उन्होंने यह दिखा, कारावास की ऐसी अमानुषिक निष्ठुरता समझा मुझे यूरोपीय जेल-प्रणाली का घोर विरोधी बना दिया, जिससे मैं यथाशक्ति देशवासियों और जगत् को इस बर्बरता से मोड़ दयानुमोदित जेल-प्रणाली का पक्षपाती बनाने की चेष्टा करूं, यह थी उनकी पहली शिक्षा। याद आता है, पन्द्रह साल पहले विलायत से स्वदेश लौटकर जब मैंने बंबई से प्रकाशित 'इंदु प्रकाश' पत्रिका में कांग्रेस की निवेदन-नीति के विरूद्ध तीव्र आलोचनात्मक प्रबंध लिखने शुरू किये थे तो स्वर्गीय महादेव गोविंद रानाडे ने युवकों के मन पर इन प्रबंधों का प्रभाव पड़ते देख उन्हें बंद करने के उद्देश्य से, जैसे ही मैं उनसे मिलने गया, मुझे आधे घंटे तक इस काम को छोड़ कांग्रेस का दूसरा कोई भी कार्यभार ग्रहण करने का उपदेश दिया। उनकी इच्छा मुझे जेल-प्रणाली-सुधार का कार्य देने की थी। रानाडे की इस अप्रत्याशित उक्ति से मैं आश्चर्यचकित और असंतुष्ट हुआ था और उस कार्यभार को अस्वीकार किया था। तब नहीं जानता था कि यह है सुदूर भविष्य का पूर्वाभासमात्र और एक दिन स्वयं भगवान् मुझे जेल में एक साल रखकर इस प्रणाली की क्रूरता और व्यर्थता एवं सुधार की आवश्यकता दिखायेंगे। अब समझा कि आज की राजनीतिक अवस्था में इस जेल-प्रणाली के सुधार की संभावना नहीं, फिर भी, जेल में बैठे-बैठे, अपनी अंतरात्मा को साक्षी बना, उसका प्रचार करने और उसके संबंध में युक्ति-तर्क देने की प्रतिज्ञा की जिससे स्वाधीन भारत में विदेशी सभ्यता का यह नारकीय अंश चिपका न रहे। भगवान् की दूसरी अभिसंधि थी मेरे मन की इस दुर्बलता को मन के आगे रख हमेशा के लिये विनष्ट करना। जो योगावस्था के प्रार्थी हैं उनके लिये जनता और निर्जनता समान होनी उचित हैं। वास्तव में बहुत थोड़े ही दिनों में यह दुर्बलता झड़ गयी, अब लगता है कि बीस साल अकेले रहने पर भी मन चंचल नहीं होगा। मंगलमय अमंगलद्वारा भी परम मंगल साधते हैं। तीसरी अभिसंधि थी मुझे यह शिक्षा देना कि मेरे योगाभ्यास में स्वचेष्टा से कुछ नहीं होगा, श्रद्धा और संपूर्ण आत्मसमर्पण ही है सिद्धि पाने का पथ; भगवान् प्रसन्न हो स्वयं जो शक्ति, सिद्धि या आनंद देंगे उसे ही ग्रहण कर उनके कार्य में लगाना ही होगा मेरी योगस्पृहा का एकमात्र उद्देश्य। जिस दिन से अज्ञान का प्रगाढ़ अंधकार छंटने लगा, उसी दिन से मैं जगत् की सब घटनाओं का निरीक्षण करते-करते मंगलमय श्रीहरि के आश्चर्यमय अनंत मंगल स्वरूप की उपलब्धि कर रहा हूं। ऐसी कोई घटना नहीं—चाहे वह घटना महान् हो या छोटी-से भी छोटी—जिसके द्वारा कोई मंगल संपन्न नहीं होता। प्रायः वे एक कार्य द्वारा दो-चार उद्देश्य सिद्ध करते हैं। हम जगत् में बहुत बार अंधशक्ति की लीला देखते हैं, अपव्यय ही प्रकृति का नियम है—कहकर भगवान् की सर्वज्ञता को अस्वीकार कर ईश्वरीय बुद्धि को दोषी ठहराते हैं। यह अभियोग निर्मूल है। ईश्वरीय शक्ति कभी भी अंधभाव से कार्य नहीं करती, बूंद-भर भी उनकी शक्ति का

अपव्यय नहीं हो सकता वरन् वे ऐसे संयत तरीके से अल्प व्यय द्वारा प्रचुर फल उत्पादित करते हैं कि मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता।

इस तरह मन की निश्चेष्टता से पीड़ित हो कुछ दिन कष्ट से समय काटा। एक दिन अपराह्न को कुछ सोच रहा था, विचार उमड़ने लगे, सारे विचार इतने असंयत और असंलग्न होने लगे कि मैं समझ गया कि विचारों पर बुद्धि की निग्रहशक्ति लुप्त हो चली है। उसके बाद जब प्रकृतिस्थ हुआ तो देखा कि बुद्धि की निग्रह-शक्ति लुप्त होने पर भी स्वयं बुद्धि लुप्त या पलभर को भी नष्ट नहीं हुई, वरन् शांतभाव से मन की इस अपूर्व क्रिया का जैसे निरीक्षण कर रही थी। किंतु तब मैं उन्मत्तता के भय से त्रस्त हो इस ओर ध्यान नहीं दे पाया। प्राणपन से भगवान् को पुकारा, अपने बुद्धिभ्रंश के निवारण के लिये कहा। उसी क्षण मेरे संपूर्ण अंतःकरण में हठात् ऐसी शीतलता व्यापने लगी, उत्तप्त मन ऐसा स्निग्ध, प्रसन्न और परम सुखी हो उठा कि जीवन में पहले कभी इतनी सुखमय अवस्था अनुभव नहीं कर सका था। जैसे शिशु मातृ-अंक में आश्वस्त और निर्भीक हो सोया रहता है मैं भी मानों विश्वजननी की गोद में उसी तरह सोया रहा। इसी दिन से मेरा कारावास का कष्ट खतम हो गया। इसके बाद कई बार बद्धावस्था की अशांति, निर्जन कारावास में कर्महीनता से मन की उद्विग्नता, शारीरिक क्लेश या व्याधि, योगान्तर्गत कातर अवस्थाएं आयीं किंतु उस दिन भगवान् ने एक पल में अंतरात्मा में ऐसी शक्ति भर दी कि ये सब दुःख मन पर छाने और मन पर से हट जाने के बाद कोई दाग या चिह्न न छोड़ पाते, दुःख में ही बल और आनंद अनुभव कर बुद्धि मन के दुःखों का प्रत्याख्यान करने में समर्थ होती। पद्मपत्र पर जलबिन्दुवत् महसूस होता वह दुःख। उसके बाद जब पुस्तकें आयीं तो उनकी आवश्यकता बहुत कम रह गयी थी। पुस्तकें न आने पर भी अब मैं रह सकता था। यद्यपि इन प्रबंधों का उद्देश्य अपने आंतरिक जीवन का इतिहास लिखना नहीं फिर भी इस घटना का उल्लेख किये बिना न रह सका। बाद में, दीर्घकालीन निर्जन कारावास में क्योंकर आनंदपूर्वक रहना संभव हुआ वह इस घटना से समझा जा सकेगा। इसी हेतु भगवान् ने वैसी अवस्था रची। उन्होंने पागल न बना निर्जन कारावास में पागल हो जाने की क्रमिक प्रक्रिया का मेरे मन में अभिनय करा बुद्धि को उस नाटक के अविचलित दर्शक के रूप में बिठाये रखा। उससे मुझे शक्ति मिली, मनुष्य की निष्ठुरता के कारण अत्याचार-पीड़ित व्यक्तियों के प्रति दया और सहानुभूति बढ़ी और प्रार्थना की असाधारण शक्ति व सफलता हृदयङ्गम की।

मेरे निर्जन कारावास के समय डाक्टर डैलि और सहकारी सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब प्रायः हर रोज मेरे कमरे में आ दो-चार बातें कर जाते। पता नहीं क्यों, मैं शुरू से ही उनका विशेष अनुग्रह और सहानुभूति पा सका था। मैं उनके साथ कोई विशेष बात न करता, वे जो पूछते उसका उत्तर-भर दे देता। वे जो विषय उठाते वह या तो चुपचाप

सुनता या केवल दो-एक सामान्य बात कह चुप हो जाता। तथापि वे मेरे पास आना न छोड़ते। एक दिन डैलि साहब ने मुझसे कहा कि मैंने सहकारी सुपरिण्टेण्डेण्ट को कहकर बड़े साहब को मना लिया है कि तुम प्रतिदिन सवेरे-शाम डिक्री के सामने टहल सकोगे। तुम सारा दिन एक छोटी-सी कोठरी में बंद रहो यह मुझे अच्छा नहीं लगता, इससे मन खराब होता है और शरीर भी। उस दिन से मैं सवेरे-शाम डिक्री के आगे खुली जगह में घूमने लगा। शाम को दस, पंद्रह, बीस मिनट घूमता लेकिन सवेरे एक घंटा, किसी-किसी दिन दो घंटे तक बाहर रहता, समय की कोई पाबंदी नहीं थी। यह समय बहुत अच्छा लगता। एक तरफ जेल का कारखाना, दूसरी तरफ गोशाला—मेरे स्वाधीन राज्य की दो सीमाएं। कारखाने से गोशाला, गोशाला से कारखाने तक घूमते-घूमते या तो उपनिषद् के गभीर, भावोद्दीपक, अक्षय शक्तिदायक मंत्रों की आवृत्ति करता या फिर कैदियों का कार्य-कलाप और यातायात देख 'सर्वघट में नारायण हैं' इस मूल सत्य को उपलब्ध करने की चेष्टा करता। वृक्ष, गृह, प्राचीर, मनुष्य, पशु, पक्षी, धातु और मिट्टी में, सर्वभूतों में *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* मंत्र का मन-ही-मन उच्चारण कर इस उपलब्धि को आरोपित करता। यह करते-करते ऐसा भाव हो जाता कि कारागार और कारागार न लगता। वह उच्च प्राचीर, वह लौह कपाट, वह सफेद दीवार, वह सूर्य-रश्मि-दीप्त नील-पत्र-शोभित वृक्ष, छोटा-मोटा सामान मानों अब अचेतन नहीं रहा, सर्वव्यापी, चैतन्य-पूर्ण हो सजीव हो उठा, ऐसा लगता कि वे मुझसे स्नेह करते हैं, मुझे आलिंगन में भर लेना चाहते हैं। मनुष्य, गौ, चींटी और विहंग चल रहे हैं, उड़ रहे हैं, गा रहे हैं, बातें कर रहे हैं, पर है यह सब प्रकृति की क्रीड़ा; भीतर एक महान् निर्मल, निर्लिप्त आत्मा शांतिमय आनंद में निमग्न हो विराजमान है। कभी-कभी ऐसा अनुभव होता मानों भगवान् उस वृक्ष के नीचे खड़े आनंद की वंशी बजा रहे हैं, और उस माधुर्य से मेरा हृदय मोह ले रहे हैं। सदा यह अहसास होने लगा कि कोई मुझे आलिंगन में भर रहा है, कोई मुझे गोद में लिये हुए है। इस भावस्फुटन से मेरे सारे मन-प्राण को अधिकृत कर एक निर्मल महती शांति विराजने लगी, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्राणों का कठिन आवरण खुल गया और सभी जीवों पर प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ा। प्रेम के साथ दया, करुणा, अहिंसा इत्यादि सात्त्विक भाव मेरे रजःप्रधान स्वभाव को अभिभूत कर और अधिक पनपने लगे। और जैसे-जैसे वे बढ़ने लगे वैसे-वैसे आनंद भी बढ़ा एवं निर्मल शांतिभाव गंभीर हुआ। मुकदमे की दुश्चिंता पहले ही दूर हो गयी थी, अब उससे उल्टा विचार मन में आया। भगवान् मंगलमय हैं, मेरे मंगल के लिये ही मुझे कारागृह में लाये हैं, कारामुक्ति और अभियोग-खण्डन अवश्य ही होगा यह दृढ़ विश्वास जम गया। इसके बाद बहुत दिन तक मुझे जेल में कोई भी कष्ट भोगना नहीं पड़ा।

इस अवस्था को घनीभूत होने में कुछ दिन लगे, इसी बीच मजिस्ट्रेट की अदालत में मुकदमा शुरू हुआ। निर्जन कारावास की नीरवता से हठात् बाह्य जगत् के

कोलाहल में लाये जाने पर शुरू-शुरू में मन बड़ा विचलित हुआ, साधना का धैर्य टूट गया और पांच-पांच घंटे तक मुकदमे के नीरस और विरक्तिकर बयान सुनने को मन किसी भी तरह राजी नहीं हुआ। पहले अदालत में बैठ साधना करने की चेष्टा करता, लेकिन अनभ्यस्त मन प्रत्येक शब्द और दृश्य की ओर खिंच जाता, शोरगुल में वह चेष्टा व्यर्थ चली जाती, बाद में भावपरिवर्तन हुआ, समीपवर्ती शब्द और दृश्य मन से बाहर ठेल सारी चिंतन-शक्ति को अंतर्मुखी करने की शक्ति जनमी, किंतु यह मुकदमे की प्रथम अवस्था में नहीं हुआ, तब ध्यान-धारणा की प्रकृत क्षमता नहीं थी। इसीलिये यह वृथा चेष्टा त्याग बीच-बीच में सर्वभूतों में ईश्वर के दर्शन कर संतुष्ट रहता, बाकी समय विपत्ति के साथियों की बातों और उनके कार्य-कलाप पर ध्यान देता, दूसरा कुछ सोचता, या कभी नॉर्टन साहब की श्रवन-योग्य बात या गवाहों की गवाही भी सुनता। देखता कि निर्जन कारागृह में समय काटना जितना सहज और सुखकर हो उठा है, जनता के बीच और इस गुरुतर मुकदमे के जीवन-मरण के खेल के बीच समय काटना उतना सहज नहीं। अभियुक्त लड़कों का हंसी-मजाक और आमोद-प्रमोद सुनना और देखना बड़ा अच्छा लगता, नहीं तो अदालत का समय केवल विरक्तिकर ही महसूस होता। साढ़े चार बजे कैदियों की गाड़ी में बैठ सानंद जेल लौट आता।

पंद्रह-सोलह दिन की बंदी अवस्था के बाद स्वाधीन मनुष्य-जीवन का संसर्ग और एक-दूसरे का मुख देख दूसरे कैदी अत्यंत आनंदित हुए। गाड़ी में चढ़ते ही उनकी हंसी और बातों का फव्वारा फूट पड़ता और जो दस मिनट उन्हें गाड़ी में मिलते थे उसमें पल-भर को भी वह स्रोत न थमता। पहले दिन हमें खूब सम्मान के साथ अदालत ले गये। हमारे साथ ही थी यूरोपियन सार्जेंटों की छोटी पलटन और उनके साथ थीं गोली भरी पिस्तौलें। गाड़ी में चढ़ते समय सशस्त्र पुलिस की एक टुकड़ी हमें घेरे रहती और गाड़ी के पीछे परेड करती, उतरते समय भी यही आयोजन था। इस साज-सज्जा को देख किसी-किसी अनभिज्ञ दर्शक ने निश्चय ही यह सोचा होगा कि ये हास्य-प्रिय अल्पवयस्क लड़के न जाने कितने दुःसाहसी विख्यात महायोद्धाओं का दल है। न जाने उनके प्राणों और शरीर में कितना साहस और बल है जो खाली हाथ सौ पुलिस और गोरों की दुर्भेद्य प्राचीर भेद पलायन करने में सक्षम हैं। इसीलिये शायद उन्हें इतने सम्मान के साथ इस तरह ले जाते हैं। कुछ दिन यह ठाठ चला, फिर क्रमशः कम होने लगा, अंत में दो-चार सार्जेंट हमें ले जाते और ले आते। उतरते समय वे ज्यादा ख्याल नहीं करते थे कि हम कैसे जेल में घुसते हैं; हम मानों स्वाधीन भाव से घूम-फिर कर घर लौट रहे हों, उसी तरह जेल में घुसते। ऐसी असावधानी और शिथिलता देख पुलिस कमिश्नर साहब और कुछ सुपरिण्टेण्डेण्ट क्रुद्ध हो बोले, "पहले दिन पचीस-तीस सार्जेंटों की व्यवस्था की थी, आजकल देखता हूं चार-पांच भी नहीं आते।" वे सार्जेंटों की भर्त्सना करते और रक्षण-निरीक्षण की कठोर

व्यवस्था करते; उसके बाद दो-एक दिन और दो सार्जेंट आते और फिर वही पहले जैसी शिथिलता आरंभ हो जाती। सार्जेंटों ने देखा कि बम-भक्त बड़े निरीह और शांत लोग हैं, पलायन में उनका कोई प्रयास नहीं, किसी पर आक्रमण करने या हत्या करने की भी मंशा नहीं, उन्होंने सोचा कि हम क्यों अमूल्य समय इस विरक्तिकर कार्य में नष्ट करें। पहले अदालत में घुसते और निकलते समय हमारी तलाशी लेते थे, उससे सार्जेंटों के कोमल करस्पर्श का सुख अनुभव करते, इसके अलावा इस तलाशी से किसी के लाभ या क्षति की संभावना नहीं थी। स्पष्ट था कि इस तलाशी की आवश्यकता में हमारे रक्षकों की गंभीर अनास्था है। दो-चार दिन बाद यह भी बंद हो गयी। हम अदालत में किताब, रोटी-चीनी जो इच्छा हो निर्विघ्न ले जाते। पहले-पहल छिपाकर बाद में खुले आम। हम बम या पिस्तौल चलायेंगे, उनका यह विश्वास शीघ्र ही उठ गया। किंतु मैंने देखा कि एक भय सार्जेंटों के मन से नहीं गया। कौन जाने किसके मन में कब मजिस्ट्रेट साहब के महिमान्वित मस्तक पर जूते फेंकने की बदनीयत पैदा हो जाये, ऐसा हुआ तो सर्वनाश। अतः जूते भीतर ले जाना विशेषतया निषिद्ध था, और उस विषय में सार्जेंट हमेशा सतर्क रहते। और किसी तरह की सावधानता के प्रति आग्रह नहीं देखा।

मुकदमे का स्वरूप कुछ विचित्र था। मजिस्ट्रेट, परामर्शदाता, साक्षी, साक्ष्य exhibits (साक्ष्य-सामग्री), आसामी सभी विचित्र। दिन-पर-दिन उन्हीं गवाहों और exhibits का अविराम प्रवाह, उसी परामर्शदाता का नाटकोचित अभिनय, उसी बालक-स्वभाव मजिस्ट्रेट की बालकोचित चपलता और लघुता। इस अपूर्व दृश्य को देखते-देखते बहुत बार मन में यह कल्पना उठती कि हम ब्रिटिश विचारालय में न बैठ किसी नाटकगृह के रंगमंच पर या किसी कल्पनापूर्ण औपन्यासिक राज्य में बैठे हैं। अब उस राज्य के सब विचित्र जीवों का संक्षिप्त वर्णन करता हूं।

इस नाटक के प्रधान अभिनेता थे सरकार बहादुर के परामर्शदाता नॉर्टन साहब। प्रधान अभिनेता ही क्यों इस नाटक के रचयिता, सूत्रधार (stage manager) और साक्षी-स्मारक (prompter) भी थे,—ऐसी वैचित्र्यमयी प्रतिभा जगत् में विरल है। परामर्शदाता नार्टन थे मद्रासी साहब, इसीलिये शायद थे बंगाली बैरिस्टर मंडली की प्रचलित नीति और भद्रता से अनभ्यस्त एवं अनभिज्ञ। वे कभी राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता रहे थे, शायद इसीलिये विरोध और प्रतिवाद सह नहीं सकते थे और विरोधी को शासित करने के आदी थे। ऐसी प्रकृति को लोग कहते हैं हिंस्रस्वभाव। नॉर्टन साहब कभी मद्रास कॉरपोरेशन के सिंह रहे कि नहीं, यह नहीं कह सकता पर हां, अलीपुर कोर्ट के सिंह तो थे ही। उनकी कानूनी अभिज्ञता की पैठ पर मुग्ध होना कठिन है—वह थी मानों ग्रीष्मकाल की शीत। किंतु वक्तृता के अनर्गल प्रवाह में, कथन-शैली में, बात की चोट से राई को पहाड़ बनाने की अद्भुत क्षमता में, निराधार या कुछ

आधार लिये हुए कथनों को कहने की दुःसाहसिकता में, साक्षी और जूनियर बैरिस्टर की भर्त्सना में और सफेद को काला करने की मनमोहिनी शक्ति में नॉर्टन साहब की अतुलनीय प्रतिभा देख मुग्ध होना ही पड़ता था। श्रेष्ठ परामर्शदाताओं की तीन श्रेणियां हैं—जो कानून के पांडित्य से और यथार्थ व्याख्या और सूक्ष्म विश्लेषण से जज के मन में प्रतीति जनमा सकते हैं; जो चतुराई के साथ साक्षी से सच्ची बात उगलवा और मुकदमे-संबंधी घटनाओं और विवेच्य विषय का दक्षता के साथ प्रदर्शन कर जज या जूरी का मन अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं; और, जो ऊंची आवाज से, धमकियों से, वक्तृता के प्रवाह से साक्षी को हतबुद्धि कर, मुकदमे के विषय को चमत्कारी ढंग से तोड़-मरोड़, गले के जोर से जज या जूरी की बुद्धि भरमा मुकदमे जीत सकते हैं। नॉर्टन साहब थे तीसरी श्रेणी में अग्रगण्य। यह कोई दोष की बात नहीं। वे ठहरे परामर्शदाता व्यवसायी आदमी, पैसा लेनेवाले, जो पैसा दे उसका अभीप्सित उद्देश्य सिद्ध करना है उनका कर्तव्य-कर्म। आजकल ब्रिटिश कानून-प्रणाली में सच्ची बात बाहर निकालना वादी या प्रतिवादी का असल उद्देश्य नहीं, किसी भी तरह मुकदमा जीतना ही है उद्देश्य। अतएव परामर्शदाता वैसी ही चेष्टा करेंगे, नहीं तो उन्हें धर्मच्युत होना होगा। भगवान् द्वारा अन्य गुण न दिये जाने पर जो गुण हैं उनके बल पर ही मुकदमा जीतना होगा, अतः नॉर्टन साहब स्वधर्म-पालन ही कर रहे थे। सरकार बहादुर उन्हें हर रोज हजार रुपये देती थी। यह अर्थव्यय वृथा जाने से सरकार बहादुर की क्षति होती, यह क्षति न हो इसके लिये नॉर्टन साहब ने प्राणपन से चेष्टा की थी। पर राजनीतिक मुकदमे में आसामी को विशेष उदारता के साथ सुविधा देना और संदेहजनक एवं अनिश्चित प्रमाण पर जोर न देना ब्रिटिश कानून-पद्धति का नियम है। नॉर्टन साहब यदि इस नियम को सदा याद रखते तो, मेरे ख्याल में, उनके केस की कोई हानि न होती। दूसरी तरफ कुछ-एक निर्दोषों को निर्जन कारावास की यंत्रणा न भोगनी पड़ती और निरीह अशोक नंदी की जान भी बच जाती। परामर्शदाता की सिंह-प्रकृति ही थी शायद इस दोष का मूल। होलिंशेड (Holinshed) हॉल (Hall) और प्लूटार्क (Plutarch) जैसे शेक्सपियर के लिये ऐतिहासिक नाटकों का उपादान संगृहीत कर रख गये थे, पुलिस ने भी वैसे ही इस मुकदमे के नाटक के उपादान का संग्रह किया था। हमारे नाटक के शेक्सपियर थे नॉर्टन साहब। किंतु शेक्सपियर और नॉर्टन में मैंने एक प्रभेद देखा। संगृहीत उपादान का कुछ अंश शेक्सपियर कहीं-कहीं छोड़ भी देते थे, पर नॉर्टन साहब अच्छा-बुरा सत्य-मिथ्या, संलग्न-असंलग्न, अणोरणीयान् महतो महीयान् जो पाते, एक भी न छोड़ते, तिस पर निजी कल्पनासृष्ट-प्रचुर suggestion, inference, hypothesis (सुझाव, अनुमान, परिकल्पना) जुटा इतना सुंदर plot (कथानक) रचा कि शेक्सपियर, डेफो इत्यादि सर्वश्रेष्ठ कवि और उपन्यासकार इस महाप्रभु के आगे मात खा गये। आलोचक कह सकते हैं कि जैसे फालस्टाफ के होटल के बिल में एक आने की रोटी और असंख्य गेलन शराब

का समावेश था उसी तरह नॉर्टन साहब के plot में एक रत्ती प्रमाण के साथ दस मन अनुमान और suggestions (सुझाव) थे। किंतु आलोचक भी plot की परिपाटी और रचना-कौशल की प्रशंसा करने को बाध्य होगा। नॉर्टन साहब ने इस नाटक के नायक के रूप में मुझे ही पसंद किया यह देख मैं समधिक प्रसन्न हुआ था। जैसे मिल्टन के "Paradise Lost" का शैतान वैसे ही मैं भी था नॉर्टन साहब के plot का कल्पनाप्रसूत महाविद्रोह का केंद्रस्वरूप, असाधारण तीक्ष्ण बुद्धि-संपन्न क्षमतावान् और प्रतापशाली bold bad man (ढीठ बुरा आदमी)। मैं ही था राष्ट्रीय आंदोलन का आदि और अंत, स्रष्टा और त्राता, ब्रिटिश साम्राज्य का संहार-प्रयासी। उत्कृष्ट और तेजस्वी अंग्रेजी लेख देखते ही नॉर्टन साहब उछल पड़ते और उच्च स्वर में कहते—अरविन्द घोष। आंदोलन के जितने भी वैध, अवैध, सुशृंखलित अंग या अप्रत्याशित फल—वे सभी अरविन्द घोष की सृष्टि, और क्योंकि वे अरविन्द की सृष्टि हैं इसलिये वैध होने पर भी उसमें अवैध अभिसंधि गुप्त रूप से निहित है। शायद उनका यह विश्वास था कि अगर मैं पकड़ा न गया तो दो साल के अंदर-अंदर अंग्रेजों के भारतीय साम्राज्य का ध्वंस हो जायेगा। किसी फटे कागज के टुकड़े पर मेरा नाम पाते ही नॉर्टन साहब खूब खुश होते और इस परम मूल्यवान् प्रमाण को मजिस्ट्रेट के श्रीचरणों में सादर समर्पित करते। अफसोस कि मैं अवतार बनकर नहीं जनमा, नहीं तो मेरे प्रति उस समय की उनकी इतनी भक्ति और मेरे अनवरत ध्यान से नॉर्टन साहब निश्चित ही उसी समय मुक्ति पा जाते जिससे हमारी कारावास की अवधि और गवर्नमेंट का अर्थव्यय दोनों की ही बचत होती। सेशंस अदालत द्वारा मुझे निर्दोष प्रमाणित किये जाने से नॉर्टन-रचित plot की सब श्री और गौरव नष्ट हो गया। बेरसिक बीचक्राफ्ट 'हैमलेट' नाटक से हैमलेट को निकाल बीसवीं सदी के श्रेष्ठ काव्य को हतश्री कर गये। समालोचक को यदि काव्य-परिवर्तन का अधिकार दे दिया जाये तो भला क्यों न होगी ऐसी दुर्दशा! नॉर्टन साहब को और एक दुःख था, कुछ गवाह भी ऐसे बेरसिक थे कि उन्होंने भी उनके रचित plot के अनुसार गवाही देने से साफ इन्कार कर दिया। नॉर्टन साहब गुस्से से लाल-पीले हो जाते, सिंह-गर्जना से उनके प्राण कंपा उन्हें धमकाते। जैसे कवि को स्वरचित शब्द की अन्यथा प्रकाशन पर और सूत्रधार को, अभिनेता की आवृत्ति, स्वर या अंगभंगिमा उसके दिये गये निर्देशों के विरुद्ध होने पर न्यायसंगत और अदमनीय क्रोध आता है, वैसा ही क्रोध आता था नॉर्टन साहब को। बैरिस्टर भुवन चटर्जी के साथ हुए संघर्ष का कारण यह सात्विक क्रोध ही था। चटर्जी महाशय के जितना रसानभिज्ञ पुरुष तो कोई नहीं देखा। उन्हें रत्तीभर भी समय-असमय का ज्ञान नहीं था। नॉर्टन साहब जब संलग्न-असंलग्न का विचार न कर केवल कवित्व की खातिर जिस-तिस प्रमाण को घुसेड़ते, तब चटर्जी महाशय खड़े हो असंलग्न या inadmissible (अमान्य) कह आपत्ति करते। वे समझ न सके कि ये साक्ष्य इसलिये नहीं पेश किये जा रहे कि ये संलग्न या कानून-

सम्मत हैं वरन् इसलिये कि वे नार्टनकृत नाटक में शायद उपयोगी हों। इस असंगत व्यवहार से नॉर्टन ही क्यों, बर्ली साहब तक झुंझला उठते। एक बार बर्ली साहब ने चटर्जी महाशय को बड़े करुण स्वर में कहा था, "Mr. Chatterjee, we were getting on very nicely before you came,—आपके आने से पहले हम निर्विघ्न मुकदमा चला रहे थे।" सच ही तो है, नाटक की रचना के समय बात-बात पर आपत्ति उठाने से नाटक भी आगे नहीं बढ़ता और दर्शकों को भी मजा नहीं आता।

यदि नॉर्टन साहब थे नाटक के रचयिता, प्रधान अभिनेता और सूत्रधार तो मजिस्ट्रेट बर्ली को कहा जा सकता है नाटककार का पृष्ठपोषक या patron। बर्ली साहब शायद थे स्कॉच जाति के गौरव। उनका चेहरा स्कॉटलैंड की याद दिलाता था। खूब गोरी, खूब लम्बी, अतिकृष दीर्घ देहयष्टि पर छोटा-सा सिर देख ऐसा लगता था जैसे अभ्रभेदी ऑक्टोरलोनी के monument (स्मारक) पर छोटे-से ऑक्टोरलोनी बैठे हों, या क्लियोपेट्रा के obelisk (स्तंभ) के शिखर पर एक पका नारियल रखा हो। उनके बाल थे धूसर वर्ण (sandy haired) और स्कॉटलैंड की सारी ठंड और बर्फ उनके चेहरे के भाव पर जमी हुई थी। जो इतना दीर्घकाय हो उसकी बुद्धि भी तद्रूप होनी चाहिये, नहीं तो प्रकृति की मितव्ययिता के संबंध में संदेह होता है। किंतु इस प्रसंग में, बर्ली की सृष्टि के समय, लगता है, प्रकृति देवी कुछ अनमनी एवं अन्यमनस्क हो गयी थीं। अंग्रेज कवि मार्लो ने इस मितव्ययिता का infinite riches in a little room (छोटे-से भण्डार में असीम धन) कह वर्णन किया है किंतु बर्ली का दर्शन कवि के वर्णन से विपरीत भाव मन में जगाता है—infinite room in little riches (असीम भण्डार के लिये थोड़ा-सा धन)। सचमुच इस दीर्घ देह में इतनी थोड़ी विद्या-बुद्धि देख दुःख होता था और इस तरह के अल्पसंख्यक शासनकर्ताओं द्वारा तीस कोटि भारतवासी शासित हो रहे हैं यह याद कर अंग्रेजों की महिमा और ब्रिटिश शासन-प्रणाली पर प्रगाढ़ भक्ति उमड़ती थी। श्रीयुत व्योमकेश चक्रवर्ती द्वारा जिरह करते समय बर्ली साहब की विद्या की पोल खुली। इतने साल मजिस्ट्रेटगिरी करने के बाद भी यह निर्णय करने में उनका सिर घूम गया कि उन्होंने अपने करकमलों में यह मुकदमा कब ग्रहण किया या कैसे मुकदमा ग्रहण किया जाता है, इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ हो चक्रवर्ती साहब पर इसका भार दे साहब स्वयं निष्कृति पाने के लिये सचेष्ट हुए। अभी भी यह प्रश्न मुकदमे की अति जटिल समस्याओं में से एक गिना जाता है कि बर्ली ने कब मुकदमा अपने हाथ में लिया था। चटर्जी महाशय के प्रति किये गये जिस करुण निवेदन का उल्लेख मैंने किया है उससे भी साहब की चिंतनधारा का अनुमान लगाया जा सकता है। शुरू से ही वे नॉर्टन साहब के पाण्डित्य और वाग्विलास से मंत्रमुग्ध हो उनके वश में हो गये थे। ऐसे विनीत भाव से नॉर्टन द्वारा प्रदर्शित पथ का अनुसरण करते, नॉर्टन की हां में हां मिलाते, नॉर्टन के हंसने पर हंसते, नॉर्टन के कुपित होने पर कुपित होते कि यह

सरल शिशुवत् आचरण देख कभी-कभी मन में प्रबल स्नेह और वात्सल्य का आविर्भाव होता। बर्ली के स्वभाव में निरा लड़कपन था। उन्हें कभी भी मजिस्ट्रेट न मान सका, ऐसा लगता मानों स्कूल का छात्र हठात् स्कूल का शिक्षक बन शिक्षक के उच्च मंच पर चढ़ बैठा है। ऐसे ही वे कोर्ट का काम चलाते। कोई उनके साथ अप्रिय व्यवहार करता तो स्कूली शिक्षक की तरह शासन करते। हम में से यदि कुछ मुकदमे के प्रहसन से विरक्त हो आपस में बातें करने लगते तो बर्ली साहब स्कूलमास्टर की तरह डांट पिलाते, न सुना हो तो सबको खड़े हो जाने की आज्ञा देते, उसका भी तुरत पालन न किया तो प्रहरी को हमें खड़ा कर देने के लिये कहते। हम स्कूलमास्टर के इस रंग-ढंग को देखने के इतने आदी हो गये थे कि जब बर्ली और चटर्जी महाशय का झगड़ा हुआ तो हम प्रति क्षण इस आशा में थे कि अब बैरिस्टर साहब को खड़े रहने का दंड मिलेगा। बर्ली साहब ने लेकिन उल्टा रास्ता पकड़ा, चिल्लाते हुये sit down Mr. Chaterjee (बैठ जाइये, मि. चटर्जी) कह अलीपुर स्कूल के इस नवागत उद्दण्ड छात्र को बिठा दिया। जैसे कोई-कोई मास्टर छात्र के किसी प्रश्न से या पढ़ाते समय अतिरिक्त व्याख्यान चाहने से उसे डांट देते हैं, बर्ली भी आसामी के वकील की आपत्ति पर खीज उसे डपट देते। कोई-कोई साक्षी नॉर्टन को परेशान करते। नॉर्टन सिद्ध करना चाहते थे कि अमुक लेख अमुक आसामी के हस्ताक्षर हैं, साक्षी यदि कहते कि नहीं, यह तो ठीक उस लेख की तरह नहीं, फिर भी हो सकता है, कहा नहीं जा सकता—बहुत-से साक्षी इसी तरह का उत्तर देते थे—तो नॉर्टन अधीर हो उठते। बक-झक कर, चिल्लाकर, डांट-डपट कर किसी भी उपाय से अभीप्सित उत्तर उगलवाने की चेष्टा करते। उनका अंतिम प्रश्न होता, "What is your belief ?" तुम क्या कहते हो, हां या ना ? साक्षी न हां कह पाते न ना। घुमा-फिरा बराबर वही उत्तर देते। नॉर्टन को यह समझाने की चेष्टा करते कि उनका कोई भी belief (राय) नहीं, वे संदेह में झूल रहे हैं। किंतु नॉर्टन वह उत्तर नहीं चाहते थे, बार-बार मेघगर्जना करते हुए उसी विकट प्रश्न से साक्षी के सिर पर वज्राघात करते, "Come, sir, what is your belief ?" (हां, तो फिर क्या राय है महाशय आपकी ?) नॉर्टन के क्रुद्ध होते ही बर्ली भी ऊपर से गरजते, "टोमारा क्या राय है ?" बेचारे साक्षी धर्मसंकट में पड़ जाते। उनकी कोई राय नहीं लेकिन एक तरफ से मजिस्ट्रेट दूसरी तरफ से नॉर्टन क्षुधित व्याघ्र की तरह उनकी बोटी-बोटी अलग कर अमूल्य अप्राप्य राय बाहर निकलवाने को तत्पर हो दोनों तरफ से भीषण गर्जन करते। बहुधा राय जाहिर न होती, चकरायी बुद्धि और पसीने से तर साक्षी उस यंत्रणा-स्थल से अपने प्राण बचा भाग खड़े होते। कोई-कोई प्राणों को ही विश्वास से प्रियतर मान नॉर्टन साहब के चरण-कमलों में झूठी राय का उपहार चढ़ा बच निकलते, नॉर्टन भी अति संतुष्ट हो बाकी जिरह स्नेहसहित संपन्न करते। ऐसे परामर्शदाता के साथ आ मिले थे ऐसे मजिस्ट्रेट तभी तो मुकदमे ने और भी अधिक नाटकीय रूप धारण कर लिया था।

कुछ एक साक्षियों के विरुद्धाचरण करने पर भी अधिकांश नॉर्टन साहब के प्रश्नों का अनुकूल उत्तर देते। इनमें जाने-पहचाने कम ही थे। कोई-कोई किंतु परिचित भी था। देवदास करण महाशय ने हमारी विरक्ति दूर कर हमें खूब हंसाया था, चिरकाल हम उनके कृतज्ञता के ऋण में बंधे रहेंगे। इन साक्षी ने यह गवाही दी थी कि मेदिनीपुर के सम्मेलन के समय जब सुरेन्द्र बाबू ने अपने छात्रों से गुरुभक्ति के बारे में पूछा था तब अरविन्द बाबू बोल पड़े थे, "द्रोण ने क्या किया ?" यह सुनते ही नॉर्टन साहब के आग्रह और कौतुहल की सीमा न रही, उन्होंने निस्संदेह यह सोचा होगा कि द्रोण या तो कोई बम का भक्त है या राजनीतिक हत्यारा या मानिकतला बागान या छात्रमंडली से संयुक्त कोई व्यक्ति। नॉर्टन के ख्याल में इस वाक्य का अर्थ शायद यह था कि अरविन्द घोष ने सुरेन्द्र बाबू को गुरुभक्ति के बदले बम का पुरस्कार देने का परामर्श दिया था, तब तो मुकदमे में बड़ी सुविधा हो सकती है। अतएव उन्होंने साग्रह प्रश्न किया, "द्रोण ने क्या किया ?" शुरू में साक्षी किसी भी तरह प्रश्न का उद्देश्य समझ न सके। पांच मिनट तक इसे लेकर खींच-तान चलती रही, अंत में करण महाशय ने दोनों हाथ ऊपर फैला नॉर्टन साहब को जतलाया, "द्रोण ने अनेक चमत्कार खिलाये थे।" इससे नॉर्टन साहब संतुष्ट नहीं हुए। द्रोण के बम का अनुसंधान न मिलने तक संतुष्ट हों भी कैसे ? दुबारा पूछा, "अनेक चमत्कार क्या बला हैं ? क्या विशेष किया है उन्होंने ?" साक्षी ने इसके अनेकों उत्तर दिये, एक से भी द्रोणाचार्य के जीवन के इस गुप्त रहस्य का भेद नहीं खुला ! नॉर्टन साहब भड़क उठे, गर्जना शुरू किया। साक्षी भी चिल्लाने लगे। एक वकील ने हंसते हुए यह संदेह व्यक्त किया कि शायद साक्षी को पता नहीं कि द्रोण ने क्या किया। करण महाशय इस पर क्रोध और क्षोभ से आगबबूला हो उठे। चिल्लाये, "क्या ? मैं ? मैं नहीं जानता कि द्रोण ने क्या किया ? वाह, क्या मैंने वृथा ही सारा महाभारत पढ़ा ?" आधे घंटे तक द्रोणाचार्य की मृत-देह पर करण और नॉर्टन का महायुद्ध चला। हर पांच मिनट बाद अलीपुर विचारालय को कंपाते नॉर्टन अपना प्रश्न गुंजाने लगे, "Out with it, Mr. Editor ! What did Drona do ?" (हां, बताइये-बताइये, संपादक महाशय द्रोण ने क्या किया ?) उत्तर में संपादक महाशय ने एक लंबी रामकहानी आरंभ की, किंतु द्रोण ने क्या किया, इसका कोई विश्वसनीय संवाद नहीं मिला। सारी अदालत ठहाकों से गूंज उठी। अंत मे टिफिन के समय करण महाशय जरा ठंडे दिमाग से सोच-समझ कर लौटे और समस्या की यह मीमांसा बतलायी कि बेचारे द्रोण ने कुछ नहीं किया, बेकार ही उनकी परलोकगत आत्मा को ले आधे घंटे तक खींच-तान चली, अर्जुन ने ही गुरु द्रोण का वध किया था। अर्जुन के इस मिथ्या अपवाद से द्रोणाचार्य ने निस्तार पा कैलाश में बैठे सदाशिव को धन्यवाद दिया होगा कि करण महाशय की गवाही के कारण अलीपुर के बम-केस में उन्हें कठघरे में खड़ा नहीं होना पड़ा। संपादक महाशय की एक बात से सहज ही अरविन्द घोष के साथ

उनका संबंध प्रमाणित हो जाता। किंतु आशुतोष सदाशिव ने उनकी रक्षा की।

जो गवाही देने आये थे उन्हें तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पुलिस और गोयंदा, पुलिस के प्रेम में आबद्ध निम्नश्रेणी के लोग और सज्जन, और तीसरे अपने दोषवश पुलिस-प्रेम से वंचित, अनिच्छा से आये हुए गवाह। हर श्रेणी का गवाही देने का ढंग था अलग-अलग। पुलिस महोदय भाव से, अम्लानवदन अपने पूर्वज्ञात वक्तव्यों को मनमाने ढंग से बोल जाते, जिसे पहचानना होता पहचान लेते—कोई संदेह नहीं, दुविधा नहीं, भूल-चूक नहीं। पुलिस के संगी-साथी अतिशय आग्रह के साथ गवाही देते, जिसे पहचानना होता उसे भी पहचान लेते और जिसे नहीं पहचानना होता उसे भी बहुत बार अतिशय उत्सुकतावश पहचान लेते। अनिच्छा से आये गवाह जो कुछ जानते होते वही कहते, लेकिन वह बहुत थोड़ा होता; नॉर्टन साहब उससे असंतुष्ट हो और यह सोचकर कि साक्षी के पेट में अपार मूल्यवान् और संदेहनाशक प्रमाण हैं, जिरह के बल पर उसका पेट चीर उन्हें बाहर निकालने की भरपूर चेष्टा करते। इससे साक्षी महा संकट में पड़ जाते। एक ओर नॉर्टन साहब की गर्जना और बर्ली साहब की लाल-लाल आंखें, दूसरी ओर झूठी गवाही दे देशवासियों को कालेपानी भेजने का महापाप। गवाहों के सामने एक गुरुतर प्रश्न उठ खड़ा होता नॉर्टन-बर्ली को खुश करें या भगवान् को। एक तरफ क्षणस्थायी विपत्ति—मनुष्यों का कोप, दूसरी ओर पाप का दंड—नरक और परजन्म में दुःख। लेकिन वे सोचते नरक और परजन्म तो दूर की बातें हैं, मनुष्यकृत विपद् तो उन्हें अगले क्षण ही ग्रस सकती है। बहुतों के मन में यह डर था कि मिथ्या गवाही देने के लिये राजी न होने पर भी मिथ्या गवाही के अपराध में पकड़े जायेंगे, क्योंकि ऐसे स्थलों पर परिणाम के दृष्टांत विरल नहीं। अतएव इस श्रेणी के साक्षियों को जो समय साक्षी के कठघरे में अतिवाहित करना पड़ता वह उनके लिये विलक्षण भीति और यंत्रणा का समय होता। जिरह शेष होने पर उनके अर्ध-निर्गत प्राण फिर से देह में लौट उन्हें यंत्रणामुक्त करते। कुछ एक साहस के साथ गवाही देते, नॉर्टन की गर्जना की परवाह न करते, अंग्रेज परामर्शदाता भी यह देख जातीय प्रथा का अनुसरण कर नरम पड़ जाते। इस तरह कितने ही साक्षी आये, कितनी तरह की गवाहियां दे गये, किंतु एक ने भी पुलिस के लिये उल्लेखनीय कोई सुविधा नहीं की। एक ने साफ कहा—मैं कुछ नहीं जानता, समझ नहीं आता क्यों पुलिस मुझे जबरदस्ती खींच लायी है। इस तरह का मुकदमा चलाना शायद भारत में ही संभव है, दूसरे देशों में जज इससे झुंझला उठते और पुलिस का गंजन कर अच्छा सबक सिखाते। बिना अनुसंधान के दोषी-निर्दोष का विचार न कर कठघरे में खड़ा करना, अंदाज से साक्षी खड़े कर देश का पैसा बहाना और आसामियों को निरर्थक लंबे समय तक कारा-यंत्रणा में रखना इस देश की पुलिस को ही शोभा देता है। लेकिन बेचारी पुलिस क्या करे? वह तो नाम की

गोयंदा थी, उसमें जब वह क्षमता ही नहीं थी तो ऐसे साक्षियों के लिये एक विशाल जाल फेंककर अंदाज से उत्तम, मध्यम और अधम साक्षी फंसा कठघरे में खड़ा करना ही था एकमात्र उपाय। क्या मालूम शायद वे कुछ जानते हों, कुछ प्रमाण दे भी दें ?

आसामियों को पहचानने की व्यवस्था भी बड़ी रहस्यमय थी। पहले साक्षी से पूछा जाता, तुम इनमें से किसी को पहचान सकोगे ? साक्षी यदि कहते, हां, पहचान सकता हूं तो नॉर्टन साहब हर्षोत्फुल्ल हो तुरत कठघरे में identification parade (पहचान-परेड) की व्यवस्था करा वहां उन्हें अपनी स्मरणशक्ति को चरितार्थ करने का आदेश देते। यदि वे कहते, पता नहीं, शायद पहचान भी लूं, तो जरा नाराजगी से कहते, अच्छा, जाओ चेष्टा करो। यदि कोई कहता, नहीं, नहीं कर सकूंगा, मैंने उन्हें नहीं देखा या ध्यान नहीं दिया तो भी नॉर्टन साहब उन्हें न छोड़ते। शायद इतने चेहरे देख पूर्वजन्म की कोई स्मृति ही जागृत हो जाये इसलिये उसे परीक्षा करने को भेज देते। साक्षी में वैसी योगशक्ति नहीं थी। शायद पूर्वजन्मवाद में आस्था भी नहीं, वे आसामियों की दीर्घ दो पंक्तियों के बीच सार्जेंटों के नेतृत्व में, शुरू से अंत तक गंभीर भाव से कूच करते हुए, हमारे चेहरों को बिना देखे ही सिर हिलाकर कहते—नहीं, नहीं पहचानता। निराश हृदय नॉर्टन इस मत्स्यशून्य जीवंत जाल को समेट लेते। मनुष्य की स्मरणशक्ति कितनी प्रखर और अभ्रांत हो सकती है इसका अपूर्व प्रमाण मिला इस मुकदमे में। तीस-चालीस आदमी खड़े हैं, उनका नाम नहीं पता, किसी भी जन्म में एक बार भी उनके साथ बातचीत नहीं हुई, फिर भी दो मास पहले किसे देखा है, किसे नहीं देखा, अमुक को अमुक तीन जगह देखा, अमुक दो जगह नहीं; एक बार उसे दांत मांजते हुए देखा था इसलिये उसका चेहरा जन्म-जन्मांतर के लिये मेरे मन में अंकित रह गया है। इन्हें कब देखा, क्या कर रहे थे, कौन साथ थे, या एकाकी थे, कुछ भी याद नहीं, फिर भी उनका चेहरा मेरे मन में जन्म-जन्मांतर के लिये अंकित है; हरि को दस बार देखा है इसलिये उन्हें भूलने की कोई संभावना नहीं, श्याम को एक बार सिर्फ आधे मिनट के लिये देखा लेकिन उसे भी मरते दम तक नहीं भूल सकूंगा, भूल-चूक होने की कोई संभावना नहीं—ऐसी स्मरणशक्ति इस अपूर्ण मानव प्रकृति में, इस तमोभिभूत मर्त्य धाम में साधारणतः नहीं मिलती। एक नहीं, दो नहीं, प्रत्येक पुलिसपुंगव में ऐसी विचित्र, निर्भूल, अभ्रांत स्मरणशक्ति देखने को मिली। इससे सी० आई० डी० पर हमारी श्रद्धा-भक्ति दिन-दिन प्रगाढ़ होने लगी। अफसोस है, सैशन्स कोर्ट में वह भक्ति कम करनी पड़ी थी। मजिस्ट्रेट को कोर्ट में दो-एक बार संदेह न हुआ हो ऐसी बात नहीं। जब यह लिखित गवाही देखी कि शिशिर घोष अप्रैल में बंबई में थे और ठीक उसी समय कुछ एक पुलिसपुंगवों ने उन्हें स्कॉट्स लेन और हैरिसन रोड पर भी देखा तब थोड़ा-सा संदेह तो हुआ ही था। जब श्रीहट्टवासी वीरेंद्रचंद्र सेन स्थूल शरीर से बनियाचंग में पितृभवन में रहते हुए भी बागान में और स्कॉट्स लेन में—जिस स्कॉट्स लेन का पता वीरेंद्र नहीं जानते थे, इसका अकाट्य प्रमाण

लिखित साक्ष्य में मिला था—उनका सूक्ष्म शरीर सी० आई० डी० की सूक्ष्म दृष्टि ने देखा था, तब और भी संदेह हुआ था। विशेषकर जिन्होंने स्कॉट्स लेन में कभी भी पदार्पण नहीं किया, उन्होंने जब सुना कि पुलिस ने उन्हें वहां कई बार देखा है, तब संदेह का उद्रेक होना कुछ अस्वाभाविक नहीं। मेदिनीपुर के एक साक्षी मेदिनीपुर के आसामियों से पता लगा कि वे भी गोयंदा हैं—बोले कि उन्होंने श्रीहट्ट के हेमचंद्र सेन को तमलूक में वक्तृता देते देखा था। किंतु हेमचंद्र ने अपनी स्थूल आंखों से कभी तमलूक नहीं देखा, तो भी उनके छायामय शरीर ने श्रीहट्ट से सुदूर तमलूक जाकर तेजस्वी और राजद्रोहपूर्ण स्वदेशी व्याख्यान दे गोयंदा महाशय की चक्षुतृप्ति और कर्णतृप्ति की थी। किंतु चंदननगर के चारुचंद्र राय के छायामय शरीर ने मानिकतला में उपस्थित हो इससे भी ज्यादा रहस्यमय कांड मचाया था। पुलिस के दो कर्मचारियों ने शपथ खाकर कहा था कि उन्होंने अमुक दिन अमुक समय चारु बाबू को श्यामबाजार में देखा था, वे श्यामबाजार से एक षड्यंत्रकारी के साथ मानिकतला बागान तक पैदल गये थे, उन्होंने भी वहां तक उनका पीछा किया था और बहुत पास से देखा था, अतः भूल होने की गुंजायश नहीं। वकील की जिरह से दोनों साक्षी टस-से-मस न हुए। *व्यासस्य वचनं सत्यम्*,—पुलिस की गवाही भी अन्यथा नहीं हो सकती।

दिन और समय के संबंध में भी उनकी भूल होने की बात ही नहीं, क्योंकि ठीक उसी दिन, उसी समय चारु बाबू कॉलिज से छुट्टी ले कलकत्ते में उपस्थित थे, चंदननगर के डुप्ले कॉलिज के अध्यक्ष की गवाही से यह प्रमाणित हुआ था। किन्तु आश्चर्य! ठीक उसी दिन, उसी समय चारु बाबू हावड़ा स्टेशन के प्लैटफार्म पर चंदननगर के मेयर तार्दिवाल, तार्दिवाल की पत्नी, चंदननगर के गवर्नर और अन्यान्य संभ्रांत यूरोपीय सज्जनों के साथ बातें करते-करते टहल रहे थे। ये सब इसी बात को याद कर चारु बाबू के पक्ष में गवाही देने के लिये राजी हुए थे। फ्रैंच गवर्नमेंट की चेष्टा पुलिस द्वारा चारु बाबू को छोड़ दिये जाने पर विचारालय में इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। किंतु चारु बाबू को मैं यह परामर्श देता हूं कि वे ये सब प्रमाण Psychical Research Society को भेज मनुष्यजाति के ज्ञान-संचय में सहायता करें। पुलिस की गवाहियां मिथ्या नहीं हो सकतीं,—विशेषकर सी० आई० डी० की—अतएव थियोसोफी के आश्रय के अलावा हमारे लिये और कोई चारा नहीं। सौ बात की एक बात, ब्रिटिश कानून-प्रणाली में कितनी आसानी से निर्दोषों को जेल, कालापानी और फांसी तक हो सकती है इसका दृष्टांत इस मुकदमे में पग-पग पर पाया। कठघरे में खड़े न होने तक पाश्चात्य विचार-प्रणाली की मायावी असत्यता हृदयंगम नहीं की जा सकती। यूरोप की यह प्रणाली है जुए का एक खास खेल; मनुष्य की स्वाधीनता, मनुष्य का सुख-दुःख, उसकी और उसके परिवार एवं आत्मीय बंधु की जीवनव्यापी यंत्रणा, अपमान और जीवंत मृत्यु को ले जुए का खेल। इससे कितने दोषी बच जाते हैं और कितने निर्दोष मर जाते हैं इसकी कोई गिनती नहीं।

यूरोप में Socialism (समाजवाद) और Anarchism (अराजकतावाद) का कितना प्रचार और प्रभाव हुआ है वह इस जुए में एक बार फंसने पर, इस निष्ठुर निर्विचार समाजरक्षक पेषणयंत्र में एक बार पड़ने पर पहली दृष्टि में ही समझ में आ जाता है। ऐसी अवस्था में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अनेक उदारचेता दयालु, जन कहने लग गये हैं कि इस समाज को तोड़ दो, चूर-मार कर दो; इतने पाप, इतने दुःख, इतने निर्दोषों के तप्त निःश्वास और हृदय के खून से यदि समाज की रक्षा करनी हो तो बेकार है वह रक्षा।

मजिस्ट्रेट की कोर्ट में एकमात्र विशेष उल्लेखनीय घटना थी नरेंद्रनाथ गोस्वामी की गवाही। उस घटना का वर्णन करने से पहले अपनी विपदा के संगी युवक आसामियों के बारे में कहता चलूं। कोर्ट में इनका आचरण देख अच्छी तरह समझ गया था कि बंगाल में नवयुग आ गया है, नयी संतति मां की गोद में वास करना आरंभ कर चुकी है। तत्कालीन बंगाली लड़के दो तरह के थे, या तो थे शांत, शिष्ट, निरीह, सच्चरित्र, भीरु, आत्मसम्मान और उच्चाकांक्षा से शून्य; या दुश्चरित्र, दुर्दान्त, अस्थिर, ठग, संयमी और साधुता से शून्य। इन दो चरमावस्थाओं के बीच नानारूप जीव बंगजननी की क्रोड़ में जनमे थे, लेकिन आठ-दस असाधारण प्रतिभावान्, शक्तिमान् भविष्य के पथ प्रदर्शकों को छोड़ इन दो श्रेणियों के अलावा तेजस्वी आर्यसंतान प्रायः देखने में नहीं आती थी। बंगाली में बुद्धि थी, मेधाशक्ति थी लेकिन शक्ति नहीं थी; मनुष्यत्व नहीं था। लेकिन इन लड़कों को दखते ही लगता था कि मानों अन्य युग के अन्य शिक्षाप्राप्त, उदारचेता, दुर्दान्त तेजस्वी पुरुष फिर से भारतवर्ष में लौट आये हैं। वह निर्भीक सरल दृष्टि, वह तेजपूर्ण वाणी, वह चिंताशून्य आनंदमयी हंसी, इस घोर विपद् के समय भी वह अक्षुण्ण तेजस्विता, मन की प्रसन्नता, विमर्शता, चिंता या संताप का अभाव, उस समय के तमःक्लिष्ट भारतवासी का नहीं, है नूतन युग का, नूतन जाति का, नूतन कर्मस्रोत का लक्षण। ये यदि हत्यारे हों तो कहना पड़ेगा कि हत्या की रक्तमयी छाया उनके स्वभाव पर नहीं पड़ी, क्रूरता, उन्मत्तता और पाशविक भाव उनमें कतई नहीं था। उन्होंने भविष्य की या मुकदमे के फल की जरा भी चिंता न कर कारावास के दिन बालकोचित आमोद में, हंसी में, खेल में, पढ़ने-सुनने में, समालोचना में बिताये। बहुत जल्दी ही उन्होंने जेल में कर्मचारी, सिपाही, कैदी, यूरोपीय सार्जेंट, जासूस, कोर्ट के कर्मचारी सभी के साथ मैत्री का नाता जोड़ लिया था एवं शत्रु-मित्र, छोटे-बड़े का विचार न कर सबके साथ बातचीत, हंसी-मजाक करने लग गये थे। कोर्ट का समय उन्हें बड़ा विरक्तिकर लगता, क्योंकि मुकदमे के प्रहसन में रस बहुत कम आता था। यह समय काटने के लिये उनके पास न पढ़ने को किताब थी न बात करने की अनुमति। जो योग करना शुरू कर चुके थे, उन्होंने तबतक गुल-गपाड़े में ध्यान करना नहीं सीखा था, उन्हें समय काटना पहाड़ हो

जाता। शुरू में दो-चार जन पढ़ने के लिये किताब अंदर लाने लगे, उनकी देखा-देखी बाकी सबने भी उसी उपाय का सहारा लिया। उसके बाद एक अद्‌भुत दृश्य देखने को मिलता—मुकदमा चल रहा है, तीस-चालीस आसामियों के सारे भविष्य को ले खींचा-तानी चल रही है, उसका फल हो सकता है फांसी के तख्ते पर मृत्यु या आजीवन कालापानी, किंतु उस ओर दृक्‌पात न कर उनमें से कोई बंकिम का उपन्यास, कोई विवेकानंद का राजयोग या Science of Religions, कोई गीता, कोई पुराण तो कोई यूरोपीय दर्शन एकाग्र मन से पढ़ रहा होता। अंग्रेज सार्जेंट या देशी सिपाही कोई भी उनके इस आचरण में बाधा नहीं देता। वे सोचते थे कि यदि इससे ही इतने सारे पिंजराबद्ध व्याघ्र शांत रहें तो हमारा काम भी कम होता है और इससे किसी की क्षति भी नहीं होती। लेकिन एक दिन बर्ली साहब की दृष्टि खिंच गयी इस दृश्य की ओर, असह्य हो उठा मजिस्ट्रेट साहब को यह आचरण। दो दिन तो वे कुछ नहीं बोले लेकिन और ज्यादा न सह सके, पुस्तकें लाने की मनाही कर दी। असल में बर्ली इतना सुन्दर विचार कर रहे थे, उसे सुनकर कहां तो सबको आनंद लेना चाहिये था उल्टे पढ़ रहे थे सब पुस्तकें। यह तो बर्ली के गौरव और ब्रिटिश जस्टिस की महिमा के प्रति घोर असम्मान प्रदर्शित करना है, इसमें संदेह नहीं।

हम जितने दिन अलग-अलग कोठरियों में बंद थे उतने दिन केवल गाड़ी में, मजिस्ट्रेट के आने से पहले एक घंटा या आधा घंटा और खाने के समय कुछ बातें करने का अवसर पाते। जिनका परस्पर परिचय या अलाप था वे इस समय cell (सेल) की नीरवता और निर्जनता का प्रतिशोध लेते, हंसी, आमोद और नाना विषयों की आलोचना में समय बिताते। लेकिन ऐसे अवसरों पर अपरिचितों के साथ बात करने की सुविधा नहीं होती इसीलिये मैं अपने भाई बारींद्र और अविनाश को छोड़ और किसी से भी ज्यादा बात न करता, उनका हंसी-मजाक, उनकी बातें सुनता पर स्वयं उसमें भाग न लेता। किंतु एक आदमी बातचीत में मेरे पास खिसक आता। वे थे भावी approver (मुखबिर) नरेंद्रनाथ गोस्वामी। दूसरे लड़कों की तरह उनका स्वभाव न शांत था न शिष्ट। वे थे साहसी और लघुचेता एवं चरित्र, वाणी और कर्म में असंयत। पकड़े जाने के समय नरेन गोसाईं ने अपना स्वाभाविक साहस और प्रगल्भता दिखायी थी, लेकिन लघुचेता होने के कारण कारावास का थोड़ा-सा भी दुःख और असुविधा सहन करना उनके लिये असाध्य हो उठा था। वे थे जमींदार के बेटे अतः सुख, विलास और दुर्नीति में पले, वे कारागृह के कठोर संयम और तपस्या से अत्यंत कातर हो गये थे, और यह भाव सबके सामने प्रकट करने में भी कुंठित नहीं हुए। जिस किसी भी उपाय से इस यंत्रणा से मुक्त होने की उत्कट लालसा उनके मन में दिन-दिन बढ़ने लगी। पहले उन्हें यह आशा थी कि अपनी स्वीकारोक्ति का प्रत्याहार कर वे यह प्रमाणित कर सकेंगे कि पुलिस ने शारीरिक यंत्रणा देकर दोष स्वीकार कराया था। उन्होंने हमें बताया कि उनके पिता इस तरह के झूठे गवाह जुटाने के

लिये कृतसंकल्प थे। किंतु थोड़े दिनों में ही और एक भाव सामने आने लगा। उनके पिता और एक मुखतार उनके पास बार-बार जेल में आने-जाने लगे, अंत में जासूस शमसुल आलम भी उनके पास बहुत देरतक गुप-चुप बातें करने लगे। ऐसे समय हठात् गोसाईं के कौतुहल और प्रश्न करने की प्रवृत्ति देख बहुतों के मन में संदेह का उद्रेक हुआ। भारतवर्ष के बड़े-बड़े आदमियों के साथ उनका परिचय या घनिष्ठता थी कि नहीं, गुप्त समिति को किस-किसने आर्थिक सहायता दे उसका पोषण किया, समिति के और कौन-कौन सदस्य बाहर या भारत के अन्यान्य प्रदेशों में थे, अब कौन समिति का कार्य चलायेंगे, शाखा-समिति कहां है इत्यादि अनेक छोटे-बड़े प्रश्न बारींद्र और उपेंद्र से पूछते। गोसाईं की यह ज्ञानतृष्णा की बात अचिरात् सबके कर्णगोचर हुई और शमसुल आलम के साथ उनकी घनिष्ठता की बात भी अब गोपनीय प्रेमालाप न रह open secret (खुला रहस्य) हो उठा। इसे लेकर खूब आलोचना होती और किसी-किसी ने यह भी लक्ष्य किया कि हमेशा पुलिस-दर्शन के बाद ही इस तरह के नये-नये प्रश्न गोसाईं के मन में चक्कर काटते थे। कहने की जरूरत नहीं कि उन्हें इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। जब पहले-पहल आसामियों में यह बात प्रचारित होने लगी तब गोसाईं ने स्वयं स्वीकार किया था कि पुलिस उनके पास आ "सरकारी गवाह" बन जाने के लिये उन्हें नाना उपायों से समझाने की चेष्टा कर रही है। कोर्ट में उन्होंने मुझे एक बार यह बात कही थी। मैंने उनसे पूछा था कि आपने क्या उत्तर दिया। वे बोले, "मैं क्या मानूंगा! मानने पर भी भला मैं क्या जानता हूं जो उनकी इच्छानुसार गवाही दूंगा?" उसके कुछ दिन बाद उन्होंने फिर से जब इस बात का उल्लेख किया तो देखा कि यह बात बहुत आगे बढ़ चुकी है। जेल में identification parade (पहचान परेड) के समय मेरी बगल में गोसाईं खड़े थे, तब वे मुझसे कहते: "पुलिस केवल मेरे पास ही आती है।" मैंने उपहास करते हुए कहा, "आप यह बात कह क्यों नहीं देते कि सर ऐन्ड्रू फ्रेजर गुप्त समिति के प्रधान पृष्ठपोषक थे, इससे उनका परिश्रम सार्थक होगा।" गोसाईं बोले, "ऐसी बात तो मैंने कह ही दी है। मैं उन्हें कह चुका हूं कि सुरेंद्रनाथ बनर्जी हैं हमारे head (प्रधान) और मैंने उन्हें भी एक बार बम दिखाया है।" स्तंभित हो मैंने उनसे पूछा, "यह बात कहने की जरूरत क्या थी?" गोसाईं बोले, "मैं—का श्राद्ध करके रहूंगा। उस तरह की और भी बहुत-सी खबरें मैंने दी हैं। मरें साले corroboration (प्रमाण) खोजते-खोजते। क्या पता, इस उपाय से, मुकदमा फिस ही हो जाये?" इसके उत्तर में मैंने केवल इतना कहा था, "ऐसी शरारत से बाज आइये। उनके साथ चालाकी करते-करते खुद ही ठगे जायेंगे।" पता नहीं गोसाईं की यह बात कहांतक सच थी। और सब आसामियों की यह राय थी कि हमारी आंखों में धूल झोंकने के लिये उन्होंने ऐसा कहा था। मेरा ख्याल था कि तबतक गोसाईं approver (मुखबिर) होने के लिये पूर्णतया कृतनिश्चय नहीं थे, यह ठीक है कि इस विषय में वे बहुत आगे बढ़ चुके थे,

किंतु पुलिस को ठग उनका केस मिट्टी कर देने की आशा भी उन्हें थी। चालाकी और असदुपाय से कार्यसिद्धि है दुष्प्रवृत्ति की स्वाभाविक प्रेरणा। तभी से समझ गया था कि गोसाईं पुलिस के वश हो सच-झूठ उन्हें जो भी चाहिये, वह कह अपने को बचाने की चेष्टा करेंगे। एक नीच स्वभाव का और भी निम्नतर दुष्कर्म की ओर अधःपतन हमारी आंखों के सामने नाटक की तरह अभिनीत होने लगा। मैंने लक्ष्य किया कि किस तरह गोसाईं का मन दिन-प्रतिदिन बदलता जा रहा है, उनके मुख, भाव-भंगिमा और बातचीत में भी परिवर्तन हो रहा है। विश्वासघात कर अपने संगी-साथियों का सर्वनाश करने के लिये वे जो कुछ जुटा रहे थे उसके समर्थन के लिये क्रम से नाना अर्धनैतिक और राजनैतिक युक्तियां बाहर करने लगे। ऐसी interesting psychological study (मनोरंजक मानसिक अध्ययन) प्रायः सहज ही हाथ नहीं लगती।

शुरू में किसी ने भी गोसाईं को यह पता न लगने दिया कि सभी उनकी अभिसंधि भांप गये हैं। वे भी इतने नासमझ निकले कि बहुत दिन तक इसका कुछ भी न समझ सके, वे समझते थे कि मैं खूब छिपे-छिपे पुलिस की मदद कर रहा हूं। किंतु कुछ दिन बाद जब यह हुकुम हुआ कि हमें अब और निर्जन कारावास में न रख एक साथ रखा जायेगा, तब उस नूतन व्यवस्था से, रात-दिन पारस्परिक मेल-जोल और बातचीत से कुछ भी ज्यादा दिन छिपा न रहा। उन्हीं दिनों दो-एक लड़कों के साथ गोसाईं का झगड़ा हुआ, उनकी बातों से और सबके अप्रीतिकर व्यवहार से गोसाईं समझ गये कि उनकी अभिसंधि किसी के लिये भी अज्ञात नहीं रही। जब गोसाईं गवाही देते तो कुछ एक अंग्रेजी अखबार में यह खबर छपती कि आसामी इस अप्रत्याशित घटना से चौंके और उत्तेजित हुए। कहना न होगा, यह थी रिपोर्टरों की कोरी कल्पना। बहुत दिन पहले ही सब जान गये थे कि इस तरह की गवाही दी जायेगी। यहां तक कि किस दिन कौन-सी साक्षी दी जायेगी उसका भी पता था। ऐसे समय एक आसामी गोसाईं के पास जाकर बोले, "देखो भई, अब और नहीं सहा जाता, मैं भी approver (मुखबिर) बनूंगा, तुम शमसुल आलम को कहो कि मेरी रिहाई की भी व्यवस्था करें। गोसाईं राजी हो गये। कुछ दिन बाद उनसे कहा : इस विषय में गवर्नमेंट की चिट्ठी आयी है कि इस आसामी के निवेदन के अनुकूल निर्णय (favourable consideration) होने की संभावना है। यह कह गोसाईं ने उन्हें उपेन आदि से कुछ इस तरह की आवश्यक बातें निकलवाने को कहा, जैसे—गुप्त समिति की शाखा कहां थी, कौन थे उसके नेता इत्यादि। नकली approver आमोदप्रिय एवं रसिक आदमी थे, उन्होंने उपेंद्रनाथ के साथ परामर्श कर गोसाईं को कुछ एक कल्पित नाम जता दिये कि मद्रास में विश्वंभर पिल्लै, सातारा में पुरुषोत्तम नाटेकर, बंबई में प्रोफेसर भट्ट और बड़ौदा में कृष्णाजीराव भाऊ थे इस गुप्त समिति की

शाखा के नेता। गोसाईं ने आनंदित हो यह सारा विश्वासयोग्य संवाद पुलिस को दे दिया। पुलिस ने भी मद्रास में कोना-कोना छान मारा, बहुत-से छोटे-बड़े पिल्लै मिले, एक भी पिल्लै विश्वंभर या अर्धविश्वंभर न मिला, सातारा में पुरुषोत्तम नाटेकर भी अपना अस्तित्व घने अंधकार में छिपाये रहे, बंबई में एक प्रोफेसर भट्ट मिल गये, किंतु वे थे निरीह राजभक्त सज्जन, उनके पीछे कोई गुप्त समिति होने की संभावना नहीं थी। फिर भी, गोसाईं ने गवाही देते समय, उपेन से पहले कभी सुनी हुई बात के आधार पर कल्पना-राज्य के निवासी विश्वंभर पिल्लै इत्यादि षड्यंत्र के महारथियों की नॉर्टन के श्रीचरणों में बलि चढ़ा अपनी अद्भुत prosecution (अभियोग सिद्धांत) को पुष्ट किया। वीर कृष्णाजीराव भाऊ को लेकर पुलिस ने और एक रहस्य रचा। उन लोगों ने बागान से बड़ौदा के कृष्णाजीराव देशपांडे के नाम किसी "घोष"द्वारा प्रेषित टेलीग्राम की नकल प्रस्तुत की। उस नाम का कोई आदमी था कि नहीं, बड़ौदावासियों को इसका कोई संधान नहीं मिला, लेकिन चूंकि सत्यवादी गोसाईं ने बड़ौदावासी कृष्णाजीराव भाऊ की बात कही है तो निश्चय ही कृष्णाजीराव भाऊ और कृष्णाजीराव देशपांडे हैं एक ही व्यक्ति। और कृष्णाजीराव देशपांडे हों या न हों, हमारे श्रद्धेय बंधु केशवराव देशपांडे का नाम चिट्ठी-पत्री में मिला था। इसलिये निश्चय ही कृष्णाजीराव भाऊ और कृष्णाजीराव देशपांडे एक ही व्यक्ति हैं। इससे यह प्रमाणित हो गया कि केशवराव देशपांडे हैं गुप्त षड्यंत्र के एक प्रधान पंडा। ऐसे सब असाधारण अनुमानों पर प्रतिष्ठित थी नॉर्टन साहब की वह विख्यात theory (परिकल्पना)।

गोसाईं की बात का विश्वास करने से यह भी विश्वास करना होगा कि उन्हीं के कहने से हमारा निर्जन कारावास खतम हुआ एवं हमें इकट्ठे रहने का हुकुम मिला। उन्होंने बताया कि पुलिस ने उन्हें सबके बीच में रख षड्यंत्र की गुप्त बातें निकलवाने के लिये यह व्यवस्था की है। गोसाईं नहीं जानते थे कि पहले ही सबने उनकी नूतन कारस्तानी की गंध पा ली है, इसलिये कौन षड्यंत्र में लिप्त है, शाखा समिति कहां है, कौन पैसे देते या सहायता करते हैं, अब कौन गुप्त समिति का काम चलायेंगे आदि ऐसे अनेक प्रश्न पूछने लगे। इन सब प्रश्नों के उन्हें कैसे उत्तर मिले इसका दृष्टांत मैंने ऊपर दिया है। लेकिन गोसाईं की अधिकांश बातें ही झूठी थीं। डा० डैलि ने हमें बताया था कि उन्हींने इमर्सन साहब से कह-सुन कर यह परिवर्तन कराया था। संभवतः डैलि की बात ही सच है; हो सकता है कि इस नूतन व्यवस्था से अवगत होने के बाद पुलिस ने ऐसे लाभ की कल्पना की हो। जो भी हो, इस परिवर्तन से मुझे छोड़ अन्य सबको परम आनंद मिला, मैं उस समय लोगों से मिलने-जुलने को अनिच्छुक था, तब मेरी साधना खूब जोरों से चल रही थी। समता, निष्कामता और शांति का कुछ-कुछ आस्वाद पाया था; किंतु तबतक यह भाव दृढ़ नहीं हुआ था। लोगों के साथ मिलने से, दूसरों के चिंतनस्रोत का आघात मेरे अपक्व नवीन चिंतन पर पड़ते ही इस नये भाव का ह्रास हो सकता है, बह जा सकता है। और सचमुच

ऐसा ही हुआ। उस समय नहीं जानता था कि मेरी साधना की पूर्णता के लिये विपरीत भाव का जगना आवश्यक है, इसीलिये अंतर्यामी ने हठात् मुझे मेरी प्रिय निर्जनता से वंचित कर उद्दाम रजोगुण के स्रोत में बहा दिया। दूसरे सभी आनंद में अधीर हो उठे। उस रात जिस कमरे में हेमचंद्र दास, शचींद्र सेन इत्यादि गायक थे वह कमरा सबसे बड़ा था, अधिकांश आसामी वहीं एकत्रित हुए थे और रात के दो-तीन बजे तक कोई भी सो न सका। सारी रात हंसी के ठहाके, गाने का अविराम स्रोत, इतने दिन की रुद्ध कथा-वार्ता वर्षा-ऋतु की वन्या की तरह बहती रहने से नीरव कारागार कोलाहल से ध्वनित हो उठा। हम सो गये लेकिन जितनी बार नींद टूटी उतनी ही बार सुनी समान वेग से चलती हुई वही हंसी, वही गानें, वही गप्पें। अंतिम प्रहर में वह स्रोत क्षीण हो गया, गायक भी सो गये। हमारा वार्ड नीरवता में डूब गया।

कारागृह व स्वाधीनता

लगभग सारी मनुष्यजाति ही है बाह्य अवस्था की दास, स्थूल जगत् की अनुभूति में आबद्ध। सब मानसिक क्रियाएं इस बाह्य अनुभूति का ही आश्रय लेती हैं, बुद्धि भी स्थूल की संकीर्ण सीमा लांघने में अक्षम है; प्राण के सुख-दुःख हैं बाह्य घटना की प्रतिध्वनिमात्र। शरीर का आधिपत्यजनित है यह दासत्व। उपनिषद् में कहा गया है, "जगत्-स्रष्टा स्वयंभू ने शरीर के सब द्वारों को बहिर्मुखी करके गढ़ा है इसलिये सबकी दृष्टि बहिर्जगत् में आबद्ध है, अंतरात्मा को कोई भी नहीं देखता। वे धीर प्रकृति महात्मा विरल हैं जिन्होंने अमृत की लालसा से चक्षुओं को भीतर की ओर मोड़ आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं।" हम भी साधारणतः जिस बहिर्मुखी स्थूल दृष्टि से मनुष्यजाति का जीवन देखते हैं उस दृष्टि से शरीर ही है हमारा मुख्य संबल। यूरोप को हम जितना भी जड़वादी क्यों न कहें पर असल में मनुष्यमात्र ही है जड़वादी। शरीर है धर्म-साधन का उपाय, हमारा बहु-अश्वयुक्त रथ, जिस देह-रथ में आरोहण कर हम संसार-पथ पर दौड़ लगाते हैं। किंतु हम देह का अयथार्थ प्राधान्य स्वीकार कर देहात्मक बुद्धि को ऐसे प्रश्रय देते हैं कि बाह्य कर्म और बाह्य शुभाशुभ द्वारा संपूर्णतया बंधे रह जाते हैं। इस अज्ञान का फल है जीवनव्यापी दासत्व और पराधीनता। सुख-दुःख, शुभाशुभ, संपद्-विपद् हमारी मानसिक अवस्था को अपना अनुयायी बनाने के लिये सचेष्ट तो होते ही हैं, हम भी कामना का ध्यान करते-करते उस स्रोत में बह जाते हैं। सुख की लालसा से, दुःख के भय से पराश्रित हो जाते हैं, पर-दत्त सुख और दुःख को ग्रहण कर अशेष कष्ट और लांछना भोगते हैं। क्योंकि, प्रकृति हो या मनुष्य, जो हमारे शरीर पर थोड़ा भी आधिपत्य जमा सकता है या अपनी शक्ति को अधिकार-क्षेत्र में ले आ सकता है उसी के प्रभाव के अधीन रहना होता है। इसका चरम दृष्टांत है शत्रुग्रस्त या काराबद्ध की अवस्था। किंतु जो बंधु-बांधव से वेष्टित हो स्वाधीनता से मुक्त आकाश में विचरण करते हैं, कारावद्धों की तरह उनकी भी यही दुर्दशा है। शरीर ही है कारागृह और देहात्मक-बुद्धिरूप अज्ञानता है कारारूप शत्रु।

यह कारावास है मनुष्यजाति की चिरंतन अवस्था। दूसरी ओर, साहित्य और इतिहास के प्रत्येक पन्ने पर देखने में आता है स्वाधीनता पाने के लिये मनुष्यजाति का अदमनीय उच्छ्वास और प्रयास। जैसे राजनीतिक या सामाजिक क्षेत्र में वैसे ही व्यक्तिगत जीवन में युग-युग में हुई है यही चेष्टा। आत्मसंयम, आत्मनिग्रह, सुख-दुःख वर्जन, Stoicism (स्टोइकवाद), Epicureanism (सुखवाद), Asceticism (वैराग्य), वेदांत, बौद्धधर्म, अद्वैतवाद, मायावाद, राजयोग, हठयोग, गीता, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग आदि नाना पंथों का है एक ही गम्यस्थल। उद्देश्य—देह-विजय, स्थूल के आधिपत्य का वर्जन, आंतरिक जीवन की स्वाधीनता। पाश्चात्य विज्ञानविदों ने यह सिद्धांत बनाया है कि स्थूल जगत् के सिवा दूसरा कोई जगत् नहीं, स्थूल पर

प्रतिष्ठित है सूक्ष्म, सूक्ष्म अनुभव है स्थूल अनुभव की प्रकृतिमात्र, व्यर्थ है मनुष्य का स्वाधीनता-प्रयास, धर्म-दर्शन और वेदांत हैं अलीक कल्पनाएं, संपूर्ण भूतप्रकृति-आबद्ध हमारा वह बंधन-मोचन या भूत प्रकृति की सीमा का उल्लंघन है मिथ्या चेष्टा। किंतु मानव-हृदय के ऐसे गूढ़तर स्तर में निहित है वह आकांक्षा कि हजार युक्तियां भी इसका उन्मूलन करने में असमर्थ हैं। मनुष्य विज्ञान के सिद्धांत से कभी संतुष्ट नहीं रह सकता। चिरकाल से मनुष्य अस्पष्टतः अनुभव करता आ रहा है कि स्थूल-जय में समर्थ सूक्ष्म वस्तु उसके अभ्यंतर में दृढ़ता से वर्तमान है, सूक्ष्ममय अधिष्ठाता हैं नित्यमुक्त, आनंदमय पुरुष। वह नित्यमुक्ति और निर्मल आनंद पाना है धर्म का उद्देश्य। धर्म का यह जो उद्देश्य है, विज्ञान-कल्पित evolution (विकास) का उद्देश्य भी वही है। विचारशक्ति और उसका अभाव पशु और मनुष्य का प्रकृत अंतर नहीं। पशु में विचारशक्ति है, लेकिन पशुदेह में उसका उत्कर्ष नहीं होता। पशु और मनुष्य में असली भेद यह है कि शरीर का संपूर्ण दासत्व स्वीकार करना है पाशविक अवस्था और शरीर-जय और आंतरिक स्वाधीनता की चेष्टा ही है मनुष्यत्व का विकास। यह स्वाधीनता ही है धर्म का प्रधान उद्देश्य, इसे ही कहते हैं मुक्ति। इस मुक्ति के लिये हम अंतःकरणस्थ मनोमय-प्राण-शरीर-नेता को ज्ञान द्वारा पहचानने या कर्म और भक्ति द्वारा प्राण, मन और शरीर को अर्पित करने के लिये सचेष्ट होते हैं। *योगस्थः कुरु कर्मांणि*—गीता का जो प्रधान उपदेश है यह स्वाधीनता ही है वह गीतोक्त योग। आंतरिक सुख-दुःख जब बाह्य शुभाशुभ, संपद्-विपद् का आश्रय न ले स्वयं-जात, स्वयं-प्रेरित और स्व-सीमाबद्ध होते हैं तब मनुष्य की साधारण अवस्था से विपरीत अवस्था होती है, उस समय बाह्य जीवन को आंतरिक जीवन का अनुयायी बनाया जा सकता है, कर्म-बंधन शिथिल हो सकता है। गीता के आदर्श पुरुष कर्मफल में आसक्ति त्याग पुरुषोत्तम में कर्मसंन्यास करते हैं। *दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत-स्पृहः*, आंतरिक स्वातंत्र्य प्राप्त कर आत्मरत और आत्मसंतुष्ट हो रहते हैं। वे साधारण जन की तरह सुख की लालसा से, दुःख के भय से किसी पर आश्रित नहीं होते, परदत्त सुख-दुःख ग्रहण नहीं करते, फिर भी कर्मों के भोग नहीं भोगते। वरन् महासंयमी, महाप्रतापान्वित देवासुर युद्ध में राग, भय, क्रोध से अतीत महारथी हो भगवत्प्रेमी जो कर्मयोगी राष्ट्रविप्लव, धर्मविप्लव या प्रतिष्ठित राज्य, धर्मसमाज की रक्षा कर निष्काम भाव से भगवत्कर्म सुसंपन्न करते हैं, वे हैं गीता के श्रेष्ठ पुरुष।

आधुनिक युग में हम खड़े हैं—नूतन और पुरातन के संधिस्थल पर। मनुष्य निरंतर अपने गंतव्य स्थान की ओर अग्रसर हो रहा है, कभी-कभी समतल भूमि को त्याग ऊपर आरोहण करना होता है और आरोहण के समय राज्य, समाज, धर्म और ज्ञान में विप्लव होता है। आजकल स्थूल से सूक्ष्म की ओर आरोहण करने का प्रयास चल रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिक पंडितों द्वारा स्थूल जगत् की सांगोपांग परीक्षा और नियम-निर्धारण से आरोहण मार्ग के चारों ओर की समतल भूमि परिष्कृत हो गयी है। सूक्ष्म

जगत् के विशाल राज्य में पाश्चात्य ज्ञानियों का प्रथम पदक्षेप हो रहा है, बहुतों का मन उस राज्य को जीतने की आशा से प्रलुब्ध हो उठा है। इसके अलावा दूसरे लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं—जैसे थोड़े दिनों में थियोसोफी का विस्तार, अमेरिका में वेदांत का आदर, पाश्चात्य दर्शनशास्त्र और चिंतनप्रणाली में परोक्ष रूप से भारतवर्ष का कुछ आधिपत्य आदि। किंतु सर्वश्रेष्ठ लक्षण है भारत का आकस्मिक और आशातीत उत्थान। भारतवासी जगत् के गुरु-पद पर अधिकार कर नये युग का परिवर्तन करने के लिये उठ रहे हैं। उनकी सहायता से वंचित रहने पर पाश्चात्य-गण उन्नति करने की चेष्टा में सिद्धकाम नहीं हो सकेंगे। जैसे आंतरिक जीवन के विकास के सर्वप्रधान साधन—ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और योगाभ्यास—में भारत को छोड़ दूसरे किसी देश का उत्कर्ष नहीं हुआ उसी तरह मनुष्यजाति के लिये आवश्यक चित्तशुद्धि, इंद्रियसंयम, ब्रह्मतेज, तपःक्षमता और निष्काम कर्मयोग-शिक्षा हैं भारत की ही संपत्ति। बाह्य सुख-दुःख की उपेक्षा कर आंतरिक स्वाधीनता अर्जित करना भारतवासी के लिये ही साध्य है, निष्काम कर्म में भारतवासी ही समर्थ है, अहंकार-वर्जन और कर्म में निर्लिप्तता उन्हीं की शिक्षा और सभ्यता का चरम उद्देश्य होने के कारण राष्ट्रीय चरित्र में बीजरूप में निहित है।

इस बात का याथार्थ्य मैंने पहले अलीपुर जेल में अनुभव किया। इस जेल में अधिकतर चोर, डकैत और हत्यारे रहते हैं। यद्यपि कैदियों के साथ हमारी बातचीत निषिद्ध थी तथापि व्यवहार में यह नियम पूरी तरह नहीं पाला जाता था, इसके अलावा रसोइये, पानीवाले और झाड़ू देनेवाले मेहतर आदि के साथ संपर्क हुए बिना नहीं चलता था, बहुत बार उनके साथ अबाध वाक्यालाप होता। जो मेरे साथ उसी अपराध में पकड़े गये थे वे भी "नृशंस हत्यारों का दल" आदि दुःश्राव्य विशेषणों से कलंकित और निंदित होते। यदि भारतवासी के चरित्र को कहीं घृणा की दृष्टि से देखना हो, यदि किसी अव्यवस्था में उसके निकृष्ट, अधम और जघन्य भाव से परिचय पाना संभव हो तो अलीपुर जेल ही है वह स्थान और अलीपुर का कारावास ही है वह निकृष्ट, हीन अवस्था। इस स्थान में, ऐसी अवस्था में मैंने बारह महीने काटे। इन बारह महीनों के अनुभव का फल—भारतवासियों की श्रेष्ठता के संबंध में दृढ़ धारणा, मनुष्यचरित्र के प्रति द्विगुण भक्ति और स्वदेश एवं मनुष्यजाति की भावी उन्नति और कल्याण की दस गुनी आशा ले कर्मक्षेत्र में लौटा हूं। यह मेरे स्वभावजात optimism (आशावाद) या अतिरिक्त विश्वास का फल नहीं। श्रीयुत विपिन चंद्र पाल एक बार जेल में यह अनुभव कर आये थे, अलीपुर जेल के भूतपूर्व डाक्टर डैलि साहब भी इसका समर्थन करते थे। डैलि साहब थे मानव-चरित्र से अभिज्ञ, सहृदय और विचक्षण व्यक्ति, मानव-चरित्र की सारी निकृष्ट और जघन्य वृत्तियां प्रतिदिन उनके सामने विद्यमान रहतीं, फिर भी वे मुझसे कहते, "भारत के सज्जन या नीच लोगों को, समाज के संभ्रांत व्यक्ति या जेल के जितने भी कैदियों को देखता-सुनता हूं उससे मेरी यही

धारणा दृढ़ हुई है कि चरित्र और गुण में तुम लोग हमसे बहुत ऊंचे हो। इस देश के कैदियों और यूरोप के कैदियों में आकाश-पाताल का अंतर है। इन युवकों को देखकर मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गयी है। इनका आचरण, चरित्र और नाना सद्गुण देखते हुए कौन कल्पना कर सकता है कि ये anarchist (अराजकतावादी) या हत्यारे हैं। उनमें क्रूरता, उद्दाम भाव, अधीरता या धृष्टता जरा भी नहीं पाता, पाता हूं सब उल्टे गुण।" निस्संदेह चोर और डाकू जेल में साधु-संन्यासी नहीं बन जाते। अंग्रेजों की जेल चरित्र सुधारने की जगह नहीं, साधारण कैदियों के लिये तो उल्टे चरित्रहानि और मनुष्यत्व नाश का साधन है। जो चोर, डाकू और खूनी थे, वे चोर, डाकू और खूनी ही रहते हैं, जेल में चोरी करते हैं, कड़ी पाबंदियों के बावजूद नशा करते, धोखा देते हैं। पर इससे क्या ? भारतीय का मनुष्यत्व जाकर भी नहीं जाता। सामाजिक अवनति के कारण पतित, मनुष्यत्वनाश के फलस्वरूप निष्पेषित और बाहर कालिमा, कदर्थभाव, कलंक और विकृति, फिर भी भीतर वही लुप्तप्राय मनुष्यत्व भारतवासी के मज्जागत सद्गुण में छिप आत्मरक्षा करता है, बार-बार उसकी बातों में और आचरण में प्रकट होता है। जो थोड़ा-सा ऊपरी कीचड़ देख घृणा से मुंह फेर लेते हैं, केवल वे ही कह सकते हैं कि हमने इनमें मनुष्यत्व लेशमात्र भी नहीं देखा। किंतु जो साधुता का अहंकार त्याग अपनी सहजसाध्य स्थिर दृष्टि से निरीक्षण करते हैं वे कभी उनकी हां में हां नहीं मिलायेंगे। श्रीयुत विपिन चंद्र पाल ने बक्सर जेल में चोर-डाकुओं के बीच में ही सर्वघट में नारायण के दर्शन कर छः मास के कारावास के बाद उत्तरपाड़ा की सभा में मुक्त कंठ से इस बात को स्वीकारा था। मैं भी अलीपुर जेल में ही हिन्दू धर्म के इस मूलतत्त्व को हृदयंगम कर पाया, पहली बार नरदेह में चोर, डाकू और खूनी में नारायण को उपलब्ध किया।

इस देश में सैकड़ों निरपराध व्यक्ति दीर्घकाल तक जेल-रूपी नरकवास के भोग से पूर्वजन्मार्जित दुष्कर्म के फल को हल्का कर अपना स्वर्गपथ परिष्कृत कर रहे हैं। किंतु साधारण पाश्चात्यवासी जो धर्मभाव से पूत और देवभावापन्न नहीं वे ऐसी परीक्षा में कहांतक उत्तीर्ण होते हैं इसका सहज अनुमान जो पश्चिम में रह चुके हैं या जिन्होंने पश्चिमी चरित्र-प्रकाशक साहित्य पढ़ा है, वे ही कर सकते हैं। ऐसे स्थलों में या तो उनका निराशा-पीड़ित, क्रोध और दुःख के अश्रु जल से प्लावित हृदय पार्थिव नरक के घोर अंधकार में एवं सहवासियों के संसर्ग में पड़ उनकी क्रूरता और नीचवृत्ति का आश्रय लेता है; या दुर्बलता के निरतिशय निष्पेषण से बल-बुद्धिहीन हो केवल मनुष्य का नष्टावशेष बच रहता है।

अलीपुर के एक निरपराधी की बात सुनाता हूं। इस व्यक्ति को डकैती में शामिल होने के कारण दस साल के सश्रम कारावास का दंड मिला था। जाति का था ग्वाला, अशिक्षित, लिखने-पढ़ने के पास न फटकता, धर्म और संबंध के नाते उसमें थी भगवान् पर आस्था और आर्यशिक्षा-सुलभ धैर्य और अन्यान्य सद्गुण। इस वृद्ध का

भाव देख मेरा विद्या और सहिष्णुता का अहंकार चूर्ण हो गया। वृद्ध के नयनों में सदा विराजता प्रशांत, सरल मैत्रीभाव और मुंह में सर्वदा निष्कपट, प्रीतिपूर्ण आलाप। कभी-कभी अपने निरपराध होने पर भी कष्ट-भोग की बात कहते, स्त्री-पुत्र के बारे में बताते, कब भगवान् कारा से मुक्ति दिला स्त्री-पुत्र के मुख का दर्शन करायेंगे, यह भाव भी प्रकाशित करते, लेकिन कभी भी उन्हें निराश और अधीर नहीं देखा। भगवान् की कृपा के भरोसे धीर भाव से जेल का सब काम संपन्न करते हुए दिन काट रहे थे। वृद्ध की सारी चेष्टाएं और भावनाएं अपने लिये नहीं थीं, थीं दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिये। उनकी हर बात से झलकती थी दया और दुःखियों के प्रति सहानुभूति। पर-सेवा था उनका स्वभाव-धर्म। नम्रता में ये सारे सद्गुण और भी फूट उठे थे। अपने से सहस्र गुना उच्च हृदय देख इस नम्रता के सामने मैं सर्वदा लज्जित हो जाता, वृद्ध से सेवा कराते संकोच होता था, लेकिन वे छोड़ते नहीं थे, वे सदा ही मेरी सुख-स्वस्ति के लिये चिंतित रहते। जैसा मुझ पर वैसा ही सब पर—विशेषतया निरपराधों और दुःखीजनों के प्रति उनकी दयादृष्टि और विनीत सेवा-सम्मान और भी अधिक था। तिसपर भी चेहरे पर और आचरण में कैसा एक स्वाभाविक और प्रशांत गांभीर्य और महिमा थी! देश के प्रति भी इनका यथेष्ट अनुराग था। इस वृद्ध कैदी की दया-दाक्षिण्यपूर्ण श्वेतश्मश्रुमंडित सौम्यमूर्ति चिरकाल मेरे स्मृति-पटल पर अंकित रहेगी। इस अवनति के समय भी भारत के किसानों में—जिन्हें हम अशिक्षित और छोटी जात कहते हैं,—ऐसी हिन्दू-संतानें मिलती हैं, इसीलिये भारत का भविष्य आशाजनक है। शिक्षित युवकमंडली और अशिक्षित कृषकवर्ग—इन दो वर्गों में ही निहित है भारत का भविष्य, इनके मिलन से ही गठित होगी भावी आर्यजाति।

ऊपर एक अशिक्षित खेतिहर की कहानी सुनायी, अब दो शिक्षित युवकों की कहानी सुनाता हूं। इन्हें सात साल का सश्रम कारावास का दंड मिला था। ये थे हैरिसन रोड के दो कविराज, नगेंद्रनाथ और धरणी। ये भी जिस शांत भाव से, संतुष्ट मन से इस आकस्मिक विपत्ति, इस अन्यायपूर्ण राजदंड को सह रहे थे, उसे देख आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता था। कभी भी उनके मुख से क्रोध-आक्रोश या असहिष्णुता-प्रकाशक एक भी बात नहीं सुनी। जिनके दोष से जेलरूपी नरक में यौवन काटना पड़ा था उनके प्रति जरा-सा भी क्रोध, तिरस्कार का भाव या विरक्ति तक का कोई लक्षण कभी नहीं देखा। वे थे आधुनिक शिक्षा के गौरवस्थल पाश्चात्य भाषा और पाश्चात्य विद्या से अनभिज्ञ। मातृभाषा ही थी इनका संबल, लेकिन अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त लोगों में उनके तुल्य कम ही लोग देखे। दोनों ने ही मनुष्य या विधाता के आगे शिकवा-शिकायत न कर हंसते-हंसते नतमस्तक हो दंड ग्रहण कर लिया था। दोनों ही भाई थे साधक लेकिन विभिन्न प्रकृति के। नगेंद्र थे धीर प्रकृति, गंभीर और बुद्धिमान्, हरिकथा और धर्म-चर्चा में अत्यंत रुचि रखनेवाले। जब हमें निर्जन कारावास में रखा गया था तब जेल के अधिकारियों ने जेल की कड़ी मशक्कत के बाद हमें पुस्तकें पढ़ने की

अनुमति दी थी। नगेंद्र की इच्छा थी भगवद्गीता पढ़ने की, मिली बाइबल। बाइबल पढ़कर उनके मन में कैसे-कैसे भाव उठते, कठघरे में बैठकर सब मुझे बताते। नगेंद्र ने गीता नहीं पढ़ी, किंतु आश्चर्य! बाइबल की कथा न कह वे गीता के श्लोकों का अर्थ बोल रहे थे—कभी-कभी तो ऐसा लगता था कि कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्णमुख से निःसृत भगवद् गुणात्मक सारी महती उक्तियां उसी वासुदेव के मुखकमल से इस अलीपुर के कठघरे में फिर से निःसृत हो रही हैं। गीता न पढ़ी होने पर बाइबल में गीता का समतावाद, कर्मफल त्याग, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन इत्यादि भाव उपलब्ध करना सामान्य साधना का लक्षण नहीं। धरणी नगेंद्र के समान बुद्धिमान नहीं थे, लेकिन थे विनीत, कोमल प्रकृति और स्वभाव से ही भक्त। वे सदा ही मातृध्यान में विभोर रहते, उनके चेहरे पर प्रसन्नता, सरल हंसी और कोमल भक्ति-भाव देख जेल जेल नहीं लगती थी। इन्हें देख कौन कह सकता है कि बंगाली हीन और अधम हैं? यह शक्ति, यह मनुष्यत्व, यह पवित्र अग्नि बस छिपी पड़ी है राख के ढेर में।

ये दोनों ही थे निरपराध। बिना दोष के काराबद्ध होने पर भी निजी गुणों या शिक्षा के बल पर बाह्य सुख-दुःख का आधिपत्य अस्वीकार कर आंतरिक जीवन की स्वाधीनता की रक्षा करने में समर्थ थे। किंतु जो अपराधी हैं, उनमें भी जातीय चरित्र के सद्गुण विकसित होते। मैं बारह महीने अलीपुर में था, दो-एक को छोड़ जितने भी कैदी, चोर-डाकू और खूनियों के साथ हमारा संपर्क हुआ सभी से हम सद्व्यवहार और अनुकूलता पाते। बल्कि आधुनिक शिक्षा से दूषित हम लोगों में इन सब गुणों का अभाव देखा जाता है। आधुनिक शिक्षा के अनेक गुण हो सकते हैं किंतु सौजन्य और निःस्वार्थ परसेवा उन गुणों में नहीं आते। जो दया और सहानुभूति हैं आर्यशिक्षा के मूल्यवान् अंग उन्हें इन चोर-डाकुओं में भी देखता। मेहतर, भंगी और पानीवाले को बिना दोष के हमारे साथ-साथ निर्जन-कारावास का दुःख-कष्ट थोड़ा-बहुत भोगना पड़ता, लेकिन उन्होंने इससे एक दिन भी हमारे ऊपर असंतुष्टि या क्रोध नहीं दिखाया। देशीय जेलर के सामने भले ही कभी-कभी अपना दुखड़ा रो लेते थे लेकिन हमारी कारामुक्ति की प्रार्थना प्रसन्न-वदन करते। एक मुसलमान कैदी अभियुक्तों से अपने बेटों जैसा स्नेह करते थे, विदा लेते समय वे अपने आंसू न रोक पाये। देश के लिये यह लांछना और कष्ट भोगते देख वे और सबको संबोधित कर अफसोस करते, "देखो, ये हैं कुलीन, धनियों की संतान, गरीब-दुःखियों की रक्षा करने जाने पर है इनकी ऐसी दुर्दशा।" जो पाश्चात्य सभ्यता के पिट्ठू हैं उनसे पूछता हूं, इंग्लैंड की जेल में निम्नश्रेणी के कैदियों, चोरों, डाकुओं और खूनियों में मिलेगा ऐसा आत्मसंयम, दया-दाक्षिण्य, कृतज्ञता, परार्थ और भगवद्भक्ति? असल में तो यूरोप है भोक्तृभूमि और भारत है दातृभूमि। गीता में दो श्रेणी के लोग वर्णित हैं—देव और असुर। भारतवासी हैं स्वभावतः देवप्रकृति और पाश्चात्यगण स्वभावतः असुरप्रकृति। किंतु इस घोर कलियुग में, तमोगुण के प्राधान्यवश आर्यशिक्षा के लोप से देश की अवनति से हम निकृष्ट आसुरिक वृत्ति

संचित कर रहे हैं और दूसरी ओर पाश्चात्य लोग राष्ट्रीय उन्नति और मनुष्यत्व के क्रमविकास के गुणद्वारा देवभाव अर्जित कर रहे हैं। इसके बावजूद उनके देवभाव में कुछ असुरत्व और हमारे आसुरिक भाव में कुछ देवभाव अस्पष्टतया प्रतीयमान है। उनमें जो श्रेष्ठ हैं वे भी पूरी तरह असुरत्व-रहित नहीं। निकृष्ट और निकृष्ट की जब हम तुलना करते हैं तो इसकी यथार्थता अति स्पष्ट रूप में समझ में आ जाती है।

इस विषय में बहुत कुछ लिखने को है, प्रबंध बहुत लंबा हो जाने के भय से नहीं लिखा। तो भी जेल में जिनके आचरण में इस आंतरिक स्वाधीनता के दर्शन किये हैं, वे हैं इस देवभाव के चरम दृष्टांत। परवर्ती प्रबंध में इस विषय पर लिखने की इच्छा है।

आर्य आदर्श और गुणत्रय

"कारागृह और स्वाधीनता" शीर्षक लेख में कई निरपराध कैदियों के मानसिक भाव का वर्णन कर मैंने यही प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि आर्य-शिक्षा के प्रभाव से जेल में भी भारतवासियों की आंतरिक स्वाधीनता-रूपी बहुमूल्य पैतृक संपत्ति नष्ट नहीं होती बल्कि घोर अपराधियों में भी हजारों वर्षों से संचित वह आर्य-चरित्रगत देव-भाव भग्नावशिष्ट रूप में वर्तमान रहता है। आर्य-शिक्षा का मूल मंत्र है सात्त्विक भाव। जो सात्त्विक है वह विशुद्ध है। साधारणतया मनुष्यमात्र ही है अपवित्र। रजोगुण का प्राबल्य होने से, तमोगुण के घोर अंधकार के छा जाने से यह अशुद्धि परिपुष्ट और वर्धित होती है। मन का मालिन्य है दो प्रकार का—जड़ता या अप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह तमोगुण से उत्पन्न होता है। दूसरा, उत्तेजना या कुप्रवृत्तिजनित मालिन्य; यह रजोगुण से उत्पन्न होता है। तमोगुण के लक्षण हैं अज्ञान-मोह, बुद्धि की स्थूलता, चिंतन की असंलग्नता, आलस्य, अतिनिद्रा, कर्म में आलस्यजनित विरक्ति, निराशा, विषाद, भय, एक शब्द में निश्चेष्टता के पोषक सभी भाव। जड़ता और अप्रवृत्ति अज्ञान के फल हैं, उत्तेजना तथा कुप्रवृत्ति भ्रांत ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। परंतु तमोमालिन्य को हटाना हो तो वह रजोगुण के उद्रेक द्वारा ही हो सकता है। रजोगुण ही प्रवृत्ति का कारण है और प्रवृत्ति ही है निवृत्ति की पहली सीढ़ी। जो जड़ है वह निवृत्त नहीं, कारण जड़भाव ज्ञानशून्य है और ज्ञान ही है निवृत्ति का मार्ग। कामनाशून्य हो जो कर्म में प्रवृत्त होता है, वही निवृत्त है—कर्मत्याग का नाम निवृत्ति नहीं। इसीलिये भारत की घोर तामसिक अवस्था को देख स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "रजोगुण चाहिये, देश में कर्मवीर चाहिये। प्रवृत्ति का प्रचंड स्रोत बह जाने दो। परवाह नहीं यदि उससे पाप भी आ घुसे, वह तामसिक निश्चेष्टता की अपेक्षा हजारगुना अच्छा होगा।"

वास्तव में हम घोर तम में निमग्न हैं, फिर भी सत्त्वगुण की दुहाई देते हुए महासात्त्विक का स्वांग भर हम अपनी बड़ाई करते फिरते हैं। बहुतों का यह मत है कि सात्त्विक होने के कारण ही हम राजसिक जातियों द्वारा पराजित हुए, सात्त्विक होने के कारण ही हम इस प्रकार अवनत और अधःपतित हैं। ऐसी युक्तियां दे ईसाईधर्म से हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। ईसाई-जाति प्रत्यक्ष फलवादी है, इस जाति के लोग धर्म का ऐहिक फल दिखा धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने की चेष्टा करते हैं; इनका कहना है कि ईसाई-जाति ही जगत् में प्रबल है, अतएव ईसाईधर्म ही है श्रेष्ठ धर्म। और हममें से कितनों का कहना है कि यह भ्रम है; ऐहिक फल को देखकर धर्म की श्रेष्ठता का निर्णय नहीं किया जा सकता, पारलौकिक फल को देखना चाहिये; हिन्दूजाति अधिक धार्मिक है इसीलिये वह असुर प्रकृति बलवान् पाश्चात्य जाति के अधीन हुई। परंतु इस युक्ति में आर्यज्ञान-विरोधी घोर भ्रम निहित है। सत्त्वगुण कभी भी अवनति का कारण नहीं हो सकता; यहांतक

कि सत्त्वप्रधान जाति दासत्व की शृंखला में बंधकर नहीं रह सकती। ब्रह्मतेज ही है सत्त्वगुण का मुख्य फल, क्षात्रतेज है ब्रह्मतेज की भित्ति। आघात पाने पर शांत ब्रह्मतेज से क्षात्रतेज का स्फुलिंग निर्गत होता है, चारों दिशाएं धधक उठती हैं। जहां क्षात्रतेज नहीं वहां ब्रह्मतेज टिक नहीं सकता। देश में यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हो तो वह सौ क्षत्रियों की सृष्टि कर सकता है। देश की अवनति का कारण सत्त्वगुण का आतिशय्य नहीं, बल्कि रजोगुण का अभाव है, तमोगुण का प्राधान्य है। रजोगुण के अभाव से हमारा अंतर्निहित सत्त्व म्लान हो तम में विलीन हो गया। आलस्य, मोह, अज्ञान, अप्रवृत्ति, निराशा, विषाद, निश्चेष्टता के साथ-साथ देश की दुर्दशा और अवनति भी बढ़ने लगी। यह मेघ पहले हलका और विरल था, फिर कालक्रम में वह इतना अधिक घना हो उठा, अज्ञान और अंधकार में डूब हम इतने निश्चेष्ट और महत्त्वाकांक्षा-रहित हो गये कि भगवत्प्रेरित महापुरुषों के उदय होने पर भी वह अंधकार पूर्णतः तिरोहित नहीं हुआ। तब सूर्य भगवान् ने रजोगुणजनित प्रवृत्ति द्वारा देश की रक्षा करने का संकल्प किया।

जाग्रत् रजःशक्ति के प्रचण्ड रूप से कार्यशीला होने पर तम पलायनोद्यत हो तो जाता है परंतु दूसरी ओर से स्वेच्छाचार, कुप्रवृत्ति और उद्दाम उच्छृंखलता प्रभृति आसुरी भावों के घुस आने की आशंका बनी रहती है। रजःशक्ति यदि अपनी-अपनी प्रेरणा से उन्मत्तता की विशाल प्रवृत्ति के उदरपूरण को ही लक्ष्य बना कार्य करे तो इस आशंका के लिये यथेष्ट कारण है। उच्छृंखल भाव से स्वपथगामी होने पर रजोगुण अधिक काल तक नहीं टिक सकता। उसमें क्लांति आ जाती है, तमस् आ जाता है, प्रचण्ड तूफान के बाद आकाश निर्मल और परिष्कृत न हो मेघाच्छन्न और वायुस्पन्दनरहित हो जाता है। राष्ट्रविप्लव के बाद फ्रांस की यही दशा हुई। उस राष्ट्रविप्लव में रजोगुण का प्रचण्ड प्रादुर्भाव हुआ था, विप्लव के अंत में तामसिकता का अल्पाधिक पुनरुत्थान, पुनः राष्ट्रविप्लव, पुनः क्लांति, शक्तिहीनता, नैतिक अवनति—यही है गत सौ वर्षों के फ्रांस का इतिहास। जितनी बार साम्य-मैत्री-स्वाधीनतारूपी आदर्शजनित सात्त्विक प्रेरणा फ्रांस के प्राणों में जगी, उतनी ही बार क्रमशः रजोगुण प्रबल हो, सत्त्वसेवा-विमुख आसुरी भाव में परिणत हो स्वप्रवृत्ति की पूर्ति के लिये सचेष्ट हुआ। फलतः, तमोगुण के पुनः आविर्भाव से फ्रांस अपनी पूर्वसंचित महाशक्ति को खो म्रियमाण विषम अवस्था में, हरिश्चन्द्र की न्याईं, न स्वर्ग में न मर्त्य में, स्थित है। ऐसे परिणाम से बचने का एकमात्र उपाय है प्रबल रजःशक्ति को सत्त्व की सेवा में नियुक्त करना। यदि सात्त्विक भाव जाग्रत् हो रजःशक्ति का परिचालन करे तो तमोगुण के पुनः प्रादुर्भाव होने का भय नहीं रह जाता और उद्दाम शक्ति भी शृंखलित और नियंत्रित हो उच्च आदर्श के वश हो देश और जगत् का हित साधन करती है। सत्त्व की वृद्धि का साधन है धर्मभाव—स्वार्थ को डुबा परार्थ समस्त शक्ति अर्पण कर देना—भगवान् को आत्मसमर्पण कर समस्त जीवन को एक महान् और पवित्र यज्ञ में परिणत कर देना।

गीता में कहा है कि सत्त्व और रजः दोनों मिलकर ही तम का नाश करते हैं; अकेला सत्त्व कभी तम को पराजित नहीं कर सकता। इसीलिये भगवान् ने सम्प्रति धर्म का पुनरुत्थान कर, तथा हमारे अंतर्निहित सत्त्व को जगा, रजःशक्ति को सारे देश में फैला दिया है। राममोहन राय प्रभृति धर्मोपदेशक महात्माओं ने सत्त्व को पुनरुद्दीपित कर नवयुग प्रवर्तित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में धर्मजगत् में जितनी जागृति हुई है उतनी राजनीति और समाज में नहीं हुई। कारण क्षेत्र प्रस्तुत नहीं था, अतएव प्रचुर परिमाण में बीज बोने पर भी अंकुर दिखायी नहीं दिया। इसमें भी भारतवर्ष पर भगवान् की दया और प्रसन्नता ही दिखायी देती है। कारण राजसिक भाव से उत्पन्न जो जागरण होता है वह कभी स्थायी या पूर्ण कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इससे पहले राष्ट्र के अंतर में थोड़ा-बहुत ब्रह्मतेज का उद्दीपन होना आवश्यक है। इसीलिये इतने दिनों तक रजःशक्ति की धारा रुकी रही। १९०५ ई० में रजःशक्ति का जो विकास हुआ वह है सात्त्विक भाव से पूर्ण। अतः इसमें जो उद्दाम भाव दिखायी पड़ा है उससे भी आशंका का कोई विशेष कारण नहीं, क्योंकि यह रजः-सत्त्व का खेल है; इस खेल में जो कुछ उद्दाम या उच्छृंखल भाव है, वह शीघ्र ही नियमित और शृंखलित हो जायेगा। किसी बाह्य शक्ति द्वारा नहीं, बल्कि भीतर जो ब्रह्मतेज, जो सात्त्विक भाव जागरित हुआ है उसी में यह वशीभूत और नियमित होगा। धर्मभाव के प्रचार से हम उस ब्रह्मतेज और सात्त्विक भाव का पोषण-भर कर सकते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि परार्थ में समस्त शक्ति लगा देना सत्त्वोद्रेक का एक उपाय है। हमारे राजनितिक जागरण में इस भाव का यथेष्ट प्रमाण पाया जाता है। परंतु इस भाव की रक्षा करना कठिन है। यह व्यक्ति के लिये जितनी कठिन है, राष्ट्र के लिये उससे भी अधिक कठिन है। परार्थ में स्वार्थ अलक्षित रूप से घुस आता है, और यदि हमारी बुद्धि शुद्ध न हो तो हम ऐसे भ्रम में पड़ सकते हैं कि परार्थ की दुहाई दे और स्वार्थ को आश्रय बना, हम परहित, देशहित और मनुष्यजाति के हित को डुबा दें और फिर भी अपने भ्रम को समझ न सकें। भगवत्सेवा सत्त्वोद्रेक का दूसरा उपाय है। परंतु इस मार्ग में भी परिणाम विपरीत हो सकता है। भगवत्सान्निध्यरूपी आनंद मिलने पर हममें सात्त्विक निश्चेष्टता जनम सकती है, उस आनंद का स्वाद लेते-लेते हम दुःखकातर देश के प्रति और मानवजाति की सेवा के प्रति उदासीन हो सकते हैं। यही है सात्त्विक भाव का बंधन। जिस प्रकार राजसिक अहंकार होता है उसी प्रकार सात्त्विक अहंकार भी। जैसे पाप मनुष्य को बंधन में डालता है वैसे ही पुण्य भी। सभी वासनाओं से शून्य हो, अहंकार त्याग भगवान् को आत्मसमर्पण किये बिना पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिलती। इन दोनों अनिष्टों को त्यागने के लिये सबसे पहले आवश्यकता है विशुद्ध बुद्धि की। देहात्मिका बुद्धि का वर्जन कर मानसिक स्वाधीनता का अर्जन करना ही है बुद्धिशोधन की पूर्ववर्ती अवस्था। मन के स्वाधीन होने पर वह जीव के अधीन हो जाता है और फिर मन को जीतकर और बुद्धि के आश्रय में जा

मनुष्य स्वार्थ के पंजे से बहुत-कुछ छुटकारा पा जाता है। इस पर भी स्वार्थ हमें संपूर्णतः नहीं छोड़ता। अंतिम स्वार्थ है मुमुक्षुत्व, परदुःख भूल अपने ही आनंद में विभोर रहने की इच्छा। इसे भी त्यागना होगा। समस्त भूतों में नारायण की उपलब्धि कर उन्हीं सर्वभूतस्थ नारायण की सेवा ही है इसकी दवा। यही है सत्त्वगुण की पराकाष्ठा। इससे भी उच्चतर अवस्था है और वह है सत्त्वगुण का भी अतिक्रमण कर गुणातीत हो पूर्णतः भगवान् का आश्रय ग्रहण करना। गुणातीत अवस्था गीता में ऐसे वर्णित है :

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जब जीव साक्षी हो गुणत्रय को, अर्थात् भगवान् की त्रैगुण्यमयी शक्ति को ही एकमात्र कर्ता के रूप में देखता है तथा इस गुणत्रय के भी परे शक्ति के प्रेरक ईश्वर को जान पाता है तब वह भागवत साधर्म्य लाभ करता है। तब देहस्थ जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहों से संभूत गुणत्रय का अतिक्रमण कर जन्म-मृत्यु-जरा-दुःख से विमुक्त हो अमरत्व का भोग करता है। सत्त्वजनित ज्ञान, रजोजनित प्रवृत्ति या तमोजनित निद्रा, निश्चेष्टता और भ्रमरूपी मोह के होने पर वह क्षुब्ध नहीं होता, गुणत्रय के आगमन और निर्गमन में समान भाव रखकर उदासीन की भांति वह स्थिर रहता है, गुणग्राम उसे विचलित नहीं कर पाता, इसे गुणों की स्वधर्मजात वृत्ति मान, वह दृढ़ रहता है। जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, प्रिय और अप्रिय समान हैं, निंदा और स्तुति समान हैं, सोना और मिट्टी दोनों ही पत्थर के समान हैं, जो धीर-स्थिर, अपने ही अंदर अटल है, जिसके लिये मान और अपमान दोनों एक ही बात हैं, जिसे

मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष दोनों ही समान भाव से प्रिय हैं, जो स्वयं प्रेरित हो किसी कार्य का आरंभ नहीं करता, सारे कर्म भगवान् को अर्पण कर उन्हीं की प्रेरणा से करता है, उसे ही कहते हैं गुणातीत। जो निर्दोष भक्तियोग द्वारा मेरी सेवा करता है वही इन तीनों गुणों को अतिक्रमण कर ब्रह्मप्राप्ति के उपयुक्त होता है।"

यह गुणातीत अवस्था सबके लिये साध्य न होने पर भी इसकी पूर्ववर्ती अवस्था सत्त्वगुणप्रधान पुरुष के लिये असंभव नहीं। सात्त्विक अहंकार का त्याग कर जगत् के सभी कार्यों में भगवान् की त्रैगुण्यमयी शक्ति की लीला को देखना है इसका सबसे पहला उपक्रम। यह बात समझ सात्त्विक कर्ता कर्तृत्वाभिमान त्याग, भगवान् को संपूर्ण आत्मसमर्पित हो कर्म करता है।

गुणत्रय और गुणातीत्य के संबंध में मैंने जो कुछ कहा, वह है गीता की मूल बात। परंतु यह शिक्षा साधारणतया अंगीकृत नहीं हुई, अभीतक जिसे हम आर्यशिक्षा के नाम से संबोधित करते आये हैं, वह प्रायः सात्त्विक गुण का अनुशीलन है। रजोगुण का आदर तो इस देश में क्षत्रियजाति के लोप होने के साथ-ही-साथ लुप्त हो गया। यद्यपि राष्ट्रीय जीवन में रजःशक्ति का भी अत्यंत प्रयोजन है। इसीलिये आजकल गीता की ओर लोगों का मन आकृष्ट हो रहा है। गीता की शिक्षा ने पुरातन आर्य-शिक्षा को आधार बनाकर भी उसका अतिक्रमण किया। गीतोक्त धर्म रजोगुण से भय नहीं खाता, उसमें रजःशक्ति को सत्त्व की सेवा में नियुक्त करने का पथ निर्देशित है, प्रवृत्तिमार्ग में मुक्ति का उपाय प्रदर्शित है। इस धर्म का अनुशीलन करने के लिये राष्ट्र का मन किस प्रकार तैयार हो रहा है इस बात को पहले-पहल मैंने जेल में ही हृदयङ्गम किया। अभीतक स्रोत निर्मल नहीं हुआ है, अभी भी वह कलुषित और पंकिल है, किंतु इस स्रोत का अतिरिक्त वेग जब कुछ प्रशमित होगा तब उसके अंदर छिपी विशुद्ध शक्ति का निर्दोष कार्य होगा।

जो मेरे साथ कैद थे और एक ही अभियोग में अभियुक्त थे, उनमें से बहुत-से निर्दोष समझकर छोड़ दिये गये हैं, बाकी लोगों को यह कहकर सजा दी गयी है कि वे षड्यंत्र में लिप्त थे। मानवसमाज में हत्या से बढ़कर और कोई अपराध नहीं हो सकता। राष्ट्रीय स्वार्थ से प्रेरित हो जो हत्या करता है, उसका व्यक्तिगत चरित्र चाहे कलुषित न भी हो, किंतु सामाजिक हिसाब से, अपराध का गुरुत्व कम नहीं हो जाता। यह भी स्वीकार करना होगा कि अंतरात्मा पर हत्या की छाया पड़ने से मन पर मानों रक्त का दाग बैठ जाता है, उसमें क्रूरता का संचार होता है। क्रूरता बर्बरोचित गुण है, मनुष्य उन्नति के क्रमविकास में जिन गुणों से धीरे-धीरे दूर हो रहा है, उनमें क्रूरता प्रधान है। इसका यदि पूर्ण रूप से त्याग कर दिया जाये तो मानवजाति की उन्नति के मार्ग में से एक विघ्नकारी कंटक समूल नष्ट हो जायेगा। अभियुक्तों का दोष मान लेने पर यही समझना होगा कि यह रजःशक्ति की क्षणिक उद्दाम उच्छृंखलता-भर है। उनमें एक ऐसी सात्त्विक शक्ति निहित है कि इस क्षणिक उच्छृंखलता द्वारा देश का स्थायी

अमंगल होने की कोई भी आशंका नहीं।

अंतर की जिस स्वाधीनता की बात मैं ऊपर कह आया हूं वह स्वाधीनता मेरे साथियों का स्वभावसिद्ध गुण है। जिन दिनों हम सब एक संग एक बड़े-से दालान में रखे गये थे, उन दिनों मैंने उनके आचरण और मनोभाव को विशेष मनोयोगपूर्वक लक्ष्य किया। केवल दो व्यक्तियों को छोड़ अन्य किसी के भी मुंह या जबान पर भय की छाया तक देखने को नहीं मिली। प्रायः सभी तरुण और वयस्क थे, बहुत-से अल्पवयस्क बालक थे; जिस अपराध में वे पकड़े गये थे वह प्रमाणित होने पर उसका दण्ड इतना भीषण है कि कल्पनामात्र से दृढ़मति पुरुष भी विचलित हो जाये। इसके अतिरिक्त, इस मुकदमे से रिहाई पाने की आशा भी ये नहीं रखते थे। विशेषतः, मजिस्ट्रेट की अदालत में गवाहों और लिखित गवाहियों का जैसा विस्तृत आयोजन होने लगा उसे देखकर कानून से अनभिज्ञ व्यक्ति के मन में भी सहज ही यह धारणा उपजने लगी कि निर्दोष के लिये भी इस फंदे से निकलने का उपाय नहीं। फिर भी उनके चेहरे पर भय या विषाद के बदले थी केवल प्रफुल्लता, सरल हास्य; अपनी विपत्ति को भूल मुंह में थी धर्म और देश की ही बात। हमारे वार्ड में, हरेक बंदी के पास दो-चार किताबें होने के कारण एक छोटी-सी लाइब्रेरी बन गयी थी। इस लायब्रेरी की अधिकांश किताबें थीं धर्मसंबंधी—गीता, उपनिषद्, विवेकानन्द पुस्तकावली, रामकृष्ण-कथामृत और जीवनचरित्र, पुराण, स्तोत्रमाला, ब्रह्मसंगीत इत्यादि। अन्य पुस्तकों में थीं बंकिम-ग्रंथावली, स्वदेशी गानसंबंधी बहुत-सी छोटी-छोटी पुस्तिकाएं, यूरोपीय दर्शन, इतिहास और साहित्य की थोड़ी-बहुत पुस्तकें। प्रातःकाल कोई साधना करने बैठता, कोई पुस्तकें पढ़ता तो कोई धीरे-धीरे बातें करता। प्रातःकाल की इस शांतिमय नीरवता में कभी-कभी हंसी की लहरें भी उठतीं। जब कभी कचहरी का दिन नहीं होता तब कुछ लोग सोते, कुछ खेलते—जब जो खेल सामने आ जाते, किसी खास खेल के लिये किसी में कोई आग्रह नहीं। किसी दिन एक वृत्त में बैठ कोई शांत खेल होता तो किसी दिन दौड़-धूप या कूद-फांद; कुछ दिन फुटबॉल ही चला, यह फुटबॉल निःसंदेह किसी अपूर्व उपकरण का बना होता था। कुछ दिन आंख-मिचौनी चली। कभी-कभी अलग-अलग दल बनाकर एक ओर जुजुत्सु की शिक्षा होती तो दूसरी ओर ऊंची कूद और लंबी कूद तथा एक ओर ड्राफ्ट या चौपड़। दो-चार गंभीर प्रौढ़ व्यक्तियों को छोड़ प्रायः सभी बालकों के अनुरोध से इन खेलों में शरीक होते। मैंने देखा कि इनमें जो बड़े-बूढ़े थे, उनका स्वभाव भी बालकों-जैसा ही था। शाम को गाने की मजलिस जुटती। गानविद्या में निपुण उल्लास, शचींद्र और हेमदास के चारों ओर बैठ हम सभी गाना सुनते। स्वदेशी या धर्म के गानों के अतिरिक्त और किसी भी तरह का गाना नहीं होता था। किसी-किसी दिन केवल आमोद करने की इच्छा से उल्लासकर हंसी के गाने, अभिनय, दूरागतशब्दानुकरण (ventriloquism), नकल उतारने या गंजेरियों की गप द्वारा शाम का समय बिताता। उल्लासकर के जैसा

अद्भुत, क्षमताशाली और अपूर्व चरित्र मैंने फिर कभी नहीं देखा। सुना अवश्य था कि बीच-बीच में ऐसे लोग जन्म लेते हैं जिनकी अन्तरात्मा पर माया का प्रभाव इतना शिथिल होता है कि सामान्य देह-धर्म को छोड़ उन्हें और किसी तरह का बन्धन नहीं बांधता। *"लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"*। इस उक्ति का यथार्थ और असली मर्म इस बार उल्लासकर के आचरण में प्रत्यक्ष देखा। साधारण मनुष्य की तरह कर्म करते हैं, हंसते हैं, बात करते हैं, खेलते हैं, गलती करते हैं, उचित-अनुचित करते हैं लेकिन फिर भी वही निर्मल देवभाव। शरीर पर कितना ही कीचड़ क्यों न गिर जाय पर वह शरीर से चिपका नहीं रहता। हमारे राग-द्वेष, सुख-दुःख, भय, स्वार्थ, हिंसा उनके लिये नहीं रचे गये। उनमें है सिर्फ प्रेम, आनन्द, हास्य, परोपकार, परसेवा, फूलों की नैसर्गिक स्वच्छता और प्रफुल्लता। उल्लासकर इसी विशिष्ट प्रकृति का बना है। मैंने उसमें कभी भी जरा-सा भी क्रोध, दुःख, दैन्य, विकार और विषाद नहीं देखा। किसी से भी आसक्ति नहीं। उनसे जो भी कुछ भी मांगता वे उसे दे देते, मानों अपने लिये कुछ है ही नहीं। वे किसी तरह की भावना से बद्ध नहीं थे। अभी-अभी वे सबके मनोरंजन के लिये हंसी-मजाक कर रहे थे, दूसरे ही क्षण देखा कि सब कुछ भूल ध्यानमग्न हो गये हैं। किसी ने ध्यान भंग कर दिया तो भी उन्हें अंतर नहीं पड़ता था। हंसते-हंसते उसकी उद्दंडता सह लेते। उनके लिये सभी कुछ लीलामय था, जैसी दुनिया वैसे ही जेल, जैसी निवृत्ति वैसी ही प्रवृत्ति। कोई भेद नहीं, कोई विकार नहीं। इतनी हदतक स्वाधीन सात्त्विक भाव दूसरों में न भी हो पर कुछ हदतक तो था ही। मुकदमे में कोई भी जी नहीं लगाता था, सभी धर्म या आनंद में दिन बिताते। यह निश्चिंत भाव कठिन कुकर्मी हृदय के लिये असंभव है; इनके अंदर काठिन्य, क्रूरता, कुकर्मिता, कुटिलता, लेशमात्र भी नहीं थी। क्या हंसी, क्या बातचीत, क्या खेल-कूद, इनका सब कुछ था आनंदमय, पापहीन और प्रेममय।

इस मानसिक स्वाधीनता का फल शीघ्र ही विकसित होने लगा। इस प्रकार के क्षेत्र में ही धर्म-बीज बोने से सर्वांगसुंदर फल संभव है। ईसामसीह ने कुछ बालकों को दिखाते हुए अपने शिष्यों से कहा था, "जो इन बालकों की तरह हैं वे ही ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं।" ज्ञान और आनंद हैं सत्त्वगुण के लक्षण। जो दुःख को दुःख नहीं समझते, जो सभी अवस्थाओं में आनन्दित और प्रफुल्लित रहते हैं, वे ही हैं योग के अधिकारी। जेल में राजसिक भाव को प्रश्रय नहीं मिलता, निर्जन कारावास में प्रवृत्ति का परिपोषक कुछ भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में असुर-मन चिर-अभ्यस्त रजः-शक्ति की खुराक के अभाव में आहत व्याघ्र की नाईं स्वयं अपना ही नाश करने लगता है। पाश्चात्य कविगण जिसे eating one's own heart (तीव्र संताप से जी को जलाना) कहते हैं, ठीक वही अवस्था होती है। भारतवासी का मन इस प्रकार की निर्जनता में, इस बाह्य कष्ट की अवस्था में भी चिरन्तन आकर्षण से आकृष्ट हो भगवान् की ओर दौड़ पड़ता है। हमारी भी यही अवस्था हुई। न मालूम कहां से एक स्रोत आ

सभी को बहा ले गया। जिसने कभी भगवान् का नाम नहीं लिया था वह भी साधना करना सीख गया। उस परम दयालु की दया का अनुभव कर आनंदमग्न हो उठा। अनेक दिनों के अभ्यास से योगियों की जो अवस्था होती है, वह इन बालकों की दो-चार महीने की साधना से ही हो गयी। रामकृष्ण परमहंस ने एक बार कहा था, "अभी तुम लोग क्या देखते हो—यह तो कुछ भी नहीं, देश में एक ऐसा स्रोत बहेगां जिसके प्रभाव से अल्पवयस्क बालक भी तीन दिन साधना करके सिद्धि पायेंगे।" इन बालकों को देखकर उनकी भविष्यवाणी की सफलता में जरा भी संदेह नहीं रह जाता। ये मानों उसी प्रत्याशित धर्मप्रवाह के मूर्तिमान पूर्व-परिचय हों। इस सात्त्विक भाव की तरंग कठघरे तक पहुंच, चार-पांच को छोड़ बाकी सबके हृदय को महानन्द से परिप्लावित कर देती थी। जिसने एक बार भी इसका आस्वादन किया है वह इसे कभी भूल नहीं सकता न कभी किसी दूसरे आनंद को इस आनंद के समान ही स्वीकार कर सकता है। यही सात्त्विक भाव है देश की उन्नति की आशा। भ्रातृभाव, आत्मज्ञान और भगवत्-प्रेम जिस तरह सहज ही भारतवासी के मन पर अधिकार कर कार्य में प्रकट होते हैं उसी सहज भाव से और किसी भी राष्ट्र में उनका प्रकट होना संभव नहीं। इसके लिये चाहिये तमोवर्जन, रजोदमन, सत्त्वप्रकाश। भगवान् की गूढ़ अभिसंधि से इसी की तैयारी हो रही है भारतवर्ष में।

नवजन्म

गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा—"जो योगमार्ग में प्रवेश कर अंत तक पहुंचते-न-पहुंचते पतित और योगभ्रष्ट हो जाते हैं, उनकी क्या गति होती है ? वे क्या ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों फलों से वंचित हो वायुखंडित मेघ की तरह विनष्ट हो जाते हैं।" उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—"इहलोक या परलोक में वैसे व्यक्तियों का विनाश असंभव है। कल्याणकृत व्यक्तियों की कभी दुर्गति नहीं होती। पुण्यलोकों में उनकी गति होती है, वहां बहुत दिनों तक निवास कर शुद्ध श्रीमान् पुरुषों के घर में या योगयुक्त महापुरुषों के कुल में दुर्लभ जन्म पाते हैं, उस जन्म में पूर्वजन्मप्राप्त योगलिप्सा से चालित हो सिद्धि के लिये और अधिक प्रयास करते हैं, और अंत में अनेक जन्मों के अभ्यास से पापमुक्त हो परम गति प्राप्त करते हैं।" जो पूर्वजन्मवाद चिरकाल आर्य-धर्म के योगलब्ध ज्ञान का एक अंगविशेष रहा है उसकी प्रतिष्ठा पाश्चात्य विद्या के प्रभाव से शिक्षित सम्प्रदाय में नष्टप्राय हो गयी थी, श्रीरामकृष्णलीला के बाद से वेदांतशिक्षा के प्रचार और गीता के अध्ययन से वही सत्य पुनः प्रतिष्ठित हो रहा है। जैसे स्थूल जगत् में heredity (वंशानुक्रम) प्रधान सत्य है, वैसे ही सूक्ष्म जगत् में पूर्वजन्मवाद प्रधान सत्य है। श्रीकृष्ण की उक्ति में ये दोनों ही सत्य निहित हैं। योगभ्रष्ट पुरुष अपने पूर्वजन्मार्जित ज्ञान के संस्कार के साथ जन्म लेते हैं, उसी संस्कार द्वारा, वायुचालित तरणी की तरह, योगपथ पर चालित होते हैं। परंतु कर्मफल की प्राप्ति के योग्य शरीर पाने के लिये उपयुक्त कुल में जनमना आवश्यक है। उत्कृष्ट heredity (वंशानुक्रम) सुयोग्य शरीर उत्पन्न करती है। शुद्ध श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म होने से शुद्ध सबल शरीर उत्पन्न करना संभव होता है, योगीकुल में जन्म लेने से उत्कृष्ट मन और प्राण गठित होते हैं तथा वैसी ही शिक्षा और मानसिक गति प्राप्त होती है।

कुछ वर्षों से भारतवर्ष में यह दिखायी दे रहा है मानों पुरानी तमोभिभूत जाति के अंदर एक नयी जाति सृष्ट हो रही है। भारतमाता की पुरातन संतति धर्मग्लानि और अधर्म के अंदर जन्म ले और तदनुसार शिक्षा प्राप्त कर अल्पायु, क्षुद्राशय, स्वार्थ-परायण और संकीर्ण-हृदय हो गयी थी। उनमें से बहुत-से तेजस्वी महात्माओं ने शरीर धारण कर इस विषम विपत्ति-काल में जाति की रक्षा की थी। किंतु अपनी शक्ति और प्रतिभा के उपयुक्त कर्म न कर वे केवल राष्ट्र के भावी माहात्म्य और विशाल कर्म का क्षेत्र निर्माण कर गये हैं। उन्हीं के पुण्यबल से नव उषा की किरणमाला चारों ओर उद्भासित हो रही है। भारत-जननी की नूतन संतति माता-पिता के गुण प्राप्त न कर, साहसी, तेजस्वी, उच्चाशय, उदार, स्वार्थत्यागी, पदार्थ और देशहितसाधन में उत्साही और उच्चाकांक्षी हो रही है। इसीलिये आजकल युवकगण माता-पिता के वश में न हो अपने स्वतंत्र पथ के पथिक बन रहे हैं, वृद्ध और तरुण में मतभेद और कार्य में विरोध

हो रहा है। वृद्ध लोग इन देवांशसंभूत तरुण सत्ययुग-प्रवर्त्तकों को स्वार्थ और संकीर्णता की सीमा में आबद्ध रखना चाहते हैं, अनजाने में कलि की सहायता कर रहे हैं। युवकगण हैं महाशक्तिसृष्ट अग्निस्फुलिंग, पुरातन को तोड़फोड़ नवीन को गढ़ने में उद्यत, पितृभक्ति और आज्ञाकारिता की रक्षा करने में अक्षम। भगवान् ही कर सकते हैं इस अनर्थ का उपशमन। किन्तु महाशक्ति की इच्छा विफल नहीं हो सकती, यह नवीन संतति जो कुछ करने के लिये आयी है, उसे पूरा किये बिना नहीं जायेगी। इस नवीन में भी पुरातन का प्रभाव है। अपकृष्ट heredity (वंशानुक्रम) के दोष से, आसुरिक शिक्षा के दोष से बहुतेरे कुलांगारों ने भी जन्म लिया है; जिन्हें नवयुग का प्रवर्त्तन करने का आदेश मिला है वे भी अंतर्निहित तेज और शक्ति विकसित नहीं कर पा रहे हैं। नवीन लोगों में सत्ययुग के प्राकट्य का एक अपूर्व लक्षण दिखायी दे रहा है, उनकी धर्म में मति है और बहुतों के हृदय में है योगलिप्सा और अर्ध-विकसित योगशक्ति।

अलीपुर-बम-केस के अभियुक्त अशोक नन्दी शेषोक्त श्रेणी के थे। जो उन्हें जानते थे उनमें से कोई भी यह विश्वास नहीं कर सकता था कि वे किसी भी षड्यंत्र में लिप्त थे। उन्हें छोटे-से अविश्वसनीय प्रमाण पर ही दंड दिया गया था। वे अन्य युवकों की तरह देशसेवा की प्रबल आकांक्षा से अभिभूत नहीं थे। बुद्धि में, चरित्र में, प्राण में वे पूर्णरूपेण योगी और भक्त थे, संसारी के गुण उनमें नहीं थे। उनके पितामह एक सिद्ध तांत्रिक योगी थे, उनके पिता भी थे योगप्राप्त शक्तिसंपन्न विशिष्ट पुरुष। गीता में जो योगीकुल में जन्म लेना मनुष्य के लिये अति दुर्लभ कहा गया है उसी का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था। छोटी उम्र में उनकी अंतर्निहित योगशक्ति के लक्षण कभी-कभी प्रकट होते थे। पकड़े जाने से बहुत पहले वे जान गये थे कि यौवन-काल में उनकी मृत्यु निर्दिष्ट है, अतएव विद्योपार्जन और सांसारिक जीवन की आरंभिक तैयारियों में उनका मन नहीं लगा, फिर भी पिता के परामर्श से, असफलता के पूर्व ज्ञान की उपेक्षा कर, कर्तव्य कर्म का पालन करते थे और योगमार्ग का भी अनुसरण करते थे। ऐसे समय वे अकस्मात् पकड़ लिये गये। उस कर्मफलप्राप्त विपत्ति से विचलित न हो अशोक जेल में अपनी सारी शक्ति योगाभ्यास में प्रयुक्त करने लगे। इस मुकदमे के आसामियों में से बहुतों ने इस पथ का अवलंबन किया था, उनमें वे अग्रगण्य न होने पर भी अन्यतम थे। वे भक्ति और प्रेम में किसी से भी कम नहीं थे, उनका उदार चरित्र, गंभीर भक्ति और प्रेमपूर्ण हृदय सबको मोह लेता था। गोसाईं की हत्या के समय वे अस्पताल में रुग्णावस्था में पड़े थे। पूर्ण स्वस्थ होने से पहले ही निर्जन कारावास में रखे जाने के कारण वह बार-बार ज्वर से पीड़ित होने लगे। उसी ज्वर की अवस्था में उन्हें खुले कमरे में शीत काल की रातें बितानी पड़तीं। इस तरह उन्हें क्षय रोग हो गया और उसी अवस्था में, जिस समय प्राण-रक्षा की कोई आशा नहीं थी, उन्हें विषम दण्ड देकर फिर से उसी मृत्यु गृह में बंद कर दिया गया। बैरिस्टर

चित्तरंजन दास की प्रार्थना पर उन्हें अस्पताल ले जाने की व्यवस्था की गयी, किंतु जमानत पर नहीं छोड़ा गया। अंत में छोटे लाट की सहृदयता के कारण उन्हें अपने घर में, अपने आत्मीय-स्वजनों की सेवा प्राप्त कर मरने की अनुमति प्राप्त हुई। अपील के द्वारा मुक्त होने से पहले ही भगवान् ने उन्हें इस देह-कारागार से मुक्त कर दिया। अंतिम समय में अशोक की योगशक्ति में विलक्षण वृद्धि हो गयी थी, मृत्यु के दिन विष्णु-शक्ति से अभिभूत हो सबको भगवान् का मुक्तिदायक नाम और उपदेश वितरण कर, नामोच्चारण करते-करते उन्होंने देह-त्याग किया। पूर्वजन्मार्जित दुःख-फल का क्षय करने के लिये अशोक नन्दी का जन्म हुआ था, इसीलिये यह अनर्थक कष्ट और अकाल मृत्यु घटी। सत्ययुग का प्रवर्त्तन करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है वह शक्ति उनके शरीर में अवतीर्ण नहीं हुई थी परंतु वे स्वाभाविक योगशक्ति के प्राकट्य का उज्ज्वल दृष्टांत दिखा गये हैं। कर्म की गति ऐसी ही होती है। पुण्यवान् लोग पापफल का क्षय करने के लिये थोड़े समय तक पृथ्वी पर विचरण करते हैं, फिर पापमुक्त होकर, दूषित देह का त्याग कर और दूसरा शरीर धारण कर अंतर्हित शक्ति को प्रकट करने व जीवों का हितसाधन करने के लिये आते हैं।

धर्म और राष्ट्रीयता

धर्म :

हमारा धर्म

हमारा धर्म है सनातन धर्म। यह धर्म है त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत। हमारा धर्म है त्रिविध। भगवान् ने अंतरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्—इस त्रिधाम में प्रकृतिसृष्ट महाशक्ति चालित विश्वरूप में अपने-आपको प्रकट किया है। इस त्रिधाम में उनके साथ युक्त होने की चेष्टा है सनातन धर्म का त्रिविधत्व। हमारा धर्म है त्रिमार्गगामी। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतंत्र या सम्मिलित उपायों से वह युक्तावस्था मनुष्य के लिये साध्य है। इन तीन उपायों से आत्मशुद्धि कर भगवान् के साथ युक्त होने की लिप्सा है सनातन धर्म की त्रिमार्गगामी गति। हमारा धर्म है त्रिकर्मरत। मनुष्य की सब प्रधान वृत्तियों में तीन हैं ऊर्ध्वगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-बलदायिनी—सत्य, प्रेम और शक्ति। इन्हीं तीन वृत्तियों के विकास द्वारा मानवजाति की क्रमोन्नति साधित होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्ति द्वारा त्रिमार्ग पर अग्रसर होना ही है सनातन धर्म का त्रिकर्म।

सनातन धर्म में अनेक गौण धर्म निहित हैं; सनातन का अवलम्बन कर परिवर्तनशील महान् और क्षुद्र नानाविध धर्म अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं। सब तरह के धर्म-कर्म हैं स्वभावसृष्ट। सनातन धर्म जगत् के सनातन स्वभाव पर आश्रित है और ये नाना धर्म हैं नानाविध आधारगत स्वभाव के फल। व्यक्तिगत धर्म, राष्ट्रधर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादि हैं नाना धर्म। ये अनित्य हैं इसलिये उपेक्षणीय वा वर्जनीय नहीं, बल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मों द्वारा सनतान धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्तिगत धर्म, राष्ट्रधर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म परित्याग करने से सनातन धर्म की पुष्टि न हो अधर्म की ही वृद्धि होती है और गीता में जिसे संकर कहा गया है अर्थात् सनातन प्रणाली का भंग और क्रमोन्नति की विपरीत गति वसुंधरा को पाप और अत्याचार से दग्ध करती हैं। जब उस पाप और अत्याचार की अतिरिक्त मात्रा से मनुष्य की उन्नति की विरोधिनी धर्मदलनी आसुरी शक्तियां स्फीत और बलशाली हो स्वार्थ, क्रूरता और अहंकार से दसों दिशाओं को आच्छन्न करती हैं, जब जगत् में अनीश्वर ईश्वर का रूप ग्रहण करना आरंभ करता है, तब भारार्त्त पृथिवी का दुःख कम करने के लिये भगवान् के अवतार या विभूतियां मानव शरीर में प्रकट हो पुनः धर्मपथ को निष्कंटक बनाती हैं।

सनातन धर्म का ठीक-ठीक पालन करने के लिये व्यक्तिगत धर्म, राष्ट्रधर्म, वर्णाश्रित धर्म और युगधर्म का आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परंतु इन नानाविध धर्मों में क्षुद्र और महान् दो रूप हैं। महान् धर्म के साथ क्षुद्र धर्म को मिला और संशोधित कर उसका अनुष्ठान करना है श्रेयस्कर। व्यक्तिगत धर्म को राष्ट्रधर्म के अंकाश्रित कर

आचरण करने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है और राष्ट्रधर्म लुप्त होने से व्यक्तिगत धर्म का क्षेत्र और सुयोग नष्ट होता है। यह भी है धर्मसंकर—जिस धर्मसंकर के प्रभाव से राष्ट्र और संकरकारी दोनों ही अतल नरक में निमग्न होते हैं। पहले राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिये, तभी व्यक्ति की आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है। वर्णाश्रित धर्म को भी युगधर्म के सांचे में ढालकर न गढ़ पाने से, महान् युगधर्म की प्रतिकूल गति से वर्णाश्रित धर्म के चूर्ण और विनष्ट होने पर समाज भी चूर्ण और विनष्ट होता है। क्षुद्र सदा ही महान् का अंश या सहायक है; इस संबंध की विपरीत अवस्था में धर्मसंकर-संभूत घोर अनिष्ट घटता है। क्षुद्र धर्म और महान् धर्म के बीच विरोध होने पर क्षुद्र धर्म परित्याग कर महान् धर्म का अनुष्ठान है मंगलप्रद।

हमारा उद्देश्य है सनातन धर्म का प्रचार और सनातन धर्माश्रित राष्ट्रधर्म और युगधर्म का अनुष्ठान। हम भारतवासी हैं आर्यजाति के वंशधर, आर्यशिक्षा और आर्यनीति के अधिकारी। यह आर्यभाव ही है हमारा कुलधर्म और राष्ट्रधर्म। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म हैं आर्यशिक्षा के मूल; ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति, विनय हैं आर्यचरित के लक्षण। मानव-जाति को ज्ञान देना, जगत् में उन्नत उदार चरित्र का निष्कलंक आदर्श रखना, दुर्बल की रक्षा करना, प्रबल अत्याचारी को दण्ड देना है आर्यजाति के जीवन का उद्देश्य, उसी उद्देश्य की सिद्धि में है उसके धर्म की चरितार्थता। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रांतिसंकुल तामसिक मोह में पड़कर आर्यशिक्षा और आर्यनीति को खो बैठे हैं। हम आर्य होकर भी शूद्रत्व और शूद्रधर्मरूप दासत्व को अंगीकार कर जगत् में हेय, प्रबल-पददलित और दुःख-परंपरा-प्रपीड़ित हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना है, यदि अनंत नरक से मुक्त होने की लेशमात्र भी अभिलाषा है तो राष्ट्र की रक्षा है हमारा प्रथम कर्तव्य। और राष्ट्र की रक्षा का उपाय है आर्यचरित का पुनर्गठन। समस्त राष्ट्र को, विशेषकर युवकों को, ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभाव-उद्दीपक कर्म-प्रणाली देना है हमारा प्रथम उद्देश्य जिससे जननी जन्मभूमि की भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानवप्रेमी, भ्रातृभाव-युक्त, साहसी, शक्तिमान् और विनीत बने। इस कार्य में सफल न होने तक सनातन धर्म का प्रचार है ऊसर क्षेत्र में बीज-वपनमात्र।

राष्ट्रधर्म के अनुष्ठान से धर्मयुग की सेवा सहजसाध्य हो जायेगी। यह युग है शक्ति और प्रेम का युग। जब कलि का आरंभ होता है तब ज्ञान और कर्म भक्ति के अधीन और सहायक हो अपनी-अपनी प्रवृत्ति चरितार्थ करते हैं, सत्य और शक्ति प्रेम का आश्रय ले मानवजाति में प्रेम का विकास करने के लिये सचेष्ट होते हैं। बौद्धधर्म की मैत्री और दया, ईसाईधर्म की प्रेम-शिक्षा, मुसलमानधर्म का साम्य और भ्रातृभाव, पौराणिक धर्म की भक्ति और प्रेमभाव हैं इसी चेष्टा के फल। कलियुग में सनातन धर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृभाव की सहायता ले मनुष्यजाति का कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म से गठित आर्यधर्म में ये सारी

शक्तियां प्रविष्ट और विकसित हो प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने का मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरण के लक्षण हैं कठिन तपस्या, उच्चाकांक्षा और महत्कर्म। जब यह राष्ट्र तपस्वी, उच्चाकांक्षी, महत्कर्मप्रयासी होगा, तब समझना होगा कि जगत् की उन्नति के दिन आरंभ हो गये हैं, धर्मविरोधिनी आसुरिक शक्तियों का ह्रास और देवशक्तियों का पुनरुत्थान अवश्यंभावी है। अतएव इस प्रकार की शिक्षा भी वर्तमान समय के लिये आवश्यक है।

युगधर्म और राष्ट्रधर्म के साधित होने पर सारे जगत् में सनातन धर्म अबाध रूप से प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकाल से विधाता ने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके संबंध में शास्त्रों में भविष्यवाणी लिखित है, वह भी कार्य में अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेश-संभूत ब्रह्मज्ञानियों के पास ज्ञान-धर्म का शिक्षाप्रार्थी बन, भारतभूमि को तीर्थ मान, अवनत-मस्तक हो इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उस दिन को ले आने के लिये ही हो रहा है भारतवासियों का जागरण, आर्यभाव का नवोत्थान।

माया

हमारे पुरातन दार्शनिक जब जगत् के मूल तत्त्वों के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए तब वे इस प्रपंच के मूल में एक अनश्वर व्यापक वस्तु के अस्तित्व से अवगत हुए। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक बहुत दिनों के अनुसंधान के बाद इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि बाह्य जगत् में भी यह अनश्वर सर्वव्यापी एकत्व वर्तमान है। उन्होंने आकाश को ही भौतिक प्रपंच का मूल तत्त्व स्थिर किया। भारत के पुरातन दार्शनिक भी कई हजार वर्ष पहले इसी सिद्धांत पर पहुंचे थे कि आकाश ही है भौतिक प्रपंच का मूल, उसी से अन्य सब भौतिक अवस्थाएं प्राकृतिक परिणाम द्वारा उद्भूत होती हैं। पर वे इस सिद्धांत को अंतिम सिद्धांत मानकर संतुष्ट नहीं हो गये। वे योगबल से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश कर जान पाये कि स्थूल भौतिक प्रपंच के पीछे है एक सूक्ष्म प्रपंच, इस प्रपंच का मूल भौतिक तत्त्व है सूक्ष्म आकाश। यह आकाश भी अंतिम वस्तु नहीं, उन्होंने अंतिम वस्तु को प्रधान नाम से अभिहित किया। प्रकृति या जगन्मयी क्रियाशक्ति अपने सर्वव्यापी स्पंदन से इस प्रधान की सृष्टि कर इसी से करोड़ों अणुओं को उत्पन्न करती है और इन्हीं अणुओं से सूक्ष्म भूत गठित होते हैं। प्रकृति या क्रियाशक्ति अपने लिये कुछ नहीं करती—वह जिनकी शक्ति है उन्हीं की तुष्टि के लिये इस प्रपंच की सृष्टि और नानाविध गति हैं। आत्मा या पुरुष है इस प्रकृति की क्रीड़ा का अध्यक्ष और साक्षी। पुरुष और प्रकृति जिसके स्वरूप और क्रिया हैं वही अनिर्वचनीय परब्रह्म है जगत् का अनश्वर अद्वितीय मूल सत्य। मुख्य-मुख्य उपनिषदों में आर्य-ऋषियों के तत्त्वानुसंधान में जो सत्य आविष्कृत हुए थे उनके केन्द्र के रूप में यही ब्रह्मवाद और पुरुष-प्रकृतिवाद प्रतिष्ठित हैं। तत्त्वदर्शियों ने इन्हीं मूल सत्यों को ले नाना तर्क और वाद-विवाद द्वारा भिन्न-भिन्न विचारधाराओं की सृष्टि की। जो ब्रह्मवादी थे, वे वेदान्त-दर्शन के प्रवर्तक हुए; जो प्रकृतिवाद के पक्षपाती थे उन्होंने सांख्य-दर्शन का प्रचार किया। इनके अलावा बहुत-से लोग परमाणु को ही भौतिक प्रपंच का मूल तत्त्व मान स्वतंत्र पथ के पथिक हो गये। इस प्रकार नाना मार्गों के आविष्कृत हो जाने के बाद, श्रीकृष्ण ने गीता में इन्हीं सब विचारधाराओं का समन्वय और सामंजस्य स्थापित कर व्यासदेव के मुख से उपनिषदों के सत्यों को पुनः प्रवर्तित किया। पुराणकारों ने भी व्यासदेव द्वारा रचित पुराणों को आधार बना उन्हीं सत्यों की नाना व्याख्याएं—कथोपन्यास और रूपक के बहाने—जनसाधारण के सामने उपस्थित कीं। इससे विद्वान्-मंडली का वाद-विवाद बंद नहीं हो गया, वे अपने-अपने मतों को प्रकट करते हुए दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के सिद्धांतों को तर्क द्वारा विशद रूप में प्रतिपादित करने लगे। हमारे षड्दर्शन का आधुनिक स्वरूप है इसी परवर्ती विचारधारा का फल। अंत में शंकराचार्य ने सारे देश में वेदांत के प्रचार की अपूर्व और स्थायी व्यवस्था कर साधारण लोगों के हृदय में वेदान्त का आधिपत्य बद्धमूल किया। इसके बाद अन्य पांचों दर्शन थोड़े-से

विद्वानों के बीच प्रतिष्ठित रहे सही, पर उनका आधिपत्य और प्रभाव विचार-जगत् से प्रायः तिरोहित हो गया। सर्वजनसम्मत वेदांत दर्शन में मतभेद उत्पन्न होने से तीन मुख्य शाखाएं और बहुत-सी गौण शाखाएं स्थापित हुईं। ज्ञानप्रधान अद्वैतवाद एवं भक्तिप्रधान विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद का विरोध आज भी हिंदूधर्म में वर्तमान है। ज्ञानमार्गी, भक्त के उद्दाम प्रेम और भाव-प्रवणता को उन्माद का लक्षण कह उड़ा देते हैं; भक्त, ज्ञानमार्गी की तत्त्वज्ञानस्पृहा को शुष्क तर्क कह उपेक्षा करते हैं। दोनों मत ही हैं भ्रांत और संकीर्ण। भक्तिशून्य तत्त्वज्ञान से अहंकार की वृद्धि होने के कारण मुक्तिपथ अवरुद्ध हो जाता है, ज्ञानशून्य भक्ति अंध-विश्वास और भ्रमसंकुल तामसिकता उत्पन्न करती है। सच्चे उपनिषत्प्रदर्शित धर्ममार्ग में ज्ञान, भक्ति और कर्म का सामंजस्य और परस्पर सहयोग सुरक्षित हैं।

यदि सर्वव्यापी और सर्वजनसम्मत आर्यधर्म का प्रचार करना हो तो उसे सच्चे आर्यज्ञान पर संस्थापित करना होगा। दर्शनशास्त्र सदा ही एकपक्ष-प्रतिपादक और अपूर्ण होता है। समस्त जगत् को एक संकीर्ण मतानुयायी तर्क द्वारा सीमाबद्ध करने की चेष्टा से सत्य का एक पहलू विशद रूप से व्याख्यात होता है अवश्य किंतु दूसरे पहलू का अपलाप होता है। अद्वैतवादियों का मायावाद है इसी प्रकार के अपलाप का उदाहरण। 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या', यही है मायावादियों का मूल मंत्र। यह मंत्र जिस राष्ट्र की चिंतन-प्रणाली के मूल मंत्र के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, उस राष्ट्र में ज्ञानलिप्सा, वैराग्य और संन्यासप्रियता बढ़ जाती हैं, रजःशक्ति तिरोहित होती और सत्त्व तथा तम का प्राबल्य होता है। एक ओर ज्ञानप्राप्त संन्यासियों की, संसार से विरक्त प्रेमिक भक्तों और शांतिप्रार्थी वैरागियों की संख्या बढ़ जाती है, दूसरी ओर तामसिक, अज्ञ, अप्रवृत्तिमुग्ध, अकर्मण्य साधारण प्रजा की दुर्दशा ही होती है। भारत में मायावाद के प्रचार से यही हुआ है। जगत् यदि मिथ्या ही हो तो फिर ज्ञानपिपासा के अतिरिक्त अन्य सभी चेष्टाओं को निरर्थक एवं अनिष्टकर ही कहना होगा। किंतु मनुष्य के जीवन में ज्ञानपिपासा के सिवा और भी बहुत-सी प्रबल और उपयोगी वृत्तियां क्रीड़ा कर रही हैं, उन सबकी उपेक्षा कर कोई भी राष्ट्र टिक नहीं सकता। इसी अनर्थ के भय से शंकराचार्य ने पारमार्थिक और व्यावहारिक नाम से ज्ञान के दो अंग बता अधिकार-भेद से ज्ञान और कर्म की व्यवस्था की। परंतु उनके उस युग के क्रियासंकुल कर्ममार्ग का तीव्र प्रतिवाद करने से उलटा फल फला। शंकर के प्रभाव से वह कर्ममार्ग लुप्तप्राय हो गया, सब वैदिक क्रियाएं तिरोहित हो गयीं, किंतु जनसाधारण के मन में ये तम-प्रवर्तक विचार कि जगत् माया की सृष्टि है, कर्म अज्ञानप्रसूत और मुक्ति-विरोधी है, अदृष्ट ही सुख-दुख का कारण है इत्यादि, ऐसी दृढ़ता के साथ बैठ गये कि रजःशक्ति का पुनराविर्भाव असंभव हो उठा। आर्यजाति के रक्षार्थ भगवान् ने पुराण और तंत्र का प्रचार कर मायावाद का प्रतिरोध किया। पुराणों में उपनिषत्प्रसूत आर्यधर्म के विभिन्न अंग कुछ अंशतक रक्षित हुए, तंत्र ने शक्ति-उपासना द्वारा मुक्ति

और भुक्ति-रूपी द्विविध फल की प्राप्ति के लिये लोगों को कर्म में प्रवृत्त कराया। प्राय: सभी लोग, जिन्होंने राष्ट्र की रक्षा के लिये युद्ध किया, प्रताप सिंह, शिवाजी, प्रतापादित्य, चांदराय, इत्यादि थे शक्ति के उपासक या तांत्रिक योगियों के शिष्य। तमःप्रसूत अनर्थ को रोकने के लिये गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मसंन्यास-विरोधी उपदेश दिया।

मायावाद है सत्य पर प्रतिष्ठित। उपनिषदों में भी कहा गया है कि ईश्वर परम मायावी हैं, अपनी माया से उन्होंने इस दृश्य जगत् की सृष्टि की है। गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि त्रैगुण्यमयी माया ही सारे जगत् में व्याप्त है। एक ही अनिर्वचनीय ब्रह्म जगत् का मूल सत्य है, समस्त प्रपंच उसकी अभिव्यक्तिमात्र है, अपने-आपमें परिणामशील और नश्वर। यदि एक ब्रह्म ही सनातन सत्य हो तो फिर भेद और बहुत्व कहां से उत्पन्न हुए, किसमें प्रतिष्ठित हैं और कैसे उत्पन्न हुए—ये प्रश्न अनिवार्य हो जाते हैं। ब्रह्म यदि एकमात्र सत्य हो तो फिर ब्रह्म से ही भेद और बहुत्व का जन्म हुआ, ब्रह्म में ही ये प्रतिष्ठित हैं और ब्रह्म की ही किसी अनिवर्चनीय शक्ति से इनका प्रादुर्भाव हुआ है—यही है उपनिषदों का उत्तर। उसी शक्ति को कहा गया है कहीं मायावी की माया, कहीं पुरुष-अधिष्ठित प्रकृति, कहीं ईश्वर की विद्या-अविद्यामयी इच्छाशक्ति। इससे तार्किकों का मन संतुष्ट नहीं हो पाता; कैसे 'एक' 'बहु' होता है, अभेद में भेद उत्पन्न होता है, इसकी संतोषजनक व्याख्या नहीं हुई। अंत में एक सहज उत्तर मन में उदय हुआ—'एक' 'बहु' नहीं हो सकता, सनातन अभेद में भेद उत्पन्न नहीं हो सकता, 'बहु' मिथ्या है, भेद अलीक है, सनातन अद्वितीय आत्मा में स्वप्न की तरह भासमान मायामात्र है, आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही सनातन है। यहां भी धांधली, आखिर यह माया है क्या, कहां से उत्पन्न हुई, किसमें प्रतिष्ठित है और कैसे उत्पन्न हुई ? शंकर ने उत्तर दिया कि माया क्या है यह कहा नहीं जा सकता, माया अनिर्वचनीय है, माया उत्पन्न नहीं हुई, माया सदा से है भी और नहीं भी। धांधली धांधली ही रही, कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। इस तर्क से एक अद्वितीय ब्रह्म में और एक सनातन अनिर्वचनीय वस्तु प्रतिष्ठित हो गयी, एकत्व की रक्षा नहीं हुई।

शंकर की युक्ति से उपनिषदों की युक्ति है उत्कृष्ट। भगवान् की प्रकृति है जगत् का मूल, वही प्रकृति है शक्ति, सच्चिदानंद की सच्चिदानंदमयी शक्ति। आत्मा के लिये भगवान् परमात्मा हैं और जगत् के लिये परमेश्वर। परमेश्वर की इच्छा शक्तिमयी है, उस इच्छा द्वारा ही एक से बहु, अभेद से भेद उत्पन्न होता है। परमार्थ की दृष्टि से ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या, परामाया-प्रसूत, कारण यह ब्रह्म से उत्पन्न होता है और ब्रह्म में विलीन। देश-काल के अंदर ही है प्रपंच का अस्तित्व, ब्रह्म की देशकालातीत अवस्था में उसका कोई अस्तित्व नहीं। ब्रह्म में प्रपंचयुक्त देश-काल है; ब्रह्म देश-काल में आबद्ध नहीं। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म में विद्यमान है, सनातन

अनिर्देश्य ब्रह्म में आद्यन्तविशिष्ट जगत् की स्थिति है, यह वहां ब्रह्म की विद्या-अविद्यामयी शक्ति द्वारा सृष्ट हो विराजमान है। जैसे मनुष्य में प्रकृत सत्य की उपलब्धि करने की शक्ति के अलावा कल्पना द्वारा अलीक वस्तु की उपलब्धि करने की शक्ति विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्म में भी विद्या और अविद्या, सत्य और अनृत वर्तमान हैं। फिर भी अनृत है देश-काल की सृष्टि। जैसे मनुष्य की कल्पना देश-काल की गति से सत्य में परिणत होती है, उसी प्रकार जिसे हम अनृत कहते हैं वह सर्वथा अनृत नहीं, सत्य का अननुभूत पहलूमात्र है। वास्तव में *सर्वं सत्यम्*—सब कुछ सत्य है; देशकालातीत अवस्था में जगत् मिथ्या है, किंतु हम देशकालातीत नहीं, हम जगत् को मिथ्या कहने के अधिकारी नहीं। देशकाल में जगत् मिथ्या नहीं, जगत् सत्य है। जब देशकालातीत हो ब्रह्म में विलीन होने का समय आयेगा और शक्ति उत्पन्न होगी, तब हम जगत् को मिथ्या कह सकेंगे, अनधिकारी का ऐसा कहना मिथ्याचार और धर्म की विपरीत गति है। हमारे लिये 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' कहने की अपेक्षा 'ब्रह्म सत्य, जगत् ब्रह्म' कहना उचित है। यही है उपनिषदों का उपदेश—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*। इसी सत्य पर प्रतिष्ठित है आर्यधर्म।

अहंकार

हमारी भाषा में 'अहंकार' शब्द का अर्थ इतना विकृत हो गया है कि आर्यधर्म के प्रधान-प्रधान तत्त्व समझाने में कभी-कभी बड़ी गड़बड़ी हो जाती है। गर्व राजसिक अहंकार का एक विशेष परिणाम है केवल, किंतु साधारणतया 'अहंकार' शब्द का यही अर्थ समझा जाता है। अहंकार-त्याग की बात कहते ही गर्व के त्याग या राजसिक अहंकार के वर्जन की बात मन में उठती है। वास्तव में समस्त अहं-ज्ञान ही है अहंकार। अहं-बुद्धि मानव की विज्ञानमयी आत्मा में सृष्ट होती है और प्रकृति के अंतर्गत तीन गुणों की क्रिया से उसकी तीन प्रकार की वृत्तियां विकसित होती हैं : सात्त्विक अहंकार, राजसिक अहंकार और तामसिक अहंकार। सात्त्विक अहंकार है ज्ञानप्रधान और सुखप्रधान। मुझे ज्ञान मिल रहा है, मुझे आनंद मिल रहा है, ये सब भाव हैं सात्त्विक अहंकार की क्रिया। साधक का अहं, भक्त का अहं, ज्ञानी का अहं, निष्काम-कर्मी का अहं सत्त्वप्रधान, ज्ञानप्रधान, सुखप्रधान है। राजसिक अहंकार है कर्मप्रधान। मैं कर्म कर रहा हूं, मैं जीत रहा हूं, पराजित हो रहा हूं, चेष्टा कर रहा हूं, मेरी ही कार्य-सिद्धि हो रही है, मेरी ही असिद्धि हो रही है, मैं बलवान हूं, मैं सिद्ध हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं—ये सब भाव हैं रजःप्रधान, कर्मप्रधान और प्रवृत्तिजनक। तामसिक अहंकार है अज्ञता और निश्चेष्टता से पूर्ण। मैं अधम हूं, मैं निरुपाय हूं, मैं आलसी, अक्षम, हीन हूं, मेरे लिये कोई आशा नहीं, मैं प्रकृति में लीन हो रहा हूं, लीन होना ही है मेरी गति—ये सब भाव हैं तमःप्रधान, अप्रवृत्ति और अप्रकाशजनक। जो तामसिक अहंकार से ग्रसित हैं, उन्हें गर्व नहीं होता, पर उनमें अहंकार पूर्ण मात्रा में होता है, किंतु वह अहंकार है अधोगति, विनाश और शून्य ब्रह्म की ओर ले जानेवाला। जैसे गर्व का अहंकार होता है, वैसे ही नम्रता का भी, जैसे बल का वैसे ही दुर्बलता का भी। जो तामसिक भाव के कारण गर्वहीन हैं, वे अधम और दुर्बल होते हैं, भय और निराशावश दूसरों के पैरों में लोटते हैं। तामसिक नम्रता, तामसिक क्षमा, तामसिक सहिष्णुता का न कोई मूल्य है न कोई सुफल। जो सर्वत्र नारायण के दर्शन करते हुए सबके सामने नम्र रहते हैं, सहिष्णु और क्षमावान् होते हैं, उन्हें ही मिलता है पुण्य। जो ये सब अहंकृत वृत्तियां त्याग त्रैगुण्यमयी माया को अतिक्रम कर जाते हैं उनमें न गर्व होता है न नम्रता, भगवान् की जगन्मयी शक्ति उनके मन-प्राण-रूप आधार में जो भाव देती हैं उसे ही ले वे संतुष्ट और अनासक्त रहते हैं, अटल शांति और आनंद में मग्न। तामसिक अहंकार है सर्वथा वर्जनीय। राजसिक अहंकार को जगा, सत्त्वप्रसूत ज्ञान की सहायता से उसे निर्मूल करना ही है उन्नति का प्रथम सोपान। राजसिक अहंकार के हाथ से मुक्ति पाने का उपाय है ज्ञान, श्रद्धा और भक्ति का विकास। सत्त्वप्रधान व्यक्ति यह नहीं कहते कि मैं सुखी हूं; वे कहते हैं : मेरे प्राणों में सुख का प्रसार हो रहा है; वे यह नहीं कहते कि मैं ज्ञानी हूं; वे कहते हैं, मुझमें ज्ञान का संचार

हो रहा है। वे जानते हैं कि वह सुख और ज्ञान उनका नहीं, जगन्माता का है। फिर भी सब प्रकार के अनुभव के साथ जब आनन्दोपभोग के लिये आसक्ति रहती है तब उसी ज्ञानी या भक्त का भाव अहंकारमय हो जाता है। जब यह कहा जाता है कि 'मेरा कुछ हो रहा है', तब अहंबुद्धि का त्याग नहीं हुआ। गुणातीत व्यक्ति ही है संपूर्ण अहंकार-विजयी। वे जानते हैं कि जीव साक्षी और भोक्ता है, पुरुषोत्तम अनुमन्ता और प्रकृति कर्त्री, इसके अंदर 'मैं' नहीं, सभी है *एकमेवाद्वितीयम्*, ब्रह्म की विद्या-अविद्यामयी शक्ति की लीला। अहंज्ञान है जीव-अधिष्ठित प्रकृति में मायाप्रसूत एक भावमात्र। इस अहंज्ञानरहित भाव की अंतिम अवस्था है सच्चिदानंद में लय हो जाना। किंतु जो गुणातीत होकर भी पुरुषोत्तम की इच्छा से लीला में रहते हैं, वे पुरुषोत्तम और जीव के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए अपने को प्रकृति-विशिष्ट भगवदंश समझ लीलाकार्य सम्पन्न करते हैं। इस भाव को अहंकार नहीं कहा जा सकता। यह भाव परमेश्वर में भी है, उनमें अज्ञान या लिप्तता नहीं, किंतु उनकी आनंदमयी अवस्था आत्मस्थ न हो जगन्मुखी होती है। जिनमें यह भाव होता है वही हैं जीवनमुक्त। लयरूप मुक्ति देहपात होने पर प्राप्त की जा सकती है। जीवन्मुक्त की अवस्था देह में रहते हुए ही अनुभूत होती है।

निवृत्ति

हमारे देश में मनीषिगण धर्म की संकीर्ण और जीवन की महत् कर्म-विरोधी व्याख्या कभी भी ग्रहण नहीं करते थे। सारा जीवन ही है धर्मक्षेत्र, यह महान् और गभीर तत्त्व निहित था हिन्दू ज्ञान और शिक्षा के मूल में। आज हमारा ज्ञान और हमारी शिक्षा पाश्चात्य शिक्षा के स्पर्श से कलुषित हो विकृत और अस्वाभाविक हो गयी है। हम प्रायः ही इस भ्रांत धारणा के वशीभूत होते हैं कि संन्यास, भक्ति और सात्त्विक भाव के सिवा और कुछ भी धर्म का अंग नहीं हो सकता। पश्चिम के लोग इसी संकीर्ण धारणा को मन में रख धर्म की आलोचना करते हैं। हिन्दू अपने जीवन के सभी कार्यों को धर्म और अधर्म—इन दो भागों में विभक्त किया करते थे; पाश्चात्य देशों में धर्म, अधर्म और धर्माधर्म से बहिर्भूत जीवन की अधिकांश क्रियाओं और वृत्तियों का अनुशीलन—ये तीन भाग किये गये हैं। वहां भगवान् की प्रशंसा, प्रार्थना, संकीर्तन करने तथा गिरजाघर में जाकर पादरियों की वक्तृता सुनने को धर्म या religion कहते हैं, morality या सत्कर्म करना वहां धर्म का अंग नहीं माना जाता, वह एक अलग चीज है, फिर भी बहुत-से लोग religion (धर्म) और morality (सत्कर्म) दोनों को धर्म का गौण अंग मानते हैं। गिरजे में न जाना, नास्तिकवाद या संशयवाद तथा religion की निंदा या उसके विषय में उदासीनता वहां अधर्म (irreligion) माना जाता है, कुकार्य को immorality कहा जाता है, पूर्वोक्त मतानुसार वह भी अधर्म का अंग है। किंतु अधिकांश कर्म और वृत्तियां धर्माधर्म से बहिर्भूत हैं। Religion और life, धर्म और कर्म, भिन्न-भिन्न हैं। हममें से बहुत लोग इसी तरह 'धर्म' शब्द का विकृत अर्थ करते हैं। साधु-संन्यासी की चर्चा, भगवान् की चर्चा, देवी-देवताओं की चर्चा, संसार-त्याग की चर्चा को वे 'धर्म' नाम से अभिहित करते हैं; परंतु और कोई प्रसंग उठने पर वे कहते हैं कि ये दुनियादारी की बातें हैं, धर्म की नहीं। उनके मन में पाश्चात्य 'रिलिजन' शब्द का भाव बैठा हुआ है, 'धर्म' शब्द सुनते ही 'रिलिजन' की बात उनके मन में उदय होती है, न जानते हुए भी उसी अर्थ में 'धर्म' शब्द का व्यवहार करते हैं। किंतु अपनी स्वदेशी बातों में इस प्रकार का विदेशी भाव ले आने से हम उदार और सनातन आर्य-भाव और शिक्षा से भ्रष्ट होते हैं। सारा जीवन ही धर्मक्षेत्र है, संसार भी धर्म है। केवल आध्यात्मिक ज्ञानालोचना और भक्ति की भावना धर्म नहीं, कर्म भी धर्म है। यही महती शिक्षा सनातन काल से हमारे समस्त साहित्य में व्याप्त रही है—*एष धर्मः सनातनः*।

बहुतों की धारणा है कि कर्म धर्म का अंग तो है सही, किंतु सर्व विध कर्म नहीं; जो कर्म सात्त्विकभावापन्न हैं, निवृत्ति के अनुकूल हैं केवल वे ही इस नाम के योग्य हैं। यह भी है भ्रांत धारणा। जैसे सात्त्विक कर्म धर्म हैं वैसे ही राजसिक कर्म भी धर्म हैं। जैसे जीव पर दया करना धर्म है वैसे ही धर्मयुद्ध में देश के शत्रु का हनन करना

भी धर्म है। जैसे परोपकार के लिये अपने सुख, धन और प्राण तक को तिलांजलि देना धर्म है वैसे ही धर्म के साधन शरीर की उचित रक्षा करना भी धर्म है। राजनीति भी धर्म है, काव्यरचना भी धर्म है, चित्रांकन भी धर्म है, मधुरगान से दूसरों का मनोरंजन करना भी धर्म है। जिसमें स्वार्थ नहीं वही है धर्म, चाहे वह कर्म बड़ा हो या छोटा। छोटे-बड़े का हिसाब हम करते हैं, भगवान् के लिये छोटा-बड़ा कुछ नहीं, वह तो बस इसी ओर ध्यान रखते हैं कि मनुष्य अपना स्वभावोचित या अदृष्ट द्वारा दत्त कर्म किस प्रकार संपादित करता है। चाहे हम कोई भी कर्म क्यों न करें उसे उन्हीं के चरणों में अर्पण करना, यज्ञ के रूप में करना, उन्हीं की प्रकृति द्वारा किया गया मान समभाव से स्वीकार करना—यही है उच्च धर्म, श्रेष्ठ धर्म।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

अर्थात् जो कुछ देखते हैं, जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं वह सब है उनमें देखना, उन्हीं के चिंतन से सब कुछ को वस्त्र की तरह आच्छादित करना ही है श्रेष्ठ पथ, उस आवरण को भेदने में पाप और अधर्म असमर्थ हैं। मन से सभी कर्मों की इच्छा और आसक्ति को निकाल, कोई कामना न रख कर्म के स्रोत में जो कुछ मिल जाये उसी का भोग करना, सभी कर्म करना, देह की रक्षा करना—ऐसा आचरण ही है भगवान् को प्रिय और यही है श्रेष्ठ धर्म। यही है वास्तविक निवृत्ति। बुद्धि ही है निवृत्ति का स्थान, प्राण और इंद्रियां हैं प्रवृत्ति के क्षेत्र। बुद्धि प्रवृत्ति द्वारा स्पृष्ट होती है इसीलिये है इतना घपला। बुद्धि निर्लिप्त रहती हुई साक्षी और भगवान् का prophet या spokeman (संदेशवाहक या प्रतिनिधि) बनकर रहेगी, निष्काम हो भगवान् द्वारा अनुमोदित प्रेरणा को प्राण और इंद्रियों तक पहुंचा देगी; प्राण और इंद्रियां तदनुसार अपना-अपना कार्य करेंगी। कर्मत्याग कोई बड़ी बात नहीं, कामना का त्याग ही है प्रकृत त्याग। शरीर की निवृत्ति निवृत्ति नहीं, निर्लिप्तता ही है सच्ची निवृत्ति।

प्राकाम्य

I

जब लोग अष्टसिद्धियों की बात करते हैं तब उनका तात्पर्य अलौकिक योगप्राप्त कतिपय अपूर्व शक्तियों से होता है। निस्संदेह अष्टसिद्धियों का पूर्णविकास योगी में ही होता है, किंतु ये शक्तियां प्रकृति के साधारण नियम के बहिर्भूत नहीं, बल्कि हम जिसे प्रकृति का नियम कहते हैं वह है अष्टसिद्धियों का समावेश।

अष्टसिद्धियों के नाम हैं—महिमा, लघिमा, अणिमा, प्राकाम्य, व्याप्ति, ऐश्वर्य, वशिता और ईशिता। ये ही परमेश्वर की आठ स्वभावसिद्ध शक्तियां मानी जाती हैं। प्राकाम्य की बात लें—प्राकाम्य का अर्थ है सभी इन्द्रियों का पूर्ण विकास और अबाध क्रिया। वास्तव में पंच ज्ञानेन्द्रियां और मन की सकल क्रियाएं हैं प्राकाम्य के अंतर्गत। प्राकाम्य के बल से हम आंखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं, त्वचा से स्पर्श का अनुभव करते हैं, रसना से रसास्वादन करते हैं और मन से सारे बाह्य स्पर्शों को ग्रहण करते हैं। साधारण मनुष्य समझता है कि स्थूल इन्द्रियों में ही ज्ञान-धारण की शक्ति है, पर तत्त्वविद् जानते हैं कि आंखें नहीं देखतीं, मन देखता है; कान नहीं सुनते, मन सुनता है; नाक नहीं सूंघती, मन सूंघता है। जो और भी बड़े तत्त्वज्ञानी होते हैं वे जानते हैं कि मन भी नहीं देखता, सुनता व सूंघता; जीव देखता है, सुनता है, सूंघता है। जीव ही ज्ञाता है। जीव ईश्वर है, भगवान् का अंश है। भगवान् की अष्टसिद्धियां जीव की भी अष्टसिद्धियां हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

मेरा सनातन अंश जीवलोक में जीव बन प्रकृति में मन और पंचेन्द्रियां को पा आकर्षित करता है (अपने उपयोग में लाता है और भोग के लिये आयत्त करता है)। जब जीवरूप ईश्वर शरीर में आते या शरीर से बाहर निकलते हैं, तब जिस तरह वायु गंध को पुष्प आदि से ग्रहण कर चली जाती है उसी तरह वह भी शरीर से इन्द्रियों को लेकर चले जाते हैं। कान, आंख, त्वचा, रसना, घ्राण और मन में अधिष्ठित हो यह ईश्वर विषयों का भोग करते हैं। दृष्टि, भ्रमण, आघ्राण, आस्वादन, स्पर्श, मनन—ये ही हैं

प्राकाम्य की क्रियाएं। भगवान् के सनातन अंश जीव इस प्रकृति की क्रिया द्वारा प्रकृति के विकार से पंचेन्द्रिय और मन का सूक्ष्म शरीर में विकास करते हैं, स्थूल शरीर प्राप्त करने के समय इन षड् इन्द्रियों को ले प्रवेश करते हैं, मृत्यु के समय इन्हीं षड् इन्द्रियों को साथ ले बाहर निकलते जाते हैं। सूक्ष्म देह में हों या स्थूल देह में, वे इन्हीं षडिन्द्रियों में अधिष्ठान कर विषयों का उपभोग करते हैं।

कारण-देह में संपूर्ण प्राकाम्य-सिद्धि रहती है, वही शक्ति सूक्ष्म देह में विकसित हो फिर स्थूल देह में प्रकट होती है। किंतु आरंभ से ही वह स्थूल देह में पूर्णरूपेण प्रकट नहीं होती, जगत् के क्रमविकास के साथ-साथ इन्द्रियां क्रमशः विकसित होती हैं और अंत में ये कुछ पशुओं के अंदर मनुष्य के उपयोगी विकास और प्राखर्य को प्राप्त होती हैं। मनुष्य में पंचेन्द्रियां कुछ निस्तेज हो जाती हैं, क्योंकि हम मन और बुद्धि के विकास में अधिक शक्ति प्रयोग करते हैं। परंतु यह असंपूर्ण अभिव्यक्ति प्राकाम्य के विकास की अंतिम अवस्था नहीं। योग द्वारा सूक्ष्म देह में प्राकाम्य का जितना विकास होता है वह स्थूल देह में भी प्रकट होता है। इसे ही कहते हैं योगप्राप्त प्राकाम्य-सिद्धि।

II

परमेश्वर अनन्त और अव्याहत-पराक्रम हैं, उनकी स्वभाव-सिद्ध शक्ति का क्षेत्र भी अनंत और क्रिया अव्याहत है। जीव ईश्वर हैं, भगवान् के अंश हैं, सूक्ष्म देह और स्थूल देह में आबद्ध हो क्रमशः ईश्वरीय शक्ति का विकास कर रहे हैं। स्थूल शरीर की सब इन्द्रियां विशेषतः सीमाबद्ध होती हैं, मनुष्य जबतक स्थूल देह की शक्ति द्वारा आबद्ध रहता है तबतक बुद्धि के विकास में ही वह पशु की अपेक्षा उत्कृष्ट है, अन्यथा इन्द्रियों के प्राखर्य में तथा मन की अभ्रान्त क्रिया में—एक शब्द में कहें तो प्राकाम्य-सिद्धि में—पशु ही उत्कृष्ट है। विज्ञानविद् जिसे instinct (सहजप्रेरणा) कहते हैं वह यही प्राकाम्य है। पशु में बुद्धि का अत्यल्प विकास हुआ है, फिर भी इस जगत् में यदि बचे रहना हो तो किसी ऐसी वृत्ति की आवश्यकता होगी जो पथप्रदर्शिका बन यह दिखा दे कि सब कार्यों में क्या करणीय है और क्या वर्जनीय। पशु का मन ही यह कार्य करता है। मनुष्य का मन कुछ निर्णय नहीं करता, बुद्धि ही निश्चयात्मिका है, बुद्धि ही निर्णय करती है, मन है केवल संस्कार उत्पन्न करनेवाला यंत्र। हम जो कुछ देखते, सुनते और अनुभव करते हैं वह हममें संस्कार के रूप में परिणत होता है, बुद्धि उन्हीं संस्कारों को ग्रहण करती है, प्रत्याख्यान करती है, उनसे विचारों की सृष्टि करती है। पशु की बुद्धि इस निर्णय-क्रिया में असमर्थ है; पशु बुद्धि से नहीं, मन से समझता है, सोचता है। मन में एक अद्भुत शक्ति है, दूसरों के मन में जो कुछ हो रहा है उसे

पल-भर में जान सकता है, बिना विचारे ही जो आवश्यक है उसे समझ लेता है और कर्म की उपयुक्त प्रणाली निश्चित करता है। हम किसी को घर में प्रवेश करते हुए नहीं देखते, फिर भी समझते हैं मानों कोई घर में छिपा बैठा है; भय का कोई कारण नहीं, फिर भी सशंक बने रहते हैं, मानों कहीं कोई गुप्त भय का कारण मौजूद हो; मित्र ने एक बात भी नहीं कही, पर उसके बोलने से पहले ही समझ गये कि वह क्या कहेगा, इत्यादि बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। यह सब मन की शक्ति है, एकादश इन्द्रियों की स्वाभाविक अबाध क्रिया। परंतु बुद्धि की सहायता से सब कार्य करने के हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि यह क्रिया, यह प्राकाम्य हममें प्रायः लुप्त हो गयी है। पशु यदि इस प्राकाम्य का आश्रय ग्रहण न करे तो दो दिन में ही मर जाये। क्या पथ्य है, क्या अपथ्य, कौन मित्र है, कौन शत्रु, कहां भय है, कहां अभय—यह ज्ञान प्राकाम्य ही पशु को देती है। इसी प्राकाम्य से कुत्ता अपने मालिक की भाषा न समझने पर भी उसकी बात का अर्थ या मन का भाव समझ जाता है। इसी प्राकाम्य से घोड़ा जिस पथ से एक बार जाता है उस पथ की पहचान रखता है। यह सारी प्राकाम्य क्रिया है मन की। परंतु पंचेन्द्रियों की शक्ति में भी पशु मनुष्य को हरा देता है। भला कौन मनुष्य कुत्ते की तरह केवल गंध का अनुसरण कर सौ मील तक दूसरे सब रास्तों को छोड़ एक विशिष्ट जन्तु के पीछे-पीछे बिना भूले-भटके जाने में समर्थ हो सकता है ? या पशु की तरह अंधकार में देख सकता है ? या केवल श्रवण द्वारा गुप्त शब्दकारी को ढूंढ़ सकता है ? टेलीपैथी (telepathy) या दूर से विचार ग्रहण करने की सिद्धि की बात कहते हुए किसी एक अंग्रेजी समाचारपत्र ने लिखा है कि टेलीपैथी मन की प्रक्रिया है, पशु में वह सिद्धि है, मनुष्य में नहीं, अतएव टेलीपैथी के विकास से मनुष्य की उन्नति नहीं, अवनति होगी। सच, स्थूलबुद्धि अंग्रेज के उपयुक्त ही है यह तर्क। अवश्य ही बुद्धि के विकास के लिये मनुष्य ने एकादश इंद्रियों के पूर्ण विकास से मुंह मोड़ लिया है, यह अच्छा ही हुआ, अन्यथा प्रयोजन के अभाव में उसकी बुद्धि का विकास इतना शीघ्र न हो पाता। परंतु जब बुद्धि का संपूर्ण और निर्दोष विकास हो गया है तब एकादश इन्द्रियों का पूर्ण विकास करना मनुष्य-जाति का कर्तव्य है। इससे बुद्धि का विचार्य ज्ञान विस्तारित होगा, मनुष्य भी मन और बुद्धि का पूर्ण अनुशीलन कर अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति का उपयुक्त पात्र बनेगा। किसी भी शक्ति का विकास अवनति का कारण नहीं हो सकता—केवल शक्ति के अवैध प्रयोग से, मिथ्या व्यवहार से, असामंजस्य के दोष से अवनति संभव है। ऐसे बहुत-से लक्षण दिखायी दे रहे हैं जिनसे यह मालूम होता है कि एकादश इन्द्रियों के पूर्ण विकास का, प्राकाम्य की वृद्धि आरंभ करने का समय आ गया है।

स्तव-स्तोत्र

साधक, साधन और साध्य—इन्हीं तीन अंगों को लेकर हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। साधकों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होने के कारण भिन्न-भिन्न साधनाएं आदिष्ट हैं, भिन्न-भिन्न साध्यों का भी अनुसरण किया जाता है। परंतु स्थूल दृष्टि से नाना प्रकार के साध्य होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि सब साधकों का साध्य एक है—वह साध्य है आत्मतुष्टि। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी सहधर्मिणी को समझाते हैं कि आत्मा के लिये है सब कुछ, आत्मा के लिये स्त्री, आत्मा के लिये धन, आत्मा के लिये प्रेम, आत्मा के लिये सुख, आत्मा के लिये दुःख, आत्मा के लिये जीवन, आत्मा के लिये मरण। इसीलिये है इस प्रश्न की गुरुता और प्रयोजनीयता कि आत्मा है क्या।

बहुत-से विज्ञ और पंडित व्यक्ति कहते हैं कि आत्मज्ञान के लिये इतनी वृथा माथा-पच्ची क्यों ? इन सब सूक्ष्म विचारों में समय नष्ट करना है पागलपन, संसार के आवश्यक विषयों और मानवजाति के कल्याण की चेष्टा में लगे रहो। परंतु संसार के लिये क्या-क्या विषय आवश्यक हैं और मानवजाति का कल्याण किससे होगा—इन प्रश्नों की मीमांसा भी आत्मज्ञान पर निर्भर है। जैसा हमारा ज्ञान, वैसा ही होगा हमारा साध्य। यदि हम अपनी देह को आत्मा समझें तो उसकी तुष्टि के लिये अन्य सभी विचारों और विवेचनाओं को तिलांजलि दे स्वार्थपरायण नर-पिशाच बन जायेंगे। अगर स्त्री को ही आत्मवत् देखें, आत्मवत् प्यार करें तो स्त्रैण हो, न्याय-अन्याय का कोई विचार न कर उसके मन के संतोष के लिये प्राणपण चेष्टा करेंगे, दूसरों को कष्ट पहुंचा उसे ही सुख देंगे, दूसरों का अनिष्ट कर उसीका अभीष्ट सिद्ध करेंगे। यदि देश को ही आत्मवत् देखें तो हम एक बहुत बड़े देशहितैषी होंगे, संभवतः इतिहास में अमर कीर्ति छोड़ जायेंगे, परंतु अन्यान्य धर्मों का परित्याग कर दूसरे देशों का अनिष्ट, धन-लुण्ठन और स्वाधीनता-अपहरण कर सकते हैं। यदि भगवान् को आत्मा समझें या आत्मवत् प्यार करें—दोनों एक ही बात हैं, क्योंकि प्रेम है चरम-दृष्टि—तो हम भक्त, योगी, निष्काम-कर्मी बन साधारण मनुष्य के लिये अप्राप्य शक्ति, ज्ञान या आनंद का उपभोग कर सकते हैं। यदि निर्गुण परब्रह्म को आत्मा मानें तो परम शांति और लय को प्राप्त हो सकते हैं। *यो यच्छ्रद्धः स एव सः*—जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। मानवजाति चिरकाल से साधना करती आ रही है, पहले छोटे, फिर अपेक्षाकृत बड़े, अंत में सर्वोच्च परात्पर साध्य की साधना कर गन्तव्य स्थान श्रीहरि के परम धाम को प्राप्त होने के लिये अग्रसर हो रही है। एक युग था जब मानवजाति केवल शरीर-साधना करती थी, शरीर-साधना थी उस समय का युगधर्म, अन्य धर्मों की अवहेलना करके भी शरीर की साधना करना उस समय श्रेय पथ माना जाता था। कारण, यदि वैसा न किया जाता तो शरीर, जो शरीर धर्म-साधन का उपाय और

आधार है, उत्कर्ष को प्राप्त न होता। उसी तरह एक दूसरे युग में स्त्री-परिवार, और एक युग में कुल, एक और दूसरे युग में—जैसे कि आधुनिक युग में—राष्ट्र ही साध्य है। सर्वोच्च परात्पर साध्य हैं परमेश्वर, भगवान्। भगवान् ही हैं सबके प्रकृत और परम आत्मा, अतएव प्रकृत और परम साध्य। इसीलिये गीता में कहा गया है कि सब धर्मों का परित्याग करो, मेरी ही शरण में आओ। भगवान् में सब धर्मों का समन्वय होता है, उन्हें उपलब्ध कर लेने पर वही हमारा भार ग्रहण कर, हमें अपना यंत्र बना, स्त्री, परिवार, कुल, राष्ट्र और मानव-समष्टि की परम तुष्टि और परम कल्याण साधित करेंगे।

एक साध्य के नाना साधकों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होने के कारण साधनाएं भी नाना होती हैं। भगवत्-साधना का एक प्रधान साधन है स्तव-स्तोत्र। स्तव-स्तोत्र सबके लिये उपयोगी साधन नहीं। ज्ञानी के लिये है ध्यान और समाधि; कर्मी के लिये कर्मसमर्पण है श्रेष्ठ साधन; स्तव-स्तोत्र है भक्ति का अंग—श्रेष्ठ अंग न सही, क्योंकि अहैतुक प्रेम है भक्ति का चरम उत्कर्ष। वह प्रेम स्तव-स्तोत्र द्वारा भगवान् के स्वरूप को आयत्त कर लेने के बाद स्तव-स्तोत्र की आवश्यकता को अतिक्रम कर उस स्वरूप के भोग में लीन हो जाता है; तथापि ऐसा कोई भक्त नहीं जो स्तव-स्तोत्र किये बिना रह सके, जब अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती तब भी स्तव-स्तोत्र में प्राणों का उच्छ्वास उमड़ पड़ता है। केवल इतना स्मरण रखना चाहिये कि साधन साध्य नहीं, जो मेरा साधन है वह दूसरे का साधन नहीं भी हो सकता। अनेक भक्तों की यह धारणा होती है कि जो भगवान् का स्तव-स्तोत्र नहीं करते, स्तोत्र सुन आनंद प्रकट नहीं करते, वे धार्मिक नहीं। यह है भ्रांति और संकीर्णता का लक्षण। बुद्ध स्तव-स्तोत्र नहीं करते थे, पर बुद्ध को कौन अधार्मिक कह सकता है ? भक्ति-मार्ग की साधना के लिये स्तव-स्तोत्र की सृष्टि हुई है।

भक्त भी नाना प्रकार के होते हैं, स्तव-स्तोत्र के भी नाना प्रयोग होते हैं। आर्त्त भक्त दुःख के समय रोने के लिये, सहायता मांगने के लिये, उद्धार की आशा से भगवान् का स्तव-स्तोत्र करते हैं; अर्थार्थी भक्त किसी भी अर्थ-सिद्धि की आशा से, धन, मान, सुख, ऐश्वर्य, जय, कल्याण, भुक्ति, मुक्ति इत्यादि के लिये संकल्प कर स्तव-स्तोत्र करते हैं। इस तरह के भक्त बहुत बार भगवान् को प्रलोभन दिखा संतुष्ट करना चाहते हैं, कोई-कोई तो अभीष्ट-सिद्धि न मिलने से परमेश्वर पर बहुत क्रोधित हो उठते हैं, उन्हें निष्ठुर, प्रवंचक इत्यादि गालियां देकर कहते हैं कि अब और भगवान् की पूजा नहीं करूंगा, उनका मुंह नहीं देखूंगा, किसी भी तरह उन्हें नहीं मानूंगा। बहुत-से हताश हो नास्तिक बन जाते हैं, यह सिद्धांत बना लेते हैं कि यह जगत् दुःख का राज्य है, अन्याय-अत्याचार का राज्य, भगवान् हैं ही नहीं। यह दो प्रकार की भक्ति अज्ञ भक्ति है पर इसी कारण उपेक्षणीय नहीं, क्षुद्र से ही महत् में उठा जाता है। अविद्या को सिद्ध करना है विद्या का प्रथम सोपान। बालक भी अज्ञ होता है, किंतु बालक की अज्ञता में माधुर्य है, बालक भी मां के पास रोने आता है, दुःख का

प्रतिकार चाहता है, नाना सुखों और स्वार्थसिद्धि के लिये दौड़ा आता है, साधता है, रोता-धोता है, न पाने पर क्रोध करता है, और उपद्रव भी। जगज्जननी भी हंसते हुए अज्ञ भक्त का सारा हठ और उपद्रव सहन करती हैं।

जिज्ञासु भक्त किसी अर्थसिद्धि के लिये या भगवान् को संतुष्ट करने के लिये स्तव-स्तोत्र नहीं करते, उनके लिये स्तव-स्तोत्र है केवल भगवान् के स्वरूप की उपलब्धि और अपने भाव की पुष्टि का साधन। ज्ञानी भक्त को उसकी भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उन्हें स्वरूप की उपलब्धि हो चुकी होती है, उनका भाव सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित हो चुका होता है, उन्हें केवल भावोच्छ्वास के लिये स्तव-स्तोत्र की आवश्यकता होती है। गीता में कहा गया है कि इन चारों श्रेणियों के भक्त उदार हैं, कोई उपेक्षणीय नहीं, सभी भगवान् के प्रिय हैं, फिर भी ज्ञानी भक्त है सर्वश्रेष्ठ, क्योंकि ज्ञानी और भगवान् हैं एकात्मा। भगवान् भक्त के साध्य हैं, अर्थात् आत्मरूप में ज्ञातव्य और प्राप्य, ज्ञानी भक्त और भगवान् में आत्मा और परमात्मा का संबंध होता है। ज्ञान, प्रेम और कर्म—इन्हीं तीन सूत्रों से परस्पर आबद्ध हैं आत्मा और परमात्मा। कर्म है, वह कर्म है भगवत्प्रदत्त, उसमें कोई प्रयोजन या स्वार्थ नहीं, कुछ भी प्रार्थनीय नहीं; प्रेम है, वह प्रेम है कलह और मान से शून्य—निःस्वार्थ, निष्कलंक, निर्मल; ज्ञान है, वह ज्ञान शुष्क और भावरहित नहीं, गभीर, तीव्र आनंद और प्रेम से पूर्ण। साध्य एक होने पर भी जैसा साधक वैसा ही साधन होता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न साधक एक ही साधना का भिन्न-भिन्न प्रयोग करते हैं।

हमारा राजनीतिक आदर्श

निरीहो नाश्नुते महत्

चाहे कोई भी देश या राष्ट्र क्यों न हो, जब राष्ट्रीय उत्थान का काम आरंभ होता है तब उसके लिये एक बृहत् और उदार राजनीतिक आदर्श की आवश्यकता होती है। यदि महात्मा रूसो की साम्यनीति का प्रचार न होता तो फ्रांसीसी क्रांति की राष्ट्रव्यापी आवेगमयी उदात्त आकांक्षा अर्धमृत फ्रांस को जगा सारे यूरोप को प्लावित न कर पाती। मानवमात्र की स्वभावजात स्वाधीनताप्राप्ति की कामना के लिये अमेरिका यदि लालायित न होता तो संयुक्त राष्ट्र का जन्म ही न होता। ऋषि तुल्य मेजिनी यदि आज के इटली के हृदय में उच्च आशा और उदार आदर्श का संचार नहीं करते तो वह पतित राष्ट्र गुलामी से कभी भी उबर न सकता। अनुच्च और संकीर्ण आदर्श, क्षुद्र आशा, क्षुद्र उद्देश्य, तुच्छ सावधानी और भीरुता एवं अदूरदर्शी व साहसविमुख नेतागण—ये सारे हेय उपकरण कभी भी राष्ट्रीय शक्ति को वर्धित करने के उपयुक्त साधन नहीं हो सकते। ऐसे क्षुद्र साधनों द्वारा कभी भी कोई राष्ट्र महानता के ऊंचे सोपान पर नहीं उठा। *निरीहो नाश्नुते महत्*—जिनकी आशा-आकांक्षा क्षुद्र है वे कभी महानता का उपभोग नहीं कर सकते, हमारे राजनीतिज्ञों को महाभारत की यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये।

बचपना और गुलामी की आदत

पिछले सौ सालों से जब से हम पाश्चात्य सभ्यता के साथ संघर्षरत हुए हैं तब से राजनीतिक अधिकार के बारे में बोलते आ रहे हैं। किंतु इस काम में कोई उन्नति न हो अवनति ही हुई है। राजनीतिक अधिकार पाना तो दूर की बात, हमारा राजनीतिक जीवन, व्यापार, विद्या, चिन्तनशक्ति और धर्मभावना सब जंजीरों में जकड़ कर रह गये हैं। अन्न के लिये, वस्त्र के लिये, शिक्षा के लिये, राजनीतिक अधिकार के लिये, बुद्धि-विकास और चिंतन-प्रणाली के लिये हम दूसरों का मुख जोहते हैं। अंग्रेजों ने हमें जो चंद खिलौने दिये हैं उसके लिये हम कृतज्ञता-ज्ञापन करते नहीं अघाते। जिस राष्ट्र का मन और तन दोनों ही पराधीन हों उस राष्ट्र के लिये रेल, टेलिग्राफ, इलक्ट्रिसिटि, म्युनिसिपैलिटी, विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय कांग्रेस और जितने भी वैज्ञानिक आविष्कार और पाश्चात्य राजनीतिक जीवन के साधन हैं, सभी हैं खिलौना-मात्र। लॉर्ड रिपन या मि० मॉर्ले हमें कितनी भी स्वायत्तता क्यों न दें, उससे हमारे राष्ट्रीय जीवन का अपकार ही

होगा, उपकार नहीं। वे भी खिलौना छोड़ और कुछ नहीं हैं। जो अपने प्रयास से प्राप्त होता है वही अपना है। पर के दान से अधिकार नहीं मिलता। अतः यह स्वायत्तता असली स्वायत्तता नहीं। इसपर हमारा कोई स्थायी अधिकार नहीं। आज रिपन ने दिया तो कल कर्जन छीन लेगा। और हम 'हाय, हमारे खिलौने लुट गये। कैसा घोर अन्याय!' ऐसा कहकर हजारों सभा-समितियों में विलाप करते रहेंगे। ऐसा बचपना बन गया है हमारी आज की राजनीति का प्रधान लक्षण।

और एक लक्षण है—गुलामी की आदत। हम उच्च पद पर आसीन होते हुए भी रहते हैं गुलाम ही। सिविलियन, जज, म्युनिसिपल कमिश्नर, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रधान, विश्वविद्यालय के सिंडिकेट, व्यवस्थापक, सभा के सभासद सभी शिकंजे में फंसे रंगमंच पर अभिनय कर रहे हैं। हम ऐसे नीचमना हो गये हैं कि यह गर्व करने में हमें शर्म नहीं आती कि शृंखला सोने-चांदी की बनी है। गुलामी घने कोहरे की तरह हमारे जीवन पर बुरी तरह छा गयी है। तसल्ली की बात यह है कि अबतक हम सपना देख रहे थे, अब आंख खुल गयी है और अपनी हीन अवस्था समझने लगे हैं। यह सर्वव्यापी पराधीनता अब और सहन नहीं होती। जैसे भी हो, शिक्षा में, व्यापार में, राजनीतिक जीवन में स्वाधीनता प्राप्त करनी ही होगी—ऐसी धारणा देश-भर में धीरे-धीरे फैल रही है। यही है भावी की आशा। इसीसे लगता है कि हम जग गये हैं। अब और लोरी नहीं सुनेंगे। न कोई प्रतिरोध मानेंगे न निषेध। हम उठ खड़े होंगे ही।

राष्ट्रीय कांग्रेस का टुटपुंजियापन

सौ साल के प्रयास का ऐसा फल क्यों? जापान तीस साल में ही पश्चिमी देशों के समकक्ष हो सका, प्रभावशाली राष्ट्र बन सका, पर हम जिस अंधकार में थे उसी अंधकार में रह गये। ऐसे वैषम्य का कारण क्या? इसका कोई और कारण नहीं, कारण है सिर्फ हमारे राजनीतिक आदर्श की क्षुद्रता और हीनता। जो राष्ट्रीय कांग्रेस हमारे राजनीतिक जीवन के चरम उत्कर्ष के रूप में मानी जाती है उसके उद्देश्य की तह में जाने पर यह क्षुद्रता ही दृष्टिगोचर होती है।

गुलाम की गुस्ताखी

कांग्रेस का लक्ष्य क्या है? कई लोग कांग्रेस का नाम लेकर प्रचार करते हैं "अंग्रेजी राजकर्मचारी बड़े उत्तम ढंग से राज चला रहे हैं। तब हां, वे ठहरे विदेशी अतः भारतवासी के मनोभाव को समझने में अक्षम हैं। इसीलिये प्रशासन में थोड़ी-बहुत त्रुटियां रह सकती हैं। हम साल-दर-साल भारतीयों के आवेदन उनके समक्ष रख प्रशासन में उनकी सहायता करेंगे। ऐसा करने पर अंग्रेजी प्रशासन त्रुटिहीन हो

जायेगा। पर राजकर्मचारी हमारी इस अयाचित सहायता की परवाह नहीं करते वरन् गुलामों की गुस्ताखी और कच्ची बुद्धि की धृष्टता कहकर अवज्ञा करते हैं। हर साल कांग्रेस बिना बुलाये राजकर्मचारियों की सहायता देने पहुंच जाती है और वहां से अपमान का बोझा सिर पर लादकर लौट आती है। इस पर भी हम धैर्यच्युत नहीं होते। हम कहते हैं कि आज बिन बुलाये चले जायें, शायद वे दयावश सहायता स्वीकार कर लें। जो इस तरह का क्षुद्र उद्देश्य ले राजनीतिक क्षेत्र में उतरते हैं वे भला क्या कभी इस वीरभोग्या वसुन्धरा के एक महान् राष्ट्रनायक हो सकते हैं ?

चिरस्थायी प्रतिद्वंद्विता

कोई-कोई कहते हैं—कांग्रेस है His majesty's permanent opposition (सरकार का स्थायी विरोधी दल), जैसे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में रक्षणशील दल के प्रशासन के समय उदारवादी दल उसके प्रतिद्वंद्वी के रूप में रहते हैं। हम भी उसी तरह इस देश में ब्रिटिश राजकर्मचारियों के स्थायी प्रतिद्वंद्वी हैं। ऐसा स्थायी विरोध ही हमारा आदर्श है। अंग्रेज गुरु से जो दो-चार गुर हमने सीखे हैं उनमें से यह भी एक है। जैसे constitution (संविधान) न होने पर भी constitutional (संवैधानिक) आन्दोलन करने जाते हैं, उसी तरह पार्लियामेंट का अस्तित्व नहीं फिर भी पार्लियामेंट के निरर्थक अनुकरण को आदर्श मान लेते हैं। स्थायी प्रतिद्वंद्विता का मतलब है निष्फल प्रतिद्वंद्विता। वर्तमान प्रशासक को बहिष्कृत कर खुद शासन करना और वर्तमान नीति के बदले स्वकल्पित नीति प्रचलित करना, यही है पार्लियामेंट की प्रतिद्वंद्विता का लक्ष्य। कांग्रेस के पास इस लक्ष्य को अपनाने की न तो शक्ति है न उसके द्वारा साध्य है। जिस काम में सफलता की आशा नहीं उस काम को करने के लिये एकदम पागल को छोड़ कोई भी सचेत व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होगा। अतः यह आदर्श है नितांत सारहीन और असंगत।

छोटे-छोटे राष्ट्रीय स्वार्थ

यदि हमारे नेतागण ऐसे ही छोटे-छोटे असार लक्ष्यों से ही संतुष्ट होते तो कांग्रेस एक दिन भी नहीं टिक पाती। किंतु कांग्रेस में दूसरी तरह के लोग भी हैं, वे इसकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठ सकते हैं। इनके आदर्श छोटे-छोटे राष्ट्रीय स्वार्थ से गठित हैं, जैसे युगपत् परीक्षाएं, विधान सभा में निर्वाचित सभासदों का प्रवेश, होम चार्ज (Home Charge) कम करने के लिये ऊंचे ओहदों पर भारतीयों की नियुक्ति आदि। हम मानते हैं कि राष्ट्रीय कांग्रेस की सभी मांगें न्यायसंगत हैं। पर पूछता हूं, ऐसे तुच्छ स्वार्थों से कभी भी क्या ऐसा विराट् राजनीतिक आदर्श गठित हो सकता है

जो सारे भारत को मतवाला बना दे ? इनसे क्या कभी एक महान् राष्ट्रीय भावना देश-भर में संचारित हो सकती है ?

काले गुलाम और वाक्पटुता के लिये वाहवाही

भारतीय सिविलियनों की संख्या में बढ़ोतरी हो इससे भारत का क्या लाभ ? देश की तीस कोटि जनता तो गुलाम की गुलाम ही रही। जो सिविलियन बनेंगे वे अपने जात-भाइयों के प्रभु होने पर भी विदेशियों के गुलाम ही ठहरे। सरकार का हुकुम मिलते ही अपने जात-भाइयों का अनिष्ट करने के लिये बाध्य हैं। बस यही होगा कि भारतीयों को गुलामी की बेड़ियो में बांधे रखने के पुण्य कार्य में सरकार को और कुछ काले कर्मचारी मिल जायेंगे। यदि संविधान में हमारे निर्वाचित सभासद प्रवेश पा भी लें तो उससे क्या सुफल होगा ? वाक्पटुता और राजनीतिक दक्षता दिखाने और सरकारी कर्मचारियों और जनता की वाहवाही पाने से किसी खास-खास व्यक्ति को यथेष्ट सुविधा भले ही मिले पर देश की बिन्दु-भर भी उन्नति नहीं होती। हो भी क्यों ? इन सब गुलामी के कारखानों में हमारे बड़े-बड़े मिस्तरी बन जाने पर कारखानों के मालिक अपना धंधा छोड़ चले जायेंगे—ऐसी अनोखी युक्ति राजनीतिक अनभिज्ञता की ही परिचायिका है।

गरीबी हटाने के उपाय

ऐसे छोटे-छोटे तुच्छ स्वार्थों के पोषण करने का नतीजा यह होता है कि गलत राह का अनुसरण करने से देश का सच्चा कार्य रुक जाता है। भारत की भयंकर गरीबी की बात को ही लें। यह मानता हूं कि यदि होम चार्ज में कटौती की जाये तो गरीबी में कुछ हदतक कमी आ सकती है। किंतु थोड़ी-बहुत गरीबी दूर करना हमारा लक्ष्य नहीं, पूर्णरूपेण दारिद्र्य-मोचन है हमारा लक्ष्य। इस गरीबी से मुक्ति पाने के दो उपाय हैं, भारत-भर में कृषि-संबंधी विधिवत् चिरस्थायी व्यवस्था करना और व्यापार में संरक्षित वाणिज्य-नीति का अवलंबन करना। कांग्रेस का पहला कर्तव्य था कि एकनिष्ठ हो, इन दोनों क्षेत्रों में सरकार से अधिकार मांगने की चेष्टा। सरकार तो इसे सुनने से रही। अतः स्वावलम्बन ही है उपाय। देश-भर में ब्रिटिश व्यापार के बॉयकाट का प्रचार करो। भारत के कोटि-कोटि किसानों को समझाओ कि उनकी इस दुर्दशा का कारण क्या है, उन्हें उनकी मुक्ति का पथ दिखाओ। देखते हैं कबतक सरकार एक महान् राष्ट्र की दृढ़ प्रतिज्ञा की अवमानना करती है। पर कांग्रेस तो बॉयकाट का नाम सुनते ही कांप उठती है। यहांतक कि स्वदेशी-संबंधी कोई भी प्रस्ताव रखना नहीं चाहती कि कहीं अंग्रेजों के कोमल हृदय को चोट न पहुंचे।

उदात्त आदर्श का मतवालापन

कांग्रेस का आदर्श है दासता की जंजीर को अटूट बनाये रखना और उसके लौह अंश को कम कर सोने-चांदी के अंश को बढ़ाना। कुछ शांतिप्रिय और सुखसेवी मध्यवर्गीय नेताओं को लेकर यदि हमारा राजनीतिक जीवन गढ़ना ही अभीष्ट था तो इतना यथेष्ट होता। पर यदि राष्ट्र को पुनरुज्जीवित करना है तो इस तुच्छ और नगण्य आदर्श के परे जाना उचित होगा। ऐसे आदर्श के लिये कब किसने स्वदेश-प्रेम में मतवाला बन आत्मविस्मृत हो असली स्वार्थत्याग किया है ? कौन सब प्रकार की विभीषिका और प्रलोभन को तुच्छ मान कर्तव्यपथ पर बड़े वेग से अग्रसर हुए हैं ? दूसरी तरफ, जब एक बार जननी की चित्तप्रमोदिनी मूर्ति को हमने देखा, तब उस मुख-संदर्शन से, उसके नाम से हम सभी मतवाले हो उठे। सहर्ष स्वार्थ-त्याग कर राष्ट्र के काम में लग गये। दल के दल हंसते-हंसते जेल जाने लगे। इससे भी क्या नेतागण कोई सबक नहीं लेंगे ? अब भी क्या वे नहीं समझेंगे कि भारत के नवजीवन का बालसूर्य गगनमण्डल की किस दिशा को उद्भासित करता हुआ उदय हो रहा है ?

सोने की जंजीरें काटो

स्वर्णनिर्मित शृंखला का मोह त्यागना होगा। अंग्रेजों का अनुकरण और अंग्रेजों के नेतृत्व का वर्जन कर हमें अपने राष्ट्रीय स्वभाव और देश की अवस्था को समझ अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये उपयुक्त साधन खोज निकालने होंगे। नवोत्थित भारत को महान् आदर्श सामने रख नवप्राण से अनुप्राणित करना होगा। यही पथ है मुक्ति का पथ। नहीं तो है बस गुलामी ही गुलामी।

मिथ्यात्व की पूजा

भूपेन्द्रनाथ को जेल में भेजकर फिरंगी सरकार ने सोचा कि इस बार उन्होंने 'युगांतर' की उठती हुई शक्ति को एकदम ही नेस्त-नाबूद कर दिया है। पर 'युगांतर' फिर भी प्रकाशित हुआ। मरा तो नहीं ही बल्कि इतनी आशा भी नहीं जगायी कि कभी मरेगा भी। इससे सरकार तो आगबबूला होगी ही।

'इंगलिशमैन' और 'डेली न्यूज़' ने हाय-तौबा कर अंत में आशा बंधायी—"डरने की बात नहीं, छोटे लाट 'युगांतर' के संपादक को फिर से जेल भेजने की व्यवस्था कर रहे हैं।" छोटे लाट ने शायद कहा है कि देखता हूं 'युगांतर' के कितने संपादक हैं। सभी को जेल में भरेंगे।

'युगांतर' के संपादक भला कौन ? युगांतर तो है राष्ट्रीय भाव-समष्टि-मात्र। लोगों के प्राणों के भीतर से होकर जो भावस्रोत प्रवाहित है उसका एक-एक बिंदु 'युगांतर' को आगे ठेल जाता है। संपादक तो है केवल उसकी अभिव्यक्ति का यंत्र। यंत्र को पकड़ भी लो तो यंत्री तो नहीं पकड़े जाते। यंत्री तो ठहरे अशरीरी। ये जो झुंड के झुंड मतवाले लड़कों के दल 'वन्दे मातरम्' मंत्र से मुग्ध हो अनजान लक्ष्य की ओर दौड़ रहे हैं, ये जो नृमुंडमालिनी के खप्पर के नीचे आत्मबलिदान कर अमरत्व के लिये उत्सुक हैं, वे ही देश में युगांतर लायेंगे, वे ही हैं 'युगांतर' के संपादक। घमंड से अंधे बने तुम उनकी संख्या जानना चाहते हो ? एक दिन जान जाओगे। इन सभी को जेल में बंद कर सको इतनी बड़ी जेल तो तुम लोग आज तक नहीं बना पाये हो।

इतना बड़ा वीर इस त्रिभुवन में कोई नहीं जो खुद को गुलाम न समझनेवाले को गुलाम करार कर दे। तुम मुझे बंदी बना अपनी अधीनता स्वीकार कराओगे ? मैं यदि 'वो दुःख नहीं मां, तुम्हारी दया है' कह हंसते-हंसते कारागृह में प्रवेश करूं तो तुम्हारी दमन की चेष्टा ही व्यर्थ होगी। तुम मुझे फांसी के तख्ते पर झुलाओगे ? मैं मरते-मरते भी तुम्हें नीचा दिखा जाऊंगा। एक तरफ है मातृमंत्र और दूसरी तरफ अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कराना चाहते हो ? मुगल सम्राट् ने जब एक दिन तुम्हारी तरह मदान्ध हो सिक्ख गुरु को धर्म त्यागने के लिये कहा था तब सिक्ख गुरु ने हंसते-हंसते अपनी बलि दी थी, धर्म की नहीं। हम भी वैसा ही करेंगे। भारत-भर में फिर से धर्म की बाढ़-सी आ गयी है। जिस तरह मुगल सिंहासन उसमें बह गया उसी तरह पलासी में आसानी से हथियाया हुआ तुम्हारा सिंहासन बह जायेगा। हमने तुम्हें यहां आश्रय दिया है तभी तुम यहां रह रहे हो; तुम्हें बचाये हुए हैं तभी बचे हुए हो; तुम्हारे मुंह में कौर भरते हैं तभी तुम हमें भूखों मारते हो; हम निर्जीव बने रहने का स्वांग करते हैं तभी तुम हम पर पैशाचिक अत्याचार करने का साहस करते हो; हमने तुम्हें सिर-आंखों पर बिठाया है तभी तुम सिरमौर बने हुए हो; जिस दिन घृणा के साथ थूक की तरह तुम्हें दूर फेंक देंगे उस दिन तुम लोगों का मोल थूक से कुछ ज्यादा नहीं

होगा। हम भ्रांति की घुमेरी में मिथ्यात्व की पूजा में निरत थे अतः मिथ्यात्व आज सत्य के आसन पर बैठने का साहस कर रहा है। परमहंसदेव कहा करते थे—माया को माया नाम से पहचान लेने पर माया माया नहीं रह जाती। जिस दिन हम समझ लेंगे कि इन मुट्ठी-भर अन्न के गुलामों को, भव-घुमक्कड़ों को पकड़ अपने ही हाथों हमने उनके भाल पर राजतिलक लगाया था, जिस दिन यह समझ लेंगे कि हम वास्तव में अंधे नहीं वरन् स्वेच्छा से आंख बंद कर अंधकार देख रहे हैं, जिस दिन समझ लेंगे कि हम कमजोर नहीं, असमर्थ नहीं, सिर्फ आलस्य की घुमेरी में, अज्ञान के घेरे में पड़े हुए हैं उस दिन हमें दुर्दशा से छुटकारा मिलेगा। उस दिन 'हम आजादी के योग्य नहीं' कहलवा कर दुनिया के सामने मजाक बनने के लिये नहीं दौड़ेंगे। रन्ध्र-रन्ध्र में अनंत शक्ति की आधारभूता, चैतन्यमयी हमारी जननी—हम भला किसके दास ?

शपथ लो कि अब और मिथ्यात्व के संस्पर्श में नहीं आयेंगे; अंग्रेजों के विश्वविद्यालय-रूपी जादूघर से पांडित्य का तमगा ले भेड़ बनकर नहीं रहेंगे; छोटे लाट और बड़े लाट की सवारी निकलने पर अभिनन्दन-पत्र ले चिरदासत्व स्वीकार करने के लिये उनके पीछे-पीछे नहीं दौड़ेंगे—तब समझोगे मां का यथार्थ स्वरूप; देखोगे मां चिरस्वाधीना हैं। एक बार आंखों पर से पट्टी हटाकर मां के अभय-पद को देखो तो जरा, समझ जाओगे कि यह अंग्रेजी राज है एक प्रकाण्ड मिथ्यात्व से भरी मायानगरी।

ऐसा कहने पर तो अंग्रेज आगबबूला हो उठेंगे; किंतु हमारे साथ उनके मेल-मिलाप की तो कोई संभावना ही नहीं। एक ही जगह रहकर सच और झूठ दोनों तो निर्विवाद घर नहीं कर सकते। अंग्रेजों की दुश्मनी है धर्म के साथ, सत्य के साथ। और जिसकी दुश्मनी सच्चाई के साथ हो उसका मरण तो अवश्यंभावी है।

हमारी वर्तमान राजनीतिक अवस्था

किसी भी देश में किसी भी महान् परिवर्तन के आरंभ होने पर राजनीति, समाज और धर्म के बाहरी रूप शिक्षा, नीति और मनुष्य के जितने भी प्रतिष्ठित अंग हैं, सभी में उस परिवर्तन का परिणाम शीघ्र ही लक्षित होता है। सारा देश क्षुब्ध महासागर की तरह आलोड़ित हो उठता है। जो प्रतिष्ठित होता है उसके टूटकर धूलिसात् होने का उपक्रम होता है। जो नवजात और अपूर्ण है उसके पूर्ण होने और प्रतिष्ठित होने की योजना का समारंभ चारों ओर होने लगता है। पहले-पहल उस आयोजन की कोई भी निर्दिष्ट प्रणाली निर्धारित करना कठिन है। कहीं से कोई आशातीत प्रेरणा अस्फुट या अलक्षित भाव से थोड़े-से लोगों के हृदय में प्रवेश कर जनसाधारण में संचारित होती है और प्रथम आवेश में एक-आध बड़े अनुष्ठानों को आरंभ कराके मानों क्लांत हो जाती है। तंरगों पर तरंगें उठती हैं, मानव-समुद्र के शांतिमय व परिचित दृश्य का अवसान दिग्-दिगन्त कोलाहल से भर इठता है। न मन में मेल न गति में स्थिरता। साहसियों के उत्साही बोल में, दुःसाहसियों के उद्दाम कर्म में, विश्व की व्यर्थ विज्ञता में, भीरुओं के निश्चेष्टतापोषक परामर्श में देशवासियों की बुद्धि संकटग्रस्त हो जाती है। नेताओं में एकता तो दूर की बात। किसी के मत में कोई मेल नहीं। फूट ही देखने को मिलती है। आरंभ में जो उत्साही थे वही बीच राह में भीत और हताश हो "ठहरो, आओ लौट चलें" की व्यर्थ में आवाजें लगाने लगते हैं। कल जो दौड़ लगाने को उत्सुक थे वही आज मंद गति के पक्षधर बन जाते हैं। शीघ्र ही वे राह से हटकर एक किनारे बैठ जाना चाहते हैं। अगुआ बन जाते हैं पिछलग्गु। क्रांतिकारी बन जाते हैं शांति के पोषक, तेजस्वी हो जाते हैं निस्तेज। राजनीति के आकाश में नये-नये नक्षत्र उदय होते हैं और अस्त हो जाते हैं, पर नक्षत्रों में कमी नहीं आती। समुद्र में तरंगें उठती हैं, गिरती हैं किंतु उस विशाल आलोड़ित महासागर की विक्षिप्त विक्षुब्ध सहस्रों तरंगों में कमी नहीं आती। जो तरंगों की सर्वोच्च चोटी पर आरूढ़ हैं उनमें ऐसी ताकत नहीं होती कि उस नवोत्थान की आवाज का शमन कर सकें, अपनी मनचाही राह पर चला सकें या सुशृंखलित कर सकें। वे तरंगों के बहाव में बहते हैं, तरंगों को चलाते नहीं। वही उद्वेलित शक्ति है विप्लव की एकमात्र नेता और कर्ता। ऐसा समय भी आता है जब लोगों के मन में ऐसी भ्रांत धारणा उपजती है कि शायद कोलाहल चिरकाल के लिये निस्तब्ध हो गया, झंझावात थम गया। देवगण निर्मल आकाश प्रकट करने को उद्यत हुए हैं। समुद्र के प्राचीन अधिकारी वरुण देव ने विक्षिप्त तंरगों में से अपनी महिमान्वित सौम्य मूर्ति प्रकट कर चाहे तो विभीषिका दिखायी जिससे कोलाहल रुक गया या फिर विभीषिका की विफलता देख निर्वासन का अपना पाश फेंक दीप्तिमान नेताओं को अपनी ओर आकर्षित कर समुद्र के अतल गर्भ में छिपा लिया है और उद्धत वातावरण को कानून के शिकंजे में जकड़ गुप्त गह्वर में दबा दिया है। अतः अब डर

की कोई बात नहीं। जल्दी ही पुरानी खोयी शांति और निश्चेष्टता लौट आयेंगी। ऐसे समय में ऐसी (प्रत्याशा) नितान्त स्वाभाविक है, पर शांतिप्रयासी सदा विफल मनोरथ होते हैं। जो परिवर्तन आरंभ हुआ है वह जबतक पूरा नहीं हो जाता तबतक कोलाहल रुकने का नहीं, यही है प्रकृति का नियम। इसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं। जैसे वह समुद्र-स्पंदन मानवसृष्ट नहीं उसी तरह समय के पहले उसे शांत करना मनुष्य के वश की बात नहीं। हमारे देश में ऐसा एक परिवर्तन आज पांच वर्ष से चल रहा है। यह अनिवार्य अशांति राजनीति, समाज, धर्म और शिक्षानीति को विक्षुब्ध और आंदोलित कर रही है। ऐसी तरंगों के क्षणिक अवरोध और शांति की प्रत्याशा का समय आया है। जिन्होंने गलत नीति का अनुसरण कर दमन को ही उपाय मान लिया है वे याद करें कि कभी भी किसी इतिहास में ऐसा उदाहरण कहीं नहीं मिलता कि ऐसी क्रांति दमन द्वारा चिरकाल के लिये स्थगित कर दी गयी हो। स्रोत को रोक दिये जाने पर वह सब अवरोधों को तोड़ दसगुने वेग से और भी दुरूह पथ से होकर गुजरता है। उसे शांत करने की एक ही राह है—उस परिवर्तन के पथ को सुगम और बाधारहित बनाना। जो इस तरंग के क्षणिक दमन से उत्साहित हो पुरानी स्थिति को वापस लाने की कामना करते हैं उन्हें भी यह मालूम होना चाहिये कि जो देश के नेता बने हैं और इस तरह के विफल प्रयास में लगे हैं, इतिहास में सदा ऐसा होता रहा है कि तरंगें ऐसों को लील जाती हैं और अपकीर्ति के सागर में डुबो देती हैं। और उनसे भी कहता हूं जो इस क्षणिक बाधा से हतोत्साही हुए हैं कि यह भी प्रकृति का नियम है। विधाता जब पुरातन को डुबो बदले में महती नयी आशा को सफल बनाने का संकल्प लेते हैं तब पहले पुरातन को संपूर्णतया वर्धित कर, सभी आशाओं पर पानी फेरते हैं फिर एक नूतन के महास्रोत में पुरातन को बहा ले जाते हैं। फिर पुरातन को थोड़ा ढाढ़स बंधा, नूतन के तेज को थोड़ा कम कर अकस्मात् स्रोत को दुगुने वेग से बहाते हैं। इस तरह घात-प्रतिघात द्वारा, जय-पराजय द्वारा नयी शक्ति बलवान्, विशुद्ध और परिमार्जित होती है। पुरातन का तेज बार-बार के विफल शक्ति-क्षय से लुप्त हो जाता है। हम निराश न हो निर्भीक चित्त से शक्ति की क्रीड़ा में साथ देने के लिये उपयुक्त मौके की राह देखते हैं, शक्ति-संचयन करते हैं और जो प्राप्त है उसकी रक्षा के लिये दृढ़ संकल्प लेते हैं। अभी आगे बढ़ने का समय नहीं। अभी समय है रक्षा का। कहीं अपने उद्दाम आचरणों से विपक्ष को अवसर न दे बैठें या फिर भीरुता दिखा दमन नीति को सफल बनाने में हाथ न बंटा दें। स-अधिकार खड़े हो लब्धभूमि की रक्षा करते-करते शक्तिदायिनी मां का ध्यान और 'वन्दे मातरम्' का मंत्रोच्चार करते हुए देवता को अपने अंदर प्रतिष्ठित करें। संचित शक्ति को काम में लाने का समुचित अवसर आयेगा।

राष्ट्रीय उत्थान

हमारे प्रतिपक्षी अंग्रेज हमारे वर्तमान महत् और सर्वव्यापी आंदोलन के विषय में आरंभ से ही कहते आ रहे हैं कि यह विद्वेष के कारण उत्पन्न हुआ है और उनके अनुकरणप्रिय कुछ भारतवासी भी इस मत की पुनरावृत्ति करने में त्रुटि नहीं करते। हम धर्म-प्रचार में प्रवृत्त हैं; राष्ट्रीय उत्थानस्वरूप आंदोलन धर्म का ही एक प्रधान अंग है, इसीलिये हम उसमें अपनी शक्ति लगा रहे हैं। यह आंदोलन अगर विद्वेष से उत्पन्न हुआ होता तो इसे धर्म का अंग मान हम कभी इसका प्रचार करने का साहस न करते। विरोध, युद्ध और हत्या तक धर्म का अंग हो सकते हैं; किंतु विद्वेष और घृणा धर्म के बाहर की चीजें हैं; विद्वेष और घृणा जगत् की क्रमोन्नति के विकास में वर्जनीय होती हैं, अतएव जो स्वयं इन वृत्तियों का पोषण करते हैं या राष्ट्र में इन्हें जाग्रत् करने की चेष्टा करते हैं वे अज्ञान के मोह में पड़ पाप को प्रश्रय देते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि इस आंदोलन में कभी विद्वेष प्रविष्ट हुआ ही नहीं। जब एक पक्ष विद्वेष और घृणा करता है तब दूसरे पक्ष में भी उसके प्रतिघात में विद्वेष और घृणा का उत्पन्न होना अनिवार्य है। इस प्रकार के पाप की सृष्टि के दायी हैं बंगाल के कतिपय अंग्रेजी संवाद-पत्र और कुछ उद्धतस्वभाव के अत्याचारी व्यक्तियों के आचरण। प्रतिदिन संवाद-पत्रों में उपेक्षा, घृणा और विद्वेषसूचक तिरस्कार और बहुत समय तक रेल में, बाट में, हाट में, घाट में गालियां, अपमान और मारपीट तक सहन करते-करते अंत में यह उपद्रव सहिष्णु और धीर-स्वभाव भारतवासियों के लिये भी असह्य हो उठा और 'गाली के बदले गाली और मार के बदले मार' का प्रतिदान आरंभ हो गया। अनेक अंग्रेजों ने भी अपने देश-भाइयों के इस दोष और अशुभ दृष्टि के दायित्व को स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारी दारुण भ्रमवश बहुत दिनों से प्रजा के स्वार्थ-विरोधी, असंतोषजनक और मर्म वेदनादायक कार्य करते आ रहे हैं। मनुष्य का स्वभाव है क्रोधप्रवण; स्वार्थ में आघात लगने पर, अप्रिय आचरण से या प्राण-प्रिय वस्तु या भाव पर अत्याचार होने से वह सर्वप्राणी-निहित क्रोधवह्नि प्रज्ज्वलित हो उठती है। क्रोध की अतिशयता और अंधगति से विद्वेष और विद्वेषजात आचरण भी उत्पन्न होता है। भारतवासियों के प्राणों में बहुत दिनों से कुछ विशिष्ट अंग्रेजों के अनुचित आचरण और उद्धत बातों के कारण एवं वर्तमान शासनतंत्र में प्रजा का कोई भी सच्चा अधिकार या क्षमता न रहने के कारण भीतर-ही-भीतर असंतोष बढ़ता जा रहा था। अंत में लार्ड कर्जन के शासनकाल में इस असंतोष ने भीषण मूर्ति धारण कर ली और बंग-भंग-जात असह्य मर्मवेदना से असाधारण क्रोध देश-भर में प्रज्ज्वलित हो सरकारी कर्मचारियों की दमननीति के कारण विद्वेष में परिणत हो उठा। हम यह भी स्वीकारते हैं कि बहुतों ने क्रोध से अधीर हो उस विद्वेषाग्नि में प्रचुरता से घृताहुति दी है। भगवान् की लीला अति विचित्र है, उनकी सृष्टि में शुभ और अशुभ के द्वंद्व द्वारा

जगत् की क्रमोन्नति परिचालित होती है फिर भी अशुभ प्रायः ही शुभ की सहायता करता है, भगवान् के अभीप्सित मंगलमय फल को समुत्पन्न करता है। इस परम अशुभ-विद्वेष-सृष्टि का भी यह शुभ फल हुआ कि तमोभिभूत भारतवासियों में राजसिक शक्ति के जागरण के उपयुक्त उत्कट राजसिक प्रेरणा उत्पन्न हुई। परंतु ऐसा कह हम अशुभ की या अशुभकारियों की प्रशंसा नहीं कर सकते। जो राजसिक अहंकारवश अशुभ कार्य करते हैं उनके कार्य से ईश्वर-निर्दिष्ट शुभ फल के उत्पन्न होने में सहायता पहुंचती है कहने से उनका दायित्व और फलभोग का बंधन तनिक भी कम नहीं हो जाता। जो राष्ट्रगत विद्वेष का प्रचार करते हैं वे भ्रांत हैं; विद्वेष के प्रचार से जो फल होता है उसका दसगुना फल निःस्वार्थ धर्मप्रचार से होता है एवं अधर्मजनित पापफल भोगना नहीं पड़ता, बल्कि उससे धर्म की वृद्धि तथा विशुद्ध पुण्य की सृष्टि होती है। हम राष्ट्रगत विद्वेष और घृणा-जनक बात नहीं लिखेंगे, दूसरों को भी वैसे अनर्थ की सृष्टि करने से मना करेंगे। राष्ट्र-राष्ट्र में स्वार्थ का विरोध उत्पन्न होने पर अथवा वर्तमान अवस्था का अपरिहार्य अंग बन जाने पर हम कानून और धर्मनीति के अनुसार पर-राष्ट्र का स्वार्थ नष्ट करने तथा अपने राष्ट्र का स्वार्थ सिद्ध करने के अधिकारी हैं। अत्याचार या अन्यायपूर्ण कार्य घटित होने पर हम कानून और धर्मनीति के अनुसार उसका तीव्र उल्लेख करने तथा राष्ट्रीय शक्ति-संघात, सर्वविध वैध उपाय एवं वैध प्रतिरोध द्वारा उसका खण्डन करने के अधिकारी हैं। कोई व्यक्तिविशेष, चाहे वह सरकारी नौकर हो या देशवासी, यदि अमंगलजनक, अन्यायपूर्ण और अयौक्तिक कार्य करे या मत प्रकट करे तो हम भद्रसमाजोचित आचारानुकूल विद्रूप और तिरस्कार द्वारा उस कार्य या उस मत का प्रतिवाद और खण्डन करने के अधिकारी हैं। परंतु किसी जाति या व्यक्ति के लिये विद्वेष या घृणा का पोषण करने या सृष्टि करने के अधिकारी हम नहीं। अतीत में यदि ऐसा दोष हो गया हो तो वह अतीत की बात है; भविष्य में यह दोष न घटे इसलिये हम सबको तथा विशेषकर राष्ट्रीय पक्ष के समाचारपत्रों और कार्यक्षम युवकों को यह उपदेश देते हैं।

आर्यज्ञान, आर्यशिक्षा, आर्य-आदर्श जड़ज्ञानवादी राजसिक भोगपरायण पाश्चात्य जाति के ज्ञान, शिक्षा और आदर्श से बिलकुल भिन्न है। यूरोपीय लोगों के मतानुसार स्वार्थ और सुखान्वेषण के बिना कर्म अनाचरणीय है, विद्वेष के बिना विरोध और युद्ध होना असंभव है। उनकी धारणा है कि या तो सकाम कर्म किया जा सकता है या कामनाहीन संन्यासी बनकर बैठा जा सकता है। उनके विज्ञान का मूलमंत्र है— जीविका के लिये संघर्ष द्वारा जगत् गठित हुआ है, उसीके द्वारा जगत् की क्रमोन्नति साधित हो रही है। जिस दिन आर्यों ने उत्तर मेरु से दक्षिण की यात्रा कर पंचनदभूमि को अधिकृत किया था उसी दिन से इस सनातन शिक्षा को प्राप्त कर उन्होंने सनातन प्रतिष्ठा भी प्राप्त की है कि यह विश्व आनंदधाम है, प्रेम, सत्य और शक्ति के विकास के लिये सर्वव्यापी नारायण स्थावर और जंगम में, मनुष्य, पशु, कीट और पतंग में,

साधु और पापी में, शत्रु और मित्र में, देव और असुर में प्रकट हो जगत्-भर में क्रीड़ा कर रहे हैं। क्रीड़ा के लिये ही सुख है, क्रीड़ा के लिये ही दुःख है, क्रीड़ा के लिये ही पाप है, क्रीड़ा के लिये ही पुण्य, क्रीड़ा के लिये ही मित्रता है, क्रीड़ा के लिये ही शत्रुता, क्रीड़ा के लिये ही देवत्व है, क्रीड़ा के लिये ही असुरत्व। मित्र-शत्रु सभी क्रीड़ा के सहचर हैं, दो दलों में विभक्त हो उन्होंने स्वपक्ष और विपक्ष की सृष्टि की है। आर्य मित्र की रक्षा करते हैं और शत्रु का दमन, परंतु उनमें आसक्ति नहीं होती। वे सर्वत्र, सब भूतों में, सब वस्तुओं में, सभी कर्मों और सभी फलों में नारायण के दर्शन कर इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सिद्धि-असिद्धि के प्रति समभाव रखते हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सब परिणाम उन्हें इष्ट हैं, सब उनके मित्र हैं, सब घटनाएं उन्हें सुख देती हैं, सब कर्म उनके लिये आचरणीय हैं, सब फल उनके लिये वांछनीय हैं। पूर्णरूपेण योग की प्राप्ति हुए बिना द्वंद्व का नाश नहीं होता, उस अवस्था को बहुत कम लोग ही प्राप्त कर पाते हैं, परंतु आर्यशिक्षा है साधारण आर्यों की संपत्ति। आर्य इष्ट को साधने और अनिष्ट को वर्जित करने की चेष्टा करते हैं, परंतु इष्ट की प्राप्ति पर विजय-मद से मत्त नहीं हो जाते और न अनिष्ट के घटित होने पर भयभीत ही होते हैं। मित्र की सहायता करना और शत्रु को पराजित करना उनके प्रयास का उद्देश्य होता है पर वे शत्रु के प्रति विद्वेष और मित्र के प्रति अन्यायपूर्ण पक्षपात का भाव नहीं रखते, कर्तव्य के लिये वे स्वजनों का संहार भी कर सकते हैं, विपक्षियों की प्राणरक्षा के लिये प्राणतक त्याग सकते हैं। सुख उन्हें प्रिय है और दुःख अप्रिय, फिर भी वे सुख में अधीर नहीं होते, दुःख में भी उनकी धीरता और प्रसन्नता अविचलित रहती है। वे पाप का त्याग और पुण्य का संचय करते हैं, किंतु पुण्य कर्म के लिये गर्वित नहीं होते, न पाप में गिर जाने पर दुर्बल बालक की भांति रोते हैं, बल्कि हंसते-हंसते कीचड़ से निकल, कीचभरे शरीर को पोंछ, परिष्कृत और शुद्ध हो पुनः आत्मोन्नति की चेष्टा करते हैं। आर्य कार्यसिद्धि के लिये विपुल प्रयास करते हैं, हजार पराजय होने पर भी पैर पीछे नहीं हटाते, परंतु असिद्धि से दुःखित होना, विषण्ण या असंतुष्ट होना उनके लिये अधर्म है। निस्संदेह, जब कोई मनुष्य योगारूढ़ हो गुणातीत की तरह कर्म करने में समर्थ होता है तब उसके लिये द्वंद्व का अंत हो जाता है, जगन्माता जो कार्य देती हैं उसे ही वह बिना विचारे करता है, जो फल देती हैं उसका ही सानंद उपभोग करता है, जिन्हें मां उसके पक्ष में निर्दिष्ट कर देती हैं उन्हींको ले वह मां का कार्य संपन्न करता है, जिन्हें मां विपक्षी के रूप में उसे दिखाती है उनका आदेशानुसार दमन या संहार करता है। यही शिक्षा है आर्यशिक्षा। इस शिक्षा में विद्वेष या घृणा का स्थान नहीं। सर्वत्र नारायण हैं। भला किससे विद्वेष और किससे घृणा ? अगर हम पाश्चत्य ढंग का राजनीतिक आंदोलन करें तो फिर विद्वेष और घृणा का आना अनिवार्य है और यह पाश्चात्य मतानुसार निंदनीय नहीं, क्योंकि स्वार्थ का विरोध है, एक ओर उत्थान और दूसरी ओर दमन हो रहा है। परंतु हमारा उत्थान केवल

आर्यजाति का उत्थान नहीं, प्रत्युत आर्यचरित्र, आर्यशिक्षा, आर्यधर्म का उत्थान है। आंदोलन की प्रारंभिक अवस्था में भी यह सत्य अनुभूत हुआ है; मातृपूजा, मातृप्रेम और आर्य अभिमान के तीव्र अनुभव से धर्मप्रधान द्वितीय अवस्था प्रस्तुत हुई है। राजनीति धर्म का अंग है, परंतु उसका आचरण आर्य-भाव के साथ, आर्य-धर्मानुमोदित उपाय से करना चाहिये। अपनी भावी आशा—युवकों—से कहते हैं कि यदि तुम्हारे प्राणों में विद्वेष हो तो उसे शीघ्र ही जड़ से निकाल फेंको। विद्वेष की तीव्र उत्तेजना से क्षणिक रजःपूर्ण बल आसानी से जागृत होता है और शीघ्र ही क्षीण हो दुर्बलता में परिणत हो जाता है। जिन्होंने देशोद्धार करने की प्रतिज्ञा की है और उसके लिये अपने प्राण उत्सर्ग करना चाहते हैं उनके अंदर प्रबल भ्रातृभाव, कठोर उद्यमशीलता, लौहसम दृढ़ता और ज्वलंत-अग्नितुल्य तेज का संचार करो, उसी शक्ति से हमें अटूट बल प्राप्त होगा और हम होंगे चिरविजयी।

अतीत की समस्या

इधर प्रायः सौ वर्षों से शिक्षित संप्रदाय पर पाश्चात्य भाव के पूर्ण आधित्य के कारण भारतवासी आर्यज्ञान और आर्यभाव से वंचित हो शक्तिहीन, पराश्रय-प्रवण और अनुकरणप्रिय हो रहे थे। अब यह तामसिक भाव तिरोहित हो रहा है। एक बार मीमांसा करनी आवश्यक है कि आखिर इसका प्रादुर्भाव हुआ ही क्यों था। अठारहवीं शताब्दी में तामसिक अज्ञान और घोर राजसिक प्रवृत्ति ने भारतवासियों को ग्रस लिया था, देश में हजारों स्वार्थपर, कर्तव्यविमुख, देशद्रोही, शक्तिमान् असुरप्रकृति मनुष्यों ने जन्म ले पराधीनता के अनुकूल अवस्था को तैयार किया था। उसी समय भगवान् की गूढ़ अभिसंधि को सफल करने के लिये सुदूर-द्वीपांतरवासी अंग्रेज वणिकों का भारत में आविर्भाव हुआ। पापभारार्त भारतवर्ष अनायास ही विदेशियों के हाथ आ गया। इस अद्भुत काण्ड का विचार मन में उठते ही आज भी संसार आश्चर्यान्वित हो जाता है। इस बात की कोई भी संतोषजनक मीमांसा न कर सकने से सभी लोग अंग्रेज-जाति के गुणों की अशेष प्रशंसा करते हैं। अंग्रेज-जाति के अनेक गुण हैं; अगर वे गुण न होते तो वह आज पृथ्वी की श्रेष्ठ दिग्विजयी जाति न हो पाती। किंतु जो यह कहते हैं कि इस अद्भुत घटना का एकमात्र कारण भारतवासियों की निकृष्टता और अंग्रेजों की श्रेष्ठता है, भारतवासियों का पाप और अंग्रेजों का पुण्य है, उन्होंने स्वयं पूर्णतः भ्रांत न होने पर भी लोगों के मन में कुछ एक भ्रांत धारणाएं बिठा दी हैं। अतएव इस विषय का सूक्ष्म अनुसंधान कर इसकी सही-सही मीमांसा करने की चेष्टा की जानी चाहिये। अतीत का सूक्ष्म अनुसंधान किये बिना भविष्य की गति का निर्णय करना दुःसाध्य है।

अंग्रेजों की भारत-विजय है जगत् के इतिहास में एक अतुलनीय घटना। यह बृहत् देश यदि किसी असभ्य, दुर्बल या निर्बोध और अक्षम जाति का वासस्थान होता तो फिर ऐसी बात नहीं कही जाती। किंतु भारतवर्ष राजपूत, मराठा, सिख, पठान, मुगल आदि का निवास-स्थान है; तीक्ष्ण-बुद्धि बंगाली, चिंतनशील मद्रासी, राजनीतिज्ञ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण भारतजननी की संतान हैं। अंग्रेजों की विजय के समय नाना फड़नवीस-जैसे विचक्षण राजनीतिविद्, माधोजी सिंधिया-जैसे युद्धविशारद सेनापति, हैदर अली और रणजीत सिंह-जैसे तेजस्वी और प्रतिभाशाली राज्यनिर्माता प्रांत-प्रांत में जनमे थे। अठारहवीं शताब्दी में भारतवासी तेज में, शौर्य में, बुद्धि में किसी भी जाति से कम नहीं थे। अठारहवीं शताब्दी का भारत था सरस्वती का मंदिर, लक्ष्मी का भंडार, शक्ति का क्रीड़ाङ्गण। फिर भी जिस देश को प्रबल और वर्धनशील मुसलमानों ने सैंकड़ों वर्षों के प्रयास से बड़े कष्ट से जीता था और जहां वे कभी भी निर्विघ्न शासन नहीं कर सके, उसी देश ने पचास वर्ष में ही अनायास मुट्ठी-भर अंग्रेज बनियों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सौ वर्षों में ही उनके एकछत्र साम्राज्य की छाया में निश्चेष्ट हो सो गया! कोई कह सकता है कि एकता का अभाव है इस परिणाम का

कारण। स्वीकार करते हैं कि एकता का अभाव हमारी दुर्गति का एक प्रधान कारण है, पर भारतवर्ष में कभी भी एकता नहीं रही। महाभारत के समय में भी एकता नहीं थी, चंद्रगुप्त और अशोक के समय में भी नहीं, मुसलमानों की भारत-विजय के समय भी नहीं, अठारहवीं शताब्दी में भी नहीं। एकता का अभाव इस अद्‌भुत घटना का एकमात्र कारण नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि अंग्रेजों का पुण्य इसका कारण है तो हम पूछते हैं कि जो उस समय का इतिहास जानते हैं वे क्या यह कहने का साहस करेंगे कि उस समय के अंग्रेज वणिक तत्कालीन भारतवासियों की अपेक्षा गुण और पुण्य में श्रेष्ठ थे? जिन प्रमुख अंग्रेज वणिक और दस्यु क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स ने भारतभूमि को जीता और लूटा, जगत् में अतुलनीय साहस, उद्यमशीलता और स्वार्थपरता तथा अतुलनीय दुर्गुणों का भी दृष्टांत दिखाया उन्हीं निष्ठुर, स्वार्थपर, अर्थलोलुप, शक्तिमान् असुरों के पुण्य की बात सुन हंसी रोकना कठिन हो जाता है। साहस, उद्यमशीलता, स्वार्थपरता असुर का गुण है, असुर का पुण्य है, यह पुण्य क्लाइव आदि अंग्रेजों में था। किंतु उनका पाप भारतवासियों के पाप से तनिक भी न्यून नहीं था। अतएव अंग्रेजों के पुण्य से यह अघटन नहीं घटा।

अंग्रेज भी असुर थे, भारतवासी भी असुर थे, उस समय देवताओं और असुरों में युद्ध नहीं हुआ था, असुरों-असुरों में युद्ध हुआ था। तब भला पाश्चात्य असुरों में ऐसा कौन-सा महान् गुण था जिसके प्रभाव से उनका तेज, शौर्य और बुद्धि सफल हुई और भारतीय असुरों में ऐसा कौन-सा सांघातिक दोष था जिसके प्रभाव से उनका तेज, शौर्य और बुद्धि विफल हुई? पहला उत्तर यह है कि भारतवासी अन्य सभी गुणों में अंग्रेजों के समान होने पर भी राष्ट्रीय भावरहित थे, अंग्रेजों में यह गुण पूर्णतः विकसित था; परंतु इसका अर्थ कोई यह न लगा बैठे कि अंग्रेज स्वदेशप्रेमी थे, स्वदेशप्रेम की प्रेरणा से भारत में विराट् साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। स्वदेशप्रेम और राष्ट्रीय भाव दो स्वतंत्र वृत्तियां हैं। स्वदेशप्रेमी स्वदेश के सेवाभाव में उन्मत्त रहते हैं, सर्वत्र स्वदेश को देखते हैं, स्वदेश को इष्टदेवता मान अपने सभी कर्म यज्ञरूप में समर्पण कर देश के हित के लिये कर्म करते हैं, देश के स्वार्थ में अपने स्वार्थ को डुबो देते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजों में यह भाव नहीं था; यह भाव किसी जड़वादी पाश्चात्य राष्ट्र के प्राणों में स्थायी नहीं रह सकता। अंग्रेज स्वदेशहित के लिये भारत नहीं आये थे, न स्वदेशहित के लिये उन्होंने भारत को जीता था, वे आये थे वाणिज्य के लिये, अपने-अपने आर्थिक लाभ के लिये; स्वदेशहित की दृष्टि से उन्होंने भारत को न जीता था और न लूटा था, जीता था बहुत-कुछ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये। परंतु स्वदेशप्रेमी न होने पर भी वे राष्ट्रीय-भावापन्न थे। उनमें यह अभिमान था कि हमारा देश श्रेष्ठ है, हमारे राष्ट्र के आचार, विचार, धर्म, चरित्र, नीति, बल, विक्रम, बुद्धि, मत और कर्म उत्कृष्ट हैं, अतुल्य हैं तथा अन्य जाति के लिये दुर्लभ हैं। उनमें यह विश्वास था कि हमारे देश के हित में हमारा हित है, हमारे देश के गौरव में हमारा गौरव और

हमारे देशभाइयों की उन्नति में हमारी उन्नति; केवल अपना स्वार्थसाधन न कर साथ-साथ अपने देश का स्वार्थ सिद्ध करना, देश के मान, गौरव, और उन्नति के लिये युद्ध करना प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है, आवश्यक होने पर उस युद्ध में निर्भय हो प्राण विसर्जन करना वीर का धर्म है,—यही कर्तव्यबुद्धि है जातीय भाव का प्रधान लक्षण। जातीय भाव राजसिक भाव है और स्वदेशप्रेम सात्त्विक। जो अपने 'अहं' को देश के अहं में विलीन कर देते हैं वे हैं आदर्श स्वदेशप्रेमी; जो अपने 'अहं' को संपूर्णतः सुरक्षित रखते हुए उसके द्वारा देश के 'अहं' को वर्धित करते हैं वे हैं राष्ट्रीयभावापन्न। उस समय के भारतवासी राष्ट्रीय भाव से शून्य थे। अवश्य ही हमारे कहने का अर्थ यह नहीं कि वे कभी अपने राष्ट्र का हित नहीं देखते थे; परंतु राष्ट्र के और अपने हित के बीच जरा भी विरोध उठने पर वे प्रायः ही राष्ट्र के हित का त्याग कर अपना हित साधित करते थे। एकता के अभाव की अपेक्षा राष्ट्रीयता का यह अभाव है, हमारे राय में, घातक दोष। पूर्ण राष्ट्रीय भाव देशभर में फैल जाने पर नाना भेदों से भरे इस देश में भी एकता का आना संभव है; केवल 'एकता चाहिये, एकता चाहिये' कहने से ही एकता नहीं आ जाती; यही है अंग्रेजों की भारत-विजय का प्रधान कारण। असुर-असुर में संघर्ष होने पर राष्ट्रीयभावापन्न, एकताप्राप्त असुरों ने राष्ट्रीयभावशून्य, एकताशून्य, समानगुणविशिष्ट असुरों को पराजित किया। विधाता का यही नियम है, जो दक्ष और शक्तिमान् हैं वे ही कुश्ती में विजयी होते हैं, जो क्षिप्रगति और सहिष्णु हैं वे ही दौड़ में सबसे पहले गंतव्य स्थान पर पहुंचते हैं। सच्चरित्र या पुण्यवान् होने से ही कोई दौड़ या कुश्ती में विजयी नहीं होता, उपयुक्त शक्ति का होना आवश्यक है। उसी तरह राष्ट्रीय भाव के विकास से दुर्वृत्त और आसुरिक राष्ट्र भी साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ होता है, राष्ट्रीय भाव का अभाव होने पर सच्चरित्र और गुणसंपन्न राष्ट्र भी पराधीन हो अंत में चरित्र और गुण खो अधोगति को प्राप्त होता है।

राजनीति की दृष्टि से यही है भारत-विजय की श्रेष्ठ मीमांसा,—किंतु इसमें एक और भी गंभीर सत्य निहित है। मैं कह चुका हूं कि तामसिक अज्ञान और राजसिक प्रवृत्ति उस समय भारत में बहुत प्रबल हो उठी थी। यही अवस्था है पतन की अग्रगामी अवस्था। रजोगुण की सेवा से राजसिक शक्ति का विकास होता है; किंतु अमिश्र रजोगुण शीघ्र ही तमोमुखी हो जाता है। उद्धत, शृंखलाविहीन राजसिक चेष्टा अति शीघ्र अवसन्न और श्रांत हो अप्रवृत्ति, शक्तिहीनता, विषाद और निश्चेष्टता में परिणत हो जाती है। सत्त्वमुखी होने पर ही रजःशक्ति स्थायी होती है। सात्त्विक भाव यदि न भी हो तो सात्त्विक आदर्श का होना आवश्यक है; उस आदर्श द्वारा रजःशक्ति शृंखलित होती और स्थायी बल प्राप्त करती है। स्वाधीनता और सुशृंखलता अंग्रेजों के ये दो महान् सात्त्विक आदर्श उनमें सदा से थे, उन्हीं के बल से अंग्रेज जगत् में प्रधान और चिरविजयी हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में उस राष्ट्र में परोपकार की कामना भी जागृत हुई थी, उसके बल से इंग्लैंड राष्ट्रीय महत्त्व की चरमावस्था पर पहुंच गया था। इसके

अतिरिक्त यूरोप की जिस ज्ञानपिपासा की प्रबल प्रेरणा से पाश्चात्य देशों ने सैंकड़ों वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, कणमात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिये सैंकड़ों लोग प्राणतक देने के लिये सम्मत होते हैं, वह बलीयसी सात्त्विक ज्ञानतृष्णा अंग्रेजजाति में विकसित थी। इसी सात्त्विक शक्ति से अंग्रेज बलवान् थे, इसी सात्त्विक शक्ति के क्षीण होने से अंग्रेजों का प्राधान्य, तेज और विक्रम क्षीण हो रहा है और बढ़ रहा है भय, विषाद और आत्मशक्ति पर अविश्वास। सात्त्विक लक्ष्य से भ्रष्ट हो उनकी रजःशक्ति तमोमुखी हो रही है। दूसरी ओर भारतवासी महान् सात्त्विक थे; उसी सात्त्विक बल से ज्ञान, शौर्य, तेज और बल में वे अतुलनीय हो रहे थे और एकताविहीन होने पर भी हजारों वर्षों से विदेशी आक्रमणों का प्रतिरोध और दमन करने में समर्थ थे। अंततः उनमें रजःशक्ति की वृद्धि और सत्त्व का ह्रास होने लगा। मुसलमानों के आगमन के समय ज्ञान का विस्तार संकुचित होना आरंभ हो गया था, उस समय रजःप्रधान राजपूत-जाति भारत के सिंहासन पर आसीन थी; उत्तर भारत में युद्ध-विग्रह, गृह-कलह का प्राधान्य था, बंगदेश में बौद्धधर्म की अवनति होने से तामसिक भाव प्रबल हो रहा था। अध्यात्मज्ञान ने दक्षिण में आकर आश्रय लिया था; उसी सत्त्वबल से दक्षिण भारत बहुत दिनों तक अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में समर्थ हुआ था। धीरे-धीरे ज्ञानपिपासा और ज्ञान की उन्नति बंद हो चली, उसके स्थान पर पांडित्य का सम्मान और गौरव बढ़ गया, आध्यात्मिक ज्ञान, योगशक्ति के विकास और आंतरिक उपलब्धि के स्थान पर तामसिक पूजा और सकाम राजसिक व्रतोद्यापन का बाहुल्य होने लगा, वर्णाश्रमधर्म लुप्त होने पर लोग बाह्य आचार और क्रिया को अधिक मूल्यवान् समझने लगे। इसी तरह राष्ट्रधर्म का लोप हो जाने से ग्रीस, रोम, मिस्र, असीरिया आदि की मृत्यु हुई; किंतु सनातनधर्मावलम्बी आर्यजाति के अंदर उसी सनातन मूलस्रोत से बीच-बीच में संजीवनी सुधाधारा निर्गत हो जाति की प्राणरक्षा करती थी। शंकर, रामानुज, चैतन्य, नानक, रामदास, तुकाराम ने उसी अमृत का सिंचन कर मरणाहत भारत में प्राण का संचार किया था। फिर भी रजः और तमः के स्रोत में इतना बल था कि उसके बहाव में पड़ उत्तम भी अधम बन गया; साधारण लोग शंकरप्रदत्त ज्ञान द्वारा तामसिक भाव का समर्थन करने लगे, चैतन्य का प्रेमधर्म घोर तामसिक निश्चेष्टता का आश्रयस्थल बन गया, रामदास की शिक्षा पाये हुए महाराष्ट्रियों ने महाराष्ट्र-धर्म को भूल, स्वार्थसाधन और गृहकलह में अपनी शक्ति का अपव्यय कर, शिवाजी तथा बाजीराव द्वारा प्रतिष्ठित साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। अठारहवीं शताब्दी में इस स्रोत का पूर्ण वेग दिखायी दिया था। समाज और धर्म उस समय कुछ विधानदाताओं की क्षुद्र सीमा में आबद्ध था, बाहरी आचार और क्रिया का आडम्बर धर्म के नाम से अभिहित था, आर्यज्ञान लुप्तप्राय हो गया था और आर्यचरित्र नष्टप्राय। सनातन धर्म समाज का परित्याग कर संन्यासी की अरण्यकुटी और भक्त के हृदय में जा छिपा था। भारत उस समय घोर तम के अंधकार से आच्छन्न था। प्रचण्ड राजसिक प्रवृत्ति बाहरी धर्म के परदे की आड़

से स्वार्थ, पाप, देश का अमंगल, दूसरों का अनिष्ट पूर्ण वेग के साथ साधित कर रही थी। देश में शक्ति का अभाव नहीं था, परंतु आर्यधर्म का, सत्त्व का लोप हो जाने से वह शक्ति आत्मरक्षा करने में असमर्थ हो आत्मविनाश को प्राप्त हुई। अंत में अंग्रेजों की आसुरिक शक्ति से पराजित हो भारत की आसुरिक शक्ति शृंखलित और मुमूर्षु हो गयी। भारत पूर्ण तमोभाव की गोद में सो गया। अप्रकाश, अप्रवृत्ति, अज्ञान, अकर्मण्यता, आत्मविश्वास का अभाव, आत्मसम्मान का विसर्जन, दासत्वप्रियता, परधर्मसेवा, परानुकरण, पराश्रय ग्रहण कर आत्मोन्नति की चेष्टा, विषाद, आत्मनिंदा, क्षुद्राशयता, आलस्य इत्यादि सभी हैं तमोभाव-सूचक गुण। उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में इन सब गुणों में से भला किस गुण का अभाव था ? उस शताब्दी के सभी प्रयास इन गुणों के प्राबल्य के कारण तमःशक्ति के चिह्न से सर्वत्र चिह्नित हैं।

भगवान् ने जब भारत को जगाया तब उस जागरण के प्रथम आवेग से राष्ट्रीय भाव के उद्दीपन की ज्वालामयी शक्ति राष्ट्र की शिरा-शिरा में द्रुततर वेग से प्रवाहित होने लगी। उसके साथ-साथ स्वदेशप्रेम के उन्मत्तकारी आवेग ने युवकों को अभिभूत कर दिया। हम पाश्चात्य जाति नहीं, हम एशियावासी हैं, हम भारतवासी हैं, हम आर्य हैं। हमने राष्ट्रीय भाव प्राप्त किया है, किंतु उसमें स्वदेशप्रेम का संचार हुए बिना, हमारा राष्ट्रीय भाव प्रस्फुटित नहीं होगा। उस स्वदेशप्रेम का आधार है मातृपूजा। जिस दिन बंकिमचंद्र का 'वन्दे मातरम्' गान बाह्येन्द्रिय को अतिक्रम कर हमारे प्राणों में गूंज उठा उसी दिन हमारे हृदय में स्वदेशप्रेम जागा, मातृमूर्ति प्रतिष्ठित हो गयी। स्वदेश है माता, स्वदेश है भगवान्, यही वेदांत-शिक्षान्तर्गत महती शिक्षा है राष्ट्रीय अभ्युत्थान का बीज। जैसे जीव भगवान् का अंश है, उसकी शक्ति भगवान् की शक्ति का अंश है, वैसे ही यह सात कोटि बंगवासियों का, तीस कोटि भारतवासियों का समुदाय है सर्वव्यापी वासुदेव का अंश, इन तीस कोटि मनुष्यों की आश्रयदायिनी, शक्तिस्वरूपिणी, बहुभुजान्विता, बहुबलधारिणी भारतजननी भगवान् की एक शक्ति है, माता, देवी, जगज्जननी काली की देहविशेष हैं। इसी मातृप्रेम, मातृमूर्ति को राष्ट्र के मन और प्राण में जागरित और प्रतिष्ठित करने के लिये इन कुछ वर्षों की उत्तेजना, परिश्रम, कोलाहल, अपमान, लांछना और निर्यातन का विधान भगवदिच्छा के अनुसार हुआ था। वह कार्य पूरा हो गया है। और इसके बाद ?

इसके बाद होगा आर्यजाति की सनातन शक्ति का पुनरुद्धार। पहला, आर्यचरित्र और आर्यशिक्षा, दूसरा, योग-शक्ति का पुनर्विकास, तीसरा, आर्योचित ज्ञानपिपासा और कर्म-शक्ति द्वारा नवयुग के लिये आवश्यक सामग्री का संचय और इन कुछ वर्षों की उन्मादिनी उत्तेजना को सुशृंखलित कर और स्थिर लक्ष्य की ओर मोड़ मातृकार्य का संपादन। आजकल देश-भर में जो युवक पथान्वेषण और कर्मान्वेषण कर रहे हैं वे उत्तेजना को अतिक्रम कर कुछ दिनों तक शक्तिसंचय करने का पथ ढूंढ़ निकालें। जो महत् कार्य संपन्न करना है वह केवल उत्तेजना द्वारा संपादित नहीं हो सकता,

उसके लिये चाहिये शक्ति। तुम्हारे पूर्वपुरुषों की शिक्षा से जो शक्ति प्राप्त होती है वही शक्ति है अघटनघटनपटीयसी। वह शक्ति तुम्हारे शरीर में अवतरित होने के लिये उद्यत हो रही है। मां ही हैं वह शक्ति। उन्हें आत्मसमर्पण करने का उपाय सीख लो। मां तुम लोगों को यंत्र बना इतनी शीघ्र, इतने बल के साथ कार्य संपन्न करेंगी कि जगत् स्तंभित हो उठेगा। उस शक्ति के अभाव में तुम्हारे सारे प्रयास विफल हो जायेंगे। मातृमूर्ति तुम्हारे हृदय में प्रतिष्ठित है, तुमने मातृपूजा और मातृसेवा करना सीख लिया है, अब अंतर्निहित माता को आत्मसमर्पण करो। कार्यसिद्धि का दूसरा कोई पथ नहीं।

स्वाधीनता का अर्थ

हमारी राजनीतिक चेष्टा का उद्देश्य है स्वाधीनता, परंतु स्वाधीनता है क्या, इसमें मतभेद है। कोई स्वायत्त शासन को स्वाधीनता कहता है, कोई औपनिवेशिक स्वराज्य को, तो कोई संपूर्ण स्वराज्य को। आर्य ऋषि संपूर्ण व्यावहारिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता और उसके फलस्वरूप अक्षुण्ण आनंद को स्वराज्य कहा करते थे। राजनीतिक स्वाधीनता है स्वराज्य का एक अंगमात्र—उसके दो पक्ष हैं, बाह्य स्वाधीनता और आंतरिक स्वाधीनता। विदेशी शासन से पूर्ण मुक्ति है बाह्य स्वाधीनता, प्रजातंत्र है आंतरिक स्वाधीनता का चरम विकास। जबतक दूसरे का शासन या राज्य रहता है तबतक किसी राष्ट्र को स्वराज्यप्राप्त स्वाधीन राष्ट्र नहीं कहा जाता। जबतक प्रजातंत्र नहीं स्थापित हो जाता तबतक राष्ट्र के अंतर्गत प्रजा को स्वाधीन मनुष्य नहीं कहा जा सकता। हम चाहते हैं पूर्ण स्वाधीनता, विदेशी आदेश और बंधन से पूर्ण मुक्ति और अपने घर में प्रजा का पूर्ण आधिपत्य, यही है हमारा राजनीतिक लक्ष्य।

इस आकांक्षा का कारण संक्षेप में बतलायेंगे। राष्ट्र के लिये पराधीनता है मृत्यु का दूत और आज्ञा-वाहक, स्वाधीनता में ही है जीवन-रक्षा, स्वाधीनता में ही है उन्नति की संभावना। स्वधर्म अर्थात् स्वभावनियत राष्ट्रीय कर्म और प्रयास है राष्ट्रीय उन्नति का एकमात्र पथ। विदेशी यदि देश को अधिकृत कर अत्यंत दयालु और हितैषी भी बने रहें तो भी वे हमारे सिर पर परधर्म का बोझ लादे बिना नहीं छोड़ेंगे। उनका उद्देश्य चाहे भला हो या बुरा, उससे हमारा अहित ही होगा, हित नहीं। दूसरे के स्वभावनियत पथ पर चलने की शक्ति और प्रेरणा हममें नहीं है, उस पथपर चलने से हम बहुत सुंदर रूप में उसका अनुकरण कर सकते हैं, उसकी उन्नति के लक्षण और वेशभूषा में बड़ी दक्षता के साथ अपनी अवनति को आच्छादित कर सकते हैं, परंतु परीक्षा के समय परधर्मसेवा से उत्पन्न हमारी दुर्बलता और असारता प्रकाशित होगी। हम भी उस असारतावश विनाश को प्राप्त होंगे। रोम के आधिपत्य में रहकर रोम की सभ्यता प्राप्त कर यूरोप के प्राचीन राष्ट्रों ने बहुत दिनों तक सुख-स्वच्छन्दता से जीवन यापन तो किया, परंतु उनकी अंतिम अवस्था बड़ी भयानक हुई, मनुष्यत्व के विनाश से उनकी जो घोर दुर्दशा हुई, वही मनुष्यत्व-विनाश और घोर दुर्दशा प्रत्येक पराधीनतापरायण राष्ट्र के लिये अवश्यंभावी है। पराधीनता का प्रधान आधार है राष्ट्र का स्वधर्मनाश और परधर्मसेवा। यदि पराधीन अवस्था में हम स्वधर्म की रक्षा या स्वधर्म को पुनरुज्जीवित कर सकें तो फिर पराधीनता का बंधन अपने-आप टूट जायेगा—यह है अलंघनीय प्राकृतिक नियम। अतएव यदि कोई राष्ट्र अपने दोष से पराधीनता में जा पड़े तो अविकल और पूर्णांग स्वराज्य ही होना चाहिये उसका प्रथम उद्देश्य और राजनीतिक आदर्श। औपनिवेशिक स्वायत्त शासन स्वराज्य नहीं, पर, यदि बिना शर्त पूरा-पूरा अधिकार दिया जाये और राष्ट्र आदर्शभ्रष्ट और स्वधर्मभ्रष्ट न हो तो वह स्वराज्य की

अनुकूल और पूर्ववर्ती अवस्था हो सकता है। आजकल यह बात उठी है कि ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर स्वाधीनता की आशा करना है धृष्टता का परिचायक और राजद्रोह का सूचक। जो औपनिवेशिक स्वायत्त शासन से संतुष्ट नहीं वे निश्चय ही राजद्रोही राष्ट्र-विप्लवी हैं और सर्वविध राजनीतिक कार्यों से अलग् रखे जाने योग्य हैं। किंतु उस तरह की आशा और आदर्श के साथ राजद्रोह का कोई संबंध नहीं। अंग्रेजी राजत्व के आरंभ से ही बड़े-बड़े अंग्रेज राजनीतिज्ञ यह कहते आ रहे हैं कि उस तरह की स्वाधीनता अंग्रेजी सरकार का भी उद्देश्य है, अब भी अंग्रेज विचारक मुक्त कंठ से कह रहे हैं कि स्वाधीनता के आदर्श का प्रचार और स्वाधीनता प्राप्त करने की वैध चेष्टा कानूनन उचित और दोषरहित है। किंतु हमारी स्वाधीनता ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर या उसके भीतर रहकर होगी—इस प्रश्न की मीमांसा राष्ट्रीय दल कभी आवश्यक नहीं समझता। हम पूर्ण स्वराज्य चाहते हैं। यदि ब्रिटिश एक ऐसे युक्त साम्राज्य की व्यवस्था करे जिसके अंतर्गत भारतवासी वैसा ही स्वराज्य पा सकें तो फिर उसमें आपत्ति ही क्या ? अंग्रेजों के प्रति विद्वेष होने के कारण हम स्वराज्य की चेष्टा नहीं कर रहे, देश की रक्षा के लिये कर रहे हैं। परंतु हम पूर्ण स्वराज्य के अतिरिक्त अन्य किसी आदर्श को स्वीकार कर देशवासियों को मिथ्या राजनीति और देशरक्षा का गलत मार्ग दिखाने के लिये प्रस्तुत नहीं।

हिरोवूमि इतो

मानवजाति में दो प्रकार के जीव जन्म ग्रहण करते हैं। जो धीरे-धीरे क्रमविकास के स्रोत में अग्रसर हो अन्तर्निहित देवत्व को प्रकट करते हैं वे हैं साधारण मनुष्य। जो इस क्रम विकास के सहायतार्थ विभूति रूप में जन्म ग्रहण करते हैं—वे होते हैं इनसे पृथक्। इस दूसरे प्रकार के जीव जिस राष्ट्र या युग में अवतरित होते हैं, वे उस राष्ट्र के चरित्र और आचार तथा उस युग के धर्म को ग्रहण करते हुए, ईश्वरीय शक्ति और स्वभाव के बल से ऐसे कर्म करते हैं जो साधारण मनुष्य के लिये असाध्य हैं, और इस प्रकार जगत् की गति किंचित् परिवर्तित कर इतिहास में अमर नाम छोड़ निज धाम को लौट जाते हैं। उनके कर्म और चरित्र होते हैं मनुष्य की प्रशंसा या निंदा के परे। हम प्रशंसा करें या निंदा, वे भगवान् के सौंपे कार्य को कर जाते हैं। उसी कार्य द्वारा मानवजाति का भविष्य नियंत्रित हो अपने निर्दिष्ट पथपर द्रुतगति से प्रवाहित होगा। सीजर, नेपोलियन, अकबर और शिवाजी थे इसी प्रकार की विभूतियां। जापान के महापुरुष हिरोवूमि इतो भी इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं और ऊपर मैंने जिन नामों का उल्लेख किया है उनमें से एक भी गुण में, प्रतिभा में या कर्म के महत्त्व और भावी फल के हिसाब से इतो की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ नहीं थे। इतो का इतिहास में और जापान के अभ्युदय में प्रधान स्थान है इसे सभी जानते हैं, किंतु इसे शायद सब न जानते हों कि इतो ने ही जापान के इस अभ्युदय के क्रम, साधन और उद्देश्य की उद्भावना कर, अंत तक अकेले ही, इस महान् परिवर्तन को सिद्ध किया है। जापान के और सभी महापुरुष थे उनके हाथ के यंत्र-मात्र। इतो ने ही जापान की एकता और स्वाधीनता, जापान का विद्याबल, सैन्यबल, नौसेना-बल, अर्थबल, वाणिज्य और राजनीति की कल्पना कर कार्य में परिणत किया था। वे ही भावी जापान के साम्राज्य को तैयार कर रहे थे। परंतु उन्होंने जो कुछ किया वह प्रायः परदे के पीछे रहकर। जर्मनी के कैसर विलियम या इंग्लैंड के लायड जार्ज जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं उसे सारा संसार तुरत ही जान जाता है। परंतु इतो जो कुछ सोचते थे, जो कुछ करते थे, उसे कोई भी नहीं जान पाता था—जब उनकी निभृत कल्पना और चेष्टा फलीभूत हुई तब जगत् विस्मित हो समझ सका कि इतने दिनों तक क्या तैयार हो रहा था। कैसा प्रकांड कार्य, कैसी अद्भुत प्रतिभा उस कार्य से प्रकट हो रही है ! यदि इतो अपनी कल्पनाओं को अपने ही हाथों से कार्य में परिणत करने के अभ्यासी होते तो सारा संसार बात-बात में उन्हें उन्मत्त, असाध्यसाधनप्रयासी और व्यर्थ स्वप्नविलासी कहकर उनकी हंसी उड़ाता। इस बात पर भला किसे विश्वास होता कि पचास वर्षों में ही जापान अपनी दुर्लभ स्वाधीनता की रक्षा करता हुआ समस्त पाश्चात्य सभ्यता को आयत्त कर लेगा, इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रांस के समकक्ष एक प्रबल पराक्रमशाली राष्ट्र बनकर खड़ा होगा, चीन को पराजित करेगा, रूस को पराभूत करेगा, दूर देश-विदेश में

जापानी वाणिज्य, जापानी चित्रकला, जापानी बुद्धि की प्रशंसा और जापानी साहस के भय का विस्तार करेगा, कोरिया पर अधिकार करेगा, फारमोसा को दखल करेगा, बृहत् साम्राज्य की भित्ति स्थापित करेगा; एकता, स्वाधीनता, साम्य और राष्ट्रीय शिक्षा की चरम उन्नति साधित करेगा ? नेपोलियन कहा करते थे—"मैंने 'असाध्य' शब्द को अपने कोष से निकाल दिया है।" इतो ने यह बात कही तो नहीं पर इसे कार्य में परिणत कर दिखाया। इतो का कार्य नेपोलियन के कार्य से महान् है, ऐसे महापुरुष किसी हत्यारे की गोली से मारे गये इसमें दुःख मानने की कोई बात नहीं। जिसने जापान के लिये प्राणों का उत्सर्ग किया, जापान ही जिसके चिन्तन का विषय रहा, जापान ही जिसका उपास्य देवता था उसने जापान के लिये प्राणत्याग किया, यह है बड़े ही सुख, सौभाग्य और गौरव की बात।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

हिरोवूमि इतो के भाग्य से ये दो परम फल एक ही जीवन-वृक्ष में फले।

कोरिया और जापान

स्वाधीनता की प्रबल आकांक्षा सारे एशिया में व्याप अपूर्व लीला खेल रही है। अघटनघटनापटीयसी महाशक्ति के लिये कुछ भी असाध्य, असंभव नहीं। हम जिसे असाध्य कहते हैं, महाशक्ति की प्रेरणा से, महाशक्ति के अभ्रांत साधनों से वह सहज-साध्य हो जाता है। हम जिसे असंभव कहते हैं, महाशक्ति की इच्छा से वह हो जाता है संभव और अवश्यंभावी। दुर्बल फारस दो प्रकांड आसुरिक शक्तियों की खरल में पड़कर भी सहसा उठ खड़ा हुआ है, अनगिनत विघ्नों को पार कर धीर, दृढ़ गति से बल जुटा रहा है। मुमूर्षु तुर्किस्तान न जाने कहां से संजीवनी सुधा पान कर नये बल से बलीयान् हो, नये यौवनावेग से प्रफुल्ल हो यूरोप के विस्मय व भय का कारण बन रहा है। प्राचीन चीन का स्वेच्छाचारी राजतंत्र अपने ही आग्रह से प्रजातंत्र में परिणत हो रहा है। अरब में, तुर्किस्तान में, भारत में जो भी एशियाई पराधीन हैं उन सभी देशों में स्वाधीनता की अदम्य आकांक्षा अंगड़ाई ले सब देशों को आलोड़ित कर रही है। अफगानिस्तान में भी अशांति की पहली झलक दिखायी पड़ने लगी है। केवल वर्मा व स्याम में इस प्रवाह ने बहना शुरू नहीं किया है। सारा एशिया है जीवित, जाग्रत्, स्वाधीनता के संग्राम में जयाभिलाषी।

खेद है कि इस उत्थान के समय एशियाई एशियाई के बीच विरोध उठ खड़ा हुआ है। तुर्क-साम्राज्य में जो अशांति है वह सुलतान अब्दुल हमीद के पहले के किये गये पाप के प्रायश्चित्त के रूप में नये प्रजातंत्र को भोगना पड़ रहा है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रजातंत्र के उदार, प्रतिभाशाली और तीक्ष्णबुद्धि राजनीतिविद् नेता इस अशांति को शीघ्र ही प्रशमित करेंगे। पर पूर्वी एशिया में जापान की साम्राज्य-लिप्सा और वाणिज्य-विस्तार की आकांक्षा से जो बाधा पनपी है उसे हटाना उतना सहज नहीं। जापान के प्रधान और पूज्यतम नेता, नये जापान के स्रष्टा, त्राता और विस्तारकर्ता हिरोबूमि इतो पराधीन कोरियाई के हाथ मारे गये हैं। जो राष्ट्र दूसरे की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करता है वह महापाप करता है इसमें कतई संदेह नहीं; पर सारे एशिया के आवश्यक हितकार्य के लिये भगवान् की इच्छा से जापान ने कोरिया में प्रवेश किया है और जबतक उसके आगमन का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो जाता तबतक कोरिया के हजार प्रयत्न करने पर भी वह बंधन नहीं कटने का। वह उद्देश्य है—रूस के हाथ से उत्तरी और पूर्वी एशिया की रक्षा। यह उद्देश्य कोरिया से संपन्न नहीं हो सकता। जापान को ही भगवान् ने उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त शक्ति, सामर्थ्य, जनबल, धनबल और साधन दिये हैं। तिसपर कोरिया है उत्तरी एशिया का गढ़—जो कोई भी कोरिया को जीत सकेगा वही उत्तरी एशिया का प्रभु बन विराजेगा। रूस ने यदि कोरिया में प्रवेश किया—रूस-जापान के युद्ध के पहले रूस ने वहां प्रवेश किया था—तो जापान की स्वाधीनता दो दिन भी नहीं टिकने की। ऐसी अवस्था में कोरिया

पर अधिकार जमाना है जापान की आत्मरक्षा का आवश्यक साधन; इसे पाप-कर्म नहीं कहा जा सकता। यह सिर्फ आत्म-रक्षा ही नहीं है, यह है ईश्वरनिर्दिष्ट पुण्य-कार्य का अनिवार्य अंग। जबतक साइबेरिया पुनः एशिया के करतलगत नहीं हो जाता, जबतक क्रूर, अत्याचारी और परस्वापहारी रूस का राज्य उस देश में नष्ट नहीं हो जाता, तबतक एशिया की स्वाधीनता निरापद नहीं हो सकती। साइबेरिया है जापान का प्राप्य। जापान ही रूस को साइबेरिया से हटा सकता है। कोरिया पर अधिकार न करने से हार्बिन और व्लाडिवोस्टक पर भी अधिकार नहीं किया जा सकता। अतः भगवान् की इच्छा और उनकी उद्देश्य-सिद्धि के लिये जापान कोरिया में घुसा है। यह उद्देश्य विफल होने का नहीं। जबतक व्लाडिवोस्टक जापान के हाथ नहीं आ जाता तबतक कोरिया की स्वाधीनता की इच्छा व चेष्टा विफल रहेगी।

किंतु इस अनिवार्य कार्य में जापानियों ने अनावश्यक कठोरता बरती और अत्याचार ढाया—इसमें जो थोड़ा-बहुत दोष कोरिया का है इसे नकारा नहीं जा सकता; पर सारा दोष कोरिया का नहीं। नीच श्रेणी व नीच प्रकृति जापानियों का लोभ, विजय की मत्तता और पाशविक प्रवृत्ति हैं इसके कारण। इस अत्याचार से कोरियावासियों की क्रोधाग्नि भभक उठी तब जापान के नेता हिरोवूमि इतो ने स्वयं कोरिया जा इस कठिन व विपज्जनक महत् कार्य के भार को अपने ऊपर लिया। व्यक्तिगत अत्याचार तो उन्होंने बंद करा दिये पर खुद कोरियावासियों पर और भी जोर-जुल्म ढाने लगे। कोरिया का स्वतंत्र जीवन, स्वतंत्र शिक्षा, स्वतंत्र आचार-व्यवहार, स्वतंत्र अस्तित्व के प्रत्येक छाप-चिह्न को कठोर निर्दय पेषण से चूर-मार कर कोरिया को जापान का उपनिवेश बना जापानी शिक्षा, जापानी सभ्यता, जापानी आचार-व्यवहार, जापानी कार्य-दक्षता, कार्य-प्रणाली व शृंखला, जापानी मंत्र, जापानी तंत्र को कोरियावासियों के तन-मन-प्राण में अंकित करने में जुट गये। इतो कोई साधारण राजनीतिज्ञ नहीं थे, उनके जैसे महापुरुष उन्नीसवीं शताब्दी में राजनीति-क्षेत्र में अवतीर्ण नहीं हुए। नैपोलियन के बाद उन्हें ही जगत् का श्रेष्ठ कर्मी कहा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति ने इस कठिन कार्य को क्यों इस तरह के नृशंस साधनों से संपन्न करने की चेष्टा की ? अंशतः अतिरिक्त देशहित व साम्राज्य की लिप्सा से। भगवान् की विभूति भी मानव शरीर धारण करने पर अपनी निर्मल बुद्धि पर मानव स्वभाव का रंग चढ़ा जगत् का कार्य करती हैं। इतो थे जापानी, अतः उनमें थे जापानियों के गुण, जापानियों के दोष। यदि कोरिया चिरकाल तक जापानी साम्राज्य में रहे तो जापान का गौरव बढ़ेगा, बलवृद्धि होगी और उत्तरी एशिया में उसकी प्रतिष्ठा व विस्तार का पथ निष्कंटक होगा। पर एक दूसरा कारण भी ढूंढ़ा जा सकता है—अपने किये पाप के फल से कोरियावासियों को यह लांछना भोगनी पड़ी। जब विजातीय विदेशीय विधर्मी रूस राज्य ने कोरिया में अपना सर्वनाशी विस्तार आरंभ किया तब कोरियावाले स्वाधीनता खो जाने के भय से आशंकित नहीं हुए थे, वरन् चीन के प्रति विद्वेष, जापान के प्रति विद्वेष के

कारण रूस के साथ संधि और मैत्री स्थापित कर अपने विनाश, जापान के विनाश, चीन के विनाश, सारे एशिया की स्वाधीनता के विनाश में जान-बूझकर मदद दे रहे थे। यह पाप कोई मामूली पाप नहीं। कितने दिन तक कोरिया को इसका प्रायश्चित्त भोगना पड़ेगा इसकी कोई सीमा नहीं। फिर जब जापान ने, एशिया का रक्षक और परित्राता बन, कोरिया में प्रवेश किया, रूस को उत्तरी एशिया के गढ़ से चन्द दिनों में निकाल बाहर किया, तब कोरिया ने, अपने श्वेतवर्ण बन्धु के दुःख से दुःखित हो जापान के विरुद्ध आचरण किया। अंत में जब जापान के अत्याचार से अधीर हो उठे तब भी निज मनुष्यत्व के बल से उठने की चेष्टा न कर पहले तो रूस के साथ षड्यंत्र किया, फिर उसमें भी विफल मनोरथ हो यूरोप के दर पर रोने के लिये अपने प्रतिनिधि भेजे। कैसा आश्चर्यमय प्रभेद। शत्रु निपीड़ित हो जापान व चीन ने जब यूरोप में प्रतिनिधि-संघ (Commission) को भेजा तो किस उद्देश्य से भेजा ? शत्रुओं में ऐसी कौन-सी विद्या, गुण, प्रणाली व शृंखला है जिससे वे अजेय और दुर्धर्ष पराक्रमशाली हो उठे हैं, उसे जान अपने देश लौट आ उसी विद्या, गुण, प्रणाली व शृंखला को स्वदेश में संस्थापित कर स्वाधीनता की रक्षा और शत्रु के विनाश के पथ को उन्मुक्त करना था उस प्रतिनिधि-संघ को भेजने का उद्देश्य। और इस अवस्था में कोरिया का प्रतिनिधि-संघ क्यों यूरोप दौड़ा गया ? अर्थलोलुप, परदेशलोलुप पाश्चात्य राष्ट्रों के सामने गिड़गिड़ाने, उन्हें जापान के विरुद्ध भड़काने—यही था भिक्षुक-यात्रा का उद्देश्य। मूर्ख भी जानता है कि कृतकार्य होने से जापान का सर्वनाश हो जाता, पर कोरिया को स्वाधीनता न मिलती। इस नीचता, इस बार-बार के महापातक आचरण के फल से कोरिया अब क्षिप्तप्राय हो रहा है। हिरोबूमि इतो ने देखा कि कोरिया यदि जापान से अलग रहा तो इस दुर्बल की स्वाधीनता-चेष्टा के कारण एक-न-एक दिन पाश्चात्य शत्रु जापान का, एशिया का विनाश करने का सुअवसर जरूर प्राप्त करेंगे, पूर्व एशिया में एक बार फिर प्लासी का कांड अभिनीत होगा। अतः कोरिया के स्वातंत्र्य का विनाश करना है आत्मरक्षा का श्रेष्ठ साधन। एक बार कृत निश्चय होने पर कर्मवीर अपने निर्दिष्ट पथ से डिगे नहीं। इतो ने अपनी सारी शक्ति, प्रतिभा, विद्या लगा दी कोरिया की स्वंतत्रता को नवीन निष्पेषण से नेस्त-नाबूद करने में।

पापों का प्रायश्चित्त तो करना होगा। पापों में भी दो पाप हैं विशेष घृण्य व अमार्जनीय—क्रूरता और नीचता। जापन की क्रूरता बनी नये जापान के निर्माता, पृथ्वी के श्रेष्ठ कर्मवीर इतो की हत्या का कारण। कोरिया की नीचता ने बना दिया उसकी स्वाधीनता और स्वातंत्र्य के विनाश को अवश्यंभावी। इस हत्या से कोरिया की स्वाधीनता-प्राप्ति में कोई सुविधा नहीं होगी। जापानियों में मृत्यु भय नहीं, वे अंत तक दृढ़तः इतो की राजनीति का अनुसरण करेंगे। कोरिया का स्वातंत्र्य विनष्ट होगा। कोरिया के परिणाम से भारत एक आवश्यक सबक सीख सकता है। जिस पातक के कारण कोरिया विनाशोन्मुख हुआ है, सहस्र वर्षों से हम वही पातक करते आ रहे हैं,

उसका फल भी भोग रहे हैं। फिर भी हम नहीं चेतते। दूसरे पर निर्भर रहने से किसी भी राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता, भ्रातृ-विरोध से दूसरे की शरण लेने में अपना विनाश, भाई का विनाश अनिवार्य है। राष्ट्रीयता का पहला नियम है अपने बल से बलीयान् होना, अपनों से अपने-आप निपटना। जो भी इस नियम का उल्लंघन करेगा, वह हिन्दू हो या मुसलमान, नरमपंथी हो या चरमपंथी, उसे पाप का प्रायश्चित्त करना ही होगा।

देश और राष्ट्रीयता

देश ही है राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा-भूमि, राष्ट्र नहीं, धर्म नहीं, और कुछ भी नहीं, एकमात्र देश। राष्ट्रीयता के और सब उपकरण गौण हैं पर हैं उपयोगी, देश ही है मुख्य और आवश्यक। बहुत-सी परस्पर-विरोधी जातियां एक देश में निवास करती हैं, उनमें कभी भी सद्भाव, एकता, मैत्री नहीं थी, परंतु इसमें भय की क्या बात ? जब एक देश, एक मां है तब एक दिन एकता आकर ही रहेगी, अनेक जातियों के मिलने से एक बलवान् अजेय राष्ट्र उत्पन्न होगा ही। धर्ममत एक नहीं है, संप्रदाय-संप्रदाय में चिर-विरोध है, मेल नहीं, मेल की आशा भी नहीं है, फिर भी भय की कोई बात नहीं, एक दिन स्वदेश-मूर्तिधारिणी मां के प्रबल आकर्षण से छल, बल, साम, दण्ड और दान से मेल होकर ही रहेगा, सांप्रदायिक विभिन्नता भ्रातृभाव में, मातृप्रेम में डूब जायेगी। एक देश में विभिन्न भाषाएं हैं, भाई-भाई की बात समझने में असमर्थ है, हम एक दूसरे के भाव में प्रवेश नहीं कर पाते, हृदय में हृदय के आबद्ध होने के पथ में अभेद्य प्राचीर खड़ी हुई है, बड़े कष्ट से उसे पार करना होता है, फिर भी डरने की कोई बात नहीं; एक देश, एक जीवन, एक विचार की धारा सबके मन में प्रवाहित है, प्रयोजन की प्रेरणा से साधारण भाषा की सृष्टि होगी ही, या तो वर्तमान किसी भाषा का आधिपत्य स्वीकृत होगा या एक नयी भाषा की सृष्टि होगी, मां के मंदिर में सब उसी भाषा का व्यवहार करेंगे। इन सब बाधाओं से कार्य हमेशा के लिये नहीं रुका करता, मां का प्रयोजन, मां का आकर्षण, मां के प्राणों की कामना विफल नहीं होती, वह सभी बाधाओं और सभी विरोधों को अतिक्रम करती है, विनष्ट करती है, विजयी होती है। एक मां के गर्भ से जन्म हुआ है, एक मां की गोद में निवास करते हैं, एक मां के पंचभूत में मिल जाते हैं, आंतरिक सहस्र विवाद होने पर भी मां की पुकार पर हम एक हो जायेंगे। यही है प्राकृतिक नियम, सभी देशों के इतिहास की शिक्षा, देश ही है राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा-भूमि; वह संबंध अव्यर्थ है, स्वदेश रहने पर राष्ट्रीयता का आना अवश्यंभावी है। एक देश में दो जातियां चिरकाल नहीं रह सकतीं, मिलन होगा ही। दूसरी ओर यदि एक देश न हो, जाति, धर्म, भाषा एक हो भी तो उससे कोई लाभ नहीं, एक दिन एक स्वतंत्र जाति की सृष्टि होकर ही रहेगी। अलग-अलग देशों को युक्त कर एक बृहत् साम्राज्य बनाया जा सकता है, पर एक बृहत् राष्ट्र नहीं बनाया जा सकता। साम्राज्य-ध्वंस हो जाने पर फिर से स्वतंत्र राष्ट्र उत्पन्न होता है, कई बार वह अंतर्निहित स्वाभाविक स्वतंत्रता ही साम्राज्य-नाश का कारण बनती है।

परंतु यह फल अवश्यंभावी होने पर भी मनुष्य के प्रयास से, मनुष्य की बुद्धि से या बुद्धि के अभाव से वह अवश्यंभावी प्राकृतिक क्रिया देर या सवेर फलवती होती है। हमारे देश में कभी भी एकता नहीं रही किंतु चिरकाल एकता की ओर एक झुकाव था, प्रवाह था, हमारे इतिहास में भारत के विभिन्न अंगों ने एक-दूसरे को आकृष्ट किया।

इस प्राकृतिक प्रयास की कुछ प्रधान बाधाएं थीं; पहली बाधा थी प्रादेशिक विभिन्नता, दूसरी थी हिन्दू-मुसलमान का विरोध और तीसरी थी मातृदर्शन का अभाव। देश का बृहत् आकार, यातायात में कठिनाई और विलंब, भाषा की विभिन्नता हैं प्रादेशिक विभिन्नता के प्रधान सहायक। शेषोक्त बाधा के अतिरिक्त अन्य सभी बाधाएं आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओं से निस्तेज पड़ गयी हैं। हिन्दू-मुसलमान का विरोध होने पर भी अकबर भारत को एक करने में समर्थ हुए थे, यदि औरंगजेब निकृष्ट बुद्धि के वश न होता तो काल के माहात्म्य से, अभ्यास से, विदेशी आक्रमण के भय से, इंग्लैंड के कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टों की तरह भारत में भी हिन्दू और मुसलमान सदा के लिये एक हो जाते। औरंगजेब की बुद्धि के दोष से और कुछ आधुनिक कूटबुद्धि अंग्रेज राजनीतिज्ञों के उकसाने से वह विरोध प्रज्ज्वलित हो अब बुझना ही नहीं चाहता। परंतु प्रधान बाधा है मातृदर्शन का अभाव। हमारे प्रायः सभी राजनीतिज्ञ मां के संपूर्णस्वरूप का दर्शन करने में असमर्थ थे। रणजीत सिंह या गुरु गोविन्द ने भारतमाता को न देख पंचनद-माता को देखा था। शिवाजी और बाजीराव ने भारत-माता को न देख हिन्दुओं की माता को देखा था। अन्यान्य महाराष्ट्रीय राजनीतिज्ञों ने महाराष्ट्र-माता को देखा था। हमने भी बंग-भंग के समय बंग-माता का दर्शन किया था, वह दर्शन अखंड दर्शन था, अतएव बंगदेश की भावी एकता और उन्नति अवश्यंभावी है, किंतु भारतमाता की अखंड मूर्ति अभी भी प्रकट नहीं हुई है। कांग्रेस में हम नाना स्तव-स्तोत्र द्वारा जिस भारतमाता की पूजा करते थे वह कल्पित थी, अंग्रेजों की सहचरी और प्रिय दासी, म्लेच्छवेशभूषासज्जित दानवी माया थी, वह हमारी मां नहीं थी, उसके पीछे निविड़ अस्पष्ट आलोक में छिपी हमारी सच्ची मां मन-प्राण को आकर्षित करती थी। जिस दिन हम अखंडस्वरूप मातृमूर्ति के दर्शन करेंगे, उसके रूप-लावण्य से मुग्ध हो उसके कार्य में जीवन उत्सर्ग करने के लिये उन्मत्त हो उठेंगे, उस दिन वह बाधा तिरोहित हो जायेगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहजसाध्य हो जायेगी। तब भाषा-भेद से कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी, सभी अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा करते हुए साधारण भाषा के रूप में हिन्दीभाषा को ग्रहण कर उस बाधा को दूर करेंगे।* हम हिन्दू-मुसलमान के भेद की वास्तविक मीमांसा कर सकेंगे। मातृदर्शन के अभाव में उस बाधा को दूर करने की बलवती इच्छा न होने से ही कोई उपाय नहीं सूझता, विरोध तीव्र होता जा रहा है। किंतु अखण्ड स्वरूप चाहिये, यदि हम केवल हिन्दू की माता, हिन्दू राष्ट्रीयता की नींव के रूप में मातृदर्शन की आकांक्षा का पोषण करें तो फिर उसी पुराने भ्रम में पतित हो राष्ट्रीयता के पूर्ण विकास से वंचित रह जायेंगे।

---

* बाद में श्रीअरविन्द ने साधारण भाषा के रूप में हिंदी के स्थान पर संस्कृतभाषा कहा था।

हमारी आशा

हमारे पास बाहुबल नहीं, युद्ध के उपकरण नहीं, शिक्षा नहीं, राजशक्ति नहीं। किसमें है हमारी आशा, कहां है वह बल जिसके भरोसे हम प्रबल शिक्षित यूरोपीय जाति के लिये भी असाध्य कार्य को सिद्ध करने के प्रयासी हैं? पंडित और विज्ञ कहते हैं कि यह बालकों की उद्दाम दुराशा है, उच्च आदर्श के मद में उन्मत्त अविवेकी लोगों का सारहीन स्वप्न है, युद्ध ही स्वाधीनता प्राप्त करने का एकमात्र पथ है, हम युद्ध करने में असमर्थ हैं। स्वीकार करते हैं कि हम युद्ध करने में असमर्थ हैं, हम भी युद्ध करने का परामर्श कतई नहीं देते। किंतु क्या यह सत्य है कि बाहुबल ही है शक्ति का आधार? अथवा शक्ति और भी गूढ़, गभीर मूल से निःसृत होती है? यह सभी स्वीकार करने के लिये बाध्य हैं कि केवल बाहुबल से कोई भी विराट् कार्य साधित होना असंभव है। यदि दो परस्पर-विरोधी समान बलशाली शक्तियों का संघर्ष हो तो जिसमें नैतिक और मानसिक बल अधिक होगा,—जिसका ऐक्य, साहस, अध्यवसाय, उत्साह, दृढ़ प्रतिज्ञा, स्वार्थत्याग उत्कृष्ट होगा—जिसमें विद्या, बुद्धि, कुशलता, तीक्ष्ण दृष्टि, दूरदर्शिता, साधन उद्भावन करने की शक्ति विकसित होगी, निश्चय ही उसकी विजय होगी। यहांतक कि बाहुबल में, संख्या में, उपकरण में, जो अपेक्षाकृत हीन होगा वह भी नैतिक और मानसिक बल के उत्कर्ष के सहारे प्रबल प्रतिद्वंद्वी को हटा सकता है। इसका दृष्टांत इतिहास के पन्ने-पन्ने पर लिखा हुआ है। यह कहा तो जा सकता है कि बाहुबल की अपेक्षा नैतिक और मानसिक बल का गुरुत्व अधिक है, पर बाहुबल न होने पर नैतिक और मानसिक बल की रक्षा कौन करेगा? बात ठीक है। परंतु यह भी देखा गया है कि दो चिंतनप्रणालियों, दो संप्रदायों, दो परस्पर-विरोधी सभ्यताओं में संघर्ष होने पर जिस पक्ष की ओर बाहुबल, राजशक्ति, युद्ध का उपकरण इत्यादि साधन पूर्ण मात्रा में थे उसकी तो हार हो गयी और जिस पक्ष की ओर ये सब साधन बिलकुल नहीं थे उसकी जीत हुई। इस तरह फल की विपरीतता क्यों होती है? *'यतो धर्मस्ततो जयः'*—जहां धर्म है वहीं है विजय, परंतु धर्म के पीछे शक्ति भी होनी चाहिये, अन्यथा अधर्म का अभ्युत्थान और धर्म की ग्लानि स्थायी बनी रह सकती है। बिना कारण कोई कार्य नहीं होता। जय का कारण शक्ति है। किस शक्ति से दुर्बल पक्ष की जीत होती है और प्रबल पक्ष की शक्ति पराजित या विनष्ट? अगर हम ऐतिहासिक दृष्टांतों की परीक्षा कर देखें तो मालूम होगा कि आध्यात्मिक शक्ति के बल से यह अघटन घटित होता है, आध्यात्मिक शक्ति ही बाहुबल को तुच्छ कर मानवजाति को यह बतलाती है कि यह जगत् भगवान् का राज्य है, अंध स्थूल प्रकृति का लीलाक्षेत्र नहीं। शुद्ध आत्मा है शक्ति का मूल स्रोत, जो आद्याप्रकृति आकाश में असंख्य सूर्यों को घुमाया करती है, अंगुलीस्पर्शद्वारा पृथ्वी को हिलाकर मानवसृष्ट अतीत के गौरव-चिह्नों का ध्वंस करती है, वह आद्याप्रकृति है शुद्ध आत्मा के अधीन।

वह प्रकृति असंभव को संभव करती है, मूक को वाचाल, पंगु को गिरि-लंघन की शक्ति देती है। सारा जगत् है उस शक्ति की सृष्टि। जिसकी आध्यात्मिक शक्ति विकसित होती है उसकी विजय के उपकरण स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं, बाधा-विपत्तियां स्वयं ही दूर हो अनुकूल अवस्था ले आती हैं, कार्य करने की क्षमता स्वयं ही प्रस्फुटित हो तेजस्विनी और क्षिप्रगतिवाली होती हैं। यूरोप आजकल इस soul-force या आत्मशक्ति का आविष्कार कर रहा है, अभी भी उसमें उसका पूर्ण विश्वास नहीं, उसके भरोसे कार्य करने की प्रवृत्ति उसमें नहीं। किंतु भारत की शिक्षा, सभ्यता, गौरव, बल और महत्त्व का मूल यह आध्यात्मिक शक्ति ही है। जब-जब लोगों को यह विश्वास होने लगा कि भारत के विनाश का काल निकट आ गया है, तब-तब आध्यात्मिक शक्ति ने गुप्त मूल स्रोत से तीव्र गति के साथ प्रवाहित हो मुमूर्षु भारत को पुनरुज्जीवित किया है और सभी उपयोगी शक्तियों की सृष्टि भी की है। अभी भी वह मूल स्रोत सूख नहीं गया है, आज भी उस अद्भुत मृत्युंजय शक्ति की क्रीड़ा हो रही है।

किंतु स्थूल जगत् की सभी शक्तियों का विकास समयसापेक्ष होता है, अवस्था के उपयुक्त क्रमानुसार, समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह घटता-बढ़ता अंत में पूर्णरूपेण सफल होता है। हमारे अंदर भी वही हो रहा है। अभी पूर्ण भाटे का समय है, हम ज्वार के मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे हैं। महापुरुषों की तपस्या, स्वार्थत्यागियों का कष्ट-स्वीकार, साहसियों का आत्मविसर्जन, योगियों की योगशक्ति, ज्ञानियों का ज्ञानसंचार, साधुओं की शुद्धता ही है आध्यात्मिक शक्ति का मूल स्रोत। एक बार नाना प्रकार के इन पुण्यों ने भारत को संजीवनी सुधा में डुबा मृत जाति को जीवित, बलिष्ठ और तेजस्वी बनाया था, फिर से वही तपोबल अपने अंदर निरुद्ध होने के कारण अदम्य, अजेय बन बाहर निकलने के लिये उद्यत हुआ है। इन कुछ वर्षों के निपीड़न, दुर्बलता और पराजय के फलस्वरूप भारतवासी अपने अंदर शक्ति का मूल स्रोत निकालना सीख रहे हैं। वक्तृता की उत्तेजना से नहीं, म्लेच्छदत्त विद्या से नहीं, सभा-समिति की भावसंचारिणी शक्ति से नहीं, समाचारपत्रों की क्षणस्थायी प्रेरणा से नहीं अपितु अपने अंदर आत्मा की विशाल नीरवता में भगवान् और जीवन के मिलन से जो गभीर, अविचलित, अभ्रांत, शुद्ध सुख-दुःख-विजयी, पाप-पुण्यवर्जित शक्ति संभूत होती है, वही महासृष्टिकारिणी, महाप्रलयंकरी, महास्थितिशालिनी, ज्ञानदायिनी महासरस्वती, ऐश्वर्यदायिनी महालक्ष्मी, शक्तिदायिनी महाकाली, वही सहस्रतेजसंयोजन द्वारा एकीभूत चण्डी प्रकट हो भारत के कल्याण और जगत् के कल्याण के लिये प्रयास करेगी। भारत की स्वाधीनता है गौण उद्देश्य-मात्र, मुख्य उद्देश्य है भारत की सभ्यता की शक्ति को दिखाना और जगत्-भर में उस सभ्यता को फैला उसका आधिपत्य स्थापित करना। अगर हम पाश्चात्य सभ्यता के बल पर, सभा-समिति के बल पर, वक्तृता के जोर से, बाहुबल से स्वाधीनता या स्वायत्त शासन प्राप्त कर सकते तो उससे वह

मुख्य उद्देश्य साधित न होता। भारतीय सभ्यता के बल पर, आध्यात्मिक शक्ति द्वारा सृष्ट सूक्ष्म और स्थूल उपायों से स्वाधीनता प्राप्त करनी होगी। इसीलिये भगवान् ने हमारे पाश्चात्य-भावापन्न आंदोलन को नष्ट कर बहिर्मुखी शक्ति को अंतर्मुखी कर दिया है। ब्रह्मबांधव उपाध्याय ने दिव्य दृष्टि से जो कुछ देखा था, उसे देखकर बार-बार वह कहते थे, शक्ति को अंतर्मुखी करो, परंतु समय के फेर से उस समय कोई उसे कर न सका, स्वयं भी न कर सके, किंतु उसे ही आज भगवान् ने स्वयं कर दिया है। भारत की शक्ति अंतर्मुखी हो गयी है। जब फिर बहिर्मुखी होगी तब फिर वह स्रोत नहीं मुड़ेगा, कोई उसे रोक नहीं सकेगा। वह त्रिलोकपावनी गंगा भारत को परिप्लावित कर, पृथ्वी को परिप्लवित कर ले आयेगी अपने अमृतस्पर्श से जगत् में नूतन यौवन।

हमारी निराशा

हमारी आशा क्या है पहले लिख चुका हूं। आज लिख रहा हूं अपनी निराशा के बारे में। भगवान् की कृपा पर निर्भर है हमारी आशा। आध्यात्मिक शक्ति की वृद्धि से हम बलवान्, तेजस्वी व सहायक हो राष्ट्रीय उत्कर्ष, स्वाधीनता और महानता प्राप्त करेंगे। जो पथ और उपाय मैंने निर्धारित किया था उसकी वर्तमान सफलता के बारे में हम निराश हैं। हमने आशा की थी कि वैध और निर्दोष साधनों का सहारा ले साहस, दृढ़ता, शांति के साथ राष्ट्रीय आंदोलन को पुनः प्रेरित कर और उसे सुपथ पर चला हम दो अति आवश्यक लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। पहला, लोगों के मन में वैध पथ की श्रेष्ठता और सफलता पर पूरा विश्वास जगा, गुप्त हत्याएं और जोर-जुल्म की ओर जो आज के युवक खिंचे चले जा रहे हैं उसे रोक सकेंगे। दूसरा, वैध प्रतिरोध और सत्य उपायों द्वारा दो राष्ट्रों के हितार्थ संघर्षजनित युद्ध चलाने की आवश्यकता का सरकारी कर्मचारियों को हृदयंगम करा राष्ट्र की उन्नति करना और क्रमशः राष्ट्र की स्वाधीनता प्राप्त करना। हमें अब भी विश्वास है कि इन साधनों की सहायता से दोनों ही लक्ष्य सिद्ध होंगे। किंतु ये एक तरह से असाध्य हो उठे हैं।

पहली कठिनाई है लोगों में अनास्था और उत्साह के अभाव की। वैध प्रतिरोध द्वारा हम उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेंगे—प्रौढ़ों में यह विश्वास है। मध्यपंथियों में अनुमोदित उपायों पर से सभी आस्थाएं लुप्त हो गयी हैं। पर इससे क्या होता है—सरकार हमें वैध उपायों द्वारा कुछ भी करने नहीं देगी। जब कानून बनाने का पूर्ण अधिकार सरकार के हाथ में है, जज, मजिस्ट्रेट, पुलिस उनके गुलाम हैं, देशवासियों के प्रभु हैं तब कोई भी वैध आंदोलन मुमकिन नहीं। हमने देखा है कि इस सिद्धांत का इतना प्राबल्य है कि वैध आंदोलन और वैध प्रतिरोध का चलते रहना संभव नहीं। लोगों में आस्था नहीं, श्रद्धा नहीं। श्रद्धारहित कर्म व्यर्थ हैं। उसके फल *'न चैवामुत्र नो इह'*। वैध आंदोलन के लिये चाहिये स्वतंत्र विचार और स्वतंत्र सिद्धांत का प्रकाशन और प्रतिष्ठा। नहीं तो आंदोलन संभव नहीं। सभा-समितियों को स्वाधीन अधिकार होना चाहिये, 'सभा रोको' कानून की घोषणा से वह अधिकार छीन लिया गया है। पत्रों में आजाद विचारों को प्रकाशित करने का अधिकार चाहिये, वह भी राजद्रोह के कानून के कारण सत्वर छीन लिया जायेगा। स्थायी सभा संगठित करने और उस सभा की कर्म-तत्परता के लिये स्वाधीन विचार की प्रतिष्ठा का अधिकार चाहिये, वे सब बिना कारण सभा-समिति को बंद करने के कानून द्वारा छीन लिये गये हैं। बचा क्या रहा ? मन ही मन स्वाधीन चिंतन का पोषण करना भी विपत्ति को निमंत्रण देना है क्योंकि बिना कारण हैं खाना-तलाशी, झूठे संदेहवश गिरफ्तारी, बिना अभियोग निर्वासन। हर स्वाधीनता-प्रेमी के पथ में ये तीन विपदाएं सदा ग्रसने को तैयार। ऐसे माहौल में आंदोलन करना एक तरह से कानूनन निषिद्ध है। निर्जीव आंदोलन निरर्थक

है और जीवन्त आंदोलन अवैध। अतः लोग आंदोलन करने से कतराते हैं।

दूसरी बाधा—क्रांतिकारियों की अदमनीय उद्दाम चेष्टा। हम जिससे रुक जाते हैं उससे क्रांतिकारियों में और भी तेज और उत्साह सिर उठाने लगते हैं। जितना ही निपीड़ित करो उतना ही वे सिर पर कफन बांध दौड़े आते हैं। आशु विश्वास की हत्या के बाद वह अशान्ति प्रायः बुझ-सी गयी थी। नये चीफ जस्टिस के सुविचार से, रिफॉर्म के गुंजन से, हुगली के राष्ट्रीय पक्ष के पुनरुत्थान से लोगों के मन में आशा जगी थी कि फिर से शायद वैध तरीके से राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य से आंदोलन चलाने की सुविधा दी गयी है। पर उस आशा की किरणें गहन अंधकार में खो गयी हैं। इधर राजनीतिक डकैतियों के कारण देश-भर में धड़-पकड़ और खानातलाशी से विप्लवियों के तेज और आशाएं उद्दीप्त हुई हैं। नासिक में खून, पूर्वी बंगाल में रेल में गोलियों का चलना, हाईकोर्ट में शमसुल आलम की हत्या। इस तरह की नयी-नयी घटनाएं हर रोज घट रही हैं। कहां होगा इसका अंत ? पहला फल, सरकारी कर्मचारी देश-भर के लोगों पर क्षुब्ध हो उठे हैं। आंदोलन के अवशिष्ट वह्नि-स्फुलिंग को बुझाने के लिये बद्ध-परिकर हैं। दमनचक्र बढ़ जाने से गुप्त हत्याएं बढ़ गयी हैं और गुप्त हत्या की वृद्धि से दमन की वृद्धि। इस सिलसिले का अंत कहां ? सरकारी कर्मचारियों का विवेकहीन क्रोध, क्रांतिकारियों की विवेचनाहीन उन्मत्तता इन दो शक्तियों के संघर्ष के दो पाटों के बीच पड़ हमारा आंदोलन पिसता चला जा रहा है।

ऐसी स्थिति में क्या करें ? गवर्नमेंट की इच्छा है कि हम चुप रहें, निश्चेष्ट रहें, जनता अब आवाज उठाना नहीं चाहती, चेष्टा भी नहीं करना चाहती। ऐसे में नीरव और निश्चेष्ट रहना ही श्रेयस्कर है। अंग्रेज सरकार यह मानती है कि इसका दायित्व राष्ट्रीय पक्ष के संवाद-पत्रों और भाषणों पर है, इन्हें यदि जब्त कर सकें तो क्रांति की चेष्टा स्वतः ही थम जायेगी। तो ऐसा ही हो। हम रुक गये हैं, नीरव, निश्चेष्ट बन गये हैं। देखें तुम्हारे अभियोग सच हैं न झूठ ? कुछ दिन के लिये राजनीतिक चर्चा का त्याग करते हैं। भारत की आध्यात्मिक शक्ति को, भारत के चिंतन की गभीरता को कर्मक्षेत्र में उतार लाने का प्रयास करें।

प्राच्य और पाश्चात्य

हमारे देश और यूरोप में प्रधान भेद यह है कि हमारा जीवन अंतर्मुखी है और यूरोप का बहिर्मुखी। हम भाव का आश्रय ले पाप-पुण्य इत्यादि का विचार करते हैं और यूरोप कर्म का आश्रय लेकर पाप-पुण्य इत्यादि का विचार करता है। हम भगवान् को अंतर्यामी और आत्मस्थ मान उन्हें अपने भीतर खोजते हैं और यूरोप भगवान् को जगत् का राजा समझ उन्हें बाहर देखता और उपासना करता है। यूरोप का स्वर्ग स्थूल जगत् में है, पृथ्वी का ऐश्वर्य, सौंदर्य, भोगविलास उसके लिये आदरणीय और अन्वेषणीय है; यदि वह अन्य स्वर्ग की कल्पना करता है तो वह इस पार्थिव ऐश्वर्य, सौंदर्य, भोगविलास की ही प्रतिमूर्ति होता है, उसके भगवान् हमारे इन्द्र के समान हैं, पार्थिव राजा की तरह रत्नमय सिंहासन पर बैठ, हजारों वंदनाकारियों की स्तुति से फूल विश्व का साम्राज्य चलाते हैं। हमारे शिव परमेश्वर हैं, फिर भी भिक्षुक, पागल, भोलानाथ; हमारे कृष्ण बालक हैं, हास्यप्रिय, रंगमय, प्रेममय; क्रीड़ा करना है उनका धर्म। यूरोप के भगवान् कभी नहीं हंसते, क्रीड़ा नहीं करते, ऐसा करने से उनका गौरव नष्ट होता है, उनका ईश्वत्व चला जाता है। वही बहिर्मुखी भाव है इसका कारण—ऐश्वर्य का चिह्न है उसके ऐश्वर्य का आधार, चिह्न देखे बिना उसे वस्तु नहीं दिखायी पड़ती, उसे दिव्य-चक्षु प्राप्त नहीं, सूक्ष्म-दृष्टि नहीं, सब है स्थूल। हमारे शिव भिक्षुक हैं, किंतु तीनों लोकों का सारा धन और ऐश्वर्य थोड़े में ही साधकों को दे देते हैं—वह भोलानाथ हैं, किंतु ज्ञानियों के लिये जो अप्राप्य ज्ञान है वह है उनकी स्वभावसिद्ध संपत्ति। हमारे प्रेममय, रंगप्रिय श्यामसुंदर कुरुक्षेत्र के नायक हैं, जगत् के पिता, अखिल ब्रह्माण्ड के सखा और सुहृद्। भारत का विराट् ज्ञान, तीक्ष्ण सूक्ष्म दृष्टि, अप्रतिहत दिव्य चक्षु स्थूल आवरण को भेद आत्मस्थ भाव, वास्तविक सत्य, अंतर्निहित गूढ़तत्त्व बाहर निकाल लाता है।

⁂

पाप-पुण्य के विषय में भी यही क्रम दिखायी देता है। हम अंतर का भाव देखते हैं। निंदित कर्म के अंदर पवित्र भाव, बाह्य पुण्य के अंदर पापिष्ठ का स्वार्थ छिपा रहता है; पाप-पुण्य, सुख-दुःख मन का धर्म, कर्म आवरण-मात्र हैं। हम यह जानते हैं; हम सामाजिक सुश्रृंखला के लिये बाह्य पाप-पुण्य को कर्म का प्रमाण समझ उसका अनुसरण करते हैं, किंतु अंतर का भाव ही हमारे लिये आदरणीय होता है। जो संन्यासी आचार-विचार, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य के परे चले जाते हैं, जो जड़ोन्मत्त-पिशाचवत् आचरण करते हैं, उन्हीं सर्वधर्मपरित्यागी पुरुष को हम श्रेष्ठ कहते हैं, पाश्चात्य बुद्धि इस तत्त्व को ग्रहण करने में असमर्थ होती है; जो जड़वत् आचरण

करता है उसे वह जड़ समझती है, जो उन्मत्तवत् आचरण करता है उसे विकृतमस्तिष्क समझती है, जो पिशाचवत् आचरण करता है उसे घृणित, अनाचारी पिशाच समझती है, कारण सूक्ष्म दृष्टि नहीं है, वह अंतर का भाव देखने में असमर्थ होती है।

⁂

उसी तरह बाह्य दृष्टिपरवश हो यूरोप के पंडित यह कहते हैं कि भारत में प्रजातंत्र किसी भी युग में नहीं था। प्रजातंत्रसूचक कोई भी बात संस्कृत भाषा में नहीं पायी जाती, आधुनिक पार्लियामेण्ट की तरह कोई कानून बनानेवाली सभा भी नहीं थी, प्रजातंत्र का कोई बाहरी चिह्न नहीं मिलने से प्रजातंत्र का अभाव सिद्ध होता है। हम भी इस पाश्चात्य युक्ति को यथार्थ मानते आ रहे हैं। परंतु हमारे प्राचीन आर्य-राज्य में प्रजातंत्र का अभाव नहीं था; प्रजातंत्र के बाहरी उपकरण अपूर्ण अवश्य थे, किंतु प्रजातंत्र का भाव हमारे समस्त समाज और शासनतंत्र के अंदर व्याप्त हो रहा था और प्रजा का सुख और देश की उन्नति साधित करता था। पहले तो प्रत्येक गांव में पूर्ण प्रजातंत्र था, गांव के लोग सम्मिलित हो, सर्वसाधारण के परामर्श से, वृद्ध तथा नेतृस्थानीय पुरुषों के अधीन रहते हुए गांव की व्यवस्था, समाज की व्यवस्था किया करते थे; यह ग्राम्य प्रजातंत्र मुसलमानों के अमल में अक्षुण्ण बना रहा, ब्रिटिश शासनतंत्र के निष्पेषण से वह अभी उस दिन ही नष्ट हुआ है। दूसरे, प्रत्येक छोटे-छोटे राज्यों में भी, जहां सर्वसाधारण को सम्मिलित करने की सुविधा थी, वैसी ही प्रथा विद्यमान थी, बौद्ध साहित्य में, ग्रीक इतिहास में, महाभारत में इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है। तीसरे, बड़े-बड़े राज्यों में, जहां ऐसे बाहरी उपकरण का होना संभव नहीं था, वहां प्रजातंत्र का भाव राजतंत्र को परिचालित करता था। प्रजा की कानून बनानेवाली सभा नहीं थी, परंतु राजा को भी कानून बनाने का या प्रचलित कानून को बदलने का लेशमात्र भी अधिकार नहीं था। प्रजा जिस आचार-व्यवहार, रीति-नीति, कानून-कायदे को पहले से मानती आती थी, उसी की रक्षा राजा करता था। ब्राह्मण आधुनिक वकील और जज की तरह राजा को प्रजा-अनुष्ठित नियम समझाते, संशय होने पर निर्णय करते, क्रमशः जो परिवर्तन दिखायी देता उसे शास्त्र के रूप में लिपिबद्ध करते। शासन का भार राजा पर ही था, किंतु वह क्षमता भी कानून की कठोर जंजीर से बंधी हुई थी; उसके अतिरिक्त यह नियम था कि राजा वही कार्य करेंगे जिसे प्रजा अनुमोदित करेगी, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करेंगे जिससे प्रजा को असंतोष हो; इस राजनीतिक नियम को सभी मानते और तदनुसार आचरण करते थे। अगर राजा इस नियम को भंग करते तो प्रजा राजा को मानने के लिये बाध्य नहीं थी।

⁂

प्राच्य और पाश्चात्य का एकीकरण है इस युग का धर्म। परंतु इस एकीकरण में यदि हम पाश्चात्य को आधार या मुख्य अंग बनावें तो हम भयानक भूल करेंगे। प्राच्य ही आधार है, प्राच्य ही है मुख्य अंग। बहिर्जगत् अंतर्जगत् पर प्रतिष्ठित है, अंतर्जगत् बहिर्जगत् पर प्रतिष्ठित नहीं। भाव और श्रद्धा हैं कर्म के मूल स्रोत, भाव और श्रद्धा की रक्षा करनी होगी, पर शक्ति प्रयोग और कर्म के बाहरी आकार और उपकरण में आसक्त नहीं होना चाहिये। पाश्चात्य लोगों को प्रजातंत्र के बाहरी आकार और उपकरण से ही फुर्सत नहीं। भाव को प्रस्फुटित करने के लिये हैं बाहरी आकार और उपकरण; भाव आकार का गठन करता है, श्रद्धा उपकरण का सृजन। परंतु पाश्चात्य लोग आकार और उपकरण में कुछ ऐसे आसक्त हो गये हैं कि वे इस बात को देख ही नहीं पाते कि उस बाहरी प्राकट्य के अंदर भाव और श्रद्धा दम तोड़ रही हैं। आजकल प्राच्य देशों में प्रजातंत्र का भाव और श्रद्धा प्रबल वेग से प्रस्फुटित हो बाहरी उपकरण का सृजन कर रहे हैं, बाह्य आकार का गठन कर रहे हैं, परंतु पाश्चात्य देशों में यह भाव मलिन हो रहा है, वह श्रद्धा क्षीण हो रही है। प्राच्य प्रभातोन्मुख हो रहा है, आलोक की ओर दौड़ रहा है और पाश्चत्य लौट रहा है तिमिरगामी रात्रि की ओर।

⁂

इसका कारण है बाह्य आकार और उपकरण की आसक्ति से उत्पन्न प्रजातंत्र का दुष्परिणाम। प्रजातंत्र के पूर्ण अनुकूल शासनतंत्र का सृजन कर अमेरिका इतने दिन गर्व करता था कि उसके समान स्वाधीन देश जगत् में दूसरा नहीं। परंतु यदि वास्तव में देखा जाये तो वहां प्रेसिडेण्ट और कर्मचारीगण कांग्रेस की सहायता से स्वेच्छानुसार शासन करते हैं, धनी के अन्याय, अविचार और सर्वग्रासी लोभ को आश्रय देते हैं, स्वयं भी क्षमता का अपव्यवहार कर धनी होते हैं। एकमात्र प्रतिनिधियों के निर्वाचन के समय प्रजा स्वाधीन होती है, और उस समय भी धनी प्रचुर मात्रा में अर्थ व्यय कर अपनी क्षमता अक्षुण्ण बनाये रखते हैं, बाद में भी प्रजा के प्रतिनिधियों को खरीदकर इच्छानुसार अर्थशोषण करते हैं, आधिपत्य करते हैं। फ्रांस प्रजातंत्र और स्वाधीनता की जन्मभूमि है, किंतु जिन कर्मचारियों और पुलिस की सृष्टि प्रजा की इच्छा से विभिन्न शासनकार्य चलानेवाले यंत्र के रूप में हुई थी अब वे ही बहुसंख्यक, क्षुद्र, स्वेच्छाचारी राजा बनकर बैठ गये हैं, प्रजा उनके भय से कातर हो रही है। इग्लैंड में अवश्य ही ऐसा कोई विभ्राट् उपस्थित नहीं हुआ है, किंतु प्रजातंत्र की अन्यान्य विपत्तियां धीरे-धीरे बढ़ रही हैं। चंचलमति, अर्धशिक्षित प्रजा के प्रत्येक मतपरिवर्तन के कारण वहां शासनकार्य और राजनीति आलोड़ित होती है और इस कारण ब्रिटिश जाति पुरानी राजनीतिक कुशलता को खो बाहर-भीतर विपत्तिग्रस्त हो रही है। शासनकर्ता कर्तव्यज्ञानरहित हो गये हैं, वे अपने स्वार्थ और प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिये

निर्वाचकों को प्रलोभन दिखा, भय दिखा, गलत बात समझा ब्रिटिश जाति की बुद्धि विकृत कर रहे हैं, उसकी मति की अस्थिरता और चंचलता बढ़ा रहे हैं। इन सब कारणों से एक ओर तो प्रजातंत्रवाद को भूल समझ एक दल स्वाधीनता के विरुद्ध हथियार उठा रहा है तो दूसरी ओर अनार्किस्ट, सोशलिस्ट विप्लवकारियों की संख्या बढ़ रही है। इन दो दलों का संघर्ष इंग्लैंड में चल रहा है—राजनीति-क्षेत्र में; अमेरिका में श्रमजीवी और लखपतियों के विरोध से, जर्मनी में मत-संघटन से, फ्रांस में सेना और नौसेना के संग्राम से, रूस में पुलिस और हत्याकारी के संघर्ष से—सर्वत्र फैल रही है धांधली, चंचलता और अशांति।

⁂

बहिर्मुखी दृष्टि का यह परिणाम होना अनिवार्य है। कुछ दिन राजसिक तेज से तेजस्वी बन असुर महान्, श्रीसंपन्न, अजेय हो जाते हैं, पर उसके बाद अंतर्निहित दोष प्रकट होता है, सब कुछ टूट-फूटकर चूरमार हो जाता है। भाव और श्रद्धा, सज्ञान कर्म, अनासक्त कर्म जिस देश की शिक्षा का मूलमंत्र है, उसी देश में अंतर और बाह्य के, प्राच्य और पाश्चात्य के एकीकरण द्वारा समाज, अर्थनीति, राजनीति की सभी समस्याओं की संतोषजनक मीमांसा कार्यतः हो सकती है। किंतु पाश्चात्य ज्ञान और शिक्षा के अधीन हो हम वह मीमांसा नहीं कर सकते। प्राच्य पर स्थित हो पाश्चात्य को आयत्त करना होगा। अंतर में होगी प्रतिष्ठा और बाहर होगा प्रकाश। अगर हम भाव के पाश्चात्य उपकरण का अवलम्बन लेंगे तो हम संकट में पड़ेंगे, हमें अपने स्वभाव और प्राच्य बुद्धि के उपयुक्त उपकरण की सृष्टि करनी होगी।

भ्रातृत्व

आधुनिक सभ्यता के जो तीन आदर्श या चरम उद्देश्य फ्रांसीसी राष्ट्र-विप्लव के समय प्रचारित हुए थे वे साधारणतः हमारी भाषा में तीन तत्त्वों—स्वाधीनता, साम्य और मैत्री—के नाम से परिचित हैं। परंतु पाश्चात्य भाषा में जिसे 'फ्रेटर्निटी' (Fraternity) कहते हैं वह ठीक मैत्री नहीं। मैत्री मन का भाव है; जो सर्वभूत के कल्याण की इच्छा करता है, किसी का भी अनिष्ट नहीं करता, उसी दयावान्, अहिंसापरायण, सर्वभूतहितरत पुरुष को 'मित्र' कहते हैं, मैत्री है उसका मन का भाव। ऐसा भाव व्यक्ति की मानसिक संपत्ति होती है—यह व्यक्ति के जीवन और कर्म को नियंत्रित कर सकता है; पर इस भाव का राजनीतिक या सामाजिक शृंखला का मुख्य बंधन बन सकना असंभव है। फ्रांसीसी राष्ट्र-विप्लव के तीन तत्त्व व्यक्तिगत जीवन के नैतिक नियम नहीं हैं, बल्कि समाज और देश की व्यवस्था के नये रूप में गठित करने के उपयुक्त तीन सूत्र हैं, समाज की, देश की बाह्य अवस्थिति में प्रकट होनेवाले प्राकृतिक मूल तत्त्व। 'फ्रेटर्निटी' (Fraternity) का अर्थ है भ्रातृत्व।

फ्रांसीसी विप्लवकारी राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता और समता प्राप्त करने के लिये लालायित थे, भ्रातृत्व पर उनका उतना अधिक ध्यान नहीं था, भ्रातृत्व का अभाव ही था फ्रांसीसी राष्ट्रविप्लव की अपूर्णता का कारण। उस अपूर्व उत्थान के फलस्वरूप राजनीतिक और सामाजिक स्वाधीनता यूरोप में प्रतिष्ठित हुई, राजनीतिक साम्य ने भी कुछ परिमाण में, कुछ देशों के शासनतंत्र और कानून की पद्धति को अधिकृत किया। परंतु भ्रातृत्व का अभाव होने पर सामाजिक साम्य प्राप्त नहीं हो सकता; भ्रातृत्व के अभाव में यूरोप सामाजिक साम्य से वंचित रह गया। इन तीन मूल तत्त्वों का पूर्ण विकास उनके पारस्परिक विकास पर निर्भर करता है; साम्य है स्वाधीनता का आधार, साम्य के न होने पर स्वाधीनता प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। साम्य का आधार है भ्रातृत्व, भ्रातृत्व के न होने पर साम्य प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। भ्रातृ-भाव होने पर ही तो भ्रातृत्व रहेगा। यूरोप में भ्रातृभाव नहीं, यूरोप में साम्य और स्वाधीनता कलुषित, अप्रतिष्ठित और असंपूर्ण हैं—इसीलिये तो यूरोप में गड़बड़ और विप्लव नित्य की वस्तु बन गये हैं। इस गोलमाल को, विप्लव को यूरोप गर्व के साथ कहता है progress या उन्नति।

यूरोप में जितना भी भ्रातृभाव है वह है देश पर प्रतिष्ठित—हम एक देश के हैं, हमारा हिताहित एक है, एकता से राष्ट्रीय स्वाधीनता निरापद रहती है—यही ज्ञान है यूरोप की एकता का कारण उसके विरुद्ध एक और ज्ञान उठ खड़ा हुआ है, वह है : हम सब मनुष्य हैं, सब मनुष्यों को एक होना चाहिये, मनुष्य-मनुष्य में भेद अज्ञानसंभूत है, अनिष्टकर है; जातीयता भेद का कारण है, राष्ट्रीयता अज्ञानजनित है, अनिष्टकारक है, अतएव राष्ट्रीयता को त्याग मनुष्यजाति का एकत्व प्रतिष्ठित करें। विशेषतः जिस फ्रांस

में स्वाधीनता, समता और भ्रातृत्वरूपी महान् आदर्श सबसे पहले प्रचारित हुआ था उसी भावप्रवण देश में इन दो परस्पर-विरोधी ज्ञानों का संघर्ष चल रहा है। पर वास्तव में ये दोनों ज्ञान और भाव परस्पर-विरोधी नहीं। राष्ट्रीयता भी सत्य है और मानवजाति की एकता भी; इन दो सत्यों का सामंजस्य होने में ही है मानवजाति का कल्याण। यदि हमारी बुद्धि इस सामंजस्य को स्थापित करने में असमर्थ हो, अविरोधी तत्त्वों के विरोध में आसक्त हो तो उस बुद्धि को भ्रांत राजसिक बुद्धि कहना होगा।

समताशून्य राजसिक और सामाजिक स्वाधीनता से ऊब यूरोप आजकल सोशलिज़्म (समाजवाद) की ओर दौड़ रहा है। दो दल उत्पन्न हुए हैं—अनार्किस्ट और सोशलिस्ट। अनार्किस्ट (अराजकतावादी) कहते हैं—यह राजनीतिक स्वाधीनता माया है, गवर्नमेण्ट के नाम से बड़े लोगों के अत्याचार का यंत्र स्थापित कर राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा करने के बहाने व्यक्तिगत स्वाधीनता को पददलित करना है इस माया का लक्षण, अतः सब प्रकार की सरकारों को उठा दो, सच्ची स्वाधीनता स्थापित करो। कोई सरकार न होने पर स्वाधीनता और समता की रक्षा कौन करेगा, बलवान् के अत्याचार का निवारण कौन करेगा ? इस आपत्ति के उत्तर में अनार्किस्ट कहते हैं कि शिक्षा-प्रसार से पूर्ण ज्ञान और भ्रातृभाव का विस्तार करो, ज्ञान और भ्रातृभाव स्वाधीनता और समता की रक्षा करेंगे, यदि कोई भ्रातृभाव का उल्लंघन कर अत्याचार करे तो कोई भी उसे मृत्युदंड दे सकता है। सोशलिस्ट यह बात नहीं कहते; वे कहते हैं कि गवर्नमेंट रहे, गवर्नमेंट की आवश्यकता है, किंतु समाज और शासनतंत्र को पूर्णतः साम्य पर प्रतिष्ठित करो, अभी समाज और शासनतंत्र में जो दोष हैं वे सब संशोधित होंगे, मानवजाति पूर्ण सुखी, स्वाधीन और भ्रातृभावापन्न होगी। इसलिये सोशलिस्ट समाज को एक करना चाहते हैं; व्यक्तिगत संपत्ति न रह यदि समाज की संपत्ति रहे—जैसे सम्मिलित परिवार की संपत्ति किसी व्यक्ति की न हो परिवार की होती है, परिवार होता है देह और व्यक्ति देह का अंग,—तो समाज में भेद नहीं रह जायेगा, समाज एक हो जायेगा।

अनार्किस्ट की भूल यह है कि भ्रातृभाव स्थापित होने से पहले ही वह गवर्नमेंट को नष्ट करने की चेष्टा करता है। पूर्ण भ्रातृभाव स्थापित होने में अभी बहुत देर है, इस बीच शासनतंत्र उठाने का निश्चित फल होगा घोर अराजकता के कारण पशुत्व का आधिपत्य। राजा समाज का केंद्र होता है, शासनतंत्र की स्थापना से मनुष्य पशुत्व को अतिक्रम करने में सफल होता है। जब पूर्ण भ्रातृभाव स्थापित होगा तब भगवान् कोई पार्थिव प्रतिनिधि नियुक्त न कर, स्वयं पृथ्वी पर राज्य कर सबके हृदय में सिंहासन बिछा उसपर आसीन होंगे, ईसाइयों का Reign of the Saints—संतो का राज्य, हमारा सत्ययुग स्थापित होगा। मनुष्यजाति ने इतनी उन्नति अभी नहीं की है कि यह अवस्था शीघ्र ही आ सके, इस अवस्था की केवल आंशिक उपलब्धि ही संभव है।

सोशलिस्टों की भूल यह है कि वे भ्रातृत्व पर साम्य को प्रतिष्ठित न कर साम्य पर

भ्रातृत्व को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हैं। साम्यहीन भ्रातृत्व संभव है; भ्रातृत्वहीन साम्य नहीं टिक सकता, मतभेद, कलह और अधिकार की उद्दाम लालसा से वह नष्ट हो जायेगा। पहले पूर्ण भ्रातृत्व फिर पूर्ण साम्य।

भ्रातृत्व है बाहर की अवस्था—अगर हम भ्रातृभाव से रहें, यदि सबकी एक संपत्ति, एक हित, एक प्रयास हो तो वह कहलायेगा भ्रातृत्व। बाहर की अवस्था अंतर के भाव पर प्रतिष्ठित होती है। भ्रातृप्रेम से भ्रातृत्व सत्य और सजीव हो उठता है। उस भ्रातृप्रेम का भी एक आधार होना चाहिये। हम एक मां की संतान हैं, देशभाई हैं—यह भाव है एकरूप भ्रातृप्रेम का आधार; इस भाव से राजनीतिक एकता तो आ सकती है पर सामाजिक एकता नहीं। और भी गभीर स्थान में प्रवेश करना होगा, जैसे अपनी मां को अतिक्रम कर हम सब देशभाइयों की मां की उपासना करते हैं, वैसे ही देश को अतिक्रम कर जगज्जननी की उपलब्धि करनी होगी। खण्ड शक्ति को अतिक्रम कर पूर्ण शक्ति तक पहुंचना होगा। किंतु, जिस तरह भारत-जननी की उपासना करने के लिये हम शरीर की जननी को अतिक्रम करके भी उसे भूल नहीं जाते, उसी तरह जगज्जननी की उपासना करने के लिये हम भारतजननी को अतिक्रम करके भी उसे भूल नहीं जायेंगे। वे भी काली हैं—मां हैं।

धर्म ही है भ्रातृभाव का आधार। सभी धर्म यह बात कहते हैं कि हम एक हैं, भेद अज्ञान से, द्वेष से उत्पन्न हुआ है; प्रेम है सभी धर्मों की मूल शिक्षा। हमारा धर्म भी कहता है कि हम सब एक हैं, भेदबुद्धि अज्ञान का लक्षण है, ज्ञानी सबको समान दृष्टि से देखते हैं, सबके अंदर एक आत्मा के, समभाव से प्रतिष्ठित एक नारायण के दर्शन करते हैं। इसी भक्तिपूर्ण समता से विश्वप्रेम की उत्पत्ति होती है। किंतु यह ज्ञान मानवजाति के परम गंतव्य स्थान, हमारी अंतिम अवस्था में जाकर सर्वव्यापी होगा, इस बीच हमें उसकी आंशिक अनुभूति ही प्राप्त करनी होगी—भीतर, बाहर, परिवार में, समाज में, देश में, सर्वभूत में। मनुष्यजाति परिवार, कुल, देश, संप्रदाय इत्यादि की सृष्टि कर शास्त्र या नियम के बंधन द्वारा उसे दृढ़ बना इस भ्रातृत्व का स्थायी आधार स्थापित करने का प्रयास सदा से करती आ रही है। अबतक यह प्रयास विफल ही रहा है। प्रतिष्ठा है, आधार है, किंतु चाहिये भ्रातृत्व की प्राणरक्षक कोई अक्षय शक्ति जिससे वह प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रहे, वह आधार चिरस्थायी बना रहे या नित्य नया होता रहे। भगवान् ने अभीतक उस शक्ति को प्रकट नहीं किया है। वे राम, कृष्ण, चैतन्य, रामकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हो मनुष्य के कठोर स्वार्थपूर्ण हृदय को प्रेम का उपयुक्त पात्र बनाने के लिये तैयार करते आ रहे हैं। कब आयेगा वह दिन जब वे फिर से अवतीर्ण हो चिरप्रेमानंद को मानवहृदय में संचारित और प्रस्थापित कर पृथ्वी को स्वर्गतुल्य बनायेंगे ?

भारतीय चित्रविद्या

आज पाश्चात्य और प्राच्य सभी राष्ट्र यह स्वीकार करने के लिये बाध्य हुए हैं कि हमारी यह भारतजननी थी ज्ञान का, धर्म का, साहित्य का, शिल्प का अक्षय भंडार। किंतु पहले यूरोप की यह धारणा थी कि जितनी ऊंची कोटि का हमारा साहित्य और शिल्प था उतनी ही उत्कृष्ट भारतीय चित्रविद्या नहीं थी, वरन् वह थी जघन्य, सौन्दर्यहीन। हम भी पाश्चात्य ज्ञान से ज्ञानी बन, अपनी आंखों पर यूरोपीय चश्मा चढ़ा, भारतीय चित्र और स्थापत्य को देखते ही नाक सिकोड़ लेते थे और इस तरह अपनी मार्जित बुद्धि और दोषरहित रुचि का परिचय देते थे। हमारे धनियों के घर ग्रीक प्रतिमाओं और अंग्रेजी चित्रों के cast या निर्जीव अनुकरण से भर गये, साधारण लोगों के घरों की दिवालें जघन्य तैलचित्रों से सुसज्जित होने लगीं। जिस भारतीय जाति की रुचि और शिल्प चातुरी जगत् में अनुपम थी, वर्ण और रूप को ग्रहण करने में जिस भारतीय जाति की रुचि स्वभावतः ही निर्दोष थी, उसी जाति की आंखें अंधी हो गयीं, बुद्धि भाव ग्रहण करने में असमर्थ हो गयी, रुचि इटली के कुली-मजदूरों की रुचि से भी हीन हो गयी। राजा रविवर्मा भारत के श्रेष्ठ चित्रकार के रूप में विख्यात हो गये। सम्प्रति कुछ रसज्ञ व्यक्तियों के प्रयास से भारतवासियों की आंखें खुल रही हैं, उन्होंने अपनी क्षमता, अपना ऐश्वर्य समझना आरंभ कर दिया है। श्रीयुत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की असाधारण प्रतिभा की प्रेरणा से अनुप्राणित हो कुछ युवक लुप्त भारतीय चित्रकला का पुनरुद्धार कर रहे हैं, उनकी प्रतिभा के गुण से बंगाल में (साथ ही भारत में भी) नवीन युग के लक्षण दिखायी दे रहे हैं। इसके बाद, आशा है, भारत अंग्रेजों की आंखों से न देख अपनी आंखों से देखेगा, पाश्चात्य का अनुकरण छोड़ अपनी प्रांजल बुद्धि पर निर्भर रह फिर से चित्रित रूप और वर्ण द्वारा अपना सनातन भाव व्यक्त करेगा।

भारतीय चित्रविद्या के प्रति पाश्चात्य लोगों की अरुचि के दो कारण हैं। वे कहते हैं कि भारतीय चित्रकार प्रकृति (nature) का अनुकरण करने में अक्षम हैं, ठीक मनुष्य की तरह मनुष्य, घोड़े की तरह घोड़ा, पेड़ की तरह पेड़ न अंकित कर विकृत मूर्ति बनाते हैं, उनमें perspective (परिप्रेक्षण-दृश्य देखने की शक्ति) नहीं है, उनके चित्र सपाट और अस्वाभाविक लगते हैं। उनकी दूसरी आपत्ति यह है कि इन चित्रों में सुन्दर भावों और सुन्दर रूपों का नितांत अभाव होता है। यह अंतिम आपत्ति यूरोपियों के मुंह से अब नहीं सुनी जाती। हमारी पुरानी बुद्ध मूर्ति का अतुलनीय शांतभाव, हमारी पुरानी दुर्गामूर्ति में अपार्थिव शक्ति का प्राकट्य देख यूरोपियन मुग्ध और स्तंभित हो जाते हैं। जो विलायत में श्रेष्ठ समालोचक के रूप में विख्यात हैं उन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय चित्रकार भले ही यूरोप का perspective (परिप्रेक्षण) न जानें, पर भारत के perspective (परिप्रेक्षण) का जो नियम है वह बहुत सुन्दर,

पूर्ण और संगत है। यह सच है कि भारतीय चित्रकार तथा अन्यान्य शिल्पी ठीक बाह्य जगत् का अनुकरण नहीं करते; यह उनके सामर्थ्य का अभाव नहीं बल्कि उनकी चित्रकारी का उद्देश्य ही होता है बाह्य दृश्य और आकृति का अतिक्रमण कर अंतःस्थ भाव और सत्य को प्रकट करना। बाह्य आकृति इस आंतरिक सत्य का आवरण है, छद्मवेश है—इस छद्मवेश के सौंदर्य में मग्न हो हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते जो इनके अंदर छिपा है। अतएव भारतीय चित्रकारों ने जान-बूझकर बाह्य आकृति को बदल उसे आंतरिक सत्य को प्रकट करने के उपयुक्त बनाया। वे कितने सुंदर ढंग से प्रत्येक अंग तथा चारों ओर के दृश्य, आसन, वेश द्वारा मानसिक भाव या घटना के अंतर्गत सत्य को प्रकट करते हैं—यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। यही है भारतीय चित्र का प्रधान गुण, चरम उत्कर्ष।

पश्चिम बाहर के मिथ्या अनुभव में ही मग्न है, वह छाया का भक्त है; पूर्व भीतर के सत्य का अनुसंधान करता है, हम 'नित्य' के भक्त हैं। पश्चिम शरीर का उपासक है, हम आत्मा के उपासक हैं। पश्चिम नाम-रूप में अनुरक्त रहता है, हम नित्यवस्तु पाये बिना किसी भी तरह संतुष्ट नहीं होते। यह प्रभेद जिस तरह धर्म, दर्शन और साहित्य में पाया जाता है उसी तरह चित्रविद्या और स्थापत्यविद्या में भी सर्वत्र दिखायी देता है।

‘धर्म’ पत्रिका के सम्पादकीय

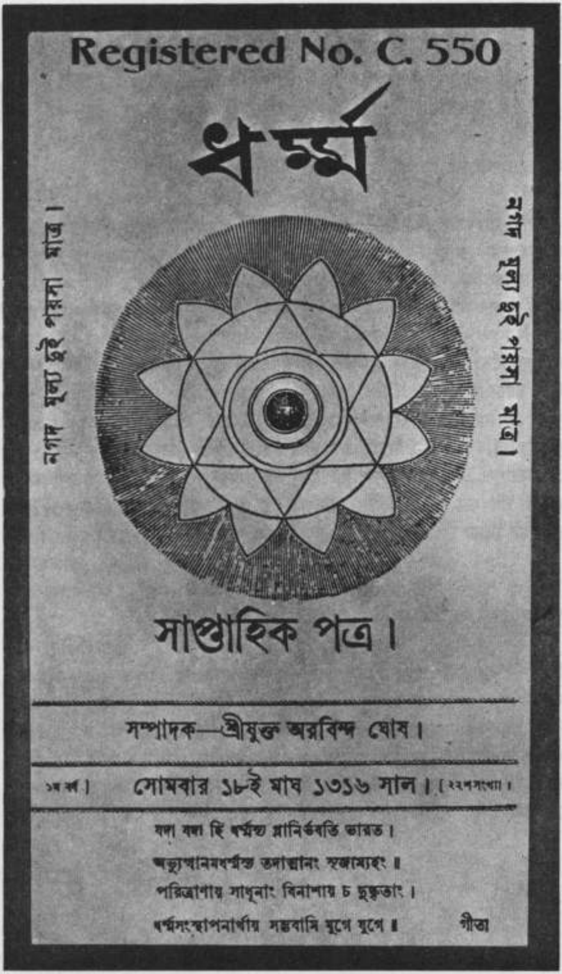

Registered No. C. 550

ধর্ম্ম

নগদ মূল্য দুই পয়সা মাত্র।

নগদ মূল্য দুই পয়সা মাত্র।

সাপ্তাহিক পত্র।

সম্পাদক—শ্রীযুক্ত অরবিন্দ ঘোষ।

১ম বর্ষ। সোমবার ১৮ই মাঘ ১৩১৬ সাল। ২২শ সংখ্যা।

যদা যদা হি ধর্ম্মস্য গ্লানির্ভবতি ভারত।
অভ্যুত্থানমধর্ম্মস্য তদাত্মানং সৃজাম্যহং॥
পরিত্রাণায় সাধূনাং বিনাশায় চ দুষ্কৃতাং।
ধর্ম্মসংস্থাপনার্থায় সম্ভবামি যুগে যুগে॥ গীতা

'धर्म' पत्रिका के सम्पादकीय

धर्म
अंक १
भाद्र ७, १३१६*

प्रादेशिक कांग्रेस का अधिवेशन

प्रादेशिक कांग्रेस का अधिवेशन होने ही वाला है। पिछले साल पाबना-अधिवेशन में बंगाल के समवेत प्रतिनिधियों ने बंबई-नीति का वर्जन कर बंगाल में एकता की रक्षा की थी। हमारा विश्वास है कि हुगली-अधिवेशन में भी उसी शुभ पथ का अनुसरण किया जायेगा। यह सुनकर खुशी हुई कि हुगली की अभ्यर्थना-समिति पाबना के सब प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए इस अधिवेशन के प्रस्तावों की रचना करने में सचेष्ट है। विशेष आवश्यक विषय दो ही हैं। आजकल राजनीतिक बॉयकाट (बहिष्कार) का वर्जन कर नमक-चीनी के बॉयकाट को ही बचाये रखने का विशेष आग्रह अनेक विज्ञजनों के मन में उपजा है। आशा है यह विज्ञता बंगाल के प्रतिनिधिवर्ग को प्रिय न हो सर्वसम्मति से अस्वीकृत होगी। द्वितीय आवश्यक विषय है राष्ट्रीय कांग्रेस। पाबना में इस संबंध में जो प्रस्ताव पारित हुआ था वह प्रस्ताव ही बना रह गया, उसे कार्यान्वित करने की कोई चेष्टा नहीं हुई। इस बार सारे बंगाल का मत और आकांक्षा जिससे उपेक्षित न हो ऐसी व्यवस्था करना है प्रादेशिक कांग्रेस का प्रधान कर्तव्य।

अशोक नंदी की परलोक यात्रा

अलीपुर बम-केस में अभियुक्त युवक अशोक नंदी क्षयरोग से देहमुक्त हो गये। क्षयरोग का एकमात्र कारण है जेल-यातना। जो इस युवक को पहचानते हैं वे जानते हैं कि अशोक नंदी का किसी भी हत्याकांड या षड्यंत्र में हाथ होना नितांत असंभव है। वे अतिशय शांत, निरीह, धार्मिक व प्रेमधर्म-परायण थे। जेल में योगपथ पर काफी प्रगति कर मृत्यु के समय योगारूढ़ अवस्था में ही भगवान् का नाम स्मरण करते-करते उन्होंने धराधाम का परित्याग किया। उनका थोड़ा-बहुत परिचय और कभी दिया जायेगा।

---

* अगस्त २३, १९०९

हेअर स्ट्रीट में सरलता

हेअर स्ट्रीट-निवासी अपने सहयोगी की सरलता देख हमें हर्ष हुआ। सहयोगी को अपनी राय देने में लुकाव-छिपाव की आदत नहीं। सत्य बात कहनी हो तो सरल बालक की तरह कह देगा; यदि झूठ कहने की आवश्यकता हुई तो झूठ-सच को न मिला बालक की तरह उदार भाव से सारा का सारा झूठ बोल उठेगा। उस दिन किचनर के सैन्य-सुधार को ले पार्लियामेंट में वाद-विवाद हुआ था। उस उपलक्ष में स्वनाम धन्य सर एडविन कॉलिन ने इस मत की घोषणा की कि इस सैन्य-संस्कार से भारत की जो राष्ट्रीय सेना सृष्ट और गठित हुई है, इससे भारत के राष्ट्रीय दल के उद्देश्य को पोषण और सहायता मिली है। अंग्रेजों ने भी इसमें हां में हां मिलायी है। सैन्यसंगठन में भेदनीति अबतक सयत्न रक्षित होती आ रही है, पलटन-पलटन में जिससे सहानुभूति व एकता न उपजे, भारत की भिन्न-भिन्न जातियों के हृदय में एकप्राणता न आ घुसे, ऐसी चेष्टा व लक्ष्य कभी भी परिवर्जित नहीं हुआ। लार्ड किचनर ने इन सभी भेदों को मिटा ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान-स्तंभ को उखाड़ फेंका है। यहां सहयोगी ने स्वीकारा है कि अब का स्वेच्छा-तंत्र भारत की राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल और विरोधी था। एकता के अभाव में भारत को उन्नति की राह नहीं मिल रही थी। अतएव जो स्वेच्छा-तंत्र अपने प्रधान पृष्ठ-पोषक के कथनानुसार देश की उन्नति के प्रतिकूल प्रमाणित हुआ है उसी स्वेच्छा-तंत्र को वैध साधनों से प्रजातंत्र में परिणत करने की चेष्टा भारतीयों के लिये दोषावह न हो स्वाभाविक एवं अनिवार्य है और जैसे भारत के लिये वैसे ही विलायत के लिये मंगलप्रद प्रमाणित की गयी है।

विलायत-यात्रा से लाभ

हमारे परम पूजनीय देशनायक व श्रेष्ठ वक्ता श्रीयुत सुरेंद्रनाथ बन्द्योपाध्याय विलायत में विशेष सम्मानित हो वापिस आये हैं। उस सम्मान-लाभ से हम भी प्रसन्न हुए। हमारे वक्ता ने अंग्रेजी में विलायत के श्रेष्ठ वाग्मियों की तरह प्रतिभा, भाषा-लालित्य और ओज दिखा विपक्षियों की प्रशंसा और सम्मान पाया है, इससे देश का गौरव बढ़ा और प्रमाणित हुई बंगालियों की बुद्धि की श्रेष्ठता। पर इतने परिश्रम का फल यदि व्यक्तिगत सम्मान में ही सीमाबद्ध रह जाये तो कहना पड़ेगा कि सुरेंद्रबाबू की विलायत-यात्रा व्यक्ति के लिये संतोषजनक होने पर भी देश के लिये विफल चेष्टा है। हम अंग्रेजों से बुद्धि-प्रशंसा और वाग्मिता का आदर पाने के लिये व्यग्र नहीं, हम चाहते हैं राष्ट्र का सारा अधिकार वसूल करना। सुरेंद्रबाबू के तीन माह के प्रवास से और ढेर सारी वक्तृताओं से अंग्रेज जाति इस उद्देश्य की ओर किंचित् भी अनुकूल

हुई हो इसका कोई लक्षण नहीं दीखता। वे मध्यपंथी दल की राजभक्ति के बारे में थोड़ा-बहुत आश्वत-भर हो गये हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे सुरेंद्रबाबू मध्यपंथी दल के कृतज्ञता-भाजन व धन्यवाद के योग्य बन गये। किंतु वे विलायत में देश की प्रसूत सेवा व उपकार कर लौटे हैं इस बहाने उनका जो नानाविध सम्मान हो रहा है वह है निर्मूल। सुरेंद्रनाथ बाबू पूजार्ह और सम्माननीय हैं इसलिये विदेश से लौटने पर उनकी पूजा और सम्मान करना स्वाभाविक व प्रशंसनीय है, अन्य कोई अलीक कारण दिखाने की जरूरत नहीं थी। देश-सेवा करते-करते विलायत में वे हमारे राजनीतिक अधिकार का दावा जता आये हैं। उपकार के दौरान आंदोलन के बारे में कुछ एक लोगों के व्यक्तिगत मत अल्प मात्रा में संशोधित हो भी सकते हैं। इस अल्प लाभ से हम अपने राजनीतिक उद्देश्य की ओर पग-भर भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

लंदन में राष्ट्रीय कांग्रेस

श्रीयुत सुरेंद्रनाथ यौवनकाल से उन्नीसवीं शताब्दी की निवेदन-प्रधान कातर राजनीति के अभ्यस्त हैं। जगह-जगह अंग्रेजों का "जय-जयकार" सुन पुनः उसी नीति में विश्वास स्थापन और निवेदन-प्रवृत्ति को पुनरुज्जीवित करने की उनकी चेष्टा है इस विदेश-यात्रा का अनिवार्य फल। अब प्रश्न उठता है, श्रीयुत सुरेंद्रबाबू जो कुछ भी करें, देशवासी, विशेषतः बंगाली उनकी इस व्यर्थ चेष्टा में सहयोग देने को तैयार हैं क्या ? किसी भी व्यक्तिगत मत द्वारा यह जाति अब और परिचालित नहीं हो सकती। उद्देश्य, प्रयोजन और युक्ति को दृष्टि में रखते हुए देश के लिये जो कल्याणकर, राजनीति क्षेत्र में जो सिद्धिदायक, शक्ति व अर्थव्यय के हिसाब से जिसका फल संतोषजनक हो, वही है हमारे लिये अनुष्ठेय। सुरेंद्रबाबू जिस "जयजयकार" पर गलत विश्वास कर पुराने पथ पर लौट जाने के लिये व्याकुल हो रहे हैं वह है उनकी असाधारण वाग्मिता की प्रशंसा; वह उनके राजनीतिक मत का समर्थक या राजनीतिक दावे का अनुकूलताप्रकाशक नहीं। भारत की उन्नति के लिये मुख्य विरोधियों ने भी इस "जय-जयकार" में उच्च कण्ठ से योग दिया है। इससे क्या यह समझा जाये कि भविष्य में वे हमारे स्वायत्त-शासन या स्वाधीनता के अनुकूल आचरण करेंगे ? यह कदापि संभव नहीं। इस वाग्मिता के प्रभाव से उनके मत और आचरण में थोड़ा भी परिवर्तन नहीं आया। यदि सुरेंद्रबाबू की वक्तृता से कोई विशेष या स्थायी फल नहीं हुआ तो क्या गोखले, मेहता, मालवीय, कृष्णस्वामी के मिलित वक्तृतास्रोत से अंग्रेजों का कठिन मन इतना द्रवित हो जाने की आशा है कि इस भूत श्राद्ध में हम अपरिमित धन बहाने के लिये बाध्य हों ? अंग्रेज जाति है कार्यपटु व विचक्षण, उसे केवल भाषण से नहीं बहलाया जा सकता, स्वार्थ और देश का हित देख वह राजनीतिक पथ

निर्धारित करती है। पहले हम समझते थे कि उनके सामने भारत का दुःख, कर्मचारियों का अत्याचार ज्ञापन कर सकने से ब्रिटिश प्रजातंत्र की एक बात पर आकाश से स्वर्ग टपक पड़ेगा। यह भ्रांति छू-मंतर हो गयी है, फिर कोई उसी पुराने मोह को जगाने की चेष्टा न करे, चेष्टा करने पर भी देश नहीं सुनने का। अंग्रेजों को भला हम ऐसा कौन-सा बृहत् स्वार्थ दिखा सकते हैं जिससे वे अपना राष्ट्रीय गर्व, लाभ और प्रभुत्व छोड़ कालीजाति के राष्ट्र के हाथ विजित देश का सारा शासन-भार सौंप दे सकते हैं और कैसे उस बृहत् स्वार्थ की प्रयोजनीयता उन्हें हृदयंगम हो सकती है—यही है विवेचनीय। साम्राज्य-रक्षा से बढ़कर दूसरा कोई बृहत् स्वार्थ नहीं। साम्राज्य-रक्षा की आशा से स्वायत्त-शासन दे देना अंग्रेजी राजनीति में कोई नूतन पथ नहीं, पर इस उपाय की प्रयोजनीयता जबतक उन्हें हृदयंगम नहीं हो जाती तबतक उनसे प्रकृत उपकार की आशा असंगत है। उनके मन में इस ज्ञान को जगाने का एक ही पथ है—निष्क्रिय प्रतिरोध।

धर्म
अंक २
भाद्र १४, १३१६

राष्ट्रीय कांग्रेस

जिस दिन सूरत की राष्ट्रीय कांग्रेस में बखेड़ा उठ खड़ा हुआ था, उस दिन राष्ट्रीय दल के अधिवेशन में श्रीयुत तिलक ने कांग्रेस की राष्ट्रीयता की रक्षा कर ऐक्य-स्थापना का उपाय सुझाया था और कांग्रेस के कार्य व उद्देश्य की रक्षा के लिये कमेटी नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा था। प्रस्ताव के अनुसार कमेटी गठित भी हुई थी, किंतु कमेटी का अधिवेशन आज तक नहीं हुआ। श्रीयुत अरविन्द घोष और बोडस इस कमेटी के संयोजक निर्वाचित हुए थे। उन्होंने परामर्श कर यही निर्णय किया कि बखेड़े के बारे में राष्ट्रीय दल का दोष-मार्जन करना और प्रादेशिक समितियों के अधिवेशन में भविष्य के बारे में देशवासियों का अभिमत जानना है पहला कर्तव्य। उससे पहले कमेटी बुलाना व्यर्थ है। इसी गुरुतर विषय में देशवासियों के मत की उपेक्षा कर परामर्श करना किसी भी तरह उचित या युक्तिसंगत नहीं। दो प्रादेशिक समितियों के अधिवेशन से पता चल गया कि बंगाल और महाराष्ट्र के मत में ऐक्य की स्थापना ही श्रेयस्कर है और कांग्रेस की पूर्ववर्ती प्रणाली व कलकत्ते के अधिवेशन में स्वीकृत चार मुख्य प्रस्ताव सर्वथा रक्षणीय हैं। इलाहाबाद में कन्वेंशन की कमेटी ने इस मत को अग्राह्य मान ऐक्य-स्थापना के पथ को बंद कर दिया। इसके बाद ही अलीपुर बम-केस में श्रीयुत अरविन्द घोष पकड़े गये और अभियुक्त बने। महामति

तिलक को राजद्रोह के अभियोग में ६ वर्ष का कारा-दंड मिला। श्रीयुत खापर्डे व श्रीयुत विपिन चंद्र पाल ने विलायत के लिये प्रस्थान किया। बंगाल के राष्ट्रीय दल के प्रधान-प्रधान नेता निर्वासित किये गये। देश-भर में प्रबल दमन-नीति की झंझा बहने लगी। राष्ट्रीय दल के नेताओं में नागपुर निवासी डॉक्टर मुंजे, कलकत्ते के श्रीयुत रसूल और मध्यस्थगण में पंजाब के लाला लाजपतराय और बंगाल के श्रीयुत मतिलाल घोष ही रह गये। डॉक्टर मुंजे आदि ने कलकत्ते आ ऐक्य-स्थापन के लिये काफी चेष्टा की, पर कुछ एक मध्यपंथियों के प्रतिवाद से उनके सब प्रस्ताव अस्वीकृत रह गये। राष्ट्रीय दल के नेताओं ने विफल मनोरथ हो नागपुर में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन करने का संकल्प किया। वह भी सरकार की आज्ञा से स्थगित हो गया। ऐसी अनुकूल अवस्था में कन्वेंशन व कमेटी की निर्धारित नियमावली के अनुसार मद्रास में एक कन्वेंशन हुई जिसमें राष्ट्रीय कांग्रेस नाम धारण कर बॉयकाट द्वारा बंगाल के मुंह पर चूना पोत दिया गया। बंगाल के मध्यपंथी नेताओं ने भी चुपचाप इस लांछना को सहकर सहनशक्ति की पराकाष्ठा दिखायी। इस साल लाहौर में इस कृत्रिम कांग्रेस के अधिवेशन का आयोजन चल रहा है। इस आयोजन में श्रीयुत नंदी, लाला हरकिशनलाल और पंडित रामभुजदत्त चौधरी त्रिमूर्ति बन असत् से सत् की सृष्टि कर ईश्वरीय शक्ति का लक्ष्य अभिव्यक्त कर रहे हैं। पंजाब की प्रभावशाली हिन्दूसभा वहां के हिन्दू संप्रदाय को मारले की इस कृत्रिम भेद-नीति की पक्षपाती राष्ट्रीय कांग्रेस की राष्ट्रीयता को अस्वीकारने के लिये आह्वान कर रही है; लाला लाजपतराय, लाला मुरलीधर, लाला द्वारकादास आदि संभ्रांत नेताओं ने इस आयोजन का प्रतिवाद किया है, मुसलमान संप्रदाय भी इस राज-अनुग्रह-लालित कांग्रेस में योग नहीं दे रहा। अतएव इस आयोजन की सफलता की आशा का पोषण नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में ऐक्य-स्थापना का एकमात्र आशास्थल बचा है हुगली में प्रादेशिक समिति का अधिवेशन। इस अधिवेशन में यदि ऐक्य-स्थापना की प्रकृत प्रणाली निर्धारित हो सके और बंगाल के मध्यपंथी गोखले-मेहता के आधिपत्य का परित्याग कर देश के मुखापेक्षी हो अपना पथ निर्धारित करें तो राष्ट्रीय कांग्रेस के संबंध में संबंधित संतोषजनक साधना का उद्भावन कर एकता का पथ निष्कंटक किया जा सकेगा। गोखले महाशय ने पूना के भाषण में जो देशद्रोहिता की है, उसके बाद उनकी बातों में आ देश का अहित करना बंगाल के नेताओं के लिये बड़ी लज्जा की बात होगी। बंबई के नेता जो बॉयकाट व वैध प्रतिरोध का दमन करने के लिये कृतनिश्चय हैं, उसके संबंध में फिर किस बुद्धिमान् को संदेह रह सकता है? सुरेंद्रबाबू ने विलायत में बॉयकाट का समर्थन किया था जान बंबई के नेतागण इतने विरक्त हुए कि विलायत से उनके लौटने पर श्रीयुत वाच्छा को छोड़ एक भी सुप्रसिद्ध मध्यपंथी सुरेंद्रबाबू की अभ्यर्थना करने नहीं गये। उन्होंने शायद बॉयकाट नीति के प्रति अपनी सहानुभूति का अभाव प्रदर्शित करने के लिये बंगाल के ऐसे मध्यपंथी नेता को अपदस्थ किया है।

लाहौर की सभा राष्ट्रीय सभा भी नहीं, मध्यपंथी दल की कांग्रेस भी नहीं, वह है बॉयकाट-विरोधी सरकारी कर्मचारियों के भक्तों की कांग्रेस। जो भी हो, राष्ट्रीय दल हुगली के अधिवेशन होने तक राह देखेंगे, तब फिर अपना गंतव्य पथ निर्धारित करेंगे। हम अब और परमुखापेक्षी हो निश्चेष्ट नहीं बने रहेंगे।

हिन्दू और मुसलमान

शासन-सुधार से हिन्दुओं और मुसलमानों के स्वतंत्र अस्तित्व का अवलंबन ले विरोध को बद्धमूल करने की चेष्टा से अनिष्ट में भी जो हित हुआ है वह है निर्जीव मुसलमान संप्रदाय में जीवन-स्पंदन। वे सरकार पर दावा करना एवं असाध्य साधन की आशा का पोषण करना सीख रहे हैं। इसी में है देश का परम मंगल। उनकी आशा व्यर्थ होगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। सरकार के आचरण से इस बीच यह समझ में आ गया है। वे जैसे अपर देशवासियों को क्षुद्र व मूल्यहीन अधिकार दे विरत हुए हैं, मुसलमान संप्रदाय को भी वैसे ही क्षुद्र व मूल्यहीन अधिकार दे प्रकृत शक्ति-विकास के साधन देने को सहमत नहीं होंगे। पृष्ठपोषक व सहानुभूति-प्रकाशक अंग्रेजों ने जैसे हमें आशा देकर निवेदन-नीतिप्रिय बना दिया था वैसे ही उनके भी पृष्ठपोषक व सहानुभूति-प्रकाशक आ जुटेंगे। अंत में मुसलमान भाई समझेंगे कि यह निवेदन-नीति फलप्रद नहीं, उनका प्रकृत उपकार करने की सामर्थ्य अंग्रेज पृष्ठपोषकों में नहीं। यदि हम इस शासन-प्रणाली में योग देने से इनकार कर दें तो जागरण का दिन शीघ्र आने की संभावना है। यदि इस भेदनीतिमूलक शासन-प्रणाली में योग दे मुसलमानों के साथ संघर्ष में प्रवृत्त हों तो हम जिस अनिष्ट की संभावना बता आये हैं, वह निश्चय ही फलेगा। यद्यपि हम किसी की भी प्रतिकूलता से नहीं डरते फिर भी विपक्षियों के उद्देश्य साधन में सहायता देना है मूर्खता-मात्र। हमने कभी भी मुसलमान भाइयों की खुशामद नहीं की, करेंगे भी नहीं, सरल मन से, एक प्राण हो उन्हें राष्ट्र-संगठन के कार्य का व्रत लेने का आह्वान किया है। उस आह्वान पर कान दे अपना हित और कर्तव्य निर्धारण करना उनकी बुद्धि, भाग्य व साधुता पर निर्भर है। हम न विरोध की सृष्टि करने जायेंगे और न ही विपक्षियों की विरोध-सृष्टि की चेष्टा में मदद देंगे।

पुलिस बिल

सर एडवर्ड बेकर ने पुलिस बिल स्थगित कर दिया है। उन्होंने बुद्धिमानी का ही काम किया है। इस बिल के कानूनबद्ध होने से जो अशांति व अनर्थ होता इसका अस्पष्ट-सा आभास थोड़े-बहुत परिमाण में संवाद-पत्रों के प्रतिवाद और भाषणों द्वारा

दिया गया है। स्रोत मुड़ गया है। हम सात अगस्त के भय व विघ्न को अतिक्रम कर परीक्षा में उत्तीर्ण हुए हैं, तभी शायद भगवान् भी सुप्रसन्न हुए हैं। कुदिन का अवसान होने जा रहा है, सुदिन वापस आ रहा है। आशा है अब राष्ट्रीय शक्ति की जय ही होगी, पराजय नहीं। उस शक्ति के पुनर्विकास, लोकमत की जय और चेष्टा के मंगलमय फल के पूर्व लक्षण हमें मिल रहे हैं। बंगाल के वर्तमान छोटे लाट का मत प्रजातंत्र के पक्ष में ही है, यह जानी बात है, किंतु उनका कार्य और प्रकाशित बातें प्रजातंत्र के प्रतिकूल हुई हैं और होंगी। वे तो हैं लार्ड मारले के आज्ञावाहक भृत्य, किरानीतंत्र (Bureaucracy) के प्रधान किरानी-भर, स्वतंत्र मत को कार्यान्वित करने की स्वाधीनता उन्हें प्राप्त नहीं। तथापि पुलिस बिल के स्थगित हो जाने से उनके मन पर से एक चिंता का भार हट जाना चाहिये। हमारा विश्वास है कि स्वतः प्रेरित हो यह अनिष्टकर बिल उन्होंने पेश नहीं किया, स्वतः प्रेरत हो स्थगित भी नहीं किया। बिल कोई स्वर्गराज इन्द्र का वज्रपात नहीं, वह है और भी उच्च शैल-शिखारूढ़, कभी सौम्य-मूर्ति तो कभी रौद्र मूर्ति, किसी सदाशिव का आदेश-प्रसूत महास्त्र। यदि हमारा अनुमान निर्मूल न हो तो समझना होगा कि दमन-नीति के जन्मस्थान में दमन-मुद्रा शिथिल पड़ती जा रही है। यह क्या co-operation (सहयोग) की आकांक्षा का फल है ? कोई भी इस भ्रम में न रहे कि हम सहज ही भूल जायेंगे। राजनीति प्रेम के मान-मिलन का खेल नहीं; राजनीति है बाजार, क्रय-विक्रय का स्थान। उस बाजार में co-operation का दाम है control—दमन। कम दाम में बहुमूल्य वस्तु खरीदने का जमाना अब लद गया है।

रिसले का राष्ट्रीय सरकुलर

हम राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् को बता देना चाहते हैं कि ७ अगस्त को परिषद् के अधीन स्कूलों के छात्रों को बॉयकाट के उत्सव में योगदान का निषेध करने से मुफ़स्सल में अतिशय कुफल फल रहे हैं। साधारण लोगों के मन क्षुब्ध व उत्तेजित हो उठे हैं; जो राष्ट्रीय शिक्षा में सहयोग देते थे उनमें से बहुतेरे मदद देना बंद कर रहे हैं और यह मत प्रचारित हो रहा है कि राष्ट्रीय स्कूल-कॉलजों में और सरकारी स्कूल-कॉलेजों में नाम-मात्र का भेद है। सुना है, परिषद् के एक विख्यात सभ्य ने छात्रों को यह सलाह दी है कि जो देश के कार्य में हाथ बंटाना चाहते हैं वे सरकारी कॉलेजों में आश्रय लें। परिषद् का यह भी मत हो सकता है कि मुफ़स्सल के सब स्कूल बंद कर दिये जायें, जनसाधारण मदद देना बंद करे, हम बड़े-बड़े लोगों की आर्थिक सहायता से कलकत्ते में एक ही कॉलेज से निष्कृति पा जायेंगे। यदि ऐसा हुआ तो सब झंझट ही चुक गया समझो। नहीं तो इस राष्ट्रीय रिसले सरकुलर को वापस लेना आवश्यक है।

गुप्त चेष्टा

विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि जैसे भी हो श्रीयुत अरविन्द घोष किसी भी जिला-समिति द्वारा हुगली अधिवेशन के प्रतिनिधि नियुक्त न हों, ऐसी चेष्टा कुछ-एक देशहितैषियों ने छिपे-छिपे की है। बड़े दुःख की बात है कि ऐसी जघन्य नीति आजकल भी हमारी राजनीति में स्थान पाती है। अरविन्द बाबू का यदि बॉयकाट ही करना हो, कीजिये। इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं, वे दुःखित नहीं होंगे, देश के कार्य से पीछे भी नहीं हटेंगे, उन्होंने कभी भी किसी के भी मुखापेक्षी हो कार्य नहीं किया, पहले भी बहुत दिनों तक अपने पथ पर एकाकी चले थे, आगे भी यदि एकाकी चलना पड़ा, तो वे चलने से डरेंगे नहीं। पर यही मत यदि स्वीकृत हो कि हित के लिये या आप सबके उद्देश्य-साधन के लिये अरविन्द बाबू का संपर्क वर्जनीय है तो फिर खुले आम देश के सामने इसके प्रचार से कुंठित क्यों होते हैं ? इस गुप्त षड्यंत्र से आप सबका या देश का क्या भला होगा यह समझ नहीं आता। इसी बीच डायमंड हार्बर से अरविन्द बाबू प्रतिनिधि चुने गये हैं। आप सबके कन्वेंशन द्वारा निर्धारित नियमानुसार हुगली-अधिवेशन नहीं हो रहा, कोई भी सभा कोई भी प्रतिनिधि चुन सकती है। फलतः गुप्त नीति जैसी जघन्य है, वैसी ही निष्फल भी। कपट का अभाव है अंग्रेजों के राजनीतिक जीवन का एक महान् गुण जो करना होता है उसे वे साहस के साथ, सबके सामने, खुले तौर पर, आर्य भाव से करते हैं। भारत के राजनीतिक जीवन में इस महान् गुण को उतार लाना होगा। चाणक्य-नीति राजतंत्र में भले ही खप जाये, पर प्रजातंत्र में वह केवल भीरुता और स्वाधीनता-रक्षण की अयोग्यता ही लाती है।

मारले की भेदनीति

शासन-सुधार की छाया तले जो भेदनीति वृक्ष पनपा है उसे रोपा लार्ड मारले ने और जल-सिंचन कर उसका सयत्न पोषण कर रहे हैं देशहितैषी गोखले महाशय।

कलकत्ते के 'इंगलिश मैन' ने स्वीकार किया है कि भेदनीति ही है भारतीय सैन्य संगठन का मूल तत्त्व। अनेक अंग्रेज राजनीतिज्ञों की राय में भेदनीति ही है भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का प्रधान साधन। लार्ड मारले की नीति भी है भेदनीति-प्रधान। उनकी पहली चेष्टा है मध्यपंथी दल के सरकारी कर्मचारियों को अपने कब्जे में ला, राष्ट्रीय दल का दलन कर, भारत का नवोत्थान विनष्ट या स्थगित करने का विफल प्रयास। सूरत अधिवेशन के समय यह विष-वृक्ष रोपा गया था। बंबई के नेताओं ने भारतवासी के भविष्य, शक्ति या न्याय्य अधिकार के बारे में कभी भी उदार

मत या उच्च आकांक्षा का पोषण नहीं किया। वे सहज ही संतुष्ट हो जाते थे। बंगाल के उत्थान व बॉयकाट-प्रचार के प्रभाव से उनकी आशा से कहीं ज्यादा शासन-सुधार हुआ है। वे उस नवोत्थान के फल को स्वायत्त कर बॉयकाट और वैध प्रतिरोध को विनष्ट करने के लिये अतिशय व्यग्र हैं। सूरत अधिवेशन के पहले इस सुधार की संभावना उन्हें अविदित नहीं थी, किंतु वे जानते थे कि बॉयकाट-वर्जन और चरमपंथी दल का बहिष्कार नहीं कर पाने से यह सुस्वादु फल उनके मुख-विवर में नहीं गिरेगा। इन्हीं दो उद्देश्यों को ध्यान में रख कांग्रेस नागपुर के बजाय सूरत बुलायी गयी थी और कांग्रेस की कार्य-प्रणाली के संशोधन का प्रस्ताव रखा गया था; उद्देश्य—राष्ट्रीय दल खुद ही कांग्रेस छोड़ने के लिये बाध्य होगा। सभापति डॉक्टर रासबिहारी घोष की वक्तृता भी इसी उद्देश्य से लिखी गयी थी। महामति तिलक, श्रीयुत अरविन्द घोष प्रभृति राष्ट्रीय दल के नेता इस गुप्त अभिसंधि से अवगत हो कांग्रेस के कार्यकारी दल के कार्यों का तीव्र प्रतिवाद और बॉयकाट-नीति की रक्षा के लिये चेष्टा कर रहे थे। सूरत के तुमुल कांड में उनकी चेष्टा व्यर्थ गयी। सर फिरोजशाह मेहता ही विजयी हुए। आत्मदोष-क्षालन के समय राष्ट्रीय दल के नेताओं ने बंबई के मध्यपंथियों के विरुद्ध इस अभियोग की खुलेआम घोषणा की थी। किंतु मध्यपंथियों द्वारा चालित असंख्य पत्रिकाओं में गाली-गलौज की ऐसी रोल उठी कि सत्य की क्षीण ध्वनि उस कोलाहल में डूब गयी। हम अब सब देशवासियों से कह सकते हैं : देखिये मेहता-गोखले का कार्य-कलाप, समझिये क्या हम भ्रांत थे, हमने क्या झूठ कहा था, कि वास्तव में उनका वैसा ही कोई उद्देश्य था। इद भेदनीति ने बंबई के मध्यपंथियों को अनायास ही उद्भ्रांत कर दिया। बंगाल के नेता उस कुपथ पर नहीं चले, उन्होंने बॉयकाट की रक्षा की। स्वयं श्रीयुत भूपेंद्रनाथ वसु ७ अगस्त को सरकार की मिन्नत व भय-प्रदर्शन की प्रबल उपेक्षा कर बॉयकाट-उत्सव के सभापति बने थे। तिसपर 'बंगाली' ('Bengalee') पत्रिका ने बॉयकाट का प्रचार कर हममें आनंद और आशा का संचार किया है। यदि कभी ऐक्य की स्थापना संभव हुई, यदि मारले की भेदनीति विफल हुई, तो वह बंगालियों की ऐक्य-प्रियता और बॉयकाट की दृढ़ता से ही होगी।

विष-वृक्ष की दूसरी शाखा

लार्ड मारले की दूसरी चेष्टा है राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमान और हिन्दू संप्रदाय को पृथक् करना। यही है भेदनीति का दूसरा अंग, शासन-सुधार का दूसरा विषैला फल। इसके लिये लार्ड ने गुप्त चेष्टा नहीं की, खुल्लम-खुल्ला वे भेदनीति का अवलंबन ले मुसलमान और हिन्दू में चिर शत्रुता की व्यवस्था कर रहे हैं। फिर भी व्यवस्थापक सभा में निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या-वृद्धि से मध्यपंथी नेतागण ऐसे मुग्ध और

प्रलुब्ध हुए हैं कि इस अल्प लाभ की आशा में इतने भारी अनिष्ट का आलिंगन करने के लिये बढ़े चले जा रहे हैं। गोखले महाशय ने मुक्त कंठ से इस भेदनीति की प्रशंसा की है। उनके मत में लार्ड मारले हैं भारत के परित्राता। उनके मत में मुसलमानों का पृथक् प्रतिनिधि-निर्वाचन है न्याय्य और युक्तिसंगत। इससे जो मुसलमान और हिन्दू राजनीतिक जीवन की शक्ति स्वतंत्र और परस्पर विरोधी हो राष्ट्रीय कांग्रेस का मूलतत्त्व और भारत का भावी ऐक्य और शांति संपूर्णतः विनष्ट हो जायेगी यह सत्य गोखले महाशय जैसे लब्धप्रतिष्ठ राजनीतिज्ञ की बुद्धि से अगोचर नहीं हो सकता। तब किस निगूढ़ रहस्यमयी सूक्ष्म नीतिवश गोखले महाशय इस भेदनीति का समर्थन करने के लिये उत्साहित हुए हैं यह वे ही जानें। हमारे पूजनीय सुरेंद्रनाथ ने इस संबंध में विपरीत मत व्यक्त किया, फिर भी इस शासन-सुधार जैसे महान् अनर्थ का प्रतिवाद दृढ़ता से नहीं कर पाये। वरन् विलायत-प्रवास की प्रथम अवस्था में उन्होंने इस शासन-सुधार की अन्यथा और निराधार प्रशंसा की थी। इस सुधार में बंगालियों की लेश-मात्र भी आस्था नहीं। यदि कुछ एक बड़े लोग इस नूतन शासन-प्रणाली में योगदान करने के लोभ को नहीं छोड़ पाने के कारण देश के प्राकृत हित को भूल जायें तो इससे देश का कोई अकल्याण नहीं होने का। किंतु सुरेंद्रबाबू जैसे सर्वपूजित नेता इस विष-वृक्ष को सींचे तो इसे देश का नितांत दुर्भाग्य समझना चाहिये। जो भी इस सुधार में भाग लेंगे वे मारले की भेदनीति के सहायक होंगे, सांप्रदायिक विरोध के स्रष्टा व भारतभूमि की भावी एकता में बाधक बनेंगे। श्रीयुत सुरेंद्रनाथ इस भ्रांत नीति के अनुसरण के लिये कभी भी सहमत नहीं होंगे—यही है हमारी आशा।

रीज़ के विषभरे उद्गार

रीज़ (Rees) 'नामक एक व्यक्ति' इस देश में सिविलियन थे। आजकल पार्लियामेंट के सदस्य हैं। उन्होंने ही एक बार भारतीय कृषकों के सुहृद् होने का स्वांग भर विशेष बुद्धि का परिचय देते हुए कहा था—भारत में बाघ का शिकार करना अकर्तव्य है क्योंकि बाघ को मारने से हरिण की संख्या में वृद्धि होती है और हरिण शस्य को हानि पहुंचाते हैं।

निर्वासन के बारे में इनके सारहीन भाषण से तंग आकर पार्लियामेंट के एक सदस्य ने परिहास करते हुए इनको ही निर्वासित करने का प्रस्ताव किया था। हाल ही में पार्लियामेंट में भारतीय बजट की आलोचना के समय इन्होंने कहा है, भारत में किसी भी तरह का आंदोलन वैध नहीं हो सकता। भारत के सारे संवाद-पत्र अंग्रेजों के प्रति विद्वेष से भरे हैं इसमें इन्हें कोई संदेह नहीं। इन्होंने कहा है—घोष नामक एक व्यक्ति

ने (श्रीयुत अरविन्द घोष की ओर ही इनका निर्देश है) बहुत ही कठिनाई से कारादण्ड से मुक्ति पायी है; आजकल वह युवकों से कह रहा है, जेल-यातना जितनी भयावह दीखती है असल में उतनी भयावह नहीं है; अन्ततः वे कापुरुष न बन बैठें। भारत सरकार जल्दी-से-जल्दी उसे निर्वासित करे। ऐसी उक्ति से जो नीचता स्वप्रकाशित है उसका उत्तर देने की हमारी प्रवृत्ति नहीं होती। इसके बाद उनका कहना है सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय बॉयकाट की घोषणा कर रहे हैं। जिन लोगों ने निरन्तर वाणिज्यनीति का समर्थन कर पार्लियामेंट में सदस्य का पद पाया है वे क्या यह नहीं जानते कि बॉयकाट का अर्थ है—भारत में अब विलायत से जूते और शराब नहीं जा पायेंगे ? कितना भयानक ! धींगड़ा जैसे युवकगण किस तरह बिगड़ जाते हैं कहते हुए रीज़ बताते हैं—उसके पास 'सिक्खों का बलिदान' नामक एक पुस्तक है। उसकी लेखिका है एक निर्वासित की कन्या (श्रद्धेय श्रीयुत कृष्णकुमार मित्र महाशय की कन्या श्रीमती कुमुदिनी मित्र)। वह है एक राजद्रोही संवाद-पत्र ('संजीवनी') का संपादक। सुरेन्द्रनाथ हर बंगाली विद्यार्थी के हाथ में यह पुस्तक देना चाहते हैं ऐसा कह 'सिक्खों का बलिदान' की प्रशंसा की है उन्होंने। रीज़ की विद्या-बुद्धि से हम अपरिचित नहीं। विलायत में भारत-विशेषज्ञों की दौड़ की परिधि क्या है यही दिखाने के लिये रीज़ का उल्लेख किया। सिक्खों के आत्मबलिदान की महिमा को समझना रीज़ जैसे लोगों की बुद्धि के परे है। भारतचन्द्र ने ठीक ही कहा है—भेड़ के सींग पर हीरा गिरने से हीरा ही टूटता है।

धर्म
अंक ३
भाद्र २१, १३१६

शासन-सुधार

शासन-सुधार मान लेने पर जो कुफल फलेगा वह पिछली बार कहा जा चुका है और देशवासी भी उससे अविदित नहीं। ऐसे में यदि कोई यह कहे कि हम इस सुधार में दोष दिखायेंगे किंतु उसमें जो कुछ सुविधाएं हैं उन्हें क्यों छोड़ दें तो हम उनकी बुद्धि और राजनीति-ज्ञान की प्रशंसा नहीं कर सकते। जो दोष वे दिखायेंगे वे सरकारी कर्मचारी की बुद्धि से अगोचर नहीं, उन्होंने अनजाने इस सुधार में दोष को ला घुसाया है, ऐसा भी नहीं। वे पहले से ही जानते थे कि इन दोषों का प्रतिवाद किया जायेगा, किंतु वे चाहते हैं कि प्रतिवाद करके भी देश के नेता इस सैन्य-सुधार का प्रत्याख्यान न करें, ऐसा हो जाये तो उनकी अभिसंधि सफल होगी। दोष-सुधार की उनकी इच्छा नहीं, क्योंकि दोष उनकी युक्ति के अनुसार दोष नहीं, है सुधार का मुख्य गुण। इस

सुधार से स्वाधीनता-लुब्ध देशवासियों की शक्ति नहीं बढ़ेगी। वे खुद ही हिन्दु-मुसलमान के विरोध में चिर-संघर्षरत दो शक्तियों के युद्ध में मध्यस्थ और देश के हर्ता-कर्ता बन विराजेंगे। उनकी यह नीति दोषावह नहीं, प्रशंसनीय है। वे ठहरे देशहितैषी, स्वदेश-हित, शक्ति-वृद्धि व साम्राज्य-रक्षा का उपाय खोज रहे हैं। यह नीति उदार नीति नहीं, किंतु उदार नीति यदि स्वदेश की अहितकर विवेचना करे तो अनुदार नीति का अवलंबन करना ही है देशहितैषी का योग्य पथ। देश के कल्याण के लिये निरपेक्ष रह कर हम उदार नीति का अवलंबन लेते, देश-हितैषिता के त्याग में जगत्-हितैषी होने का स्वांग भरते। अब हम भी देखें स्वदेश-हित, शक्ति-वृद्धि और जीवन-रक्षा का पथ। पहले देश बचे, जगत् के हित व उदारनीति के आचरण का यथेष्ट अवसर तो मिलता रहेगा।

हुगली प्रादेशिक समिति

इसी बीच हुगली में प्रादेशिक समिति का अधिवेशन शुरू हो चुका है; उसका फलाफल निश्चिततया जान लेने के पहले समिति के आलोच्य विषय के बारे में कुछ कहना अनावश्यक है। यह वर्ष है भूत-भविष्य का संधि-स्थल। समिति के कार्य-फल पर बहुत कुछ निर्भर करता है बंगाल का भविष्य। प्रबल दमन-नीति के प्रारंभ होने से सारा देश चुप्पी साधे हुए है। बंगाल की नवोदित शक्ति व साहस युवकों के हृदय में छिप गये हैं और शुरू हुआ है भीरुओं के परामर्श से देशवासियों का स्मृति-भ्रंश और बुद्धिलोप। कहां तो दमन-नीति का वैध पर साहसपूर्ण प्रतिरोध कर उस नीति को विफल करना था, वह तो किया नहीं वरन् भय से और राजनीतिज्ञान-रहित विज्ञतावश निश्चेष्टता व नीरवता को श्रेष्ठ पथ मान प्रचारित किया, इससे दमन-नीति सफल हुई, सरकार ने समझा कि हमने एक अमोघ अस्त्र का आविष्कार किया। इस निश्चेष्टता व नीरवता से देशवासियों के मन-प्राण अवसादग्रस्त और उदासीन हुए जा रहे हैं, राष्ट्रीय शिक्षा का अंतिम परिणाम अति शोचनीय होता जा रहा है, बॉयकाट के बल के क्षीण पड़ जाने से विलायती माल का क्रय-विक्रय तेजी से बढ़ रहा है, पिछले पांच साल की सारी चेष्टा व उद्यम शक्तिहीन और विफल हुए जा रहे हैं। नेता हृदय में साहस बटोर देश का प्रकृत नेतृत्व करने में अक्षम हैं, कन्वेन्शन-नीति की ममता और शासन-सुधार का मोह त्यागना नहीं चाहते, मुंह से तो हैं प्रकृत राष्ट्रीय कांग्रेस के पक्षपाती, पर कार्य में उसकी पुनःसृष्टि का कोई आयोजन नहीं करते, शासन-सुधार को ग्रहण करने से भी डरते हैं, प्रत्याख्यान करने पर भी प्राण रो उठता है। ऐसी अवस्था में जो देश के लिये अपना पूरा जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हैं, जो भय से परिचित नहीं, भगवान् और बंगजननी को छोड़ किसी और को न मानते हैं, न जानते हैं, वे यदि

आगे न बढ़ें तो बंगाल का भविष्य अंधकारमय होगा। यदि हम प्रादेशिक समितियों में देश की लाज और भारत की भावी आशा की रक्षा कर सके तो पथ बहुत कुछ प्रशस्त हो सकेगा। तबतक राह देख रहा हूं। नहीं तो अपना पथ आप ही साफ कर भयार्त और दमन-नीति से विक्षुब्ध देश के प्राण बचाने होंगे।

दैनिक पत्र का अभाव

राष्ट्रीय दल की शक्ति बहुत दिनों से अंतर्निहित पड़ी थी, पुनः वह विकसित हो रही है। किंतु उस शक्ति के विकास के लिये उपयोगी साधन के अभाव में पूर्ण कार्य-सिद्धि असंभव है। हम यथासाध्य आर्य-धर्म और धर्मसम्मत राजनीति का प्रतिपादन कर इस विकास में सहायता करने को प्रवृत्त हुए हैं, किंतु साप्ताहिक पत्रों द्वारा यह कार्य संतोषजनक नहीं होने का। विशेषतः हमारे राजनीतिक जीवन में दैनिक पत्र का अभाव एक गुरुतर अभाव है। जो दिन-ब-दिन घट रहा है, उसे तुरत ही लोगों को बता उस संबंध में राष्ट्रीय दल का मत या कर्तव्य उनके सामने उपस्थित न कर पाने से हमारी चेष्टा में तीव्र तत्परता और क्षिप्रता नहीं आ सकती। उस दिन कालेज स्क्वायर में एक स्वदेशी सभा हुई थी, उसका वर्णन और भाषण का सारांश एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्र में दिया गया था, किंतु पत्र के कर्ता उसे छापने से इंकार कर गये। उस सभा में श्रीयुत अरविन्द घोष ने अध्यक्ष पद से वक्तृता दी थी एवं बार-बार बॉयकाट का उल्लेख किया था, शायद इसीलिये कर्मचारी भीत या विरक्त हुए, यह भय या विरक्ति स्वाभाविक है, आजकल बॉयकाट शब्द का जितना कम उल्लेख हो उतना ही व्यक्तिगत मंगल संभव है। बॉयकाट प्रचार के लिये स्वतंत्र दैनिक पत्र की आवश्यकता प्रतिदिन महसूस हो रही है।

मजलिस के सभापति मेहता

सभा होगी कि नहीं कुछ ठीक नहीं। किंतु सभापतित्व को ले विषम समस्या उठ खड़ी हुई है। इस बार मद्रास कन्वेन्शन की पुनरावृत्ति लाहौर में होने की बात है। किंतु लाहौर के देश-भक्त देश-सेवा के इस बनावटी नाटक को प्रश्रय देने के लिये तैयार नहीं। देश जिन्हें मानता नहीं, देश के साथ जिनका संपर्क नहीं, ऐसे दस-पांच मूर्धन्य व्यक्ति देश के लोगों के नाम पर डिग्री डिसमिस करें, क्या कोई भी बुद्धिमान् इसका अनुमोदन कर सकता है? खैर। अब सभापति की बात लें। इस संबंध में 'भारत मित्र' ने ठीक कहा है—दूसरी कांग्रेस के पक्षपाती लाहौर के आगामी कन्वेन्शन

में मद्रास के नवाब सैयद मुहम्मद को सभापति बनाना चाहते हैं। पर नवाब साहब इस सम्मान-ग्रहण के इच्छुक नहीं। अब पंजाब की कांग्रेस कमेटी सर फिरोजशाह मेहता को सभापति बनाना चाहती है—मेहता के सहमत न होने पर अगत्या सुरेन्द्रबाबू। 'भारत मित्र' कहता है—हमारा कहना है जैसे भी हो मेहता साहब को ही सभापति बनाना उचित है। वे ही हैं खंडित कांग्रेस के जन्मदाता। अतः कांग्रेस का सभापतित्व (?) जैसा उन्हें शोभा देता है वैसा किसी और को नहीं। लोग अभी से खंडित कांग्रेस को मेहता मजलिस कहने लगे हैं।

धर्म
अंक ४
भाद्र २८, १३१६

असंभव का अनुसंधान

हुगली में प्रादेशिक कांग्रेस का जो अधिवेशन हो चुका है उसमें सभापति श्रीयुत बैकुंठनाथ सेन राष्ट्रीय दल को अधीर और असंभव आदर्श की खोज में संलग्न कहने से बाज नहीं आये। जिन्होंने अधिवेशन का कार्य-विवरण देखा है वे अवश्य ही स्वीकार करेंगे कि मध्यपंथियों ने ही अधीरता का परिचय दिया है; राष्ट्रीय दल के विरुद्ध अधीरता के अभियोग का कोई कारण नहीं। हुगली में राष्ट्रीय दल की ही संख्या अधिक थी इसमें संदेह नहीं; फिर भी विरोध-वर्जन के उद्देश्य से राष्ट्रीय दल की ओर से श्रीयुत अरविन्द घोष स्वावलंबन व निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन कर शांत हो गये थे। यह भी यदि अधीरता हो तो शायद धीरता है जड़ता का नामांतर-मात्र। असंभव आदर्श के बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि जो वर्तमान की संकीर्ण सीमा के बाहर कुछ भी देखना नहीं चाहते, देख भी नहीं सकते, वे भविष्य के चिंतन में मत्त भावुकों को सदैव असंभव आदर्श के संधान में लगे कहकर उनका उपहास करते हैं। जो कर्मवीर संकट के समय विशेष विचार व विवेचना कर भावी उन्नति की नींव की स्थापना में सक्षम हैं उनके भाग्य में भी ऐसा ही उपहास बदा होता है। फल के विषय में अनजान रह प्रतीक्षा करना है जड़त्व, यह बुद्धि का परिचायक नहीं। वहां स्थैर्य है मूढ़ का काम। गति ही है जीवन। भारत में मध्यपंथी संप्रदाय की अकारण भीति ही हो उठी है राष्ट्रीय उन्नति में बाधक। समग्र प्राच्य भूखंड में जो जागरण, जो उन्नति की आकांक्षा, जो आवेग आया है जापान, फारस और टर्की में उसका प्रमाण मिल गया है। भारत के बड़े लाट मिंटो ने भी माना है कि इस प्रवाह का प्रतिरोध करना मनुष्य के वश का नहीं। फिर भी मध्यपंथी इसे नहीं समझते। या समझकर भी नहीं समझते कि सर्वत्र ही, सुधार में, जनशक्ति का आत्म-विकास दिख रहा है। सिर्फ भारत में ही

प्रतीक्षा का आदेश प्रतिध्वनित हो रहा है। यह आदेशदाता हैं लार्ड मारले, सारा जीवन जनशक्ति का समर्थन कर जीवन की सहायता में भारतवर्ष को चिरकाल के लिये जड़-जीवन यापन करने का आदेश दिया है उन्होंने। इस अवस्था में राष्ट्रीय दल की उन्नति-चेष्टा उपहासास्पद है या मध्यपंथियों की पर-निर्भरता और जड़ता उपहासास्पद है ?

योग्यता-विचार

भावुकतावश शायद सभापति महाशय ऐंग्लो-इंडियनों की बात पर अयथा विश्वास कर मानते हैं कि हम आज भी स्वायत्त-शासन के योग्य नहीं। स्वायत्त-शासन संबंधी प्रस्ताव की आलोचना के समय एक वक्ता ने भी यही कहा था! हमें अनुपयुक्त कहने के सिवा ऐंग्लो-इंडियनों के पास अपने स्वेच्छाचार समर्थन का दूसरा कोई उपाय ही नहीं। ऐसी अवस्था में ऐंग्लो-इंडियनों की स्वार्थ-समर्थक युक्ति स्वाभाविक और संगत है। किंतु भारतवासियों के लिये इस युक्ति को ग्रहण करना है अस्वाभाविक और असंगत। ग्लैडस्टोन ने कहा है: स्वाधीनता-उपभोग ही मनुष्य को स्वाधीनता के उपयुक्त बनाता है। स्वायत्त-शासन-उपभोग को छोड़ स्वायत्त-शासन के उपयुक्त बनने का दूसरा उपाय नहीं। हम जानते हैं कि स्वायत्त-शासन पाने पर पहले-पहल भ्रम व प्रमाद का होना अनिवार्य है। सभी देशों में ऐसा ही हुआ है। जापान को भ्रम हुआ है। टर्की व फारस अब भी भ्रम में हैं। ऐसा मान स्वायत्त-शासन के पथ पर अग्रसर न होना उन्नति का पथ चिरकाल के लिये अवरुद्ध करना है एक ही बात। उन्नीसवीं शताब्दी की भ्रांत शिक्षावश हमने अपने-आपको सारहीन और अयोग्य मानना सीखा था। आज वह भ्रम टूट गया है। आज हमने समझ लिया है—इस राष्ट्र का जीवन-स्पंदन रुक नहीं गया है, यह राष्ट्र जीवित है। यह अनुभूति ही राष्ट्रीय उन्नति के लिये यथेष्ट है। यह अनुभूति ही हमें उन्नति के पथ पर आरूढ़ कर राजनीति-क्षेत्र में, मुक्ति-लाभ में सक्षम बनायेगी। आज जब उन्नति का आरंभ हो चुका है तब योग्यता-विचार का बहाना बना उन्नति की गति बंद कर शिथिल पड़ जाना मूढ़ का काम है। आज राष्ट्रीय जीवन में जो समय उपस्थित है उस समय की गति के रुद्ध हो जाने पर हम उन्नति के पथ में पिछड़ जायेंगे; आगे नहीं बढ़ सकेंगे। अतः हमें अग्रसर ही होना होगा, शंका या संदेह से विचलित न हो स्थिर और धीर कदमों से कर्तव्य-पथ पर बढ़ते जाना ही है आज हमारा कर्तव्य।

चांचल्य-चिह्न

हमारे कोई-कोई विज्ञ मध्यपंथी ऐसी बात भी कहते हैं कि आजकल किसी-किसी सभा में कुछ-कुछ गड़बड़ी होती है; इससे राजनीतिक अधिकार की प्राप्ति में हमारी अयोग्यता ही सिद्ध होती है। ये भी उनके अपने मौलिक शब्द नहीं; ये हैं कपटाचारी ऐंग्लो-इंडियनों के मत की प्रतिध्वनि-भर। जो ऐंग्लो-इंडियन ऐसा मत प्रकट करते हैं हम उन्हें कपटाचारी कहते हैं, कारण वे निश्चय ही जानते हैं कि विलायत की राजनीतिक सभा-समिति में जैसा हुड़दंग मचता है भारत की सभा-समिति में उसका शतांश भी घटित नहीं होता। धीर प्रकृति भारतवासी वैसे व्यवहार के लिये नितांत अनभ्यस्त हैं। हमारे देश में, सभा-समिति में हुड़दंग के ये दो ही प्रधान दृष्टांत देखे जाते हैं—सूरत में सुरेन्द्रनाथ की बातों पर किसी ने कान नहीं दिया, वे वक्तृता बंद कर बैठ जाने के लिये बाध्य हुए थे, और सूरत में ही श्रीयुत बाल गंगाधर तिलक पर मध्यपंथियों के प्रहार के लिये उद्यत होने पर भीषण हुड़दंग मचा था। इंग्लैंड में ऐसी घटनाएं आम होती रहती हैं। किसी विश्वविद्यालय की सभा में प्रधानमंत्री मिस्टर बैलफोर ऊधम के कारण भाषण नहीं दे पाये थे, अंत में दो छात्रों ने नारी-भेष में मंच पर आ उन्हें जूतों की माला उपहार में दी। उन्होंने हंसते-हंसते उस उपहार को स्वीकारा। और एक बार छात्रदल किसी वक्ता की वक्तृता से असंतुष्ट हो मारा-मारी पर उतर आये और पुलिस पर उग्र प्रहार किया। विचार करने पर छात्रों को किसी भी तरह की कोई सजा नहीं हुई। निश्चय ही हम यह नहीं कहना चाहते कि हमारे देश के राजनीतिक आंदोलन में, सभा-समिति में ऐसे चांचल्य की शुरुआत हो। हम कहना यह चाहते हैं कि इस तरह के चांचल्य से स्वायत्त-शासन-प्राप्ति में हमारी अयोग्यता सिद्ध नहीं होती; वरन् यह है जीवन का लक्षण। इससे तो यह सिद्ध होता है कि हम युग-व्यापी जड़त्व-शाप से मुक्त हो नवीन उद्यम के साथ, नवीन शक्ति के साथ नूतन कार्य-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं।

हुगली का परिणाम

हुगली में हुए प्रादेशिक कांग्रेस के अधिवेशन द्वारा राष्ट्रीय पक्ष का पथ काफी साफ हो गया है। मध्यपंथियों का मनोभाव उनके आचरण से जाना गया, राष्ट्रीय पक्ष का प्राबल्य भी सभी के अनुभव में आया। बंगाल राष्ट्रीय भाव से परिपूर्ण हो उठा है इसमें रत्तीभर भी संदेह नहीं। अनेकों को संदेह था कि हुगली में राष्ट्रीय पक्ष की दुर्बलता और संख्या की अल्पता ही अनुभव होगी। किंतु ऐसा नहीं हुआ, वरन् वर्ष-भर के दलन और निग्रह से इस दल की ऐसी अद्भुत शक्ति-वृद्धि हुई है और तरुण दल के हृदय में

ऐसा गभीर राष्ट्रीय भाव व दृढ़ साहस पनपा है कि देखकर प्राण आनंदित और प्रफुल्लित हो उठे। सिर्फ कलकत्ता या पूर्व बंगाल से ही नहीं, चौबीस परगना, हुगली, हावड़ा, मेदनीपुर आदि पश्चिम बंगाल के सभी जिलों से राष्ट्रीय पक्ष के प्रतिनिधि समिति में आये थे। एक और शुभ लक्षण, शृंखला और नेताओं की आज्ञा की अनुवर्तिता, जो तेजस्वी और भावप्रवण नवीन दल के लिये सहज साध्य नहीं पर है विशेष प्रयोजनीय, हुगली में देखा गया। राष्ट्रीय पक्ष के नेता कभी भी मध्यपंथी नेताओं की तरह स्वेच्छा से कार्य चलाने के इच्छुक नहीं होंगे। दल के साथ परामर्श कर गंतव्य पथ का निर्णय करेंगे, परंतु एक बार पथ निश्चित हो जाने पर नेता पर पूर्ण विश्वास है आवश्यक। यह विश्वास यदि डिग जाये तो नया नेता मनोनीत करना श्रेयस्कर है, किंतु कार्य के समय, अपनी बुद्धि न चला, प्रत्येक को एक प्राण हो नेता की मदद करना उचित है। पथ का निर्णय, स्वाधीन चिंतन और बहुमत से निर्णीत पथ पर सेना की तरह शृंखला और बाध्यता हैं प्रजातंत्र में कार्य-सिद्धि का प्राकृत साधन। हुगली अधिवेशन में पहले यही उपलब्धि हुई कि राष्ट्रीय पक्ष वर्ष-भर के दमन और भय-प्रदर्शन से अधिक बलान्वित और शृंखलाबद्ध हुआ है। यही है इतने दिनों तक अंतर्निहित शक्ति का विकास।

दूसरा फल है मध्यपंथियों के मनोभाव का कार्य में प्रकट होना। वे शासन-सुधार के प्रस्ताव को मानेंगे चाहे वह सुधार निर्दोष हो या सदोष, देश के लिये हितकर हो या अहितकर, वह 'सुधार' नाम से अभिहित है अतः मान्य है, पहले की कांग्रेस का चिरवांछित दुर्लभ स्वप्न है अतः मान्य है; वह है लार्ड मारले की प्रसूत मानस-संतान अतः मान्य है; इसके अलावा वह है मारले-रिपन-प्रसूत स्थानीय स्वायत्त-शासन को ले आने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध अतः मान्य है। इससे राष्ट्रीय एकता की आशा टूटे या न टूटे, नेताओं का स्वप्न नहीं टूटने का। बॉयकाट को विषरहित प्रेममय स्वदेशीयता में परिणत करना भी है नेताओं की दृढ़ अभिसंधि। स्वयं सभापति महाशय ने शेक्सपीयर का प्रमाण दे बॉयकाट का बॉयकाट करने की सलाह दी है; बाद में मारले-मॉडरेटों के मिलन-मंदिर में विद्वेष-वह्नि घुस कहीं सब भस्मसात् न कर दे। और यह भी पता लगा कि मध्यपंथी नेता वैध प्रतिरोध का परित्याग करने के लिये कृतसंकल्प हैं। वास्तविक मिलन जब हो चुका है, शासन-सुधार जब स्वीकारा जा चुका है, तब प्रतिरोध की आवश्यकता ही कहां रह गयी ? विपक्षी-विपक्षी में प्रतिरोध संभव है, प्रेमी-प्रेमी में अनुनय करना, रूठना या क्षणिक मनोमालिन्य ही शोभा देता है। इस पुरातन नीति के पुनः संस्थापन का फल हुआ—नेता कन्वेन्शन का और भी दृढ़ आलिंगन कर बैठे हैं। मद्रास में बॉयकाट का वर्जन करने से सुरेंद्रनाथ कन्वेन्शन का त्याग करेंगे कुछ-एक लोगों की यह ऐसी आशा टूट गयी। केवल एक विषय में अब भी संदेह है, राष्ट्रीय कांग्रेस का पुनः संस्थापन संभव है या असंभव ? एक तरफ प्रादेशिक समिति के अधिवेशन में देखा गया कि सभा में पूर्ण राष्ट्रीय भाव का प्रकाशक कोई प्रस्ताव

स्वीकृत होने पर हम समिति को तोड़ खिसक जायेंगे, यही हुआ है मध्यपंथियों का दृढ़ संकल्प। ऐसा हुआ तो प्रकृत ऐक्य असंभव है। क्या है इसका तात्पर्य? पूर्ण राजभक्ति प्रकाशक कोई भी प्रस्ताव उपस्थित होने पर राष्ट्रीय पक्ष उसे स्वीकारने के लिये बाध्य होगा, जितनी भी निष्फल प्रार्थना, प्रतिवाद और निवेदन हैं सब स्वीकारने के लिये बाध्य होगा, लेकिन पूर्ण राष्ट्रीय भाव-व्यंजक प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सकता। इस शर्त पर कोई भी प्रबल व वर्धनशील दल समिति में रहना नहीं चाहेगा, विशेषतः जिस दल की संख्या में स्थायी रूप से वृद्धि हुई है। दूसरी तरफ राष्ट्रीय पक्ष के आग्रह से दो दलों की एक कमेटी बनी है। राष्ट्रीय कांग्रेस में ऐक्य-स्थापना है उसका उद्देश्य। सदस्यों में हैं चार मध्यपंथी—श्रीयुत सुरेंद्रनाथ, श्रीयुत भूपेंद्रनाथ बसु, श्रीयुत बैकुंठनाथ सेन और श्रीयुत अंबिकाचरण मजूमदार और चार राष्ट्रीय दल के—श्रीयुत अरविन्द घोष, श्रीयुत रजतनाथ राय, श्रीयुत जितेंद्रलाल वंद्योपाध्याय और श्रीयुत कृतांतकुमार बसु। ये यदि एकमत हो सकें तो राष्ट्रीय महासभा का ऐक्य-संस्थापन चेष्टा द्वारा हो सकता है। चेष्टा करने पर भी ऐक्य साधित होगा ही यह नहीं कहा जा सकता; कारण यदि मेहता व गोखले असहमत हों या वर्तमान सिद्धांत और कार्य-प्रणाली को बिना आपत्ति के मान लेने को कहें तो मध्यपंथी नेताओं के लिये उनका परित्याग कर राष्ट्रीय महासभा के संस्थापन में प्रयत्नशील होना असंभव है।

ऐसी अवस्था में एकता है असंभव, किंतु जो क्षीण आशा अब भी बची हुई है राष्ट्रीय पक्ष उसे ही पकड़े है, उसी आशा से संख्या में अधिक होने पर भी उन्होंने सभी विषयों में मध्यपंथियों के सामने स्वेच्छा से हार मान ली है। ऐसा त्याग-स्वीकार व आत्म-संयम सबल पक्ष ही दिखा सकता है। जो अपने बल को जानते हैं वे उस बल का प्रयोग करने के लिये सदा व्यग्र नहीं होते। हम सूरत अधिवेशन में धैर्यच्युत हो गये थे, बंबई के नेताओं का अन्याय, अविचार और अपमान सहकर भी अंत में धैर्य टूट जाने से उस आत्म-संयम का फल नहीं पा सके। उस दोष के प्रायश्चित्त-स्वरूप हुगली में हमने प्रबल होते हुए भी दुर्बल मध्यपंथी दल का सारा दावा सहकर, एकता की वह क्षीण आशा हमारे दोष से विनष्ट न हो जाये—इसी को एकमात्र लक्ष्य बना प्रादेशिक समिति को अकाल मृत्यु के हाथ से बचाया। देश के आगे हम दोषमुक्त हुए, भावी वंशधरों के अभिशाप से मुक्त हुए, यही है हमारे आत्म-संयम का यथेष्ट पुरस्कार। कांग्रेस की एकता साधित होगी या चिरकाल के लिये विनष्ट होगी, यह है भगवान् की इच्छा के अधीन, हमारी नहीं। हम मत-सिद्धांत को नहीं सहेंगे, जो कार्य-प्रणाली देश की अनुमति न ले प्रचलित की गयी है, देश के प्रतिनिधि जबतक सभा में प्रकटरूप से उसे स्वीकार नहीं कर लेते तबतक हम भी स्वीकार नहीं करेंगे। इन दो विषयों में हम कृतनिश्चय हैं, इसके अलावा हमारी तरफ से कोई भी बाधा होने की संभावना नहीं। बाधा यदि हुई तो वह अपर पक्ष से होगी।

पर हम इस क्षीण आशा पर निर्भर रह निश्चेष्ट नहीं बैठे रह सकते। कब किस

अतर्कित दुर्विपाक से बंगाल का ऐक्य छिन्न-भिन्न होगा, कोई ठीक नहीं। महाराष्ट्र, मद्रास, संयुक्तप्रांत और पंजाब के राष्ट्रीय दल हमारे मुंह की ओर ताकते बैठे हैं। बंगाल है भारत का नेता, बंगाली की दृढ़ता, साहस व कर्म-कुशलता से होगा सारे भारत का उद्धार, नहीं तो होना है असंभव। अतएव हम राष्ट्रीय दल का आह्वान करते हैं कि अब फिर से कार्य-क्षेत्र में उतरें। देश-हित प्राणों का उत्सर्ग करनेवाले साधकों को भय, आलस्य और निश्चेष्टता शोभा नहीं देती। देश-भर में राष्ट्रीय भाव प्रबलतया जाग्रत हो रहा है, पर कर्मद्वारा प्रकृत आर्य संतान का परिचय न दे पाने से वह जागरण, वह प्राबल्य, वह ईश्वर का आशीर्वाद स्थायी नहीं होगा। भगवान् ने कर्म के लिये, नवयुग के प्रवर्तन के लिये राष्ट्रीय दल की सृष्टि की है। इस बार केवल उत्तेजना व साहस नहीं, धैर्य, सतर्कता और सुव्यवस्था आवश्यक है। भगवान् की शक्ति बंगाल में धीरे-धीरे अवतरित हो रही है; इस बार सहज ही तिरोहित नहीं होगी। अयाचित भाव से देश-सेवा करें, परमेश्वर का आशीर्वाद हमारे साथ है। हृदय-स्थित ब्रह्म जाग उठे हैं, भय और संदेह की उपेक्षा कर धीरता से गंतव्य पथ पर अग्रसर हों।

धर्म
अंक ५
आश्विन ४, १३१६

श्रीहट्ट जिला समिति

राष्ट्रीय भावना के प्रसारण और उसकी आशातीत वृद्धि से मैं हुगली में अवगत हुआ था, किंतु श्रीहट्ट जिला समिति में इसकी पराकाष्ठा देखी गयी। पूर्व अंचल के इस सुदूर प्रांत में मध्यपंथी का नाम-निशान तक नहीं रह गया है, वहां राष्ट्रीय भावना ही है अक्षुण्ण व प्रबल। श्रीहट्टवासी भारतबंधु बेकर के राम-राज्य में वास नहीं करते, फिर भी दमन-नीति के जन्म-स्थान में समिति का आयोजन कर स्वराज्य का नाम लेने से डरे नहीं, सर्वांगीण बॉयकाट करने में साहस दिखाया, आवेदन-निवेदन-नीति को त्याग आत्म-शक्ति व वैध प्रतिरोध का अवलंबन ले तदनुयायी सारे प्रस्तावों की उन्होंने रचना की। श्रीहट्ट जिला समिति में स्वराज्य धर्मतः प्रत्येक राष्ट्र का प्राप्य है, ऐसी घोषणा की गयी है, समिति ने देशवासियों को स्वराज्य-प्राप्ति के लिये सर्वविध वैध साधनों का प्रयोग करने के लिये आह्वान किया है। इस अधिवेशन में कई नये लक्षण देखे। पहला, समिति ने राजनीति के संकीर्ण घेरे से बाहर निकल आने का साहस दिखा विलायत-यात्रा की प्रशंसनीयता का प्रचार किया है और समाज से अनुरोध किया है कि राष्ट्रीय भावापन्न विलायत-प्रत्यागत लोगों को समाज में ले लिया जाये। इसपर विषय-निर्वाचन समिति में काफी वाद-विवाद हुआ किंतु मतामत देने के समय

सब मिलाकर ग्यारह विलायत-यात्रा-विरोधियों की संख्या ग्यारह ही रही, अधिक नहीं बढ़ी। प्रतिनिधियों में भी इनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। पांच सौ प्रतिनिधियों में प्रायः चालीस व्यक्ति प्रस्ताव के विरुद्ध थे। शत-शत कंठों से गगनभेदी "वंदे मातरम्" की ध्वनि के साथ प्रस्ताव पारित हुआ। दूसरा, अधिवेशन के समय इस प्रस्ताव के अलावा और किसी भी प्रस्ताव-पारण के समय भाषण नहीं हुआ। प्रस्तावक, अनुमोदक और समर्थक सभी ने बिना भाषण के अपना-अपना कार्य संपादित किया। तीसरा, अधिवेशन शहर में न हो जल-प्लावित जलसुका गांव में हुआ। चौथा, सभापति के आसन पर लब्ध-प्रतिष्ठित वकील या व्याख्याता राजनीतिक वक्ता विराजमान न हो एक सुपंडित, धार्मिक, संन्यासीतुल्य, निष्ठावान्, धोती-चादर परिहित, रुद्राक्षमाला-शोभित ब्राह्मण उस आसन को ग्रहण करने के लिये सर्व-सम्मति से निर्वाचित हुए थे। इन सुलक्षणों को देखते हुए भला किसके मन में आशा व आनंद का संचार नहीं होगा ? अशिक्षित जन-समूह अभी भी आंदोलन में पूर्णतः योग नहीं दे पाया है। शिक्षा के अभाव में वैसा योगदान है दुःसाध्य। किंतु आंदोलन ने कतिपय अंग्रेजी भाषाविज्ञ वकील, डॉक्टर, संवाद-पत्रों के संपादक और शिक्षकों में ही आबद्ध न हो सारे शिक्षित संप्रदाय को आकृष्ट और आत्मसात् किया है। जमींदार, व्यापारी, ब्राह्मण, पंडित, शहरी, ग्रामीण कोई भी नहीं बचा। यही है आशा की बात।

प्रजाशक्ति और हिन्दू समाज

विलायत-यात्रा को क्यों शुभ बतलाया है इसका संक्षिप्त विवरण देना उचित है, इस संबंध में अब भी मतैक्य नहीं, अतः बहुतों की यह धारणा है कि ऐसी सामाजिक बात को न उठाना ही है श्रेयस्कर। पांच साल पहले हम भी इस आपत्ति को युक्तिसंगत मानते। अब भी यदि राष्ट्रीय कांग्रेस में यह प्रश्न आलोचित होता तो हम उसे अमान्य कर देते। स्वदेशी आंदोलन के पहले कई अंग्रेजी-शिक्षित विलायती रंग में रंगे सज्जनों को छोड़ सारा शिक्षित समाज राजनीतिक सभा के अधिवेशन में भाग नहीं लेता था। ये हिन्दू समाज-संबंधी जटिल प्रश्नों को विचारने के अधिकारी नहीं थे, उन प्रश्नों की मीमांसा करने पर हास्यास्पद होते थे। हिन्दू समाज के क्रोध व घृणा के पात्र बनते थे। जो सामाजिक समिति कांग्रेस के अधिवेशन-स्थल पर बैठती वह भी इसी तरह अनधिकार चर्चा करती। समाज ही समाज की रक्षा और समाज का सुधार कर सकता है। जो हिन्दू-धर्म मानते हैं वे ही हिन्दू समाज के पुनरुज्जीवन और धर्म-संस्थापन के व्रती हो सकते हैं ? किंतु जो इस समाज की उपेक्षा कर हिन्दू-धर्म का मखौल उड़ाते हैं उनके द्वारा सुधार का प्रश्न उठाये जाने पर उस चेष्टा को अनधिकार चर्चा के सिवा और भला क्या कहें ? सारा हिन्दू समाज अब भी कांग्रेस में भाग नहीं

ले रहा है, अतः कांग्रेस ऐसा कोई प्रस्ताव स्वीकारने की अधिकारिणी नहीं। पर बंगाल की अवस्था दूसरी है। निष्ठावान् हिन्दू, ब्राह्मण पंडित, गैरिक वसनधारी संन्यासी तक ने राजनीतिक आंदोलन में भाग लेना आरंभ कर दिया है। किंतु अब हिन्दू समाज की रक्षा का उपाय न करने से नहीं चलेगा। पाश्चात्य शिक्षा के आक्रमण से हमारा सब कुछ चकना-चूर हो रहा है। आचार-विचार हैं आजकल पाखंड-मात्र। धर्म में जीवंत आस्था व विश्वास अबतक लुप्त न होने पर भी कम तो हो ही गया है। मुसलमानों व ईसाइयों की संख्या बढ़ रही है और हिन्दुओं की तेजी से घटती जा रही है। पहले समयोपयोगी और अब अनिष्टकारी कुछ प्रथाओं में अनुचित ममतावश राष्ट्र की उन्नति और महत्त्व की प्राप्ति स्थगित हो गयी है। पहले जब हिन्दू राजा थे, राजशक्ति ही ब्राह्मणों के परामर्श व सहायता से समाज की रक्षा और समयोपयोगी समाज-सुधार करती थी। वह राजशक्ति लुप्त हो गयी है; उसके शीघ्र ही पुनः संस्थापित होने की आशा भी नहीं। पर हां, प्रजाशिक्त बढ़ रही है और संस्थापित होने की चेष्टा में है। इस अवस्था में उचित है कि प्रजाशक्ति पुरातन हिन्दू राजशक्ति का स्थान ले उसी तरह समाज-रक्षा व समाज-सुधार करे; नहीं तो हिन्दू जाति विनष्ट हो जायेगी। श्रीहट्ट में एक ब्रह्मण पंडित थे इस प्रस्ताव के मुख्य समर्थक। प्रतिनिधियों में शायद विलायत से लौटे एक भी व्यक्ति नहीं थे। गांव-गांव के निर्वाचित प्रतिनिधि अधिवेशन में उपस्थित थे। ऐसे में इस तरह के प्रस्ताव का स्वीकृत होना आशा का लक्षण ही कहा जायेगा। इससे हिन्दू समाज को कोई भी चोट पहुंचने की संभावना नहीं। निःसंदेह, ऐसे प्रस्ताव की स्वीकृति अतिशय सतर्कता से होनी चाहिये। ब्राह्मणों और प्रत्येक वर्ण के मुख्य-मुख्य सामाजिक नेताओं को प्रस्ताव स्वीकार करने के लिये सहमत करा प्रस्ताव पास करना ही युक्तिसंगत है।

विदेशयात्रा

विदेशयात्रा की आवश्यकता के बारे में अब और अनेक मत नहीं हो सकते। हमने स्वदेशी के विस्तार को राष्ट्र के जीवन-रक्षण का मुख्य साधन मान लिया है, विदेशयात्रा का निषेध होने पर वह विस्तार दुःसाध्य होगा। जो शिल्प-शिक्षा के लिये विदेश जायेंगे वे देश की रक्षा के लिये, समाज की पुष्टि के लिये विदेश की यात्रा करेंगे, पुण्यकर्म और धर्मकार्य के व्रती हो विदेश जायेंगे। समाज किस मुंह से इस कार्य को पापकर्म या समाज-च्युति के उपयुक्त कुकर्म कहेगा, किस मुंह से उत्साही युवकवृंद को इस महान् उन्नति-चेष्टा में लगा उस आज्ञापालन का कोई पुरस्कार न दे विषम सामाजिक दंड देगा। इतने सारे तेजस्वी धर्मप्राण स्वदेश-हितैषी राष्ट्रीय भावापन्न युवक यदि समाज से निकाल दिये जायें तो इससे हिन्दू समाज का कौन-सा कल्याण

होगा—तर्क की दृष्टि से देखने पर विलायत-यात्रा के निषेध के पक्ष में कोई भी युक्ति नहीं मिलती। शास्त्र की दृष्टि से भी विदेशयात्रा में एक भी अलंघनीय प्रतिबंधक नहीं। शास्त्र के दो-एक श्लोकों की दुहाई देने से चलने का नहीं। शास्त्र के भावार्थ और समाज की पुरातन प्रणाली की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिये। अति अर्वाचीन काल तक विदेशयात्रा और समुद्रयात्रा बिना किसी आपत्ति के चलती थी, आर्य-साहित्य में इसके भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं। जब समाज की रक्षा और आचार की रक्षा करना कठिन हो उठता है तब ब्राह्मणों की सलाह से समुद्रयात्रा और अटक नदी के उस पार का प्रवास निषेध होता है। इसी कारण से जापान में विदेश की यात्रा बिलकुल बंद कर दी गयी थी। ऐसा विधान होता है काल-सृष्ट, समय पर नष्ट होता है, सनातन प्रथा नहीं बन सकता। जबतक राष्ट्र व समाज उससे उपकृत और रक्षित होता है तबतक समयोपयोगी विधान टिकता है। जिस दिन राष्ट्र व समाज के विकास और उन्नति में अंतराय आता है उस दिन से उसका विनाश होना अवश्यंभावी है। विदेश से लौटे भारतवासियों का अंग्रेजी अनुकरण, समाज की उपेक्षा और उद्धत बात-व्यवहार से इस कल्याणकर सुधार में विलंब हुआ है। समाज को मानने से, समाज में रहने से समाज का कल्याण होता है, समाज-विनाश की चेष्टा से नहीं।

धर्म
अंक ६
आश्विन ११, १३१६

लालमोहन घोष

गत शनिवार वाग्मीवर लालमोहन घोष महाशय का स्वर्गवास हो गया। अपनी पिछली उम्र में उन्होंने अच्छी तरह समझा था कि जनसाधारण के बिना केवल मुट्ठी-भर अंग्रेजी-शिक्षित लोगों को ले राजनीतिक आंदोलन सफल नहीं हो सकता। प्रादेशिक समितियों में बंगला में भाषण देने की प्रथा पहले-पहल उन्होंने ही प्रवर्तित की थी।

लालमोहन की चढ़ती उम्र में बंगालियों की परमुखापेक्षिता दूर नहीं हुई थी, इसीलिये उन्होंने विलायत-पार्लियामेंट के सदस्य बनने की चेष्टा की थी। उनकी यह चेष्टा घटना-चक्र के वश नहीं फली।

लालमोहन थे असाधारण वाग्मी। अंग्रेजी पर था उनका असाधारण अधिकार। विलायत में बहुत-से लोग पकड़ नहीं पाते थे कि यह किसी विदेशी की वक्तृता है। इलबर्ड बिल के आंदोलन के समय बैरिस्टर ब्रांसन् ने जब टाउन हॉल में बंगालियों को गालियां दीं तब लालमोहन ने ढाका के नार्थब्रुक हॉल में जो भाषण दिया उसकी

उग्रता की तुलना नहीं। उस वक्तृता का फल हुआ—ब्रांसन् भारतवासी अटर्नी-पद से बहिष्कृत किये गये और भारतवर्ष छोड़ने के लिये बाध्य हुए।

लालमोहन ढलती उम्र में नये भाव में नहीं रंग पाये; पूर्व संस्कारयुक्त नव भाव-दीक्षितों की निंदा भी की।

किंतु बंगाल में 'बॉयकाट' के प्रवर्तन का प्रस्ताव है उनकी महान् कीर्ति। दिनाजपुर में उन्होंने बंग-भंग के प्रतिवादस्वरूप विदेशी-वर्जन का प्रस्ताव रखा था।

श्रीहट्ट में बनायी गयी प्रस्तावावली

सुरमा उपत्यका समिति के अधिवेशन में बॉयकाट का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया और औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन व निर्वासितों के बारे में कोई संतोषजनक प्रस्ताव नहीं रखा गया, यह देख सहयोगिनी 'संजीवनी' ने दुःख प्रकट किया है। 'बंगाली' पत्रिका में प्रकाशित प्रस्तावों का भ्रमात्मक अंग्रेजी अनुवाद देख सहयोगिनी भ्रम में पड़ गयी है। यह अनुवाद है भ्रमपूर्ण। जहां पर Self-Government शब्द का प्रयोग हुआ है वहां पर मूल में था 'स्वराज्य' शब्द, स्वराज्य पर प्रत्येक सभ्य राष्ट्र का अधिकार है, समिति देशवासियों को सर्वविध वैध साधनों से स्वराज्य पाने की चेष्टा करने के लिये आह्वान कर रही है, इसी गूढ़ अर्थ में प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। इंग्लैंड के साथ भारत का औपनिवेशिक संबंध नहीं, इसके अलावा औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन भारत के पूर्ण राष्ट्रीय विकास और महत्त्व का उपयोगी शासन-तंत्र नहीं। इसी विश्वास के बल पर समिति ने किसी विश्लेषण के स्वराज्य को ही माना है अपनी चेष्टा का लक्ष्य। बॉयकाट का प्रस्ताव भी परित्यक्त नहीं हुआ है किंतु उसे बंग-भंग के साथ न जोड़ समिति ने स्वराज्य प्राप्ति और देश की उन्नति के लिये बॉयकाट की प्रयोजनीयता को समझकर ही उसका समर्थन किया है। जिन वैध साधनों से स्वराज्य प्राप्ति की चेष्टा समिति द्वारा अनुमोदित है, बॉयकाट है उसी वैध साधनों में गण्य और प्रधान, यही है श्रीहट्टवासियों का मत। बॉयकाट की प्रयोजनीयता बंग-भंग के प्रतिकार में सीमाबद्ध होने से उसका क्षेत्र अति संकीर्ण हो जायेगा। समिति के स्वीकृत प्रस्ताव की रचना में यही मूल नियम रक्षित हुआ है कि आत्म-शक्ति से जो प्राप्य हो उस पर ही विशेष लक्ष्य रखना कर्तव्य है, सरकार से आवेदन-निवेदन वर्जनीय है, और जो-जो विषय उनके अनुग्रह पर निर्भर हैं, पर उनका उल्लेख करना आवश्यक है, उसके बारे में सरकार से प्रार्थना या प्रतिवाद का वर्जन कर केवल मत प्रकट करना यथेष्ट है। इस नियमानुसार समिति निर्वासितों से सहानुभूति दिखा विरत हो गयी है। बंग-भंग के विरुद्ध व्यर्थ में वागाडंबर न कर संक्षेप में प्रतिवाद किया गया है। सहयोगिनी के इस कथन से कि औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन सभी पक्षों को स्वीकृत है, हम दंग रह

गये। राष्ट्रीय पक्ष मध्यपंथियों के मन को रखने के लिये सभा-समितियों में औपनिवेशिक स्वायत्त-शासन के प्रस्ताव का प्रतिवाद भले न करें, पर वैसे स्वायत्त-शासन में उनकी तिल-भर भी आस्था नहीं और न उसे स्वराज्य नाम से अभिहित ही करना चाहते हैं। असंपूर्ण स्वराज्य अधीनता-दोष से दूषित है अतः है स्वराज्य कहलाने के अयोग्य। वैसे स्वायत्त-शासन से अंग्रेज उपनिवेशवासी भी असंतुष्ट हैं, उसी असंतोष के कारण युक्त साम्राज्य (Imperial Federation) और स्वतंत्र सैन्य एवं नौ-सेना के गठन की चेष्टा चल रही है। वे अधीन हो ब्रिटिश साम्राज्य में रहना नहीं चाहते, साम्राज्य के समान-अधिकार-प्राप्त भागीदार बनने के प्रयासी हैं। जब नवजात अलब्ध-प्रतिष्ठ अख्यात शिशु-राष्ट्र में ऐसी महती आकांक्षा जनमी है, तब यदि हम, प्राचीन आर्यजाति, अधूरे व राष्ट्रीय महत्त्व के विकास में अनुपयोगी स्वायत्त-शासन को अपने इस महान् और ईश्वर-प्रेरित अभ्युत्थान का चरम व परम लक्ष्य कहें तो इसे हमारी हीनता और भगवान् की सहायता-प्राप्ति में अयोग्यता दिखाने के अलावा और क्या कहा जाये ?

राष्ट्रीय धन-भंडार

हुगली प्रादेशिक समिति के अधिवेशन में राष्ट्रीय धन-भंडार से फेडरेशन हॉल के निर्माण में खर्चने का प्रस्ताव निर्विवाद पारित हुआ था। मध्यपंथी देश-नायक श्रीयुत सुरेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय ने यह प्रस्ताव रखा था, राष्ट्रीय पक्ष के नेता श्रीयुत अरविन्द घोष ने इसका अनुमोदन किया था, बिना विवाद और सोत्साह यह प्रस्ताव पास हुआ था। इसके बाद सारे देश की आकांक्षा की उपेक्षा कर अन्य मत की सृष्टि करने की चेष्टा देश-हितैषियों का काम नहीं। पर 'बंगाली' पत्रिका के एक पत्र-प्रेरक ने पुराने संस्कारवश फंड देनेवालों को कुपरामर्श दिया है। उन्होंने कहा है कि हुगली में समवेत देश-नायकों और प्रतिनिधियों ने बिना विचारे क्षणिक आवेश में यह प्रस्ताव पास किया है। वस्त्र-वयन-शिल्प की सहायता के लिये धन-भंडार की स्थापना हुई है, अन्यथा खर्च होने पर फंड के ट्रस्टी देश के प्रति विश्वासघातकता के अपराधी बनेंगे। धन-भंडार की निधि फेडरेशन-हॉल निर्माण की अपेक्षा राष्ट्रीय विद्यालय या बंगाल टेक्निकल इंस्टिट्यूट की सहायता में खर्चने से उनके मत में, देश का उपकार व राष्ट्रीय निधि का सद्व्यवहार होगा। ये ही हैं महत् कार्य। फेडरेशन-हॉल का निर्माण है अतिशय क्षुद्र व नगण्य कार्य। हॉल के अभाव में इतने दिन हमने कोई असुविधा महसूस नहीं की, और कुछ दिन हॉल न बने तो भी चलेगा। पहली बात—वस्त्र-वयन के अलावा दूसरे उद्देश्य से खर्चना यदि विश्वासघात कहा है तो लेखक महाशय ने राष्ट्रीय विद्यालय या टेक्निकल इंस्टिट्यूट की बात क्यों उठायी है ? इससे क्या यह

नहीं समझा जाता कि दूसरे उद्देश्य से खर्चना उनके मत में अपराध नहीं, किंतु उनके अनभिमत उद्देश्य में फंड के खर्च होने की संभावना देख वे सिर्फ बाधा देने के लिये विश्वासघातकता कह आपत्ति कर रहे हैं ? ट्रस्टी किसके प्रति अपराधी होंगे ? देश का मत तो हुगली में व्यक्त हो चुका है। देश के प्रतिनिधियों ने इस उद्देश्य को ही उपयुक्त उद्देश्य मान अपना मत प्रकट किया है। अतः इस तरह के अर्थ-व्यय से ट्रस्टी देश के प्रति अपराधी नहीं होंगे। यदि दाताओं की बात कहें तो जिज्ञासा होती है : क्या दाताओं ने, यह धन हमारा निजी धन बना रहेगा, हमारी निजी संपत्ति बनी रहेगी, ऐसा समझकर दान दिया है या यह राष्ट्रीय धन, राष्ट्रीय संपत्ति बन जायेगी, ऐसा मान कर दिया है ? यदि यह धन-भंडार राष्ट्रीय संपत्ति हो तो उसका सारा खर्च बंगाल के मतानुसार होना उचित है। सारा बंगाल जब इस उद्देश्य को मान चुका है तब दाता देश-मत के विरुद्ध मत दे बाधा क्यों देने लगे ? अतः इस प्रकार के अर्थ-व्यय से ट्रस्टी दाताओं के प्रति भी अपराधी नहीं बनेंगे। तो भी एक आपत्ति उठायी जा सकती है, शायद वे कानून के पाश में बंधे हों, किसी अन्य उद्देश्य से फंड का प्रयोग करने में असमर्थ हों, जब राष्ट्रीय धन-भंडार स्थापित हुआ तब संगृहीत धन वस्त्र-वयन इत्यादि कार्य में खर्च होगा, ऐसी घोषणा की गयी थी। अब विचारणीय यह है कि इत्यादि शब्द का अर्थ वस्त्र-वयन इत्यादि शिल्प-कार्य है या वस्त्र-वयन इत्यादि राष्ट्रीय कार्य ? यदि अंतिम अर्थ माना जाये तो कानून की बाधा भी कट जाती है। यदि ट्रस्टियों को अपनी क्षमता पर संदेह हो तो दाताओं की सभा बुला बंगाल के प्रतिनिधियों की हां में हां मिलायें, वे इस अनुमति द्वारा संदेह से छुटकारा पा सकते हैं। राष्ट्रीय विद्यालय या टेक्निकल इंस्टिट्यूट में फंड को खर्च करने के विषय में नाना कारणों से मतभेद होने की संभावना है। अब वस्त्र-वयन-शिल्प में व्यय करने की कोई आवश्यकता नहीं। वयन-शिल्प ने काफी उन्नति कर ली है। उस क्षेत्र का अवशिष्ट कार्य व्यक्तिगत या सम्मिलित कारबार से ही संपन्न हो सकता है। फेडरेशन हॉल के निर्माण को अब और क्षुद्र या निष्प्रयोजनीय कर्म नहीं कहा जा सकता। इतने दिनों तक हॉल न बनने से सारा राष्ट्र सत्य-भंग और अकर्मण्यता के कलंक का भाजन बना है और उसके अभाव में यथेष्ट असुविधाएं भी सहनी पड़ी हैं। बंगाल के जीवन-केंद्र कलकत्ते में जो ध्वनि उठती है वही देश-भर में प्रतिध्वनित होती है, उससे ही सारा राष्ट्र उत्साहित और कर्तव्य-पालन में बलीयान् होता है, आंदोलन के आरंभ से ही यह उपलब्धि होती आ रही है। कलकत्ते की नीरवता से देश नीरव व उत्साहहीन पड़ गया है। अतः पूर्ण स्वाधीनतापूर्वक सम्मिलित होने के स्थान का अभाव कोई कम अभाव नहीं। ऐसे में पूरे बंगाल के अभीप्सित उद्देश्य में राष्ट्रीय धन-भंडार का अर्थ-व्यय करना उचित और प्रशंसनीय है।

सर फिरोजशाह मेहता का बॉयकाट अनुराग

अबतक हमारी यह धारणा थी कि सर फिरोजशाह मेहता चिरकाल रहे हैं बॉयकाट-विरोधी व स्वराज्य में अनास्थावान्। यह धारणा सर फिरोजशाह के आचरण और बातों से सृष्ट व पुष्ट होती आयी है। इतने दिन बाद सर फिरोजशाह के हृदय में प्रबल बॉयकाट-अनुराग-वह्नि जलने लगी है और स्वराज्य के लिये अजस्र अकृत्रिम प्रेमधारा उनकी रग-रग में बह रही है और हमेशा बही हैं सुनकर हम स्तंभित और रोमांचित हुए। यह अद्भुत बात 'बंगाली' पत्रिका ने प्रकाशित की है। लाहौर में फिरोजशाह मध्यपंथी कांग्रेस के सभापति चुने गये हैं जान सारे अंग्रेजी दैनिक—'टाइम्स ऑफ इण्डिया', 'स्टेट्समैन', 'इंगलिशमैन', 'डेलि न्यूज'—आनंद से अधीर हो उठे हैं; यह मेहता महाशय के लिये कम गौरव की बात नहीं। 'बंगाली' को और सब सह्य है पर 'इंगलिशमैन' के आनंद में वह विपरीत ढंग से अधीर हो यह प्रतिपादित करने की चेष्टा कर रहा है कि सर फिरोजशाह बॉयकाट व स्वराज्य विरोधी नहीं हैं। सहयोगी 'बंगाली' ने कहा है, सर फिरोजशाह ने कलकत्ता-अधिवेशन में बॉयकाट के प्रस्ताव का सोत्साह व सानंद अनुमोदन किया था, दादा भाई के मुंह से स्वराज्य शब्द निकलने पर उन्होंने आनंद से प्रफुल्ल हो उसका समर्थन किया था। हम सुनकर आह्लादित तो हुए किंतु जले मन के दोष से दुष्ट संदेह को जीत नहीं पाये। याद आ रहा है मद्रास और अहमदाबाद में स्वदेशी प्रस्ताव पर मेहता महाशय का तीव्र उपहास। याद आता है कलकत्ते के अधिवेशन में स्वदेशी प्रस्ताव में 'स्वार्थ-त्याग कर भी' ये शब्द समाविष्ट कराने के लिये दो घंटे तक तिलक की उत्कट चेष्टा, मेहता का क्रोध और तिरस्कार एवं गोखले व मालवीय की मध्यस्थता; प्रस्ताव में उस बात की अवतारणा पर मेहता का रूठना और कांग्रेस में चुप रह जाना। याद आता है, सूरत में सभा-भंग होने पर मेहता का आनंद प्रकट करना। याद आता है, मेहता द्वारा पत्र में बंगाल का अपमान और मद्रास में बॉयकाट का बहिष्कार। याद आ रहा है, मेहता का मत कि औपनिवेशिक स्वराज्य है सुदूर भविष्य का स्वप्न-मात्र। नहीं, जला मन, 'बंगाली' के शुभ संवाद पर किसी भी तरह विश्वास करने को तैयार नहीं। हम नम्रता से सहयोगी को अपनी बात का थोड़ा-सा प्रमाण देने का अनुरोध करते हैं, नहीं तो ऐसी नितांत अलीक व अविश्वसनीय बात के प्रचार से मध्यपंथी दल का क्या लाभ हुआ, यह समझ में नहीं आया।

कन्वेन्शन के सभापति का निर्वाचन

यह तो जानी हुई बात थी कि मेहता महाशय लाहौर कन्वेन्शन के सभापति चुने जायेंगे। बंगाल के बाहर श्रीयुत सुरेंद्रनाथ मध्यपंथियों द्वारा मध्यपंथी नहीं माने जाते। उन्हें छोड़ने पर बंगाल को छोड़ना होगा, अगत्या वे उन्हें स्थान दे रहे हैं। उन सबकी दुर्दशा देखकर दया भी आती है, सुरेंद्रनाथ को न निगल ही सकते हैं न उगल ही सकते हैं। जिनके उदार मत से, जिनके देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम[१] से, सुरेंद्रनाथ ने अपनी आवेगमयी वक्तृता, तेजस्विता व स्वदेश-प्रेम के गुण के बल पर असाधारण गौरव पाया था, वह गौरव नष्ट होने जा रहा है, उन साहसहीन बंधुओं के कुपरामर्श से भारत-भर के पूज्य देश-नायक प्रादेशिक दल के क्षुद्र नेता में परिणत होने जा रहे हैं। इधर सर फिरोजशाह मेहता कन्वेन्शन में असंगत आधिपत्य पा इस जाली कांग्रेस के बॉयकाट-वर्जन और शासन-सुधार को स्वीकार कर राजभक्ति की मात्रा बढ़ाने व राष्ट्रीयता का ह्रास करने के लिये बद्धपरिकर हैं। इससे बंगाल के मध्यपंथी असंतुष्ट हुए हैं। उससे कन्वेन्शन के राजा का क्या? बंगाल के प्रति उनकी अवज्ञा व विद्वेष अतिशय गंभीर हैं। बंगाल के प्रतिनिधियों द्वारा कन्वेन्शन का वर्जन करने पर भी वे अपने निर्दिष्ट पथ का परित्याग नहीं करेंगे। स्वराज्य, बॉयकाट, राष्ट्रीय शिक्षा व बंग-भंग के प्रतिवाद के साथ उनके दल की कोई आंतरिक सहानुभूति नहीं, ये प्रस्ताव उठ जायें तो उनकी जान बचे। वे चाहते हैं मिण्टो-स्वदेशी, स्वार्थ-त्यागयुक्त स्वदेशी नहीं। ऐसी अवस्था में बंगाल के मध्यपंथी या तो धीरे-धीरे मेहता के श्रीचरणों में अपने-अपने राजनीतिक मतों की बलि चढ़ाने को बाध्य होंगे, या उन्हें कन्वेन्शन से हटना पड़ेगा। युक्त कांग्रेस ही है उनकी आत्म-रक्षा का एकमात्र उपाय। किंतु साहस बटोर मेहता के कहे का विरोध कर संयुक्त महासभा की स्थापना की चेष्टा करने का बल उनमें कहां? खैर, इस सभापति-निर्वाचन से हमारा पथ और भी साफ हो गया है। मेहता-मजलिस में हमारा स्थान नहीं, युक्त कांग्रेस की आशा क्षीणतर होती जा रही है, अब हम अपनी राह देखें। वर्ष खतम होने से पहले ही राष्ट्रीय दल के लिये परामर्श सभा का स्थापन व सम्मेलन आवश्यक है।

---

[१] 'धर्म' पत्रिका में छपाई की किसी भूलवश यहां कुछ अंश छूट गया लगता है। —सं०

धर्म
अंक ७
आश्विन १८, १३१६

गीता की दुहाई

विलायत में राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के पक्ष में गीता का आश्रय ले एक अद्‌भुत और रहस्यमय युक्ति प्रदर्शित की जा रही है। अधिवेशन के परिपोषक वैसे अधिवेशन में प्रकृत फल की संभावना न दिखा सकने पर देशवासियों को गीतोक्त 'निष्काम' धर्म और सिद्धि व असिद्धि में समता का अवलंबन लेने के लिये कह रहे हैं। विलायत अधिवेशन है हमारा कर्तव्य कर्म, अतः उसके फलाफल की विवेचना न कर कर्तव्य कर्म का निर्णय करना चाहिये। राजनीति में धर्म की दुहाई व गीता की दुहाई दी जाती देख हम खुश हुए और 'कर्मयोगिन्' व 'धर्म' की चेष्टा फल रही है जान आशा बंधी। किंतु गीता की ऐसी व्याख्या से आरंभ में भूल होने की संभावना देख शंकित भी हो रहे हैं। कर्तव्य पालन के उपाय-निर्वाचन में अपरिणामदर्शिता व उद्देश्य-सिद्धि की चेष्टा में उदासीनता की शिक्षा देना गीता के समतावाद और निष्कामकर्मवाद का उद्देश्य नहीं। हमारा कर्तव्य क्या है पहले इसका निर्णय कर लेना आवश्यक है; इसके बाद धीरता से असफलता में अविचलित रह कर्तव्य करते जाना है धर्म-अनुमोदित पथ। लंदन अधिवेशन हमारा कर्तव्य कर्म है या नहीं, यह विवादास्पद है; इस प्रश्न की मीमांसा में परिणाम की चिंता त्याग नहीं सकते। कर्तव्य-निर्णय में दो स्वतंत्र विषयों की मीमांसा आवश्यक है। पहला है उद्देश्य, दूसरा उपाय। मुख्य उद्देश्य है धर्मानुमोदित होने पर—धर्म का आवश्यक अंग होने पर—परिणाम की चिंता न करना; वह है हमारा स्वधर्म, उस धर्म-पालन में निधन भी है श्रेयस्कर, तब उसका परित्याग कर परधर्म-पालन है पाप। जैसे, स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा, स्वाधिकार-लाभ की चेष्टा, देश-हित करने की चेष्टा है राष्ट्र का प्रधान धर्म, देश की प्रत्येक कर्मी संतान का स्वधर्म और उस स्वधर्म-पालन में प्राण-त्याग भी है श्रेयस्कर, लेकिन स्वधर्म त्यागकर शूद्रोचित पराधीनता एवं दासस्वभाव-सुलभ स्वार्थपरता का आश्रय लेना है महापाप। किंतु उपाय का धर्मानुमोदित होना ही यथेष्ट नहीं, उद्देश्य सिद्धि के योग्य भी होना होगा। स्वधर्म के अंगस्वरूप कर्तव्य कर्म करने के लिये धर्मानुमोदित व उपयुक्त उपाय का प्रयोग कर उत्साह सहित कर्तव्यसिद्धि की चेष्टा करने पर भी यदि सफलता न मिले तो असफलता से अविचलित रह प्राण त्यागने तक बारंबार सर्वविध उपयुक्त और धर्मानुमोदित उपायों से कर्तव्य पालन की दृढ़ चेष्टा ही है गीतोक्त समता और निष्काम कर्म। नहीं तो गीता का धर्म कर्मी का धर्म, वीर का धर्म, आर्य का धर्म न हो या तो तामसिक निश्चेष्टता की परिपोषक शिक्षा होता या होता अपरिणामदर्शी मूर्खों का धर्म। कर्मफल पर हमारा अधिकार नहीं, कर्मफल है भगवान् के हाथ, हमारा अधिकार

तो है केवल कर्म पर। सात्त्विक कर्ता होते हैं अनहंवादी व फलासक्तिहीन—किंतु होते हैं दक्ष व उत्साही। वे जानते हैं कि उनकी शक्ति है भगवद्प्रदत्त और महाशक्ति द्वारा चालित, अतः वे हैं अनहंवादी; वे जानते हैं कि फल पहले से ही भगवान् द्वारा निर्दिष्ट है अतएव होते हैं फलासक्तिहीन; किंतु वे यह भी जानते हैं कि दक्षता, उपाय-निर्वाचन की पटुता, उत्साह, दृढ़ता और अदमनीय उद्यम हैं शक्ति के सर्वोच्च अंग, अतएव होते हैं दक्ष व उत्साही। सूक्ष्म विचार से गीता में निहित गभीर चिंतन व शिक्षा का प्रकृत अर्थ हृदयंगम होता है। नहीं तो, दो-एक श्लोकों के स्वतंत्र और विकृत अर्थ ग्रहण करने का आशय है भ्रमात्मक शिक्षा देना और धर्म और कर्म में अधोगति।

लंदन अधिवेशन और संयुक्त कांग्रेस

देखा गया है कि गीतोक्त समतावाद पर लंदन अधिवेशन प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। और एक युक्ति दी जा रही है। उससे परिणाम की चिंता परिवर्जित नहीं हुई। अधिवेशन के समर्थकों का कहना है कि अब कोई फल हो या न हो, लंदन में संयुक्त कांग्रेस की स्थापना होगी ही। लाहौर में इसकी आशा करना व्यर्थ है, लंदन में ही सारे देश की आशा व आकांक्षा फलीभूत होगी। बात है तो कानों को विशेष सुख देनेवाली। इसका कोई अनुमोदन होता तो हम भी लंदन अधिवेशन के पक्षपाती होते। हम भी जानते हैं कि लाहौर में संयुक्त कांग्रेस-स्थापना की कोई आशा नहीं, न हमने उस आशा का कभी पोषण ही किया। किंतु सारे देश की आशा व आकांक्षा को यदि देश में ही सफल करने का उपाय और आशा नहीं तो सुदूर विदेश में वह आशा व आकांक्षा सफल होगी, इस अद्भुत युक्ति की यथार्थता के बारे में हम विश्वस्त न हो सके। ऐसी सफलता का भला क्या मूल्य या क्या स्थायित्व ? माना कि मेहता, गोखले और कृष्णस्वामी के वहां अनुपस्थित होने से संयुक्त कांग्रेस का समर्थक प्रस्ताव पास हो सकता है। माना कि उनके उपस्थित होने पर भी छात्रों के उत्साह से उत्साहित हो बंगाल के मध्यपंथी वैसा प्रस्ताव ग्रहण करने का साहस कर सकते हैं। किंतु उसके बाद क्या होगा ? स्वदेश वापस आ वे कौन-सी राह पकड़ेंगे ? जो स्वदेश में मेहता व गोखले के सामने स्वमत की प्रतिष्ठा की चेष्टा नहीं कर सकते, उन्होंने विदेश जा साहस व चरित्रबल तो दिखलाया लेकिन स्वदेश लौट आने पर उनका वही साहस और बल रहेगा क्या ? यदि रहे तो दूर विदेश न जा देश में ही संयुक्त कांग्रेस की स्थापना असंभव क्यों ? मेहता और गोखले लंदन कांग्रेस का प्रस्ताव कभी स्वीकार नहीं करेंगे। अधिवेशन में सारे देश के प्रतिनिधि उपस्थित नहीं थे, थोड़े-से लोगों के परामर्श से अनेकों के मत की उपेक्षा कर बंगालियों की संख्या की अधिकता के कारण प्रस्ताव पारित हुआ; फिर कन्वेन्शन के अधिवेशन में गृहीत न होने तक हम

सहमत नहीं होंगे, इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। कारणों की क्या आवश्यकता ? कन्वेन्शन की नीति का मूल तत्त्व है : चरमपंथी राजद्रोही और सारी अशांति और अनर्थ की जड़; उन्हें कठोर दंड देना है सरकार का कर्तव्य, अतएव उनके संसर्ग से न बचने से कांग्रेस विनष्ट हो जायेगी। इस मूल तत्त्व को एक ओर रख जो चरमपंथियों को पुनः कांग्रेस में प्रवेश कराने जा रहे हैं उनका प्रस्ताव हम सुनने को भी बाध्य नहीं, यह बात क्या रासबिहारी, फिरोजशाह और गोखले नहीं कहेंगे ? सर फिरोजशाह मेहता की तरह सभी जानते हैं कि रासबिहारी बाबू सूरत और मद्रास के भाषणों में और गोखले महाशय पूना के भाषण में अपना-अपना मत प्रकट कर चुके हैं। तब क्या अब यह आशा की जा सकती है कि बंगाल के मध्यपंथी उन्हें त्याग अपने प्रांत में संयुक्त कांग्रेस करेंगे ? वैसा साहस व दृढ़ता यदि हो तो स्वदेश में संयुक्त कांग्रेस का प्रयास क्यों नहीं करते ? ऐसी दृढ़ता न रहने पर लंदन जा कौशल से बंबई के नेताओं को पराजित करने की चेष्टा विफल होगी।

सर जॉर्ज क्लार्क की सारगर्भित उक्ति

हाल ही में सर जॉर्ज क्लार्क ने पूना में जो वक्तृता दी है उसमें असार व सारगर्भित बातों का आश्चर्यजनक मिश्रण है। पहली युक्ति है : भारत में शिल्प-वाणिज्य की द्रुततर उन्नति होने से देश का अशेष अनिष्ट होने की संभावना है; क्योंकि श्रमजीवियों की संख्या है बहुत कम, मिलों की संख्या बढ़ने से और भी खींच-तान होगी, किसानों के श्रमजीवी बनने से कृषि की भी अवनति होगी। कृषि की अतिशय अधिकता से शिल्प-वाणिज्य के विनाश से ब्रिटिश वाणिज्य का यथेष्ट उपकार हुआ है। क्लार्क उस अस्वाभाविक अवस्था के परिवर्तन से आशंकित हो उठे हैं। यह अंग्रेज राजनीतिज्ञों के लिये स्वाभाविक और प्रशंसनीय है। किंतु इस स्थिति से भारतवासियों की दरिद्रता और अवनति हुई है। कृषि की प्रधानता के ह्रास में, वाणिज्य के विस्तार में, श्रमजीवी की उन्नति में है देश का मंगल। सर जॉर्ज क्लार्क ने और भी कहा है कि यदि बॉयकाट का उद्देश्य बंग-भंग का प्रतिवाद करना हो तो जावा और हिंदू-प्रधान मोरिशस द्वीप के अधिवासियों द्वारा बनायी चीनी के बहिष्कार से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा, इससे ब्रिटिश जाति का होश में आना असंभव है। कार्यतः इस बात से इन्होंने देशवासियों को विदेशी वस्तु के वर्जन का परित्याग कर ब्रिटिश पण्य का बहिष्कार करने का परामर्श दिया है। यह बात है युक्तिसंगत व सारगर्भित। हम भी कहते हैं कि भारतवासी के औपनिवेशिक और सहायक अमेरिका का पण्य वर्जन न कर ब्रिटिश पण्य का वर्जन करने से बॉयकाट कृतकार्य होगा; अंग्रेज जाति चेतेगी और भारत के प्रति सम्मान का भाव जगेगा, 'स्वदेशी' की भी बलवृद्धि होगी। स्वदेशी वस्तु मिलने पर

विदेशी वस्तु नहीं खरीदेंगे, स्वदेशी वस्तु के अभाव में अमेरिका या अन्य देश के पण्य खरीदेंगे, वर्तमान अवस्था में ब्रिटिश पण्य नहीं खरीदेंगे, यही है स्वदेशी व बॉयकाट का असली पथ। क्लार्क महाशय ने यह भी कहा है कि किसी निश्चित उद्देश्य या विशेष दोष या असुविधा को निमित्त न बना अनिर्दिष्ट रूप से सरकार का तिरस्कार करने का कोई फल नहीं। बात ठीक है। हम वर्तमान अवस्था में क्या दोष या असुविधा देखते हैं, किससे संतुष्ट होंगे, वह सरकारी कर्मचारियों को जनाना चाहिये, यदि वे न सुनें तो भी तिरस्कार करना व्यर्थ है, आत्म-शक्ति और वैध प्रतिरोध ही अवलम्बनीय हैं। क्लार्क महाशय की बातों का हमने यही अर्थ समझा है। आशा है, देशवासी बंबई के लाटसाहब के दो सारगर्भित और युक्तिसंगत उपदेशों को हृदयंगम करेंगे।

विलायत में आत्मपक्ष का समर्थन

राष्ट्रीय दल के श्रद्धेय नेता श्रीयुत विपिन चन्द्र पाल ने हाल ही में राष्ट्रीय दल के भावी पथ के निर्धारण के बारे में अपना मत प्रकट किया है। देखते हैं विलायत में आत्मपक्ष के समर्थन के विषय में विपिनबाबू के मत में थोड़ा-बहुत परिवर्तन आया है। अवस्थांतर से इस तरह मत का परिवर्तन स्वाभाविक है। विशेषतः उद्देश्य के प्रति जितना अटल रहने की आवश्यकता है, उपाय को ले उतना अटल रहना सर्वदा विज्ञता का परिचायक नहीं। उपाय के बारे में हमारे भी मत थोड़े-बहुत बदले हैं। पर विपिनबाबू की युक्ति के याथार्थ्य के बारे में मतभेद संभव है। उनका कहना है : अंग्रेज जाति देवता नहीं, वे स्तव-स्तोत्र से प्रसन्न हो हाथ में स्वराज्य ले स्वर्ग से उतर नहीं आयेंगे। सच है, फिर भी वे गुणहीन या स्वभावतः अन्याय के पक्षपाती नहीं, उनमें विवेक-बुद्धि है। दमन-नीति के दौर के कारण भारतवर्ष में राष्ट्रीय पक्ष के उद्यम व चेष्टा अतिशय संकटमय अवस्था में पड़ जाने से उत्तम रूप से नहीं चल रहे। विलायत में भारतागत अंग्रेजों के मिथ्या संवाद के प्रतिवाद द्वारा ब्रिटिश राष्ट्र के सामने अपना प्रकृत उद्देश्य और कार्य रख पाने से वह विवेक जग सकता है और दमन-नीति भी बंद हो सकती है। अतः विलायत में वैसे प्रचार की व्यवस्था करना आवश्यक है। हम मानते हैं कि अंग्रेज देवता भी नहीं, पशु भी नहीं, वे हैं मनुष्य, उनमें विवेक-बुद्धि है। किंतु अंग्रेज हैं पशु और गुणहीन, ऐसी बात भी किसी ने कभी नहीं कही। ऐसी गलत धारणा से राष्ट्रीय दल ने विलायत में आत्म-पक्ष के समर्थन को नहीं त्यागा। अंग्रेज मनुष्य हैं, मनुष्य निज स्वार्थवश ही अनलस युक्ति से अपने स्वार्थ को न्यायोचित और धर्मोचित कहने का अभ्यस्त है। हम विपिनबाबू से पूछते हैं, विलायत में वैसी व्यवस्था होने पर साधारण अंग्रेज किसकी बात पर विश्वास करेंगे—हमारी या अपने जात भाइयों की ? इसीलिये वैसी चेष्टा पर हमारी आस्था नहीं। और एक बात याद

रखने की जरूरत है। कॉटन प्रभृति पार्लियामेंट के सभासदों ने विलायत में निर्वासन और निर्वासितों के बारे में सच्ची और निर्भूल बातें प्राणपन से प्रचारित की हैं, इससे उदारनीतिक और रक्षणशील अनेक सभासद निर्वासन के प्रति वीतश्रद्ध हुए तो हैं किंतु वे क्या कभी निर्वासन-प्रथा उठा देंगे या वे राज कर्मचारियों को निर्वासितों को मुक्ति देने का आदेश देंगे? विपिनबाबू आजकल अंग्रेजों का राजनीतिक जीवन निकट से देख रहे हैं, थोड़ी-बहुत अभिज्ञता भी लाभ की होगी, वे इसका उत्तर दें।

धर्म
अंक ८
आश्विन २५, १३१६

विलायत के दूत

जैसे भारत में, वैसे ही विलायत में अनेक राजनीतिक संप्रदाय व विभिन्न मत अंग्रेज राष्ट्र को नाना दलों में विभक्त करते हैं और उनके संघर्ष से देश की उन्नति व अवनति संसाधित होती है। कभी-कभी किसी-किसी संप्रदाय के दूत-स्वरूप कोई ख्यातनामा संवादपत्र-लेखक या पार्लियामेंट के सभासद इस देश में आ लोकमत व देश की अवस्था से थोड़ा-बहुत अवगत हो स्वदेश लौट जाते हैं। भारत में नव-जागरण और देशव्यापी अशांति के सुफल से बहुत सारे अंग्रेजों की दृष्टि हमारी ओर आकृष्ट हुई है। नवीन, उन्नतिशील श्रमजीवी दल में ऐसी ज्ञानाकांक्षा सुस्पष्ट लक्षित होती है। कीर हार्डी उनके प्रतिनिधि बन इस देश में आये थे, पुनः उसी दल के एक प्रसिद्ध नेता मि० रैमसे मैक्डोनाल्ड इसी उद्देश्य से आये हुए हैं। श्रमजीवी दल में अनेक छोटे-छोटे दल हैं, एक दल के नेता हैं मैक्डोनाल्ड, वे हैं अपेक्षाकृत माडरेट (नरमपंथी)। एक और दल के नेता हैं कीर हार्डी, वे उतने नरमपंथी नहीं। इसके अलावा चरमपंथी और सोशलिस्ट (समाजवादी) हैं। वे कीर हार्डी और मैक्डोनाल्ड जैसों को नहीं मानते। मि० मैक्डोनाल्ड की कीर हार्डी की तरह वक्तृता व मत-प्रचार करने की इच्छा नहीं, वे संयत रह अपनी ज्ञान-लिप्सा को तृप्त करने के लिये कृत-संकल्प हैं। इस प्रशंसनीय प्रयास में वे सभी की सहायता लेने के लिये तैयार हैं। उन्होंने एक फ्रांसीसी पत्र के प्रतिनिधि से कहा है, "मैं अपेक्षाकृत उच्च मतावलंबी हिंदू संप्रदाय के मुख्य नेता मि० अरविन्द घोष के वक्तव्य सुनने से ही संतुष्ट नहीं होऊंगा, मध्यपंथी दल के मि० बनर्जी और नरमपंथी मि० गोखले से भी मिलने की आशा रखता हूं। ब्रिटिश शासन-तंत्र के प्रधान-प्रधान कर्मचारी और गीरसन आदि की तरह प्रधान बैंक के संचालकों से भी परामर्श करूंगा।" मि० मैक्डोनाल्ड ने लार्ड मारले के शासन-सुधार को उदार

कहकर प्रशंसा की है और भारतवासी ऐसे उदार सुधार के उपयुक्त हैं भी या नहीं, यह खुद ही देखना चाहते हैं। दो या तीन महीने भारत में घूम-फिरकर भारतवासियों की योग्यता के बारे में मि० मैक्डोनाल्ड स्वयं किस तरह स्थिर मत बनाने में समर्थ होंगे हम यह समझने में अक्षम हैं। मि० मैक्डोनाल्ड हैं विलायत के एक प्रधान प्रजातंत्र-समर्थक। उनके मत में ब्रिटिश साम्राज्य को प्रजातंत्रवादी के आदर्श पर प्रतिष्ठित होना चाहिये। ऐसी उदार नीतिवाले के मुख से मारले के सुधार की उदारता की प्रशंसा जब सुननी पड़ी, तो देशवासी समझें कि विलायत में आंदोलन चलाने से हमारे परिश्रम और अर्थ-व्यय के उपयुक्त फल-लाभ की संभावना कितने दूर का सपना है।

राष्ट्रीय घोषणा-पत्र

हमारे राजनीतिक कर्ताओं की गभीर, सूक्ष्म और नाना पथगामी राजनीतिक बुद्धि की रहस्यमयी गति क्षुद्र-बुद्धि साधारण मनुष्य को समझ नहीं आती। ७ अगस्त को कालेज स्क्वायर से जुलूस निकालने की बात पर हुल्लड़ मचा। कालेज स्क्वायर के नाम से कर्मीगण इतने भयभीत हो गये थे कि उस दिन सभापति सभापति-पद त्यागने पर उतारू हो गये। लाचार पांति मैदान से जुलूस निकालने की व्यवस्था हुई। फिर भी थोड़े ही लोग वहां उपस्थित हुए, अधिकांश कालेज स्क्वायर के जुलूस में भाग लेने गये या अपने-अपने स्थान से छोटे-छोटे जुलूस निकाल सभास्थल पर पहुंचे। इससे ७ अगस्त के जुलूस की शोभा नष्ट हो गयी, विपक्षियों को उत्साह मिला और मिला बॉयकाट में दोष दिखाने का अवसर। इस बार कार्यकर्ताओं ने उस भीति को जीत लिया है, ३० आश्विन के विज्ञापन में कालेज स्क्वायर से जुलूस के निकलने का उल्लेख है। किंतु उस विज्ञापन में राष्ट्रीय घोषणा-पत्र के पाठ की बात वर्जित हुई है। पिछले साल के विज्ञापन में था : "सभा में स्वदेशी महाव्रत-ग्रहण, विदेशी-बहिष्कार, बंग-भंग का प्रतिवाद और राष्ट्रीय घोषणा-पत्र का पाठ होगा।" इस बार उसमें परिवर्तन हुआ है, वहां लिखा है : "सभा में विदेशी-बहिष्कार के बाद स्वदेशी महाव्रत-ग्रहण और बंग-भंग का प्रतिवाद होगा।" कार्यकर्ता किससे डर गये हैं, "राष्ट्रीय" शब्द से, या "घोषणा" शब्द से या घोषणा-पत्र के मर्मार्थ से ?—कुछ समझ में नहीं आया। श्रीयुत आनन्दमोहन वसु ने फेडरेशन हॉल में पहले-पहल यह घोषणा-पत्र पढ़ा था, "क्योंकि सारी बंगाली जाति की सार्वजनीन आपत्ति को अग्राह्य कर सरकार ने बंगाल के दो टुकड़े करना ही निश्चित किया है, अतः हम, बंगाली जाति, घोषणा करते हैं कि इस विभाग-नीति के कुफल का निवारण करने और राष्ट्रीय एकता के संरक्षण के लिये हम अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे। ईश्वर हमारी सहायता करें।"

हम पूछते हैं, इसमें ऐसी कौन-सी राजद्रोह-सूचक बात सन्निविष्ट है जो ३० आश्विन

के भाव-सूचक और सारे बंगाल के प्रतिज्ञा-प्रकाशक घोषणा-पत्र का सहसा वर्जन करना पड़ा ? या मारले और मिण्टो की मनस्तुष्टि के लिये किस तरह नवोत्थित राष्ट्रीय भाव को खर्व करना आवश्यक हुआ ? हम बंग-भंग के कुफल का निवारण करेंगे, राष्ट्रीय एकता का संरक्षण करेंगे, इस पवित्र कर्तव्य कर्म में सारी शक्ति लगायेंगे, इतना-सा भी कहने का यदि साहस न जुटा पा रहे तो ७ अगस्त और ३० आश्विन के अनुष्ठान बंद करो। इतना-सा तेज और साहस यदि न हो तो राष्ट्रीय जागरण व उन्नति की चेष्टा विफल समझो, उसका बाह्य वृथा आडंबर करना है मिथ्याचार-मात्र। जनता की सलाह से यह परिवर्तन नहीं किया गया, जनता राष्ट्रीय घोषणा का बॉयकाट करने से सहमत नहीं होगी। हम सबसे कहते हैं, यदि यह भूल संशोधित नहीं की गयी तो ३० आश्विन को सहस्र कंठों से घोषणा-पाठ का आदेश दो, तब भी यदि नेता सहमत न हुए तो दायित्व उनका होगा।

गुरु गोविन्द सिंह

श्रीयुत वसंतकुमार वन्द्योपाध्याय-प्रणीत गुरु गोविन्द सिंह की जीवनी हाल में ही हमारे हाथ आयी है। इस पुस्तक में गुरु गोविन्द सिंह की राजनीतिक चेष्टा और चरित्र का सरल और सहज भाषा में अति सुंदर ढंग से वर्णन किया गया है, किंतु सिक्खों के दसवें गुरु सिर्फ योद्धा और राजनीतिविद् ही नहीं थे, वे धार्मिक महापुरुष और भगवदादिष्ट धर्मोपदेष्टा भी थे। नानक के सात्त्विक वेदांत-शिक्षाबहुल धर्म को उन्होंने एक नूतन आकार दिया था; अतएव उनका धर्ममत और उससे बना सिक्ख धर्म और सिक्ख-समाज के परिवर्तन का वर्णन यदि विशद रूप से किया जाता तो यह सुंदर जीवनी असंपूर्णता के दोष से दूषित न होती। लेखक ने संक्षेप में सिक्ख जाति का पूर्व वृतांत लिख गोविन्द सिंह के चरित्र व आगमन के ऐतिहासिक बीज और कारण को समझने में सुविधा कर दी है। उसी तरह परवर्ती वृत्तांत भी लिखते तो दसवें गुरु के असाधारण कार्य के फलाफल और उनकी महती चेष्टा की परिणति को समझने में विशेष सुविधा होती। सिक्ख इतिहास के केंद्रस्थल में हैं गुरु गोविन्द सिंह। उन्होंने जिस जाति के संगठन में अपनी समग्र प्रतिभा व शक्ति लगा दी उस जाति का इतिहास ही तो है इस महापुरुष का प्रकृत जीवन-चरित्र। जैसे जड़ और शाखारहित तने की शोभा नहीं होती वैसे ही सिक्ख संप्रदाय के पूर्व व परवर्ती वृतांत के बिना गोविन्द सिंह का जीवन-चरित्र असंपूर्ण लगता है। आशा है, द्वितीय संस्करण में लेखक यह अंश जोड़ देंगे एवं सिक्ख महापुरुष के धर्ममत और समाज-संस्कार की विशद वर्णना कर अपनी लिखी पुस्तक को सर्वांग सुन्दर बनायेंगे। उनकी पुस्तक को पढ़ते हुए खालसा-संस्थापक स्वदेश-हितैषी महावीरों के उदार चरित्र व अद्‌भुत कार्य-

कलापों की ओर मन प्रबल रूप से आकृष्ट होता है। जिन्होंने देश के कार्य के लिये आत्मोत्सर्ग किया है या जो करना चाहते हैं, यह जीवनी उनकी शक्ति बढ़ायेगी और ईश्वरीय प्रेरणा को दृढ़ बनायेगी।

धर्म
अंक ९
कार्तिक १, १३१६

राष्ट्रीय घोषणा-पत्र

राष्ट्रीय घोषणा-पत्र पढ़ा गया, यह बहुत ही हर्ष का विषय है। इस बीच और कोई बात न उठने पर, वाद-प्रतिवाद और मनोमालिन्य का कोई अवसर न दिये जाने पर हम इसके लिये नेताओं को धन्यवाद दे छुट्टी पाते। किंतु 'बंगाली' पत्रिका ने हमें मिथ्यावादी ठहराया है इसलिये हम इस विषय का असली वृत्तांत सर्वसाधारण की जानकारी के लिये प्रकाशित करने को बाध्य हुए। 'सहयोगी' ने सच्ची बात को गुप्त रख इतना ही कहा है कि 'धर्म' में प्रकाशित बातें सर्वथा निराधार हैं, अर्थात् हमने झूठी व मनगढंत बातों का प्रचार कर मध्यपंथी नेताओं के प्रति लोगों को असंतुष्ट करने का प्रयास किया है। अब आप सच्ची घटना को जानकर विचार करें। हमने पहले कहा था कि पिछले साल के विज्ञापन में लिखा था : "राष्ट्रीय घोषणा-पत्र पढ़ा जायेगा।" इस बार जब विज्ञापन के बारे में परामर्श चल रहा है तब एक संभ्रांत नेता ने "राष्ट्रीय घोषणा-पत्र" को रद्द कर दिया और इसे हटा कर विज्ञापन छापने का हुकुम हुआ। इस बारे में परामर्श के समय प्रतिवाद बिलकुल ही नहीं हुआ हो ऐसी बात नहीं, किंतु नेताओं के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस किसी में नहीं था। ठीक हुआ है कि श्रीयुत सुरेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय, ए० रसूल और राय यतींद्रनाथ चौधरी हस्ताक्षर करेंगे। राष्ट्रीय घोषणा-पत्र वर्जित हुआ है देख रसूल साहब विस्मित हुए। यह भूल संशोधित न होने तक विज्ञापन में हस्ताक्षर करने को वे राजी नहीं, ऐसा उत्तर उन्होंने सुरेंद्रबाबू को लिख भेजा है। इस बीच श्रीयुत रसूल के नामसहित विज्ञापन की छपाई और बंटाई आरंभ हो चुकी थी। पर उनका उत्तर प्राप्त होते ही छपाई व बंटाई बंद कर श्रीयुत रसूल के नाम के बदले श्रीयुत मतिलाल घोष का नाम बिठा वही विज्ञापन छपाकर बांटा गया। जो कुछ कहा है वह केवल सुनी-सुनायी बात नहीं, उसे अस्वीकार करने की क्षमता किसी में भी नहीं, प्रत्येक बात का अकाट्य प्रमाण है। इसके बाद, श्रीयुत रसूल और श्रीयुत अरविन्द घोष ने जब जाना कि नेतागण घोषणा-पत्र का बहिष्कार करने में सचेष्ट हैं तब जिन्होंने विज्ञापन में हस्ताक्षर किया था उनको एवं सभापति श्रीयुत आशुतोष चौधरी को नोटिस दिया कि एतदर्थ हम आम सभा में

आपत्ति उठायेंगे और चेष्टा करेंगे कि राष्ट्रीय घोषणा-पत्र पढ़े जाने का आदेश मिले। उत्तर में श्रीयुत मतिलाल घोष ने देवघर से इस प्रकार का टेलिग्राम भेजा : यदि सरकार ने निषेध न किया हो। राष्ट्रीय घोषणा-पत्र पढ़े जाने के बारे में सुरेंद्रबाबू और यतींद्रबाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। सभापति शुक्रवार को कलकत्ता पहुंचे, रात को पत्र मिला, अतः उनका भी कोई उत्तर नहीं आया। बुधवार को पत्र लिखा गया। शुक्रवार को श्रीयुत गीष्पति काव्यतीर्थ ने कालेज स्क्वायर में, आम सभा में, यह शुभ संवाद घोषित किया कि राष्ट्रीय घोषणा पढ़ी जायेगी। शनिवार को सुबह 'बंगाली' पत्रिका में हमारी बात झूठी है यह कहकर वह शुभ-संवाद पाठकवर्ग को बतलाया गया। यही है वृत्तांत। जनता ही इसका विचार करे।

३०वीं आश्विन

३०वीं आश्विन का समारंभ देख इस बार देशवासियों को आनंद, विपक्षियों को मनःक्षोभ होगा। आंदोलन शांत नहीं हुआ है, बाधा-विघ्न, भय-प्रलोभन को अतिक्रम कर पूर्ण मात्रा में जीवंत है। उसका बाह्य चिह्न चाहे बंद कर दो, लुप्त कर दो, पर हृदय-हृदय में नूतन भाव जाग्रत ही रहेगा, स्वराज्य-लाभ से ही शांत नहीं होने का, संतुष्ट हो अन्य आकार धारण करेगा। विजातीय समाचार-पत्र जनता के उत्साह को अस्वीकार करने की चेष्टा करेगा ही, किंतु उनके लेखों में उनका उत्साह-भंग लक्षित होता है। 'स्टेट्समैन' ने अन्य उपाय न देख श्रीयुत चौधरी के भाषण से सांत्वना रस चूसने की चेष्टा की है, क्योंकि चौधरी महाशय ने छात्रों को राजनीति से किनारा करने के लिये कहा है। किंतु छात्रों ने जो ३० आश्विन के समारंभ में पूर्णरूपेण भाग लिया इस बात पर चुप क्यों ? लोगों का कहना है कि पिछली बार सभा में इतनी भीड़ नहीं हुई थी, उस जन-समुद्र-प्रांत पर बैठने की भी जगह नहीं थी, खड़े ही रहना पड़ा। आस-पास के रास्ते पर, दीवार पर, छतों पर भी लोग ही लोग थे। सभी बंगालियों ने दूकानें बंद कर दी थीं, केवल बड़े बाजार के मारवाड़ी और 'हिन्दुस्तानी' दूकानदार लोभ संवरण न कर पाये, किंतु उनकी दूकानों पर खरीदनेवाले कम ही देखे, बस, दूकान खोले बैठे थे वे। लोगों में उत्साह भी कुछ कम नहीं था। श्रीयुत सुरेंद्रनाथ वंद्योपाध्याय और श्रीयुत अरविन्द घोष को सभा से ले जाने के समय उस उत्साह की उग्रता व गभीरता देखते ही बनती थी। जो अनवरत जय-जयकार व 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि बहुत देर तक पृथ्वी और आकाश को कंपित करती रही, वह नेताओं के लिये नहीं, वह था उनके लिये सम्मान जो इस दुर्दिन में आंदोलन के चिह्नस्वरूप अग्रभाग में रह राष्ट्रीय ध्वजा को उठाये खड़े थे। नेता याद रखें यह बात कि कल यदि वे भग्नोत्साह हों या उस ध्वजा को धूल पर लोटने दें तो जय-जयकार के बदले उठेगी धिक्कार की आवाज।

गवर्नमेंट के गोखले कि गोखले की गवर्नमेंट

पूना का कांड और गोखले महाशय के किये का फल देख सारा भारत अवाक् रह गया। श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले की बुद्धि व चरित्र पर हम अन्य देशवासियों की तरह कभी भी मुग्ध नहीं थे। उनके स्वार्थ-त्याग में व्यक्तिगत यशोलिप्सा, सम्मान-प्रियता और ईर्ष्या देख हम असंतुष्ट थे। उनकी देशसेवा में साहस व उच्च आदर्श का अभाव देख उसके अंतिम परिणाम के बारे में हमें चिरकाल से ऐसी ही आशा थी। किंतु हमने सपने में भी नहीं सोचा था कि भारतवासियों के इस सम्मान और प्रेम-भाजन के भाग्य में इतनी अवनति बदी है। हम जानते थे कि अपनी विख्यात क्षमा-प्रार्थना के बाद गोखले महाशय सरकारी-कर्मचारियों के अतीव प्रिय पात्र हो उठे थे। जब वे व्यवस्थापक सभा में उन सबके साथ वाद-विवाद करते तब देखने पर वे लगते धनी के मुंह लगे लाड़ले, जिनकी देह पर वे हाथ फेरते या मीठी-मीठी गालियां देते। किंतु एक दिन उनकी ही खातिर एक विख्यात साप्ताहिक पत्र दमन नीतिवश निगृहीत होगा, पूना शहर खाना-तलाशी की धूम-धाम से परेशान हो उठेगा, एक संभ्रांत वकील पुलिस द्वारा पकड़े जायेंगे और अभियुक्त बनेंगे एवं अन्यान्य नागरिक पकड़े जाने के भय से व्याकुल होंगे, यह सब हमने सपने में भी नहीं देखा था। हम जानते थे कि गोखले हैं गवर्नमेंट के, अब पूछना पड़ता है क्या गवर्नमेंट गोखले की है? गोपालकृष्ण गोखले क्या ब्रिटिश साम्राज्य के स्तंभ और भारतीय शासन-तंत्र के अंग बन गये हैं? हम जानते थे कि राजनीतिक हत्या या सशस्त्र विद्रोह की प्रशंसा करने से देशवासी का छापाखाना गवर्नमेंट की संपत्ति बन जाती है, बम या विद्रोह के षड्यंत्र की गंध पुलिसपुंगवों की तीव्र घ्राणेन्द्रिय में पहुंचते ही शहर-भर में खाना-तलाशी की धूम मच जाती है। पर हम यह नहीं जानते थे कि एक व्यक्ति की मानहानि से या उन्हें भय दिखाने से इस तरह का नवयुग का कांड घट सकता है। यह नयी प्रणाली गवर्नमेंट के योग्य है कि नहीं इसकी विवेचना राज-कर्मचारी करें। किंतु गोखले महाशय का परिणाम देख हम दुःखित हैं। क़वि ने ठीक ही कहा है हम मनुष्य हैं, विगत महत्त्व की छाया के विनाश से भी हमारी आंखें भर आती हैं। गोखले महाशय कभी भी महत् नहीं थे, तब हां, महत् की छाया तो थे ही। उनका सकल मत, बुद्धि-विद्या, चरित्र उनका अपना नहीं था, था कैलाशवासी रानाडे का दान। गोखले में महात्मा रानाडे की छाया विनष्ट होते देख हम दुःखी हैं।

धर्म
अंक १०
कार्तिक २२, १३१६

बजट के लिये युद्ध

विलायत में बजट को ले जो महायुद्ध छिड़ा है वह अंग्रेजी राजनीति की सामान्य बक-झक नहीं। उदारनीति दल और रक्षणशील दल में जो संघर्ष होता था वह सामान्य मतभेद लेकर होता था। रिफॉर्म बिल के बाद जमींदार-वर्ग और मध्य श्रेणी के अंग्रेजों में जो तीव्र विद्वेष व विरोध रानी एलिजाबेथ और राजा चार्ल्स के समय से अंग्रेज राजनीति की इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है वह प्रशमित हुआ। मध्य श्रेणी की जीत हुई किंतु विजेताओं ने विजित पक्ष को विनष्ट न कर लब्ध अधिकार का भाग दिया। इसके बाद से घरेलू विवाद चल रहा है। इस विवाद में मध्य श्रेणी निम्न श्रेणी की सहायता से विद्रोही जमींदार-वर्ग का दमन करने की आशा से धीरे-धीरे अंग्रेजी राजनीतिक जीवन की भित्ति को विस्तृत बना रही है। इसका फल—इंग्लैंड आजकल असंपूर्ण प्रजातंत्र (Limited Democracy) बन गया। अब लायड जॉर्ज और विन्सटन चर्चिल इस शांत राजनीतिक जीवन में महा विभ्राट् और राष्ट्र-विप्लव की संभावना की सृष्टि कर रहे हैं। आजकल सारे यूरोप में सोशलिस्ट (समाजवाद) दल की अतिशय वृद्धि हो रही है और प्रभाव बढ़ रहा है। जर्मनी में, इटली में, बेलजियम में वे मंत्रणा-सभा में प्रबल व बहुसंख्यक हैं। स्पेन में जोर-जबरदस्ती से उनके प्रचार व दल-वृद्धि बंद करने की चेष्टा हुई थी इसीलिये वर्सेलोना में भीषण दंगा हुआ। फेरर की मृत्यु और सारे पाश्चात्य जगत् में दंगा-फसाद हुआ। इंग्लैंड और फ्रांस इस प्रवाह के बाहर ही रहे क्योंकि इन दो देशों की प्रजा की स्वाधीनता और सुख की थोड़ी-बहुत व्यवस्था हो चुकी थी। किंतु इधर चार-पांच वर्षों से उन दो देशों में भी सोशलिस्टों का प्रभाव व संख्या बढ़ती जा रही है। लायड जॉर्ज के बजट में हठात् सोशलिज्म को ब्रिटिश राजतंत्र में घुसाया गया है। इस बजट में जमींदार-वर्ग की संपत्ति पर कर बैठाया गया है इससे जमींदार और मध्य श्रेणी में जो संधि हुई थी उसका मुख्य अंग विनष्ट हो गया। जमींदारों की जमींदारी पर एक बार कर बैठाने पर ब्रिटिश प्रजा-वर्ग शीघ्र ही उस कर को बढ़ाते-बढ़ाते अंत में सारी जमींदारियों को थोड़े दाम में ही देश की संपत्ति बना लेगा। जमींदार-वर्ग फिर नहीं रह जायेगा। इसीलिये जमींदार क्रोध से उबल पड़े हैं और जमींदार सभा (House of Lords) बजट का प्रत्याख्यान या परिवर्तन कर Commons (लोकसभा) को लौटा देने के लिये कृत-निश्चय हैं। इससे ब्रिटिश राजतंत्र के मूल नियम पर हस्तक्षेप होगा। नाम के लिये प्रजा के प्रतिनिधि वर्ग के सर्वविध प्रस्तावों का प्रत्याख्यान या परिवर्तन करने का अधिकार जमींदार सभा को है, किंतु बजट सिर्फ सम्मान के लिये उस सभा में भेजा

जाता है, जमींदार सभा कभी बजट में हस्तक्षेप नहीं करती। अतएव बजट के अस्वीकृत होते ही उदारनीतिक मंत्री अंग्रेजों के सामने यह प्रस्ताव ले उपस्थित होंगे कि जमींदार सभा का लोकसभा के प्रस्ताव को निषेध करने का अधिकार खतम किया जाये। उदारनीतिक दल की जय होने से पुरातन राजतंत्र निषेध अधिकार के लोप से खुद ही लुप्त होगा। और शीघ्र ही होगा पूर्ण प्रजातंत्र का स्थापन, जमींदार-सभा व जमींदार-वर्ग का विनाश और सोशलिज्म का विस्तार। लायड जॉर्ज और चर्चिल जान-बूझकर इस राष्ट्र-विप्लव को पाल रहे हैं। आस्क्विथ, मारले इत्यादि वृद्ध मध्यपंथी इन दोनों के तेज से अभिभूत हो, ऊंचे पद के मोह से और राजनीतिक संग्राम के मद से अंधे हो उनकी चेष्टा में योग दे रहे हैं। अब Conservative England, रक्षणशील इंग्लैंड की खैर नहीं। सर्वग्रासी कलि अंग्रेजों का राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय धर्म और महत्त्व की भित्ति, सबको निगलता जा रहा है।

क्या होगा ?

जनवरी में जो प्रतिनिधि विलायत में निर्वाचित होंगे उन पर बहुत-कुछ निर्भर करता है भारत का भाग्य। हमारे लिये उदारनीतिक और सोशलिस्ट दल की जय नितांत वांछनीय है। यदि कभी भी वैध प्रतिरोध द्वारा अंग्रेजी सरकार को स्वायत्त-शासन का बिल कॉमन्स (लोकसभा) में उपस्थित करने को हम बाध्य करें, तो जैसे जमींदार सभा ने आयरिश स्वायत्त-शासन के बिल का निराकरण किया था वैसे ही हमारे स्वायत्त-शासन के बिल का भी निराकरण करेंगे। अतएव जमींदार सभा के निषेध-अधिकार का नष्ट होना ही है हमारी कार्यसिद्धि का एकमात्र उपाय। भगवान् उस उपाय के लिये उद्योग कर रहे हैं। सोशलिस्ट दल के प्राबल्य से चाहे और कोई विशेष कार्यसिद्धि न हो, दमन-नीति को शिथिल करने की सुविधा हो भी सकती है, कारण, सोशलिस्ट दल अभी अधिकार-रहित है और है अधिकार-लाभ का प्रयासी, अतः जगत् के अधिकार-रहित सभी संप्रदायों व राष्ट्रों के साथ उनकी सहानुभूति है। किंतु अब जो अवस्था है उसमें उदारनीतिक दल की जय और सोशलिस्टों के प्राबल्य की आशा नहीं की जा सकती। बजट द्वारा निजी संपत्ति की प्रथा विनष्ट हो जायेगी, इंग्लैंड में सोशलिज्म स्थापित होगा, किसी की भी धन-संपदा अब निरापद नहीं रहेगी, ऐसी अफवाह उड़ा रक्षणशील (कंजर्वेटिव) दल अनेक उदारनीतिक सज्जनों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। और फिर उन्होंने टैरिफ रिफार्म (प्रशुल्क-सुधार) का धुआं उड़ा निम्न श्रेणी के अनेक लोगों को भी वैसे ही अपने हाथ में कर लिया है। अबाध वाणिज्य में, वाणिज्य-क्षेत्र में इंग्लैंड का प्रधान स्थान विलुप्त हो गया है। दूसरे राष्ट्र उसे मात दे रहे हैं, इसलिये निम्न श्रेणी के कर्म के अभाव में व खाद्य के अभाव में

हाहाकार मच रहा है—इस मत का जोर-शोर से प्रचार किया गया है। जो निर्वाचन पिछले कुछ महीनों में हो चुके हैं उनमें इस उपाय से रक्षणशील दल की वृद्धि की गयी है, उदारनीतिक वोट कम गये हैं, फिर भी यदि उदारनीतिक व सोशलिस्ट दल एक हों तो रक्षणशील दल पराजित होगा। किंतु अब तो अवस्था विपरीत है। जहां से उदारनीतिवाले खड़े होते हैं वहीं से खड़े होते हैं सोशलिस्ट। यद्यपि दोनों के संयुक्त वोट रक्षणशील निर्वाचन प्रार्थी के वोटों से अधिक हैं तथापि पारस्परिक विरोध से दुर्बल पक्ष की जीत होती है। सोशलिस्टों ने ठीक पथ ही पकड़ा है, इस तरह असुविधा न भोगने से उदारनीतिक दल उनके साथ संधि करने के लिये बाध्य क्यों होगा ? किंतु मि० आस्किथ यदि निर्वाचन प्रथा के पक्ष में झूठी बात और परस्पर विरोधी युक्ति का प्रयोग करते-करते बुद्धि भ्रष्ट न हो जायें तो निर्वाचन के पहले ही वे सोशलिस्टों के अस्सी प्रतिनिधियों के निर्वाचन की व्यवस्था कर अन्य सभी उदारनीतिक स्थानों को निरापद बनायेंगे और टैरिफ रिफार्म की हवा उड़ाने के लिये पार्लियामेंट के टूटने के पहले ही निषेध-अधिकार खतम करने का बिल कॉमन्स् में उपस्थित कर उस पर ही प्रतिनिधि निर्वाचन के समय वे निर्भर करेंगे। इससे सबके सब अंग्रेज निम्न श्रेणी के निर्वाचक टैरिफ रिफार्म का मोह भूल उदारनीतिक पक्ष को वोट देने को दौड़े आयेंगे। ग्लैडस्टोन जीवित होते तो यही करते। आस्किथ साहब से इस चौकस बुद्धि की प्रत्याशा की जाये कि नहीं—संदेह है।

धर्म
अंक ११
कार्तिक २१, १३१६

रिफार्म

आज है सोमवार, १५ नवंबर। आज के दिन महामति लार्ड मारले व लार्ड मिण्टो की गभीर भारत-हित की चिंता से राजनीतिक तीक्ष्ण बुद्धि और उदार मत में आसक्ति के फलस्वरूप शासन-सुधाररूपी मानसिक गर्भ प्रसूत होगा। धन्य हैं लार्ड मारले, धन्य हैं मिण्टो और धन्य हैं हम। आज भारत में स्वर्ग उतर आयेगा। आज फारस, टर्की, चीन, जापान तक भारत की ओर ईर्ष्याभरी नजर से देख 'इंग्लिशमैन' के सुर में सुर मिलाकर गायेंगे, "धन्य हैं वे जो पराधीन हैं, धन्य, धन्य, जो पराधीन हैं यूरोपीय राष्ट्रों के, धन्य, धन्य, धन्य जो पराधीन हैं उदारनीतिक मारले-मिण्टो के। काश, हम भी भारतवासी होते तो इस सुख से वंचित न रहते।" आशा है कि जो भी भारतवासी नव उन्मादना से उन्मत्त न हुए होंगे, इस कोरस-गान से आकाशमंडल को विध्वनित करेंगे।

'इंग्लिशमैन' का क्रोध

बहुत दिन पहले हमने सहकारी 'इंग्लिशमैन' की सरलता की प्रशंसा की थी। आज फिर प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके। अन्य ऐंग्लो-इंडियन दैनिक हैं दुमुंहे सांप, स्वाधीनता की प्रशंसा करते हैं और भारत की पराधीनता की भी। और तो और भारत की पराधीनता की आवश्यकता को प्रमाणित करने की भी चेष्टा करते हैं। सहयोगी की आंखों में शर्म नहीं। जो मन में आता है, केवल मानहानि के कानून को सामने रख बिना आवरण के लिख मारता है। ऊटपटांग बकना हो तो ऊटपटांग ही बकता है। युक्ति, सत्य संलग्नता पर ताण्डव नृत्य करना उसे बहुत प्रिय है। वह है मुक्तपुरुष, समाचार-पत्रों में नागा संन्यासी। 'इंग्लिशमैन' स्वाधीनता की बात सुनते ही सिहर उठता है। जैसे वह भारतवर्ष का स्वाधीनता-विरोधी है वैसे ही इंग्लैंड का भी। एक स्वेच्छाचार-तंत्र सारे ब्रिटिश साम्राज्य पर अधिकार कर विराजे और 'इंग्लिशमैन' बना रहे उसका मुखपात्र, यही है सहयोगी का राजनीतिक आदर्श। जो स्वाधीनता के अनुमोदक या प्रचारक हैं वे हैं वध्य या निर्वासन और जेल के योग्य। मि० बैलफूर के अधिकार प्राप्त करते ही लुई नैपोलियन की तरह राष्ट्रविप्लव खड़ा कर मि० लायड जॉर्ज व विंस्टन चिर्चिल को जेल भेजने और मि० कीर हार्डी व विक्टर ग्रेसन को कोर्ट मार्शल करने का परामर्श सहयोगी निश्चय ही किसी भी दांव-पेंच से देगा। उन्हें स्वाधीनता से भी बढ़कर अप्रिय है साम्य। सहयोगी का कहना है कि सारे यूरोप व एशिया में जो साम्य-प्रचार और साम्य की आकांक्षा उठी है उसे प्रचारकों के रक्त से बुझाने पर पृथ्वी के सारे सिंहासन डोल जायेंगे व हेअर स्ट्रीट लुप्त हो जायेगी। अतएव विक्टर ग्रेसन, वृद्ध और मूर्ख टालस्टाय व "माणिकतला" के अरविन्द घोष—कैसा अपूर्व समावेश। 'इंगलिशमैन' ठीक फेरर की तरह बिना विचारे गोली दागने को नहीं कहता पर वैसी ही कुछ व्यवस्था न करने से अब किसी की खैर नहीं। इतनी सरलता में यह असरलता क्यों ? 'इंगलिशमैन' को भला क्या डर ? हिंदू-पंच के भाग्य में जो लिखा था 'इंगलिशमैन' द्वारा हत्या या बल-प्रयोग की हजार सलाह देने पर भी उसके भाग्य में वह नहीं घटने का। प्रजा की हत्या करने की प्रवृत्ति को बंद करना है आईन का उद्देश्य, पर राजा के मन में हत्या की प्रवृत्ति जगाने की चेष्टा के लिये कोई दंड नहीं !

देवघर में जीवंत समाधि

समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ है कि एक हिंदू साधु हरिदास संन्यासी से आगे बढ़ गये। समाधि-निमग्न न होने पर भी जिंदा ही कुछ दिन कब्र में रहे। हमारे देश में

सारी प्राचीन विद्या लुप्त हो गयी है इसी से हम ऐसे प्रयोग से आश्चर्यान्वित होते हैं। पूर्व-पुरुषों की बात हम कुसंस्कार कह उड़ा देते हैं। हमें अपने प्राचीन साहित्य में, धर्म में, शास्त्र में, शिक्षा में जिस विद्या का भग्नांश ही हस्तगत हुआ है उसकी तुलना में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की सारी विद्या है नवजात शिशु का अर्थहीन प्रलाप-मात्र। जैसे शिशु जो पदार्थ भी सामने देखता है उसे हाथ में उठा, हाथ फिरा, तोड़-फोड़कर बाह्य जगत् का थोड़ा-बहुत ज्ञान संचय करता है, किंतु जगत् क्या है, पदार्थ का असली स्वरूप क्या है व संबंध क्या है, कुछ भी नहीं जानता, वैसे ही पाश्चात्य विज्ञान प्रकृति के सब स्थूल पदार्थ हाथ में उठा, हाथ फिरा, तोड़-फोड़कर कुछ ज्ञान संचय करता है। किंतु जगत् क्या है, पदार्थ का असली स्वरूप क्या है, स्थूल और सूक्ष्म में क्या संबंध है, इस विषय में वह कुछ भी नहीं जानता और इस विद्या के अभाव में पदार्थ के वास्तविक स्वभाव से अवगत नहीं हो पाता। शवच्छेद कर और रोग के लक्षण व असंबद्ध कारण का निरीक्षण कर मनुष्य के बारे में जितना-सा ज्ञान संचय होता है बस उतना ही ज्ञान पाश्चात्य विद्या से पाया जाता है। अनेक विषयों में यह ज्ञान भ्रांत है। वैज्ञानिक कहते हैं कि आकर्षण-शक्ति है जगत् का सर्वव्यापी अलंघ्य नियम, किंतु मनुष्य प्राणायाम द्वारा आकर्षण-शक्ति जीत सकता है, स्थूल जगत् के बाहर इस नियम में कोई दम नहीं। वैज्ञानिकों का कहना है कि हत्पिंड के स्पंदन और श्वास-निःश्वास के रुद्ध होते ही शरीर में प्राण नहीं रह सकते, किंतु प्रमाणित हो चुका है कि हत्पिंड के स्पंदन और श्वास-निःश्वास की क्रिया बहुत देर तक और बहुत दिनों तक रुद्ध रह सकती है, फिर भी वह निःश्वास-रुद्ध व्यक्ति पूर्ववत् चल-फिर सकता है, बात कर सकता है, बचे रहना तो मामूली बात है। इससे पता चलता है कि पाश्चात्य विद्या अपने क्षेत्र और स्थूल पदार्थ के ज्ञान में भी कितनी संकीर्ण और क्षुद्र है। असली विज्ञान तो हमारा ही था। वह ज्ञान स्थूल प्रयोग द्वारा प्राप्त न हो सूक्ष्म प्रयोग द्वारा प्राप्त हुआ था। हमारे पूर्वपुरुषों का ज्ञान भले ही लुप्त-प्राय हो गया हो, पर जिस उपाय से वह लुप्त हुआ था उसी उपाय से पुनः प्राप्त हो सकता है। वह उपाय है योग।

संयुक्त कांग्रेस

सहयोगी 'बंगाली' ने संयुक्त कांग्रेस के बारे में जो निबंध छापा है, उसे न छापता तो अच्छा होता। सहयोगी जिन शर्तों पर राष्ट्रीय पक्ष का आह्वान कर रहा है वे हैं मध्यपंथियों के अनुकूल। गत वर्ष राष्ट्रीय पक्ष ने कन्वेंशन में प्रवेश पाने की सुविधा के लिये प्रार्थना की थी और कलकत्ते के अधिवेशन में चारों प्रस्तावों के स्वीकृत होने की आशा देख मध्यपंथियों की मनोनीत शर्तें मान ली थीं। इस बार वह सहज ही सहमत

नहीं हो सकता। इस बीच राजनीतिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। पश्चिम भारत के मध्यपंथियों के मनोभाव परिस्फुट हो रहे हैं, राष्ट्रीय पक्ष अब गोखले-मेहता के अधीन हो कांग्रेस बुलाने के लिये राजी नहीं होगा, तथापि अब भी विवेचना चल रही है, थोड़े दिनों में कोई स्थिर सिद्धांत बनने की बात है। ऐसे में इस तरह विचार प्रकट कर देने से वाद-विवाद होने पर समझौते में बाधा ही आयेगी।

धर्म
अंक १२
अगहन ६, १३१६

हिंदू संप्रदाय और शासन-सुधार

हमने जब हिंदू सभा की बात लिखी थी तब इस आशय की राय दी थी कि यद्यपि गवर्नमेंट के प्रसाद-अन्वेषी व स्वतंत्रता-अनुमोदक मुसलमान संप्रदाय के प्रति विरक्त हो स्वतंत्र राजनीतिक चेष्टा करना हिंदुओं के लिये स्वाभाविक है पर वैसी चेष्टा से देश का अनिष्ट ही होगा, भला होने की संभावना नहीं। अब भी इस मत को बदलने का कोई कारण हमें विदित नहीं। शासन-सुधार या नूतन व्यवस्थापक सभा में हमारी कभी कोई आस्था नहीं रही, हिंदुओं और मुसलमानों को बिना पक्षपात के उस सभा में प्रवेश करने का समान अधिकार देने पर भी हम उस कृत्रिम सभा का अनुमोदन नहीं करते। हमारा भविष्यत् हमारे हाथ में है, इस सत्य को संपूर्णतया और दृढ़ हृदय से ग्रहण करने की शक्ति जब प्राप्त होगी तब अविलंब प्रकृत प्रजातंत्र के विकास के अनुकूल व्यवस्थापक सभा की सृष्टि हो जायेगी। अतः इस कृत्रिम स्वर्ण-भूषित खिलौने को ले भाई-भाई में झगड़ा खड़ा करना हमारे मत में केवल बालोचित मूर्खता है। फिर भी हम यह स्वीकार करते हैं कि इस नये सुधार द्वारा हिंदू संप्रदाय के अपमान और बहिष्कार की चेष्टा से उसके असंतुष्ट और विरक्त हो जाने के यथेष्ट कारण हैं। सर्वत्र मुसलमानों को स्वतंत्र प्रतिनिधित्व दिया गया है। जहां उनकी संख्या कम है वहां उन्हें अल्प-संख्यक मान उनके स्वतंत्र निर्वाचक-वर्ग के निर्वाचित स्वंतत्र प्रतिनिधि नियत किये गये हैं, और जहां उनकी संख्या अधिक है वहां उन्हें बहु-संख्यक मान उनके स्वतंत्र निर्वाचक-वर्ग के निर्वाचित स्वतंत्र प्रतिनिधि निर्धारित किये गये हैं। हिंदुओं को कहीं भी ऐसी सुविधा नहीं दी गयी। जहां वे अल्प-संख्यक हैं वहां उन्हें दी नहीं जा सकती, देने से सभा में उनका प्राबल्य होगा, जहां वे बहु-संख्यक हैं वहां भी नहीं दी गयी, देने से सभा में मुसलमानों का पूर्ण प्राबल्य खर्व होगा। जिस नियमानुसार निर्वाचक-वर्ग गठित हुआ है उससे निर्दिष्ट तत्त्व या उदार मत लक्षित नहीं होता। बहुत-से शिक्षित और संभ्रांत मुसलमान बाहर रह गये हैं। अनेक अशिक्षित गवर्नमेंट के खैरख्वाह

निर्वाचक-वर्ग में आ घुसे हैं तथापि इस नयी सृष्टि पर प्रजातंत्र की अस्पष्ट दूरवर्ती छाया की छाया पड़ी है। हिंदुओं पर रत्तीभर भी अनुग्रह नहीं हुआ। यह जानने के लिये मन में कौतूहल हो रहा है कि इस तरह भारतवर्ष के प्रधान संप्रदाय को अपमानित और असंतुष्ट बनाये रखने का कौशल किस जगद्-विख्यात राजनीतिज्ञ की कल्पना में पहले-पहल उपजा। बर्क और वाल्तेयर के भक्त मारले की या कनाडा-शासक लार्ड मिंटो की ? या और किसी छिपे रत्न की ?

मुसलमानों का असंतोष

शासन-सुधार से दो मुसलमान असंतुष्ट हुए हैं। एक हैं इंग्लैंड निवासी अमीर अली साहब और दूसरे कलकत्ते के डाक्टर सुहरावर्दी। दोनों के असंतोष का कारण एक ही तरह का नहीं। अमीर अली रूठे हैं क्योंकि शासन-सुधार द्वारा जो कुछ मुसलमानों को दिया गया है वह है अति अल्प। जार्ज साहब का विश्वग्रासी लोभ उससे तृप्त नहीं होता। पहले ही हम जान गये थे कि सारासेन जाति का इतिहास लिखने के कारण अमीर अली साहब के मन में अति उच्च व प्रशंसनीय महत्त्व का लोभ जनमा है। उनके मन में मध्यकालीन मुसलमान साम्राज्य के पुनराविर्भाव का स्वप्न घूम रहा है। मजाक किया पर यह मजाक की बात नहीं। महत् मन, महती आकांक्षा और विशाल आदर्श राजनीतिक क्षेत्र में अतिशय उपकारी और प्रशंसनीय हैं। इनसे शक्ति बढ़ती है, उदार क्षत्रिय भाव जगता है, जीवन में तीव्र स्पंदन आता है। जो अल्पाशी हैं वे हैं जीवन्मृत। किंतु मजाक की बात, हास्यकर स्वप्न की बात यह है कि ब्रिटिश कर्मचारी-वर्ग की अधीनता में मुसलमानों के लुप्त महत्त्व का उद्धार होगा। अमीर अली क्या यह सोचते हैं कि अंग्रेज मुसलमानों को भारत के "दीवान" बनाने की मनशा से यह पक्षपात कर रहे हैं ? डाक्टर सुहरावर्दी के असंतोष का कारण है अपेक्षाकृत क्षुद्र। उनकी नालिश यह है कि विलायत से लौटे अनेक शिक्षित मुसलमानों को निर्वाचन-अधिकार से वंचित कर जितने गवर्नमेंट के खैरख्वाह अशिक्षित कारीगर, दफ्तरी, विवाह के रजिस्ट्रार, खां बहादुर, खां साहब हैं, उन्हें निर्वाचक बनाया गया है। वे क्या इतना भी नहीं समझ सकते कि विलायत में स्वाधीनता नामक एक विष है, जो विलायत से लौटे हैं वे शायद उस विष से थोड़ा-बहुत विषमय होकर लौटे हों, ऐसे लोगों के व्यवस्थापक सभा में प्रवेश करने से महा विभ्राट् मचने की संभावना है। और ऐसे सुधार में शिक्षित व्यक्ति उपयुक्त निर्वाचक हैं या खैरख्वाह, कारीगर, दफ्तरी, खां-साहब, खां बहादुर और विवाह के रजिस्ट्रार ? डाक्टर साहब विवेचना कर इस प्रश्न का उत्तर दें। वे मानने को बाध्य होंगे कि उनका असंतोष है अज्ञान-जनित।

मूल और गौण

हमारे राजनीतिक चिंतन का प्रधान दोष और राजनीतिक कर्म के दौर्बल्य का कारण यह है कि हम मूल और गौण में प्रभेद समझने में अक्षम हैं। जो मूल है उसे ही पकड़ना चाहिये, जो गौण है वह यदि मूल के अनुकूल हो तो मूल को कायम रखते हुए उसे ग्रहण करें। गौण को ग्रहण करने से यदि मूल को पाने की राह में बाधा पहुंचे या विलंब की संभावना हो तो कोई भी राजनीतिज्ञ गौण को अपनाने के लिये सहमत नहीं होगा। पर हम सहमत होते हैं, पग-पग पर मूल को फेंक गौण को साग्रह पकड़ने जाते हैं। हमारा ध्रुव विश्वास है कि गौण के मिलने से अंत में मूल स्वयं ही हाथ आ जायेगा। उल्टी बात ही ठीक है—मूल को प्राप्त करने पर उसके साथ-साथ सब गौण सुविधाएं व अधिकार जुट जाते हैं। रिफॉर्म के बारे में अनेकों का ऐसा मज्जागत भ्रम व बुद्धि-दौर्बल्य देख हम दुःखित हुए। खैर, कुछ तो लाभ हुआ, किसी समय और भी होगा। अंत में, थोड़ा-थोड़ा अधिकार प्राप्त करते-करते स्वर्ग पहुंचेंगे, जिनकी ऐसी धारणा है वे सचमुच इस कृत्रिम व्यवस्थापक सभा के प्रतिनिधि बनने के उपयुक्त राजनीतिज्ञ हैं। शिशु को छोड़ खिलौने की कद्र कौन समझता है ? किंतु शिशु-प्रकृति त्याग, स्वप्न-राज्य से नीचे उतर यदि एक बार कठिन व अप्रिय सत्य को देखें तो सहज ही बोध होगा कि इस तरह की चिंतन-प्रणाली कितनी भ्रांत व निराधार है। विज्ञ शिशुगण हमारे सामने इंग्लैंड का दृष्टांत रख अपने मत का समर्थन करते हैं। किंतु यह काल न तो मध्ययुग का है न रानी एलिजाबेथ का, यह है प्रजातंत्र के चरम विकास का काल—बीसवीं शताब्दी; हम भी स्वराष्ट्र के अधीन अंग्रेज प्रजा नहीं, हम हैं श्वेतवर्ण पाश्चात्य राजकर्मचारी-वर्ग की कृष्णवर्ण एशियावासी प्रजा, अतः इस अवस्था में और उस अवस्था में है स्वर्ग-पाताल का अंतर। इंग्लैंड में भी गौण की उपेक्षा कर मूल को आदाय करने की सुविधा या यंत्र न रहने से इंग्लैंड शायद आज भी स्वेच्छाचार-तंत्र के अधीन देश रहता, या फिर रक्तपात वा राष्ट्रविप्लव से स्वाधीन होता। वह सुविधा या यंत्र हुआ power of the purse (धन-बल), राजा ने हमारी बात नहीं मानी, हम भी राजा के बजट को वोट नहीं देंगे—यह है अचूक ब्रह्मास्त्र। आईन-संगठन या बजट-विरचन का अधिकार प्रजा के प्रतिनिधि वर्ग के हाथ में रहने पर हम भी अब और रिफॉर्म का बॉयकाट करने को न कहते। तब भला क्या, रिफॉर्म अस्वीकार करना विज्ञों का काम नहीं, गवर्नमेंट तो गवर्नमेंट ठहरी, वह जो दे उसे ग्रहण करना चाहिये, पीछे और भी दे सकती है। एक बार भी क्या यह सोचा है कि गवर्नमेंट ने क्यों यह खिलौना भारत के पक्वकेश शिशुओं को दिया है ? देशव्यापी असंतोष, अशांति और दृढतापूर्वक बहिष्कार और अस्त्रप्रयोग के फलस्वरूप तुम्हें यह प्राप्त हुआ है। वह देख रही है कि इस प्राप्ति से तुम संतुष्ट होगे या और भी कुछ देना पड़ेगा। तुम यदि इसे ग्रहण करो तो फिर और एक बार उसी तरह तीव्र आंदोलन व बॉयकाट-

नीति का प्रयोग न करने से और कुछ भी न पाओगे, न आकाश का चांद, न चांद की कृत्रिम स्वर्ग-विलेपित प्रतिकृति। यदि वह देखे कि इससे तो नहीं बना—प्रकृत अधिकार देना ही पड़ेगा तो प्रकृत अधिकार देगी, अधिक न हो, थोड़ा कुछ देगी। अतः रिफॉर्म अस्वीकार कर दृढ़ता से बॉयकाट का प्रयोग ही है बुद्धिमानों का कर्म। किंतु तुम्हें ये बातें कहना व्यर्थ है। शिशु-समाज में जिस 'संदेश' और रसगुल्ले का प्रचलन है वही है तुम्हारा मुख-रोचक। फिर तुम सब ही लड़कों से कहते फिरते हो कि राजनीति में नहीं पड़ना चाहिये, तुम सब अब भी हो अपक्व-बुद्धि, राजनीति समझ नहीं सकते। खुद जब यह बचकानी बुद्धि त्यागते तब तुम्हारा यह कहना उचित होता।

एक खरी बात

अपने राजनीतिज्ञों को दोष क्यों दें ? ब्रिटिश-शासन-काल में, बहुत दिन से इस देश में असली राजनीतिक जीवन लुप्त हो गया है। इस अनुभव के अभाव से हमारे नेता राजनीतिक-तत्त्व समझने में असमर्थ हो गये हैं। किंतु इतने लंबे अरसे तक पराधीन देश के शासन में कृतविद्य और लब्ध-प्रतिष्ठ होकर भी अंग्रेज राजनीतिज्ञ इन कुछ वर्षों से जो विषम भूल करते आ रहे हैं उसे देख विस्मित होना पड़ता है। बंग-भंग के बाद यह रिफॉर्म ही है उनकी प्रधान और मारात्मक भूल। इस रिफॉर्म के फलस्वरूप देश में मध्यपंथियों का प्रभाव विनष्ट होगा, राष्ट्रीय पक्ष की दुगनी बल-वृद्धि होगी, इससे कर्मचारी-वर्ग की यथेष्ट क्षति होगी। किंतु सारे हिंदू-संप्रदायको अपदस्थ व अपमानित कर जो विष-बीज वपन किया गया है उससे और भी गुरुतर क्षति हुई है। मि० रैमसे मैक्डोनाल्ड ने 'एंपायर' के प्रतिनिधि से कहा है कि राजनीति-क्षेत्र में हिंदू-मुसलमान का यह भेद स्थापित कर कर्मचारी-वर्ग ने अपना अनिष्ट ही किया है। कच्चे राजनीतिक आंदोलन की अपेक्षा सांप्रदायिक व धर्म भेद-जनित असंतोष और आक्रमण हैं अति गुरुतर और गवर्नमेंट की भीति के कारण। बिलकुल खरी बात। यदि हम अंग्रेजों के प्रति विद्वेष भाव से गवर्नमेंट के अकल्याण को लक्ष्य में रख देश का कार्य करते—हमारे शत्रु इसी बात का रात-दिन प्रचार करते हैं—तो हमें आनंद होता। पर हम सरकार का अकल्याण नहीं चाहते, हम चाहते हैं देश का कल्याण और स्वाधीनता। हिंदू और मुसलमान के संघर्ष से जैसे गवर्नमेंट का वैसे ही देश का भारी अकल्याण होगा, अतः हम इस भेद-नीति का तीव्र प्रतिवाद करते हैं और हिंदू संप्रदाय से कहते हैं कि मुसलमानों के साथ संघर्ष छोड़ रिफॉर्म का बॉयकाट करो।

धर्म
अंक १३
अगहन १३, १३१६

रैमसे मैक्डोनाल्ड

रैमसे मैक्डोनाल्ड के भारत आगमन के समय हमने लिखा था कि वे आकर ही क्या करेंगे, थोड़े दिन भारत में घूम-फिरकर ही क्या जान लेंगे ? भारत के शासन-सुधार में जब वे इतने आस्थावान् हैं तब भला हम भी उनसे सहानुभूति या लाभ की क्या प्रत्याशा कर सकते हैं ? इसके बाद मैक्डोनाल्ड के साथ हमारा परिचय हुआ। थोड़े ही दिन भारत में घूम आगामी प्रतिनिधि के निर्वाचन का संवाद पा वे विलायत लौट जाने के लिये बाध्य हुए हैं, इन थोड़े-से दिनों में भी वे प्रायः सभी अंग्रेज कर्मचारियों के साथ रहे। फिर भी देखा कि वे भारत की अवस्था को समझने की चेष्टा कर रहे हैं और कुछ परिमाण में कृतकार्य भी हुए हैं। पर मैक्डोनाल्ड हैं राजनीतिज्ञ और सतर्क। वे कीर हार्डी की तरह तेजस्वी व स्पष्ट वक्ता नहीं। अपनी राय बहुत-कुछ छिपाये रखते हैं, जो सोचते हैं उसका अल्पांश ही शब्दों में व्यक्त करते हैं। ब्रिटिश राजनीतिक जीवन में वे हैं श्रमजीवी दल के नरमपंथी नेता। श्रमजीवी सभी हैं, सभी सोशलिस्ट एक उद्देश्य को लक्ष्य बना अग्रसर हो रहे हैं। वर्तमान समाज को तोड़-फोड़ नये सिरे से गढ़ना चाहते हैं। किंतु कई चरमपंथी इस उद्देश्य को प्रकट कर, उदारनीतिक व रक्षणशील उभय दलों को पराभूत कर, प्रकृत साम्यपूर्ण प्रजातंत्र में व्यक्ति को डुबा समष्टि को देश की सर्वविध संपत्ति और आधिपत्य का अधिकारी बनाने को कृत-संकल्प हैं। मध्यपंथी श्रमजीवी कीर हार्डी का दल सुविधानुसार कभी तो उदारनीतिक दल को योगदान और कभी सुविधानुसार उस दल के विरुद्ध आचरण करता है, तब हमारे भूपेन्द्रबाबू और सुरेन्द्रबाबू की तरह association cum opposition (साहचर्य और विरोध) की नीति का अवलंबन ले एक हाथ से लड़ाई और दूसरे हाथ से आलिंगन करता है। नरमपंथी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए उदारनीतिक दल की पूर्ण सहायता ले अति सतर्कता से अग्रसर होना चाहते हैं। पर उद्देश्य एक ही है। मैक्डोनाल्ड हैं अतिशय बुद्धिमान्, चिंतनशील व चतुर राजनीतिज्ञ। विलायत के भावी महायुद्ध में शायद वे एक प्रधान महारथी बनें। भारत के प्रति उनकी आंतरिक सहानुभूति है, किंतु इस अवस्था में भारत का कोई हित-साधित करना उनके बूते की बात नहीं।

रिफॉर्म और मध्यपंथी दल

मध्यपंथी दल अपना चिर वांछित शासन-सुधार पा गया है किंतु इस लाभ से हर्ष-प्रफुल्ल न हो शोक-संतप्त हो रहा है। उसके क्रंदन और तीव्र क्षोभ के यथेष्ट कारण हैं। उसके चतुर चूड़ामणि श्वेत श्यामराय ने मध्यपंथी राधा के प्रति स्वभाव-सुलभ धूर्तता की आड़ में चंद्रावली को काउन्सिल-अभिसार में बुलाकर प्रवेश कराया है। मध्यपंथी कह रहे हैं कि हमने ही शासन-सुधार कराया और हम ही उससे बहिष्कृत हो गये। जो शासन-सुधार के वरोधी थे वे ही ले लिये गये, यह कैसा मजाक, कैसा अन्याय! यही करुण 'अभिमानपूर्ण' निवेदन चारों तरफ सुनायी दे रहा है, पर निवेदन निवेदन में प्रभेद है। बंबई-वासिनी राधा चिर अभ्यास की रक्षा करती हुई श्याम के साथ प्रेम-मिश्रित मधुर कलह कर रही है। बंग-वाहिनी राधा भारी मान में भरी बैठी है : अब श्याम का मुंह नहीं देखूंगी, यह कहने का साहस नहीं। श्याम को एकबारगी रंजीदा करना नहीं चाहती, पर मन-ही-मन कुछ ऐसा ही भाव है। मध्यपंथियों की विप्रलंभ की-सी दशा देख हंसी भी आती है और दया भी। किंतु राधा को यह समझना उचित था कि केवल कलह, केवल दावा करने से प्रेम नहीं टिकता, श्वेतवर्ण श्यामसुंदर ऐसा लड़का नहीं कि मान के भय से राधा के श्रीचरणों में लोट अपना सर्वस्व उसे दे दे। दुःख की बात है कि बेलविडया-निवासी श्यामसुंदर ने खूब प्रेम दिखाया था, उन्होंने ही ज्यादा धूर्तता की, अब मान-भंजन कौन करे ? वृद्ध मारले क्या फिर नूतन वंशी-रव से इनके आहत हृदय को शीतल करेंगे ?

गोखले की मानहानि

बड़े दुःख की बात है कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान स्तंभ माननीय गोखले महाशय के विरुद्ध कुछ अपक्वबुद्धि लोगों ने मिथ्या तिरस्कार कर और मजाक उड़ा महाराष्ट्रीय प्रजा को उत्तेजित किया है। गोखले महाशय ने मर्माहत हो ब्रिटिश विचारों का आश्रय लिया है। उनकी सहायता से अपनी मानहानि का मार्ग बंद कर दिया और अपने प्रधान शत्रु व निंदक 'हिंदू पंच' का उच्छेद कर डाला है। ठीक ही हुआ है। झूठ नहीं बोलना चाहिये। विश्वास करने पर भी जिस बात को तुम विचारालय में प्रमाणित करने में अक्षम हो उसे नहीं लिखना चाहिये। 'हिंदू पंच' के संपादक व पूना के वकील श्रीयुत भिडे इस बात को भूल दंड के भागी बने हैं। अच्छी बात है। किंतु राजनीतिक क्षेत्र में लोकप्रियता नालिश करके आदाय नहीं की जाती। दूसरे लोग गोखले महाशय की मानहानि करें इसका तो उपाय है, उसी उपाय के सहारे से वे जयी भी हुए हैं, पर खुद ही वे अपनी मानहानि करें तो उसका क्या उपाय हो सकता है ? गोखले महाशय

जिसकी प्रशंसा करते थे अब उसकी निंदा कर रहे हैं, जिसकी निंदा करते थे उसकी प्रशंसा कर रहे हैं। यह देख लोग सहज ही उनके प्रति श्रद्धा खो बैठे हैं। पहले कर्मचारियों के प्रिय होते हुए भी जनता की प्रीति आकर्षित करना कठिन होने पर भी असाध्य नहीं थी, किंतु नये प्रलय के बाद से वह जल-स्थल-वासी जानवर विलुप्त हो गया है।

नया काउन्सिलर

जब वन के बड़े-बड़े सब वृक्ष काटे जाते हैं तब हजारों अलक्षित छोटे-छोटे पेड़-पत्ते आंखों को आकिर्षत करते हैं। पहले भूपेंद्रनाथ, सुरेंद्रनाथ, दरभंगा महाराज, रास बिहारी इत्यादि बड़े-बड़े राजनीतिक नेता, विख्यात जमींदार और लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् व्यवस्थापक सभा के सभ्य होते थे, नये सुधार के प्रभाव से ऐसे लोगों को हटा कितनी ही छोटी-छोटी मछलियां सागर तल पर आ नव सूर्य की किरणों के नीचे सहर्ष उछल-कूद कर रही हैं। प्रतिदिन नये-नये निर्वाचन प्रार्थियों का नाम पढ़ हम विस्मित हो रहे हैं। इतने सारे अजाने महार्घ्य रत्न इतने दिन अंधकार में छिपे पड़े थे। हम लार्ड मारले का धन्यवाद करते हैं, देश इतना धनी था, अपना ऐश्वर्य आप ही नहीं जान पाया, मारले के प्रभाव से धन-भंडार का रुद्ध द्वार खुल गया है—सूर्य किरणों से प्रदीप्त हो सारे रत्न नयनों को चौंधियाये दे रहे हैं।

धर्म
अंक १४
अगहन २०, १३१६

ट्रांसवाल में भारतीय

ट्रांसवाल-वासी भारत-संतान ने जो दृढ़ता और स्वार्थ-त्याग का दृष्टांत रखा है व रख रही है वह जगत् में अतुलनीय है। प्राचीन आर्य-शिक्षा व आर्य-चरित्र, इस सुदूर देश में, इन निःसहाय कुली-मजदूर और दुकानदारों के प्राणों में जिस तीव्रता से जाग उठा है वैसा भारत में तो क्या बंगाल में भी उसी तरह, उतने ही परिमाण में अभी भी नहीं जगा है। बंगाल में हमने वैध प्रतिरोध का सिर्फ मुंह से समर्थन किया है, ट्रांसवाल में वे व्यवहार में उस प्रतिरोध का चरम दृष्टांत प्रस्तुत कर रहे हैं। तिसपर भारत में जो सब सुविधाएं और सहज फल-सिद्धि की संभावना है ट्रांसवाल में उसकी रत्ती-भर भी नहीं। कभी-कभी लगता है कि यह है व्यर्थ की चेष्टा, किस आशा से ये

इतनी यातना, इतना धन-नाश, इतना अपमान व लांछना सह रहे हैं ? भारत में हम हैं तीस कोटि भारत-संतान, राजपुरुष और उनके स्वजातीय सहाय हैं मुट्ठी-भर। ये तीस कोटि लोग यदि दस दिन वैध प्रतिरोध चलायें तो बिना रक्तपात के स्वेच्छाचार-तंत्र अपने-आप नष्ट हो जायेगा। यदि एक कोटि लोग भी दृढ़ता से इस पथ को अपनायें तो साल-भर में शांत, अनिंद्य आईन-संगत उपाय से राष्ट्र-विप्लव सम्यक् सफल हो सकता है। ट्रांसवाल में मुट्ठी-भर भारतीय उस देश के लोगों के साथ संघर्ष कर रहे हैं। कोई बल नहीं, कोई leverage (उत्तोलक-साधन) नहीं, वे यदि सारे-के-सारे जेल जायें, देश-निर्वासित हो निर्मूल हो जायें तो इससे ट्रांसवाल-वासियों को थोड़े दिन के लिये आर्थिक हानि व कष्ट तो होगा पर उस देश का, उस गवर्नमेंट का कोई गुरुतर या स्थायी अपकार होने की संभावना नहीं, वरन् उनके शत्रु यही परिणाम चाहते हैं। आर्कमिडस कहा करते थे कि यदि मैं उत्तोलक-यंत्र रखने का स्थान पा जाऊं तो पथ्वी को शून्य में उठा सकता हूं। इनके पास न तो उत्तोलक-यंत्र है न उसे रखने का स्थान फिर भी पृथ्वी को शून्य में उठाने को उद्यत हैं। इनका परिश्रम कभी भी व्यर्थ नहीं जाने का। मि० गांधी का कहना है कि हम हैं भारतवासी, आध्यात्मिक शक्ति में आस्थावान्, आध्यात्मिक बल से सारी बाधाएं अतिक्रम करेंगे। यह ज्ञान, यह श्रद्धा, यह निष्ठा भारतीय को छोड़ भला और किस जाति में है या रह सकती है ? यही है भारत का महत्त्व कि इस निष्ठा के बल पर शिक्षित-अशिक्षित हजार-हजार संसारी सुख-दुःख तुच्छ समझ, सरल प्राण से, दृढ़ साहस के साथ इस तरह के दुष्कर कार्य के व्रती हुए हैं। हो सकता है कि जिस फल की आकांक्षा से वे यह यंत्रणा भोग रहे हैं वह फल हाथ न लगे पर इस महत् चेष्टा का महत् परिणाम होगा, इससे भारतवासी की भावी उन्नति साधित होगी, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

टाउन-हॉल की सभा

मि० पोलक ट्रांसवालवासी भारत-संतान के प्रतिनिधि बन इस देश में आ भारतवासियों की सहानुभूति व सहायता की भिक्षा मांग रहे हैं। हममें सहानुभूति का अभाव नहीं, क्षमता के अभाव से हम निरुपाय और निश्चेष्ट पड़े हैं। हमारे तीन पथ हैं। गवर्नमेंट से निवेदन कर सकते हैं; इससे फल की कोई आशा नहीं, गवर्नमेंट भी ट्रांसवाल गवर्नमेंट के इस तरह के बर्बर व्यवहार से असंतुष्ट है, किंतु हमारे सरकारी कर्मचारी हमसे भी ज्यादा निरुपाय हैं। जिस विषय में भारत का हित इंग्लैंड के हित का विरोधी है उस विषय में भारतीय सरकारी कर्मचारी इच्छा रहने पर भी हमारा हित करने में अक्षम हैं। भारतवासी का औपनिवेशिक गवर्नमेंट के विरुद्ध आचरण करना इंग्लैंड के हित में नहीं, औपनिवेशिकों का क्रोध विफल मन का भाव नहीं, वही क्रोध

है कार्यकर। भारतवासी के हित पर चोट पड़ने से पराधीन भारतवासी रोयेगा ही, और क्या करेगा, हम नाटाल में कुली भेजने के पथ को बंद करने के लिये कह रहे हैं, इस पर यदि नाटालवासी असंतोष प्रकाश करें तो हमारी सरकार कभी भी इस उपाय को अपनाने का साहस नहीं करेगी। दूसरा पथ है—ट्रांसवाल के भारतीयों को आर्थिक सहायता दे पुष्ट करना, विशेषतया, उनके बच्चों को शिक्षा देने-दिलाने में ऐसी सहायता करने से उनकी एक गुरुतर असुविधा दूर होगी। पर ऐसी सहायता देना सहज नहीं। भारत को भी धन की बड़ी आवश्यकता है। धन के अभाव में कोई भी चेष्टा फलवती नहीं होती। किंतु इस विषय में गवर्नमेंट की सहानुभूति है, गोखले ने भी दूरवर्ती वैध प्रतिरोध की प्रशंसा की है। राजद्रोह-भय से ग्रस्त भारत की धनी संतान इस निर्दोष युद्ध में धन की सहायता देने से पराङ्मुख क्यों होने लगी ? तीसरा पथ है—भारत-भर में प्रतिवाद के लिये सभा कर गांव-गांव में ट्रांसवाल-निवासी भारतीयों का अपमान, लांछना, यंत्रणा, दृढ़ता, स्वार्थ-त्याग जनता को जना भारत के उसी आध्यात्मिक बल को जगाना। किंतु इस कार्य के लिये उपयुक्त व्यवस्था और कर्म-शृंखला हैं कहां ? जिस दिन बंगाल बंबई का मुखापेक्षी न हो अपनी एकता व बल-वृद्धि करना सीखेगा उसी दिन हो सकती है वह व्यवस्था और कर्म-शृंखला । हमारा दृष्टांत देख दूसरे प्रदेशों के लोग भी उसी पथ पर दौड़ पड़ेंगे। तबतक यह निर्जीव और अकर्मण्य अवस्था ही रहेगी।

निर्वासित बंग-संतान

करीब-करीब एक वर्ष बीतने को आया, निर्वासित बंग-संतान आज भी केवल यही कहते आ रहे हैं : अब हुआ, अब मिली कारा से मुक्ति, मारले एक तरह से मान गये हैं, कल हो जायेगा, अमुक अवसर पर होगा, राजा के जन्म-दिन पर होगा, रिफॉर्म का प्रचार होते ही होगा, प्रतिवाद-सभा मत करो, ऊधम मत मचाओ, ऊधम मचाने से हमारा सारा परिश्रम मटियामेट हो जायेगा। उस दिन मैक्डोनाल्ड साहब को कहते सुना कि भारतीयों की निश्चेष्टता से पार्लियामेंट में कॉटन आदि के आंदोलन निस्तेज पड़ गये हैं, क्योंकि विलायत के लोग कह रहे हैं कि कहां, ये तो हुड़दंग नहीं मचा रहे, भारत में कोई चूं तक नहीं करता, इससे लगता है कि भारतवासी निर्वासन से संतुष्ट हैं, निर्वासितों के कुछ-एक आत्मीय, बंधु-बांधव आदि ही आपत्ति उठा रहे हैं, निर्वासन से लोकमत तो क्षुब्ध नहीं। विलायत की जनता के लिये ऐसा सिद्धांत अनिवार्य है। सारा देश निर्वासन से दुःखित और क्षुब्ध है, फिर भी सभी ने नीरव रह शांत भाव से गवर्नमेंट की दमन-नीति को शिरोधार्य कर लिया, यह ब्रिटिश जाति की तरह तेजस्वी और राजनीति-कुशल जाति को समझ नहीं आता। तिसपर मद्रास-कांग्रेस के नाम से

अभिहित सरकारी कर्मचारी-भक्तों की मजलिस में बड़े-बड़े नेताओं ने मारले-मिण्टो का, स्तव-स्तोत्र गा, बॉयकाट का वर्जन कर गाया—"अहा, आज भारत का कैसा सुख का समय आया है।" बंगाल के सुरेंद्रनाथ, भूपेंद्रनाथ प्रभृति ने उस उत्सव में भाग लिया, और भारतीयों के आदरणीय गोखले ने पूना में गवर्नमेंट की 'कठोर और निर्दय दमन-नीति' की आवश्यकता प्रतिपादित कर भारतवासियों के नेता व प्रतिनिधि के रूप में उसका समर्थन किया। ऐसी राजनीति से कभी भी किसी भी देश में कोई भी राजनीतिक सुफल न प्राप्त हुआ है न होगा।

संयुक्त कांग्रेस

सहयोगी 'बंगाली' ने उस दिन फिर असमय ही संयुक्त कांग्रेस की बात उठाकर कहा कि जो 'क्रीड' पर सही नहीं करेंगे, जो ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत स्वायत्त-शासन से संतुष्ट न हो स्वाधीनता को ही आदर्श बनायेंगे उन्हें कांग्रेस में प्रवेश करने का अधिकार नहीं, वे मेहता-गोखले की मजलिस के योग्य नहीं। इस प्रबंध को ले 'अमृत बाजार पत्रिका' के साथ सहयोगी का वाद-विवाद हुआ है। 'बंगाली' ने कहा है कि अब वाद-विवाद करना अनुचित है, मिलन की जो थोड़ी संभावना है वह नष्ट हो सकती है। बड़ी अच्छी बात है। हमने पहले ही 'बंगाली' को इसके बारे सतर्क कर दिया था और मौन रहने की सलाह दी थी। आशा है जबतक इस विषय की मीमांसा नहीं हो जाती तबतक सहयोगी पुनः वाक्-संयम करेगा। किंतु 'बंगाली' ने जब इस तरह स्वाधीनता-आदर्श के बहिष्कार का आदेश प्रचारित किया है तो हम उसके उत्तर में यह कहने को बाध्य हैं कि हम सच्चे व उच्च आदर्श को छोड़ मेहता-मजलिस में घुसने के लिये लालायित नहीं, हम चाहते हैं उपयुक्त कांग्रेस, मेहता-मजलिस नहीं। स्वाधीन-चेता व उच्च आकांक्षी भारत-संतान के प्रवेश के लिये उस मजलिस का द्वार रुद्ध है, यह हम जानते हैं। यह भी जानते हैं कि कांस्टिट्यूशन रूपी अर्गला और क्रीडरूपी ताले से सयत्न बंद किया गया है। जब भारत के अधिकांश धनी और लब्ध-प्रतिष्ठ राजनीतिज्ञ स्वाधीनता-आदर्श को खुले आम स्वीकारने से डरते हैं तब हम भी कांग्रेस के उस विषय पर जिद करने को राजी नहीं, कलकत्ते में भी जिद नहीं की थी, सूरत में भी नहीं। जबतक सब एकमत नहीं होंगे तबतक स्वायत्त-शासन ही कांग्रेस का उद्देश्य है यह मानने को हम राजी हैं। किंतु हमें उस उद्देश्य के लिये व्यक्तिगत रूप से मत देने, सत्य-भ्रष्ट होने, झूठा आदर्श प्रचार करने का आदेश देने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं। स्वाधीनता ही है हमारा आदर्श। वह चाहे ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत हो चाहे बहिर्गत, पर आईन-संगत उपायों से वह आदर्श-सिद्धि है वांछनीय। यदि मेहता-मजलिस को कांग्रेस में परिणत करने की आकांक्षा हो तो उस

रुद्ध द्वार का ताला तोड़ना पड़ेगा। कांस्टिट्यूशन को उस द्वार की अर्गला न बन कर्म का आधार बनना आवश्यक है, नहीं तो और किसी भित्ति पर कांग्रेस संगठित करना उचित है। निस्संदेह, यह हमारा ही मत है। हुगली में जो कमेटी नियुक्त हुई है उसके परामर्श के परिणाम से हम अवगत नहीं, अंतिम फल की प्रतीक्षा में हैं।

बुद्ध गया

गत ३ दिसंबर की प्रत्यूष वेला में पश्चिम बंगाल के छोटे लाट बहादुर सदल मोटरकार से बुद्ध गया-स्थित प्राचीन बौद्ध मंदिर देखने गये थे। यह प्राचीन मंदिर है गया से ७ मील दूर। दुर्भाग्य से यह प्राचीन स्थपति-विद्या का कौतूहल-उद्दीपक आदर्श एवं बौद्धों की घोरतर मनोमालिन्य का विषय बन गया है। महंत ने छोटे लाट को घर की सब प्रधान-प्रधान द्रष्टव्य वस्तुएं घुमा-घुमा कर दिखलायीं। बहुतों का यह विश्वास है कि जहां राजकुमार सिद्धार्थ ने सर्वप्रथम बुद्धत्व प्राप्त किया था ठीक वहीं पर अवस्थित है यह मंदिर। जिस वृक्ष तले बैठ उन्होंने अपने नये धर्म का आविष्कार किया था, सुनते हैं कि वह अब नहीं रहा। मंदिर के भीतर बुद्धदेव की एक प्रकांड प्रतिमूर्ति है। यहां अब भी विद्यमान है अशोक रेलिंग का प्राचीन भग्नावशेष। इसका बहुत-कुछ आज भी खड़ा है। यह निःसंदेह अशोक का समकालीन और कम-से-कम दो हजार वर्ष पुराना है। रेलिंग के अनेक प्रस्तर खंड पार्श्ववर्ती मकानों की दीवारों से दब गये थे, वे फिर से यथास्थान बैठा दिये गये हैं। दो हजार से भी अधिक वर्षों से यह मंदिर समग्र प्राच्य भूखंड के बौद्धों का एक प्रधान तीर्थ-स्थान रहा है। इसका निर्माण हुआ था ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में।

धर्म
अंक १५
अगहन २७, १३१६

फिरोजशाह मेहता की चाल

कुचक्री का चक्र समझ पाना टेढ़ी-खीर है। फिरोजशाह मेहता हैं कुचक्रियों के शिरोमणि। जब बल से पार नहीं पाते तब हठात् कोई अप्रत्याशित चाल चल अभीष्ट-सिद्धि पाने की उनकी आदत है। किंतु लाहौर कन्वेन्शन के पन्द्रह दिन पहले उन्होंने जो अपूर्व चला चली उससे किसका क्या लाभ होगा, यह कहना कठिन है। लोग

अपनी-अपनी अटकलें लड़ा रहे हैं। किसी-किसी का कहना है कि फिरोजशाह बंगाल व पंजाब के असंतोष से भय खा रण में पीठ दिखा रहे हैं। मानते हैं कि बंबई के इस एकमात्र सिंह ने कलकत्ते में लोकमत के भय से अपनी दुम पेट में दबा रखी थी, कहीं कोई कुचल न दे,—किंतु लाहौर कन्वेन्शन तो है सिंह महाशय की अपनी मांद। वहां किसी भी भक्तिहीन जंतु का प्रवेश सुकठोर आईन द्वारा निषिद्ध है। तिसपर अभ्यर्थना-समिति ने नियम बनाया है कि स्वयंसेवक हो चाहे दर्शक कोई भी पंडाल में चिल्ला नहीं सकता, न hiss, न 'वंदे मातरम्' की ध्वनि, न 'shame, shame', न जय-जयकार ही कर सकता है। जो ऐसा करेगा उसे अर्धचंद्र दे सभा से बाहर निकाल दिया जायेगा। सिंह किससे डरे हुए हैं ? दुम का कुचला जाना तो दूर की बात, प्रभु के कान में कोई विरक्ति-सूचक शब्द तक नहीं पहुंच सकता, निरापद ही निरापद। और फिर कोई-कोई कहते हैं कि सर फिरोजशाह इंडिया काउन्सिल के सभ्य बनने के लिये बुलाये गये हैं, अपनी राजभक्ति के चरम विकास का चरम पुरस्कार उन्हें हाथ लग रहा है, इसीलिये अब वे कन्वेन्शन के सभापति बनने में असमर्थ हैं। पर केवल पन्द्रह दिन की देर है, सर फिरोजशाह क्या इतने निष्ठुर पिता हैं कि अपनी लाड़ली कन्या को मझधार में छोड़ स्वर्ग जाने से सहमत होंगे ? गवर्नमेंट भी क्या कन्वेन्शन का मोल नहीं समझती ? इस आवश्यक कार्य के लिये क्या फिरोजशाह को पन्द्रह दिन की छुट्टी नहीं देगी ? हमने भी एक अनुमान लगाया है। शासन-सुधार से समस्त हिंदू-संप्रदाय असंतुष्ट व क्रुद्ध हो उठा है, फिरोजशाह इससे अनभिज्ञ नहीं, फिर भी शासन-सुधार व गवर्नमेंट के अनुग्रह का लोभ दिखा उन्होंने सूरत कांग्रेस में फूट डाली थी। उसके बाद बंगाल के प्रतिनिधियों की इतनी रूढ़ता से अवमानना की थी कि वे लाहौर जाकर पुनः अपमानित होना नहीं चाहते। फिरोजशाह खुद कहते हैं कि किसी गुरुतर राजनीतिक कारण से उन्होंने सभापति-पद त्याग दिया है। यही क्या वह राजनीतिक कारण नहीं ? पद-त्याग के कारण यदि सुरेन्द्रबाबू आदि कन्वेन्शन में भाग लेने के लिये राजी हों तो शासन-सुधार के ग्रहण का दोष मेहता के हिस्से में न पड़ सारे मध्यपंथी दल में सम-भाव से विभक्त होगा, यही है आशा। यदि बंगाल के मध्यपंथियों की अनुपस्थिति से मेहता के सभापतित्व में अल्प संख्यक प्रतिनिधियों द्वारा शासन-सुधार स्वीकृत हुआ तो सुधार के साथ-साथ कन्वेन्शन की दशा भी अति शोचनीय होगी। फिरोजशाह की इच्छा है कि बंगाल के प्रतिनिधियों को लाहौर में हाजिर करा उनसे अपना काम निकाल बंगाली शिखंडी की आड़ में छिपे-छिपे युद्ध चलायें। ऐसा नहीं हो तो कुचक्रियों के शिरोमणि उद्देश्यहीन चाल क्यों चलेंगे भला ?

पूर्व बंगाल में निर्वाचन

पूर्व बंगाल शुरू से तेज, सत्य-प्रियता व राजनीतिक तीक्ष्ण दृष्टि दिखलाता आ रहा है, शासन-सुधार की परीक्षा में जाना गया कि वे सब गुण दमन और प्रलोभन से निस्तेज नहीं हुए हैं, पहले जैसे ही हैं। फरीदपुर में एक भी हिंदू निर्वाचन-प्रार्थी नहीं बना। ढाका में सिर्फ एक व्यक्ति मारले के मोह से मुग्ध हुए हैं। मैमनसिंह में जो चार व्यक्ति इस राजभोग की आशा से दौड़े आये थे उनमें से दो चैतन्य लाभ कर खिसक गये हैं, और दो व्यक्ति, आशा है, श्रेयः पथ पकड़ेंगे। बड़े आश्चर्य की बात है, सुनने में आ रहा है कि अश्विनीकुमार का बारीसाल सुधार के मद से मतवाला हो लज्जा परित्याग कर मारले की इच्छानुसार नाच रहा है। यह दुर्बुद्धि क्यों ? निर्वासित अश्विनीकुमार का यह अपमान क्यों ? बारीसाल के देवता ब्रिटिश जेल में कैद हैं, कठिन रोग से आक्रान्त, अकारण ही बंधु-बांधवों व आत्मीयों की सेवा-टहल से वंचित। उनका बारीसाल उन्हें भूल सरकारी कर्मचारियों के प्रेम बाजार में अपने को बेच देने के लिये दौड़ पड़ा है। छिः ! शीघ्र ही यह दुर्मति त्यागो, कहीं बंगाल बारीसाल का उपहास कर यह न कहे कि व्यर्थ ही अश्विनीकुमार जीवन-भर बारीसालवासियों को मनुष्यत्व सिखाने और दृष्टांत द्वारा दिखलाने के लिये खटे, व्यर्थ ही अंत में देश के हित अपनी बलि चढ़ायी।

पश्चिम बंगाल की अवस्था

पश्चिम बंगाल कभी भी बीच का रास्ता नहीं पकड़ता। जिस राह जाता है उसपर दौड़ ही लगाता है, जिस भाव का अवलंबन लेता है उसका चरम दृष्टांत दिखाता है। पश्चिम बंगाल में जैसे सर्वश्रेष्ठ तेजस्वी पुरुष सिंह हैं वैसे ही निर्लज्ज चाटुकारों का दल भी। जो कमर बांध निर्वाचन की दौड़ में प्रथम स्थान पाने के लिये लालायित हैं वे हैं प्रायः देश के अज्ञात, अपूज्य, स्वार्थ-अन्वेषी चाटुकारों का दल। काउन्सिल में उनके भीड़ लगाने से न कोई लाभ है न हानि,—सभा बन जायेगी अयोग्य चाटुकारों का चिड़ियाखाना, और कोई कुफल नहीं निकलेगा। पर उनमें दो-एक देशपूज्य लोगों का नाम देख दुःखित हुए। बंगाल में श्रीयुत बैकुंठनाथ सेन का क्या इतना कम आदर है कि अंत में उन्हें इस भीड़ में, काउन्सिल में घुसने के लिये ठेलाठेली करनी पड़ी ? वृद्धावस्था में बैकुंठ बाबू की यह अपमान-प्रियता क्यों ? चिड़ियाखाना में प्रवेश क्या इतना लोभनीय है ?

मारले-नीति का फल

यह कहना पड़ा कि मोटे तौर पर मारले-नीति का फल देश के लिये उपकारी है। भारत के प्रधान बंधु व हितकारी लार्ड कर्जन ने बंग-भंग कर सुप्त जाति को जगाया था, दूर किया था निबिड़ मोह। जो अवशिष्ट रहा—मोह का पुनर्विस्तार, निद्रा के नव प्रभाव की आशंका,—शासन-सुधार कर उसका अपसारण किया हमारे हितैषी लार्ड मारले ने। जिनपर बंग-भंग की चोट नहीं पड़ी वे भी इस प्रकार से मर्माहत हो जाग रहे हैं। सारी हिंदू-जाति परमुखापेक्षा की असारता जान राष्ट्रीयता की ध्वजा तले अविलंब इकट्ठी होगी। सरकार का साथ दे रहे हैं जमींदार और मुसलमान। देखें वे भी कबतक टिकते हैं। भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हमारा कोई तृतीय हितैषी अंग्रेजों के मन में कोई नयी युक्ति घुसा दे जिसके सुफल से जमींदारों व मुसलमानों को भी पूरी तरह होश आ जाये। राष्ट्रीय दल की आस्था व्यर्थ कल्पना नहीं, जब भगवान् सुप्रसन्न होते हैं तब विपक्ष की चेष्टा के विपरीत फल से उनकी उद्देश्य-सिद्धि में सहायता करते हैं।

मिण्टो का उपदेश

इस परीक्षा के समय छोटे-बड़े अनेक अंग्रेज भारतीयों को सुधार-विषयक सदुपदेश देने के लिये आगे बढ़ रहे हैं। इनमें हमारे अति लोक-प्रिय सदाशय बड़े लाट ने भी अपने पूजनीय मुख-विवर से उपदेश-सुधा ढाल हमारे कानों को तृप्त किया है। सबके मुंह में एक ही बात—अहा, कैसा सुंदर शिशु भूमिष्ठ हुआ है, तुम सब इस तरह उसके अपरूप रूप में छोटी-छोटी खोट न निकाल co-operation सुधा (सहयोग-सुधा) से हमारे सोने के चांद को हृष्ट-पुष्ट करो, सब दोष खुद ही मिट जायेंगे। शिशु के मां-बाप ऐसी प्रशंसा करेंगे, दोष ढकेंगे, यह तो स्वाभाविक और मार्जनीय है। किंतु सच बात तो यह है कि लड़के में एक या दो या तीन छोटे-मोटे दोष होते तो कोई हानि नहीं थी, उसका तो सारा शरीर ही गला-सड़ा हुआ है, वह जनमा ही है हृत् रोग, यकृत् रोग, क्षय रोग लेकर, यह सोने का चांद नहीं बचने का, बचने के लायक भी नहीं, व्यर्थ में उसे बचा कष्ट देने की अपेक्षा बॉयकाट के तकिये से उसका गला घोंटकर यंत्रणा-मुक्त करना होगा दयावान् का काम। इससे यदि शिशु-हत्या व नृशंसता के दोष से अपराधी बने तो न हुआ नरक-भोग कर लेंगे। किंतु कौतूहल का एक कारण रह गया हमारा—सोने के चांद के बाप मिण्टो की उक्ति सुनी,—माननीय मि० गोखले जो सोने के चांद के मातृस्वरूप हैं, वे क्यों चुपचाप संतान की निंदा सह रहे हैं ? या हमारे गोपाल कृष्ण 'हिंदू-पंच' का ध्वंस कर विजय-आनंद के अतिरेक से समाधिस्थ

हैं ? शायद कुछ दिन सूतिका अशौच का पालन कर रहे हैं। समय आने पर सभ्य समाज में फिर मुख दिखाने आयेंगे।

लाहौर कन्वेन्शन

लाहौर कन्वेन्शन का अदृष्ट निबिड़ मेघाच्छन्न है। बंगाल अप्रसन्न है, पंजाब असंतुष्ट है, देश के अधिकांश लोग या तो बहिष्कृत हैं या भाग लेने के अनिच्छुक। फिरोजशाह-प्रसूत, हरकिसन लाल-पालित, गवर्नमेंट-लालित कन्वेन्शन बड़े कष्ट से प्राण बचा रही थी। अंत में कैसा वज्राघात! जिस प्रिय पिता के प्रेम से बंगाल की आपत्ति को अग्राह्य कर स्वयं को विपदापन्न किया था वही पिता व इष्ट देवता फिरोजशाह विमुख हो सब प्रार्थनाओं को ठेल निज गुप्त विचार के अभेद्य तिमिर में इंद्रजित की तरह अतर्क्य माया-युद्ध के लिये प्रवृत्त हुए। बंबई के 'सांझ वर्तमान' के टेलिग्राम के उत्तर में हरकिसन लाल ने दुःख के साथ जनाया है कि फिरोजशाह अपने पद-त्याग का कारण बतलाने को तैयार नहीं। लाचार हो भक्त अपने रहस्यमय अनिर्देश्य और अतर्क्य देवता के मुख की तरफ करुण व शून्य दृष्टि से मुंह बाये ताक रहे हैं। ऑल इंडिया "कांग्रेस" कमेटी को छोड़ नये सभापति को और कौन निर्वाचित करेगा ? उस कमेटी का सभा-स्थल है फिरोजशाह का शयन-कक्ष। अतः कमेटी के अधिवेशन में प्रभु की इच्छा व्यक्त हो भी सकती है। फिरोजशाह-स्पर्शित, पुण्यमयी, परित्यक्त माला उनके पवित्र कर-कमल से निक्षिप्त हो किसके गले में पड़ेगी ? वाच्छा के या मालवीय के या गोखले के ? हमारे सुरेंद्रनाथ का नाम भी लिया गया है, किंतु वे फिरोजशाह के उच्छिष्ट सभापतित्व को उनकी कृपा के दान के रूप में स्वीकार कर बंगालियों के अप्रीति-भाजन बनेंगे, यह आशा पालना अन्याय होगा। गोखले हैं फिरोजशाह के द्वितीय आत्मा, वाच्छा हैं उनके आज्ञावाहक भृत्य। मालवीय को इस महत् पद पर बिठा कमेटी को स्वाधीनता का ढोंग करने दो।

धर्म
अंक १६
पौष ५, १३१६

'बंगाली' की उक्ति

हमारे सहयोगी 'बंगाली' ने संयुक्त कांग्रेस कमेटी का विफल परिणाम देख आक्षेप कर लिखा है कि राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधि क्रीड (सिद्धांत-पत्र) से सहमत नहीं हुए,

क्रीड पर सही न करने से कोई कांग्रेस में प्रवेश नहीं पा सकेगा, इस अंतिमेत्थम् के बावजूद सहयोगी यह आशा करता है कि पुनः मिलन की चेष्टा हो सकती है, पुनः दोनों दल मिलकर एक साथ देश-कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं। जबतक यह भ्रांत धारणा मध्यपंथी नेताओं के मन से विदूरित नहीं होती तबतक मिलन की आशा व्यर्थ है। जबतक वे यह जिद छोड़ने को तैयार नहीं होते तबतक राष्ट्रीय दल मिलन की और किसी भी चेष्टा में योग नहीं देगा। क्योंकि वे जानते हैं कि अपर पक्ष में प्रकृत मिलन की इच्छा नहीं। देश को व्यर्थ आशा दिखाना अनुचित है। जनता को बतलाने के लिये राष्ट्रीय पक्ष अविलंब अपना वक्तव्य प्रकाशित करेगा, इससे यह स्पष्टतः निरूपित होगा कि वे किस शर्त पर मध्यपंथियों के साथ संधि करने के लिये तैयार हैं। जिस दिन मध्यपंथी मेहता व मारले की सफल राजनीति से विरक्त हो यह शर्त मान हमारे पास संधि स्थापनार्थ आयेंगे उसी दिन हम फिर से संयुक्त कांग्रेस की स्थापना के लिये सचेष्ट होंगे।

मजलिस के सभापति

मेहता के पद-त्याग से बंगाल के मध्यपंथी इस प्रबल आशा से उत्फुल्ल हो उठे थे कि अबकी शायद सुरेन्द्र बाबू की बारी आयी। बंगाल के यह मध्यपंथी नेता कन्वेन्शन के सभापति बनेंगे, बॉयकाट का प्रस्ताव पारित होगा, बंगाल की जीत होगी। आशा ही है मध्यपंथियों का संबल। सहिष्णुता है उनका प्रधान गुण। जो सहस्र बार श्वेतांग के आनंदमय पद-प्रहार का भोग कर पुनः प्रेम करने के लिये दौड़ पड़ते हैं, सहस्र बार आशा से प्रतारित हो सगर्व कहते हैं कि हम अब भी निराश नहीं हुए हैं, वे स्वेच्छाचारी स्वदेशवासी के बार-बार के अपमान से लब्धसंज्ञ होंगे या मेहता-मजलिस के बंग-विद्वेष से जर्जरित होकर भी सीखेंगे और आत्म-सम्मान को बचाये रखने की चेष्टा करेंगे, ऐसी आशा व्यर्थ है। मेहता की मजलिस न कांग्रेस है न कन्वेन्शन। जो मेहता के सुर में गायेंगे, मेहता के पद-पल्लव में स्वाधीन मत व आत्म-सम्मान विक्रय करेंगे, उनके लिये ही है यह मजलिस। जो मेहता-पूजा के "क्रीड" को स्वीकार न कर प्रवेश करेंगे वे अनाहूत अतिथि की तरह अपमानित होंगे और यदि अपमान से भी वश में न आये तो अंत में गरदनियां खा उस संग को परित्यागने के लिये बाध्य होंगे। उन्होंने क्या यह समझ लिया है कि पद-त्याग करके भी मजलिस के कर्णधार ने पतवार छोड़ दी है ? हम तभी जान गये थे कि मदनमोहन ही सभापति होंगे। मजलिस के परमेश्वर ने ऐसी आज्ञा दी है, उनकी बंबईवासी आज्ञावह-मंडली ने देश को यह आज्ञा जनायी है, ऑल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने भी सिर झुका दिया है। बंगाल के थोड़े-से लोग प्रतिनिधि चुने गये हैं—कलकत्ता और ढाका में, अन्यत्र कोई चहल-पहल नहीं। कितने

जायेंगे मालूम नहीं। जो जायेंगे वे यह मानकर जायेंगे कि हम ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन के प्रतिनिधि बनकर जा रहे हैं। वे बंगाल के प्रतिनिधि नहीं।

इंगलैंड में राष्ट्रीय विप्लव

इंगलैंड के पुरातन ब्रिटिश राजतंत्र को ले जो महान् संघर्ष आरंभ हुआ है उसके पूर्व लक्षण भी उग्र व भीति-संचारक हैं। इंग्लैंड का लोकमत किस तरह उत्तेजित व क्रुद्ध होता जा रहा है वह 'रायटर' के संवाद से दिन-प्रतिदिन प्रकट हो रहा है। बहुत दिन बाद उस देश में प्रकृत राजनीतिक उत्तेजना और दल-दल में विद्वेष दिखायी दे रहा है। पहले तो साधारणतः जो होता है वही हुआ, उदारनीतिक मंत्री मि० ऊर के भाषण के समय शोरगुल और विरोधियों का हुड़दंग, फिर बल-प्रयोग से सभा-भंग की चेष्टा। रक्षणशील (कंजर्वेटिव) दल के नेता भी, विशेषतः जमींदार-वर्ग, प्रजा के असंतोष से ऐसी बाधा पाने लगे, अब मुख्य-मुख्य मंत्रियों व विख्यात वक्ताओं को छोड़ कोई भी रक्षणशील राजनीतिज्ञ बेरोक-टोक स्वमत के प्रकाशन का अवसर नहीं पा रहा, अनेक सभाओं में एक शब्द भी नहीं कहने दिया गया। कुछ-एक स्थानों में सूरत कांग्रेस का अभिनय इंगलैंड में अभिनीत हो रहा है। अब देखते हैं कि बड़े-बड़े रक्षणशील राजनीतिज्ञ भी बाधा पा रहे हैं। और भी उग्र लक्षण दिखायी दिया है—प्राण लेने की चेष्टा। ऊर की एक सभा में उस घर के कांच के दरवाजे को एक तरह के battering-ram (भित्ति-पातक) से चूर-चूर कर दिया गया, अनेक आहत हुए। और एक रक्षणशील-सभा में बल-प्रयोग से सभा भंग की गयी, उस दल के स्थानीय कर्मचारियों को निर्दय प्रहार से अचेत कर दिया गया, निर्वाचन-प्रार्थियों ने भागकर विपदा के हाथ से अपनी रक्षा की। ये लक्षण हैं राष्ट्र-विप्लव के। दिन-पर-दिन वह जो उग्र रूप धारण करता जा रहा है उससे संदेह होता है कि निर्वाचन के समय रक्षणशील निर्वाचक-वर्ग को वोट देने दिया जायेगा कि नहीं।

गोखले का मुख-दर्शन

गोखले महाशय का सूतिका अशौच समाप्त हुआ, उन्होंने फिर अपना मुंह दिखाया है, उनकी अमूल्य वाणी भी सुनी गयी है। राष्ट्रीय पक्ष के नृसिंह चिन्तामणि केलकर दुष्टा-सरस्वती के आवेश में नव व्यवस्थापक सभा में निर्वाचन-प्रार्थी हुए थे, बंबई के लाट ने केलकर को अयोग्य व्यक्ति मान उनकी निर्वाचन-लालसा पर रोक लगायी। केलकर भी लज्जा छोड़ लाट साहब को साधने गये थे, लाट साहब ने भी इस दावे

का उपयुक्त उत्तर दिया है। हमारे गोपाल कृष्ण ने सोचा, अच्छा हुआ, गवर्नमेंट को कठोरता व निर्दयता से इनका दमन करने दो, इस बीच मैं उनके साथ जरा प्रेम कर लूं, मुझपर लोगों की जो घृणा व क्रोध है शायद वह कम हो जाये। अतः अपने "दक्षिण-सभा" के अधिवेशन में गोखले ने केलकर के पक्ष का समर्थन कर बंधु क्लार्क को मीठी-मीठी झिड़की सुनायी है। उन्होंने कहा—केलकर अयोग्य नहीं, योग्य व्यक्ति हैं, गोखले उन्हें यौवन-काल से जानते हैं, उत्तम सिफारिश दे सकते हैं, केलकर राजद्रोही नहीं, विकृत-मस्तिष्क भी नहीं। लाट साहब पुनः विवेचना करें तो अच्छा हो।

गोखले का स्वसंतान-समर्थन

गोखले महाशय ने अपनी सुधाररूप संतान की बात भी कही है। कहा है—मेरी प्रिय संतान बहुत सुंदर लड़का है, शांत-शिष्ट लड़का है, सारे देश के प्यार के योग्य। किंतु गवर्नमेंट ने जो रेगुलेशनरूपी परिधान उसे पहनाया है उससे ही घपला हो गया है, 'सोने के चांद' का रूप निखर नहीं पा रहा है। कोई बात नहीं, सोने के चांद को प्यार करो, पालो, वस्त्र कितने दिन रहेगा, शीघ्र ही प्रचलित परिपाटी के अनुसार वेश-भूषा पहना उसका निर्दोष सौंदर्य सबको दिखाऊंगा। बंबई के लाट ने भी यही उपदेश दिया है। देश क्या इतना अभद्र व राजद्रोही हो गया है कि लाट का अनुरोध अमान्य करेगा ? गोखले को ही शोभा देती है ऐसी बात।

संयुक्त कांग्रेस

हमें देश को यह बताते हुए दुःख हो रहा है कि कांग्रेस के एक होने की जरा भी संभावना नहीं। हुगली में प्रादेशिक सभा में जो कमेटी बनी थी उसका प्रयास विफल रहा है। कमेटी के प्रथम अधिवेशन में नरमपंथी दल के प्रतिनिधियों ने यह प्रस्ताव किया था कि गत वर्ष "अमृत बाजार" के ऑफिस में जो तीन मुख्य प्रस्ताव निश्चित हुए थे, उन्हें ही लेकर फिर से आवश्यक परिवर्तनसहित बम्बई निवासियों के साथ लिखा-पढ़ी शुरू हो। ये तीन प्रस्ताव इस प्रकार थे,—राष्ट्रीय पक्ष क्रीड को स्वीकार करेगा, राष्ट्रीय पक्ष कन्वेन्शन के नियमों को स्वीकार करेंगे पर उस नियमावली को कांग्रेस में स्वीकार किया जायेगा; कलकत्ता अधिवेशन के चारों प्रस्तावों को कांग्रेस स्वीकार करेगी। उस बार महाराष्ट्र से जो राष्ट्रीय पक्ष के प्रतिनिधि बनकर आये थे, वे लोग कांग्रेस का फिर से बॉयकाट करने की लालसा से क्रीड व कान्स्टिटयूशन को

स्वीकार करने को सम्मत हुए हैं। पर फिरोजशाह मेहता किसी भी तरह कलकत्ता कांग्रेस के बॉयकाट प्रस्ताव को मानने के लिये सहमत नहीं हुए।

इस बार नरमपंथियों का यह प्रस्ताव था कि फिरोजशाह बॉयकाट ग्रहण करने से असहमत हैं, तब चारों प्रस्तावों की चर्चा निरर्थक है, संयुक्त कांग्रेस की विषय-निर्वाचन समिति में हम बॉयकाट के लिये चेष्टा करेंगे, फिलहाल चुप्पी साधना ही बेहतर है। क्रीड स्वीकार कर बिना किसी आपत्ति के हस्ताक्षर करने होंगे। कन्वेंशन के नियमों को भी मानना होगा, तब हां, नियमों को संशोधित करने के लिये लाहौर में एक कमेटी बननी चाहिये। राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधि इस अद्भुत प्रस्ताव से संतुष्ट नहीं हो पाये एवं श्रीयुत अरविन्द घोष ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे कभी भी क्रीड पर हस्ताक्षर करने के लिये सहमत नहीं होंगे, पर हां, जो प्रस्ताव किया गया है, कुछ दिन उसकी विवेचना कर और नियमों का निरीक्षण कर उस प्रस्ताव में क्या परिवर्तन आवश्यक हैं उसे नरमदल को बताएंगें। निश्चित हुआ कि पूजा की छुट्टी के बाद कमेटी फिर से बैठ निश्चित सिद्धांत अपनायेगी। छुट्टी के बाद राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधियों ने यह प्रस्ताव रखा कि वे कन्वेंशन के उद्देश्य को कांग्रेस का उद्देश्य मान स्वीकार करेंगे किंतु इसे निजी मत के रूप में मानना कभी स्वीकार नहीं करेंगे। उस संकीर्ण लक्ष्य से बंधे रहने से कभी सहमत नहीं होंगे और क्रीड पर कभी भी हस्ताक्षर नहीं करेंगे; वे कन्वेन्शन के नियमों को कांग्रेस का कान्स्टिटय़ूशन नहीं मानेंगे, पर हां, मेल-मिलाप की सुविधा-हेतु उस नियम के अधीन दो-एक अधिवेशनों को करने में सहमत हो सकते हैं। जिस नियम के द्वारा नूतन सभा-समितियों को प्रतिनिधि निर्वाचन में असमर्थ बताया गया है, उस नियम को रद्द करना होगा और संयुक्त कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में इन नियमों के बदले असली कान्स्टिटय़ूशन को सभा में ग्रहण करना होगा। वे लोग कलकत्ता के चार प्रस्तावों को मेल की शर्त के रूप में ग्रहण नहीं करवायेंगे लेकिन नरमपंथी नेताओं से यह प्रतिज्ञा चाहते हैं कि विषय निर्वाचन समिति में या कांग्रेस की सभा में इन चारों प्रस्तावों को उठाने का पूर्ण अवसर दिया जायेगा। दूसरी बार जब कमेटी बैठी, नरम दल के नेता इस प्रस्ताव को मानने से मुकर गये, उन्होंने कहा, क्रीड पर हस्ताक्षर करने ही होंगे नहीं तो मिलने की चेष्टा व्यर्थ है। क्रीड व नियमावली को स्वीकार कर हमारे साथ लाहौर चलो, वहां नियमावली के संशोधन के लिये कमेटी नियुक्त करने के लिये जिद करेंगे, राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधियों ने क्रीड पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। अतः कांग्रेस युक्त न हो सकी।

हमने बार-बार कहा है, बंगदेश का राष्ट्रीय दल कभी भी मेहता-मजलिस को कांग्रेस कहकर स्वीकार नहीं करेगा, उस मजलिस में प्रवेश पाने के लिये वह लालायित नहीं है, क्रीड पर हस्ताक्षर करने के लिये कतई राजी नहीं होगा। नरमपंथी नेताओं के प्रस्ताव का मतलब है कि राष्ट्रीय दल अपना दोष स्वीकार कर अपने मत और सत्यप्रियता को जलांजलि दे, मेहता और गोखले के निकट हाथ जोड़कर साष्टांग

नमस्कार करते हुए मजलिस में प्रवेश करे, वहां अल्पसंख्यक राष्ट्रीय पक्ष के प्रतिनिधि बहुसंख्यक नरम पक्ष के नेताओं से अनुग्रह की भिक्षा मांगें। राष्ट्रीय दल भला क्यों इतनी हीनता और आत्मावमानना प्रकट करे यह हमारी समझ के परे है। नरमदलीय नेतागण क्या यह समझ बैठे हैं कि राष्ट्रीय दल दो साल के कठिन व निर्दय निग्रह से भीत हो मेहता-मजलिस में शरण लेने के लिये उन्मत्त कामना से मिलनाकांक्षी हुए हैं ? जब दो परस्पर-विरोधी दल हों तब यह कहां का तुक है कि एक दल विपक्ष के सारे दावे सहता रहे, अपने सभी मत, आपत्तियों और उच्च आशाओं को भूल विपक्ष के सामने सिर झुकाता रहे ? गत वर्ष "अमृत बाजार" के ऑफिस में जो प्रस्ताव पारित हुए थे—उन प्रस्तावों से बंगदेशीय राष्ट्रीय दल सहमत नहीं था—उसमें भी श्रीयुत मतिलाल घोष ने कलकत्ते के चारों प्रस्तावों की रक्षा की थी, इस बार तो नरम दल के प्रस्तावों में उसे सम्मिलित ही नहीं किया गया। रष्ट्रीय दल की एक भी बात उसमें नहीं रहेगी, नरमपंथियों की बातें पूर्णतः माननी होंगी, यही है इस अद्भुत संधि की भित्ति।

कलकत्ते के अधिवेशन में ऐसा मान लिया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत औपनिवेशिक स्वायत्त शासन कॉंग्रेस की मांग है पर इससे हम सहमत नहीं थे। फिर भी अधिकांश प्रतिनिधियों का मत है ऐसा मान हमने इसे स्वीकार कर लिया था। फिर सूरत के कन्वेन्शन में निश्चित हुआ कि जो इस आदर्श को राजनीतिक अंतिम लक्ष्य स्वीकार करने को राजी नहीं वे इसमें प्रवेश नहीं पा सकते। क्रीड पर हस्ताक्षर करना और इस बात से सहमत होना एक ही बात है। पहले तो, जिसमें हमारी सहमति नहीं उसपर हम हस्ताक्षर क्यों करें ? धर्म है हमारा एकमात्र सहाय, उस धर्म को जलांजलि देकर मेहता की मनस्तुष्टि के लिये भगवान् के असंतोष का भाजन क्यों बनें ? दूसरी बात, यदि कहो, कांग्रेस की मांग कांग्रेस के लक्ष्य (उद्देश्य) में परिणत हो गयी है, और कोई परिवर्तन नहीं किया गया, तब स्वीकार क्यों नहीं करेंगे ? इससे मेल की आशा से राजी हो सकते हैं पर क्रीड पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। भारतीय कांग्रेस न नरमपंथियों की है न राष्ट्रीयपंथियों की; भारतवासी जिसे प्रतिनिधि मानकर मनोनीत करेंगे उसे प्रतिनिधि मान ग्रहण करना ही होगा नहीं तो तुम लोग कांग्रेसी नहीं, हो सिर्फ नरमपंथियों की परामर्श सभा-मात्र। भारत की कांग्रेस न तो नरमपंथियों की है न भीरुओं की। क्रीड पर हस्ताक्षर करवाने का मतलब यही है कि भारत की स्वाधीनता-प्रयासी, स्वार्थ-त्यागी साहसी मां की संतान भारत की कांग्रेस में प्रवेश पाने के अयोग्य है। क्रीड पर हस्ताक्षर करवाना है राष्ट्रीय आदर्श का अपमान, राष्ट्र का अपमान, राष्ट्रीयता का अपमान, मातृभक्त निगृहीत भारत-संतान का अपमान।

तुम लोगों की नियमावली है स्वेच्छाचार और प्रजातंत्र के नियम-भंग की स्मारिका। यह कभी भी कांग्रेस में गृहीत नहीं हुई, फिर भी कुछ-एक बड़े लोगों की इच्छा से कांग्रेस अधिवेशन में इस नियमावली में शामिल करने की चेष्टा। यदि हम

उसे कान्स्टिटयूशन समझकर मानें तो तुम लोगों की इस देश को हानि पहुंचाने की चेष्टा मानों सफल हुई। तथापि यदि दो साल के अंदर कांग्रेस में यथार्थ नियमावली लिपिबद्ध करने की शपथ लेते हो तो हम कन्वेन्शन की वर्तमान नियमावली को अस्थायी व्यवस्था मान स्वीकार करने को राजी हैं। केवल एक नियम हटा देना होगा जिससे राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधियों का प्रवेश कार्यतः निषिद्ध होता है। इस नियम को नहीं हटाने पर बहुसंख्यक नरमपंथियों के बीच मुट्ठी-भर राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधि भला क्या करने जायेंगे ? अंग्रेजों के शासन-सुधार के लिये इस प्रकार के नियम बनाये गये हैं कहकर तुम लोग विलाप और प्रतिवाद से दिग्-दिगन्त को प्रतिध्वनित कर रहे हो; राजकर्मचारियों ने हमारा बॉयकाट किया है कहकर निर्वाचन-प्रार्थी से असम्मत होते हो, तुम लोगों के भी इस अन्यायपूर्ण नियम-सुधार का उद्देश्य है हम लोगों का कांग्रेस से निष्कासन। जबतक यह नियम रहेगा, हम लोग क्यों तुम्हारी व्यवस्थापिका सभा में बैठने लगे ? यदि इस नियम को हटाने से असम्मत हो तो हम समझेंगे कि हमसे मिलने की बात मिथ्या थी, सिर्फ अपनी किसी सामयिक स्वार्थसिद्धि के हेतु हम अल्पसंख्यक लोगों के प्रवेश के लिये आह्वान कर रहे हो।

राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधियों का प्रस्ताव न्यायसंगत व मेल की इच्छा से परिपूर्ण है। उन्होंने कांग्रेस के उद्देश्य और कन्वेन्शन की नियमावली को यथासंभव मान लिया है, अपने मत की स्वाधीनता की, सत्य की मर्यादा की, देश के हित के लिये जो रक्षणीय है उसकी रक्षा की है, उससे नरमपंथियों को असल में कोई असुविधा नहीं होगी, सरकारी कर्मचारी भी कांग्रेस को राजद्रोहियों का गुट कहकर अंगुलि नहीं उठायेंगें। कांग्रेस के कार्यकलाप में भी कोई गोलमाल होने की संभावना नहीं। आदान-प्रदान हैं संधि के नियम। एक दल तो सदा आदान ही करता रहे, और दूसरा प्रदान, कौन-से देश का यह नियम है भला ? या ऐसे नियम से कब कहां असली मेल-मिलाप हुआ है ? यदि हम युद्ध में पराजित होते और संधि की भीख मांगते तब तो समझ में भी आती नरमपंथियों की उद्धतता; न हम पराजित हैं न भिक्षाप्रार्थी। देश के हित के लिये, देशवासियों की कामना को देखते हुए संयुक्त कांग्रेस की सभा करने को प्रयत्नशील हुए थे—नहीं तो हममें बल है, तेज है, साहस है, भविष्य हमारे पक्ष में है, देशवासी हमारे साथ हैं, युवकमंडली तो हमारी है ही, हम स्वतंत्र भाव से खड़े होने को हमेशा तैयार हैं।

धर्म
अंक १७
पौष १२, १३१६

प्रस्थान

जिन्होंने लाहौर के धनीपुंगव हरकिसन लाल के निमंत्रण का मान रखने के लिये प्रस्थान किया है, जो कन्वेन्शन-यज्ञ में मारले के श्रीचरणों में स्वदेश की बलि चढ़ाने और शासन-सुधार के पेषण-यंत्र में जन्मभूमि के भावी ऐक्य व स्वाधीनता को पीसकर चूर-चूर करने को तैयार बैठे भारत-सचिव का धन्यवाद अदा करने सानंद, महा सुख से नाचते-गाते जा रहे हैं वे ठहरे देश के नेता, संभ्रांत, धनी, देश में उनका ''stake'' (खूंटा) है, सम्मान है, प्रभाव-प्रतिष्ठा है। शायद यह धन-संपत्ति, सम्मान, प्रभाव-प्रतिष्ठा है अंग्रेजों की दी हुई, मां की दी हुई नहीं, तभी तो वे कृतघ्नता और अपवाद के भय से जन्मभूमि की उपेक्षा कर मारले को ही भज रहे हैं। दरिद्र मां एक तरफ, वरदाता, शांतिरक्षक, संपत्तिरक्षक गवर्नमेंट दूसरी तरफ। जो मां से प्रेम करते हैं वे एक तरफ जायेंगे, जिन्हें स्वयं से प्यार है वे दूसरी तरफ। अब दोनों तरफ रहने की चेष्टा न करें, दोनों तरफ के देय पुरस्कार और सुविधा भोग करने की दुराशा अब न पालें। जिन्होंने कन्वेन्शन में योग देने के लिये प्रस्थान किया है वे अपनी लोक-प्रियता, देश-वासियों के हृदय में अपनी प्रतिष्ठा और देश-हितैषिता के गौरव को पद-दलित कर उस कुस्थान की ओर भाग रहे हैं। उनका यह प्रस्थान है राजनीतिक महाप्रस्थान।

हरकिसन लाल का अपमान

तेजस्वी स्वदेश-हितैषी अंग्रेज को कभी भी देशद्रोही का सम्मान करना प्रिय नहीं रहा। यदि कभी अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये थोड़े दिन मौखिक भद्रता व प्रीति दिखाये भी तब भी अवज्ञा व असम्मान का भाव उनके हृदय में छिपा रहता है। पंजाब के हरकिसन लाल मान बैठे थे कि मैं तो सरकारी कर्मचारियों का बहुत प्रिय हूं, पंजाब के लोक-मत का दलन कर कन्वेन्शन बुला रहा हूं, सरकार की सहायता से स्वदेशी वस्तुओं की प्रदर्शनी कर रहा हूं, गवर्नमेंट मेरे सब दावे को मान लेगी। हरकिसन लाल पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि होने को लालायित हैं, उनका नाम भी निर्वाचन-प्रार्थियों में रखा गया था। किंतु किसी नियम भंग के कारण वह नाम स्वीकृत नहीं हुआ। इससे लालजी के प्राणों को बड़ी ठेस लगी है। कन्वेन्शन के हरकिसन लाल, गवर्नमेंट के हरकिसन लाल, प्रतिनिधि नहीं बनेंगे, नाम तक नहीं लिया गया। यह कैसी बात ? किसकी है इतनी बड़ी धृष्टता ? ठहरो, गवर्नमेंट को लिखता हूं। सबको

मजा चखाऊंगा। किंतु हरकिसन के आवेदन का फल हुआ उल्टा। पंजाब गवर्नमेंट ने लालाजी को अपदस्थ कर कलम के एक ही वार में उनके आवेदन को अग्राह्य कर कहा है कि नियम के अनुसार हरकिसन लाल का नाम अस्वीकृत हुआ है, अस्वीकृत ही रहेगा। न्याय्य बात। व्यक्ति की खातिर नियम भंग करना सभ्य राजतंत्र की प्रथा नहीं। किंतु हरकिसन लाल मारले व मिण्टो की मनस्तुष्टि के लिये जब प्राणपण से खटे थे, तब नाम अस्वीकारने के पहले उन्हें सतर्क कर सकते थे। भूल संशोधित हो जाती। हम जानते हैं कि जान-बूझकर यह अपमान किया गया है, मध्यपंथी दल को सबक सिखाने के लिये किया गया है। सरकारी कर्मचारी मध्यपंथियों को अपने पक्ष में करना चाहते हैं, पर कैसे मध्यपंथियों को ? ऐसे मध्यपंथियों की अब अंग्रेजों के बाजार में दर नहीं जो एक हाथ से गवर्नमेंट के पांव दबाने और दूसरे हाथ से गला टीपने के अभ्यस्त हों, गवर्नमेंट की निंदा भी करें और अनुग्रह का दान भी पाना चाहें। जो पूर्ण राजभक्त बनें, पूर्ण सहयोग दें, ऐसे मध्यपंथी बनो, नहीं तो चरमपंथियों की तरह तुम सब भी बहिष्कृत कर दिये जाओगे। नूतन काउन्सिल की नियमावली का जो उद्देश्य है वही उद्देश्य है हरकिसन लाल के अपमान का।

फिर से जागो

बंगवासियो, बहुत दिन से सोये पड़े हो, जो नव जागरण हुआ था, जिस नव-प्राण संचारक आंदोलन ने समस्त भारत को आंदोलित किया था, वह निस्तेज पड़ गया है, म्रियमाण अवस्था में है, अर्ध-निर्वाण-प्राप्त अग्नि की तरह सिसक-सिसक कर जल रहा है। अभी है संकट की घड़ी। यदि बचाना चाहते हो तो मिथ्या भय, कूट-नीति व आत्म-रक्षा की चेष्टा छोड़ केवल मां के मुख की तरफ निहार फिर से सम्मिलित हो कार्य में लग जाओ। जिस मिलन की आशा में इतने दिन प्रतीक्षा की थी, वह आशा व्यर्थ हुई। मध्यपंथी दल राष्ट्रीय दल के साथ एक होना नहीं चाहता, चाहता है ग्रसना। ऐसे मिलन के फल से देश का यदि हित होता तो हम बाधा न देते। जो सत्य-प्रिय हैं, महान् आदर्श की प्रेरणा से अनुप्राणित हैं, भगवान् और धर्म को ही एकमात्र सहाय मान कर्म-क्षेत्र में उतरे हैं, वे तो हट जाते, जो कूट-नीति का आश्रय लेने से सहमत हैं, वे मध्यपंथियों का साथ दे, मेहता का आधिपत्य और मारले की आज्ञा शिरोधार्य कर देश का हित करते। किंतु ऐसी कूटनीति से भारत का उद्धार नहीं होने का। धर्म के बल से, साहस के बल से, सत्य के बल से उठेगा भारत। अतः जो राष्ट्रीयता के महान् आदर्श के लिये सर्वस्व त्यागने को प्रस्तुत हैं, जो जननी को पुनः जगत् की शीर्ष-स्थानीया, शक्तिशालिनी, ज्ञानदायिनी, विश्व-मंगलकारिणी ऐश्वरी शक्ति मान मानव जाति के सामने प्रकाश करने को उत्सुक हैं वे एक हों, धर्म-बल से,

त्याग-बल से बलीयान् हो मातृ कार्य आरंभ करें। मां की संतान, आदर्शभ्रष्ट हो गयी हो, फिर से धर्म के पथ पर आओ। किंतु अब उद्दाम उत्तेजना के वश कोई कार्य मत करना, सब मिल एक प्रण, एक पंथ एक उपाय निर्धारित कर जो धर्म-संगत हो, जिससे देश का हित अवश्यंभावी हो, वही करना सीखो।

नासिक में खून

नासिकवासी सावरकर ने—कुछ उद्दाम कविताएं लिखी थीं। अंग्रेज विचारालय में उन्हें यावज्जीवन द्वीपांतर का दंड मिला। सावरकर के एक अल्प वयस्क बंधु ने नासिक के कलक्टर जैकसन की हत्या कर उसका प्रतिशोध लिया। राजनीतिक हत्या के बारे में अपना मत हमने पहले ही प्रकाशित किया है, बार-बार उसकी पुनरावृत्ति वृथा है। अंग्रेजी पत्रिकाएं क्रोध से अधीर हो पूरे भारत पर इस हत्या का दोष मढ़ गवर्नमेंट से और भी कठोर उपाय अपनाने का अनुरोध कर रही हैं। यानी दोषी-निर्दोष का विचार न कर जिसपर संदेह हो उसे पकड़ो, द्वीपांतर भेजो, फांसी के तख्ते पर झुला दो। जो कोई भी गवर्नमेंट के विरुद्ध चूं-चां करे उन्हें निःशेष करो। देश-भर में प्रगाढ़ अंधकार, गभीर नीरवता, परम निराशा फैल जाने दो। इतने पर भी यदि राजद्रोह के स्फुलिंग फिर और प्रकट न हों तो गुप्त वह्नि बुझ जायेगी। यह उन्मत्त प्रलाप सुन, ब्रिटिश राजनीति की शोचनीय अवनति देख दया भी होती है और विस्मय भी। यदि उस पुरातन राजनीतिक कुशलता का भग्नांश भी रहता तो तुम सब जानते कि अंधकार में ही हत्यारे की बन आती है, नीरवता में उन्मत्त राष्ट्र-विप्लवकारियों की पिस्तौल व बम की आवाज बार-बार सुनायी पड़ती है, निराशा ही है गुप्त समिति की आशा। हम भी ऐसी ही चेष्टा करना चाहते हैं जिससे राजनीतिक हत्या का अवलंबन लेने की यह प्रवृत्ति देश से उठ जाये। किंतु इसका एकमात्र उपाय है कार्यों द्वारा यह दिखाना कि वैध उपायों से भारत की राजनीतिक उन्नति व स्वाधीनता साधित हो सकती है। केवल मुंह से यह शिक्षा देने से लोग इसका विश्वास नहीं करेंगे, कार्य द्वारा भी समझाना होगा। इस पुण्य कार्य में तुम ही बाधा दे सकते हो। किंतु इससे जैसे हमारा विनाश होगा वैसे ही तुम्हारे विनाश की भी संभावना है।

धर्म
अंक १८
पौष १९, १३१६

मरणासन्न कन्वेन्शन

हमारे कन्वेन्शन-प्रिय महारथी लाहौर में मेहता-मजलिस करने को बद्धपरिकर थे। पंजाब की जनता कन्वेन्शन नहीं चाहती थी। कितनी ही तरह से उसने अपनी अनिच्छा और अश्रद्धा ज्ञापित की, किंतु हरकिसन लाल ठहरे ना-छोड़ बंदा। लोक-मत का दलन करने के लिये कन्वेन्शन की सृष्टि हुई थी। पंजाब के लोक-मत को दलित कर सरकारी कर्मचारियों की प्रसन्नता पर निर्भर हो यदि लाहौर में कन्वेन्शन बुला सके तो मेहता-मजलिस का अस्तित्व सार्थक होगा। इस हठ का यथेष्ट प्रतिफल फला है। सारे भारतवर्ष में सिर्फ तीन सौ प्रतिनिधि मेहता-मजलिस में पधारे और दर्शकवृंद की संख्या इतनी कम थी कि नातिबृहत् ब्रैडला हॉल आधा ही भर पाया था। इस शून्य मंदिर में इन अल्प पूजकों के हताश पुरोहितों ने ब्रिटिश राजलक्ष्मी को नाना स्तव-स्तोत्रों से तुष्ट कर उनके चरण-कमलों में अनेक आवेदन-निवेदनों का उपहार चढ़ा, भक्तों का यथोचित आदर न करने के कारण उनकी मृदु-मंद भर्त्सना कर आर्यकुल में अपना जन्म चरितार्थ किया। मेहता-मजलिस ने जबरदस्ती अपने को राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम से अभिहित किया है। राष्ट्रीय कांग्रेस के किस अधिवेशन में, अर्ध-शून्य पंडाल में, अल्प जन प्रतिनिधियों ने इस तरह के हास्यकर प्रहसन का अभिनय किया है, बताओ तो जरा? तुम्हारी मजलिस सभा तो है पर न "महा" है, न "जातीय" (राष्ट्रीय)। जिस सभा में जाति भाग लेने को तैयार नहीं उसका न नाम हुआ "जातीय" सभा!

सख्य-स्थापन के प्रमाण

उत्तर समुद्र के उस पार बैठ ब्रिटिश राजलक्ष्मी ने जब 'रायटर' के टेलीग्राम-दूत की मुंह से इन सब स्तव-स्तोत्रों को सुना तब अपने मन में अंतर्निहित विद्रूप और अवज्ञा को मन में ही रख वह हर्ष से हंसी या नहीं—हमें पता नहीं। शायद प्रतिनिधि निर्वाचन के महारव में मालवीय, गोखले और सुरेंद्रनाथ का क्षीण स्वर एकदम ही दब गया हो। कौन जाने, शायद पूज्य अंग्रेज-देवता यह भी न जानते हों कि हरकिसन लाल ने राजभक्ति को चरितार्थ करना ही कन्वेन्शन का चरम उद्देश्य निर्दिष्ट किया है। कोई हानि नहीं, कलकत्ते के अंग्रेजी समाचार-पत्रों के कर्ता-धर्ताओं ने बरतानिया के नाम से पूजा ग्रहण कर ली है। लाहौर का यह कलंककारी व्यापार बेकार नहीं

गया। 'इंडियन डेली न्यूज' ने मुक्त हस्त से आशीर्वाद की वर्षा की है। 'स्टेट्समैन' ने उस मधुर भर्त्सना के मधुर भाव को न समझ जरा असंतुष्ट होने पर भी पूजा पर संतोष प्रकट किया है। 'इंग्लिशमैन' ने भी गाली-गलौज की गुंजाइश न देख, आड़े-तिरछे-बंकिम कटाक्ष करके भी हरकिसन लाल की राजभक्ति अस्वीकृत नहीं की। देशवासियों का असंतोष, एंग्लो-इंडियनों की खुशी व प्रशंसा हैं मेहता-मजलिस के परिपोषकों का योग्य पुरस्कार।

नेता तो हैं, सेना कहां ?

कन्वेन्शनकी अपूर्व बहादुरी यह है कि सर्वप्रधान फिरोजशाह को छोड़ भारत के सारे बड़े-बड़े नेता उपस्थित थे। किंतु उनके अधीन सेना ने लाहौर की कड़ाके की ठंड से भय खा या और किसी कारण से नेताओं के साहस से समुत्साहित न हो अपने घर में ही बड़े दिन की छुट्टियां बितायीं। बंगाल से अंबिकाबाबू को छोड़ जितने भी नेता—सुरेनबाबू, भूपेनबाबू, आशुबाबू, योगेशबाबू, पृथ्वीशबाबू—गये थे उनकी सेना की संख्या कोई कहते हैं दो थी, कोई कहते तीन, कोई कहते पांच। मद्रास से बारह व्यक्ति गये थे। कोई दीवान बहादुर थे इस महती सेना के नेता। और कितने नेता थे उसकी ठीक-ठीक सूचना अभी तक नहीं आयी है। मध्य-प्रदेश से पांच-छः जन गये थे, सभी नेता, कारण वहां उनके अलावा और कोई मध्यपंथी हैं ही नहीं। संयुक्त प्रदेश से महारथी मालवीय, गंगाप्रसाद और कई राजे, साहबजादे इत्यादि गये थे। उन सब की सेनाएं थीं, कोई कहते हैं तीस जनों की, तो कोई साठ और कोई अस्सी। सिर्फ पंजाब में यह क्रम नहीं टिक पाया। वहां हरकिसन लाल ही हैं एकमात्र नेता, अन्य सब हैं सेना। ग्रीक प्रतिनिधि किनियस ने रोमन सेनेट में उपस्थित हो कहा था : 'This is a senate of kings !'—इस सभा का प्रत्येक सभ्य है एक-एक राजा ! हम भी कन्वेन्शन की ओर देख कह सकते हैं : This is a Congress of leaders, इस महासभा में प्रत्येक सभ्य है एक-एक नेता ! किंतु सेना कहां ?

श्रीरामकृष्ण और भावी भारत

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की उक्तियां और उनसे संबंधित जितनी पुस्तकें रचित हुई हैं उनके पढ़ने से ज्ञात होता है कि जो नूतन भाव देश में गठित हुआ है, जो भावराशि समग्र भारतवर्ष को प्लावित करे दे रही है, जिस भाव-तरंग में मत्त हो कितने ही युवक सब कुछ को तुच्छ कर आत्माहुति दे रहे हैं, उस भाव की कोई बात उन्होंने नहीं कही,

सर्वभूत-अंतर्यामी भगवान् ने उसे नहीं देखा; ऐसी बातों पर भला कैसे विश्वास कर सकते हैं ? जिनके पाद-स्पर्श से पृथ्वी पर सत्ययुग उतर आया है, जिनके स्पर्श से धरणी सुखमग्न है, जिनके आविर्भाव से बहुयुग संचित तमोभाव विदूरित हुआ है, जिस शक्ति के सामान्य उन्मेष-भर से दिग-दिगन्त-व्यापिनी प्रतिध्वनि जागरित हुई है; जो पूर्ण हैं, युग धर्म-प्रवर्तक हैं, जो हैं अतीत के अवतारों के समष्टि स्वरूप, उन्होंने भावी भारत को नहीं देखा या उसके बारे में कुछ नहीं कहा, यह हम विश्वास नहीं करते—हमारा विश्वास है कि जो उन्होंने मुंह से नहीं कहा उसे कार्यान्वित कर गये हैं। वे भावी भारत को, भावी भारत के प्रतिनिधि को अपने सामने ही गढ़ गये हैं। इस भावी भारत के प्रतिनिधि हैं स्वामी विवेकानन्द। बहुतेरे ऐसा मानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का स्वदेश-प्रेम है उनका निजी दान। किंतु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो मालूम होगा कि उनका स्वदेश-प्रेम है उनके परम पूज्यपाद गुरुदेव का ही दान। उन्होंने भी अपना कहकर कुछ दावा नहीं किया। लोक-गुरु जिस तरह उन्हें गढ़ गये थे वही है भारत को गढ़ने का उत्कृष्ट पथ। उनके संबंध में कोई नियम-विचार नहीं था—उन्होंने उन्हें पूर्ण वीर साधक की तरह गढ़ा था। वे जन्म से ही थे वीर, यह था उनका स्वभाव-सिद्ध भाव। श्रीरामकृष्ण उनसे कहा करते थे : "तू तो वीर है रे, वीर !" वे जानते थे कि जो शक्ति वे उनके भीतर संचारित कर जा रहे हैं समय आने पर उसी शक्ति की उद्भिन्न छटा से देश प्रखर सूर्य-किरण के जाल से आवृत हो उठेगा। हमारे युवकों को भी इसी वीर भाव से साधना करनी होगी। उन्हें बेपरवाह हो देश का कार्य करना होगा और अहरह यह भगवद्वाणी स्मरण रखनी होगी : "तू तो वीर है रे, वीर !"

धर्म
अंक १९
पौष २६, १३१६

कन्वेन्शन की दुर्दशा

बंबई के 'राष्ट्र-मत' में कन्वेन्शन के प्रतिनिधियों और दर्शकों की संख्या छपी है। इस पत्र के लाहौर-संवाद-दाता ने लिखा है, "लाहौर के क्रीड कांग्रेस के अधिवेशन में सब मिलाकर २२४ प्रतिनिधि उपस्थित थे। उनमें आधे से ज्यादा थे पंजाब के अधिवासी। जो पहले भी राजनीतिक कार्य कर चुके हों ऐसे सज्जन बहुत थोड़े ही थे। दर्शकों की संख्या छः सौ या सात सौ के लगभग होगी। कभी-कभी हॉल के दोनों भाग ही रिक्त रह जाते। एक भी मुसलमान प्रतिनिधि या मुसलमान दर्शक नहीं आया था। सभापति मालवीय ने बहुत ही दक्षता से कार्य चलाया, नहीं तो क्रीड कांग्रेस की इस बार और भी दुर्दशा होती।" संवाददाता की अंतिम उक्ति में किसी गुप्त मतभेद

की ओर इशारा है। संभवतः यह मतभेद शासन-सुधार के कारण हुआ हो, दोनों दलों के समझौते की शर्त कन्वेन्शन के तद्विषयक प्रस्ताव को देखने से ही समझी जा सकती है। प्रस्ताव के पहले अंश का अंतिम अंश के साथ कोई मेल नहीं। पहले अंश में है मिण्टो व मारले की उदारता, जनता की मनस्तुष्टि के लिये उत्कट व विकट चेष्टा इत्यादि गुणों की सानंद प्रशंसा और कृतज्ञता की उद्दाम लहरी; अंतिम अंश में है कठोर, लगभग अभद्र भाषा में गवर्नमेंट को गाली-गलौज और क्रोध व घृणा का उद्दाम उच्छ्वास। इस हास्यास्पद और असंगत सम्मिलन में मालवीय की दक्षता प्रकट हुई है। कराल अकाल मृत्यु के हाथ से छुटकारा पा कन्वेन्शन इलाहाबाद में मालवीय की शीतल छाया में पुनः सम्मिलित होने की दुराशा पाल रही है।

गुटबंदी और एकता का मिथ्या ढोंग

मनुष्य-मात्र है बातों का दास, वाक्देवी के हाथों का खिलौना। चिर परिचित श्रुति-मधुर बातें सुना मन को नचाने में हमारे मध्यपंथी बंधु हैं सिद्धहस्त। वे हैं अंग्रेज राजनीतिज्ञों के चेले। जैसे अंग्रेज श्रुति-मधुर शब्दों की आवृत्ति कर—यथा, ब्रिटिश शांति, ब्रिटिश न्यायपरता, स्वायत्तशासन-सुधार इत्यादि—विशाल शून्य भाव की आड़ में अपना अभीष्ट कार्य कर लेने के अभ्यस्त हैं वैसे ही उनके मध्यपंथी चेले "ब्रिटिश न्यायपरता का इजलास", "ब्रिटिश जनता की विवेक-बुद्धि", "ब्रिटिश साम्राज्य-अंतर्गत अधिकार", आदि श्रुति-मधुर खोखले शब्दों द्वारा देश की बुद्धि को पथ-भ्रष्ट कर इतने दिनों तक भारत की प्रकृत उन्नति का सुपथ रोके बैठे थे। अब भी वह आदत नहीं गयी। राष्ट्रीय पक्ष की ओर से स्वतंत्र कार्य-शृंखला की चेष्टा चलती है देख वे "गुटबंदी", "एकता" इत्यादि परिचित शब्दों का शोर मचा जन-साधारण के मन को नचाने में लगे हैं। उन्होंने ही 'क्रीड' व 'कांस्टिट्यूशन' की रचना कर मारले की मनस्तुष्टि की आशा में राष्ट्रीय पक्ष को बहिष्कृत किया। उन्होंने ही हुगली प्रादेशिक समिति में यह विभीषिका दिखलायी कि यदि राष्ट्रीय पक्ष का एक भी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ तो वे समिति को तोड़ देंगे। वे ही तो राष्ट्रीय दल के नेताओं के साथ काम करने से भय खाते हैं, उनके साथ काम करना नहीं चाहते। किसी भी घोषणा में मध्यपंथी नेताओं के नाम के साथ यदि उनके हस्ताक्षर देने की बात उठे तो "काम नहीं, काम नहीं, गवर्नमेंट नाराज होगी, बड़े लोग नाराज होंगे," कह उस प्रस्ताव को उड़ा देते हैं। फिर भी "उल्टा चोर कोतवाल को डांटे" से लज्जित नहीं होते। हम लोग ही जैसे गुटबंदी कर रहे हैं, सामान्य मतभेद के कारण एक साथ काम करना नहीं चाहते, कन्वेन्शन में शामिल हो, मेहता को समझाने-बुझाने की चेष्टा न कर अलग-अलग रहते हैं। अबतक हमने कोई बाधा नहीं दी। देश, आंदोलन, राजनीतिक क्षेत्र, तुम्हारे ही

हाथों में तो था। इसका फल यह हुआ कि सारा देश नीरव हो गया, भारत सो गया है, लोगों का उत्साह और आशा टूटने-टूटने को है। हम देश को जगाना चाहते हैं—तुम सबों को पहचान गये हैं, हम जानते हैं कि इच्छा रहने पर भी और विपद की आशंका तुम्हें काम नहीं करने देगी—हम पर भले ही विपत्ति टूटे, हमारा दलन हो, पर हम देश का कार्य करेंगे, यही उद्योग हम कर रहे हैं। तुरत ही मध्यपंथियों का शोर उठ खड़ा होता है—अहा, क्या कर रहे हो ? झुंड बांध कैसी गहरी नींद हम सो रहे थे। फिर से गुटबंदी ! हमारी प्रिय एकता गयी, रक्षा करो, मतिलाल कहां, अनाथबंधु कहां, हमारी रक्षा करो। तुम्हारे मन की बात हम जानते हैं, राष्ट्रीय-पक्ष यदि कार्य-शृंखला-सहित कार्य करने में समर्थ हो, तो तुम्हें चाहे तो उस कार्य में योग दे गवर्नमेंट का अप्रिय बनना होगा या फिर निश्चेष्ट रहने, अकर्मण्य और भीरु करार दिये जाने पर देशवासी का सम्मान और अपने नष्टप्राय नेतृत्व का भग्नांश खोना होगा। इसलिये चिर अभ्यास-वश मिथ्या एकता का ढोंग कर अपनी उस प्रिय और सुखकर निश्चेष्टता के लिये उद्विग्नता दर्शाते हो।

निर्वासन की विभीषिका

हमारे पुलिस बंधुओं ने हवा उड़ायी है कि फिर निर्वासन ब्रह्मास्त्र चलाया जायेगा। इस बार नौ नहीं चौबीस जनों को कार से, रेल से, ''guide'' जहाज से गवर्नमेंट के खर्चे पर नाना प्रदेशों और विविध जेलों की सैर कर आने के लिये प्रस्थान करना पड़ेगा। पुलिस की इस तालिका में श्रीयुत अरविंद घोष ने शायद पहला स्थान पाया है। हम कभी समझ नहीं पाते कि निर्वासन ऐसी क्या भयंकर चीज है कि निर्वासन का नाम सुनते ही लोग भय से काठ हो, देश का कार्य, कर्तव्य, मनुष्यत्व परित्याग कंपित कलेवर घर के कोने में मुंह ढक दुबक जाते हैं। चिदंबरम् प्रभृति कर्म-वीरों ने बॉयकाट का प्रचार करने के अपराध में जिन कठिन दंडों को हंसते-हंसते शिरोधार्य किया है उसकी तुलना में यह दंड बहुत तुच्छ है, अकिंचित्कर है। बाहर परिश्रम कर रहे थे, नाना दुश्चिंताओं में घिरे देश-सेवा करने की चेष्टा कर रहे थे, शायद भगवान् ने लार्ड मिण्टो या मारले को अपना यंत्र बनाकर कहा, "जाओ, निश्चिंत हो बैठे रहो, निर्जन में मेरा चिंतन करो, ध्यान लगाओ, पुस्तक पढ़ो, पुस्तक लिखो, ज्ञान का संचय करो, ज्ञान का विस्तार करो। जनता के बीच रह रस का आस्वादन कर रहे थे, अब निर्जनता का स्वाद चखो।" यह ऐसी क्या भयानक बात है कि भय से कातर होना होगा ? कुछ दिन प्रिय जनों का मुंह नहीं देख पायेंगे—विलायत घूमने जाने पर भी तो यही होता है, फिर भी लोग विलायत घूमने जाते हैं। मान लो, अखाद्य खा, जाड़ा-गरमी में कष्ट पा शरीर टूट जायेगा। घर में रहने पर भी तो रोग के चंगुल से छुटकारा

नहीं मिलता, घर में भी बीमारी आती है, मृत्यु होती है, अदृष्ट में लिखी आयु को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। और हिंदुओं के लिये तो मृत्यु भयंकर नहीं। देह गयी यानी पुराना वस्त्र गया, आत्मा तो नहीं मरती। हजार बार जन्मा हूं, हजार बार जनमूंगा। भारत की स्वाधीनता भले स्थापित नहीं कर पाया, भारत की स्वाधीनता का भोग करने आऊंगा, कोई मुझे रोक नहीं सकता। इतना भय किसका ? बिना कष्ट के, सस्ते में इतिहास में अमर नाम कमाया, स्वर्ग का पथ उन्मुक्त हुआ, या सामान्य शरीर-क्लेश की बदौलत पायी मुक्ति और भुक्ति। बस, इतनी-सी बात ? ट्रांसवाल के कुलियों का महान् भाव और भारत के शिक्षित लोगों का यह जघन्य कातर भाव देख लज्जित होना पड़ता है।

निर्वाचन असंभव

हमारी धारणानुसार यह भय दिखाना है निरर्थक दंभ-मात्र। प्रस्ताव रखा गया है, शायद इंडियन गवर्नमेंट की अनुमति भी मिली है, किंतु लार्ड मारले मान जायेंगे इसपर हम सहज ही विश्वास करना नहीं चाहते। नौ जनों को निर्वासित करने पर उन्हें काफी भोगना पड़ा है, फिर से चौबीस को निर्वासित करेंगे ? विशेषत: यह जानी हुई बात है कि लार्ड मारले श्रीयुत कृष्णकुमार मित्र आदि नौ जनों को जेल से मुक्ति देने के लिये उत्सुक हैं, केवल इंडिया गवर्नमेंट के हठ के कारण ऐसा नहीं कर पा रहे। ऐसी अवस्था में क्या वे सहज ही और चौबीस व्यक्तियों को निर्वासित कर देश की गभीर अशांति को और गभीर बनायेंगे, विप्लवियों के इच्छानुसार कार्य करेंगे ? उन्होंने अनेक भूलें की हैं, किंतु अभी वे उन्माद की अवस्था तक नहीं पहुंचे हैं। अवश्य ही यदि लार्ड मिण्टो कहें कि निर्वासन की अनुमति न देने पर वे भारत की शांति के लिये दायी नहीं, या पद-त्याग का डर दिखायें तब लार्ड मारले बाध्य हो सहमत हो सकते हैं। नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि लार्ड मिण्टो के न रहने पर ब्रिटिश साम्राज्य का ध्वंस हो जायेगा, इस बात पर लार्ड मारले को शायद पूर्ण विश्वास नहीं। जो भी हो, चौबीस व्यक्तियों को निर्वासित कीजिये, या सौ को, अरविंद घोष को निर्वासित कीजिये या सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को, कालचक्र की गति नहीं थमने की।

धर्म
अंक २०
माघ ४, १३१६

नवयुग का प्रथम शुभ लक्षण

शासन-सुधार है नवयुग की प्रथम अवतारणा। उस युग में अविश्वास का घोर अंधकार मधुर प्रीति के आलोक में परिणत होगा और दंड-नीति की कठोर मूर्ति अंग्रेज प्रकृति में लीन हो साम्य नीति का आनंदमय विकास भारत-जीवन को सुख और प्रेम से पूर्ण करेगा, यह श्रुति-मधुर रव बहुत दिनों से सुनते आ रहे हैं। इतने दिन बाद मायाविनी आशा की वाणी सफल हुई। जो सभा-निषेध का आईन पूर्व बंगाल के एक ही जिले में जारी हुआ था वह अब सारे भारत में लागू हुआ है। पिछले शुक्रवार से समग्र भारत इस आईन के लपेट में आ गया है। कानूनन बिना अनुमति के कहीं भी बीस आदमी न एक साथ खड़े हो सकेंगे न बैठ सकेंगे। खड़े या बैठे इन बीस आदमियों के सम्मेलन को पुलिस यदि खुली सभा के नाम से अभिहित करने की अभिलाषा करे—ऐसी हास्य-रस-प्रिय पुलिस की संख्या कम नहीं—तो जो खड़े या बैठे हैं वे कानूनन दंडनीय होंगे। प्रमाणित करना होगा कि वे "सभा" के सदस्य नहीं थे या सदस्य होने पर भी "प्रकाश्य" नहीं थे। जब "प्रकाश्य" नहीं थे तब गुप्त थे, यह तो और भी विपज्जनक है। यह प्रमाणित न कर पाने पर छः मास बिना पैसे के गवर्नमेंट के आतिथ्य और बिना महीना के सम्राट् के लिये मजदूरी का सुयोग पा नवयुग का रसास्वादन कर सकेंगे। अपने घर में भी एकत्रित होने पर रक्षा नहीं। वहां भी यदि राजनीति की चर्चा हो, या होने की संभावना रहे, या वहां 'अमृत बाजार पत्रिका', 'पंजाबी', 'बंगाली', 'कर्मयोगिन्' आदि राजद्रोही समाचार-पत्र पढ़े जाते हों या पढ़े जाने की कोई संभावना हो तो पुलिस वहां आ सकती है और गृहस्वामी व उनके बंधुओं को सरकारी होटल ले जा सकती है। यदि बीस आदमियों को पितृ-श्राद्ध या कन्या के विवाह में निमंत्रण दें तो वहां भी यह पुलिस-लीला संभव है। नवयुग का विहान हुआ है। मिण्टो-मारले की जय! शासन-सुधार की जय!

आईन और हत्यारे

यह कहना कठिन है कि लाटसाहब ने क्यों सारे भारत पर यह अनुग्रह किया है। बहुतों का कहना है कि हत्याएं व डकैतियां होती हैं इसीलिये सभा-निषेध की यह घोषणा की गयी है। गुप्त हत्याकारी और राजनीतिक डाकू इस भयंकर ब्रह्मास्त्र से डर जायेंगे, इसमें हमें विश्वास नहीं। ऐसे बीस आदमी मिल "प्रकाश्य सभा" करने के

अभ्यस्त हैं यह भी कभी नहीं सुना। इसकी भी बहुत कम ही संभावना है कि छः महीने के कारा-दंड के भय से वे जिला-मजिस्ट्रेट या पुलिस-कमिश्नर से अनुमति ले हत्या या डकैती के लिये सलाह करने बैठेंगे। इस युक्ति का मर्म अपनी इस क्षुद्र बुद्धि से हम ग्रहण नहीं कर पाये। पर हमारे ऐंग्लो-इंडियन बंधुओं का कहना है कि ऐसी बात नहीं, देश में आंदोलन होने पर हत्याएं हैं उनका अवश्यंभावी फल, अतः सभा-समिति का बंद करना और हत्या-डकैती बंद करना एक ही बात है। यदि यह सच होता तो जगत् में राजनीति बहुत ही सरल खेल होती, पांच साल का बच्चा भी शासन-कार्य चला सकता। दुःख की बात है कि आज की राजनीतिक अवस्था में इस अद्‌भुत उपाय का एक भी प्रमाण नहीं मिलता, वरन् विपरीत सिद्धांत ही है अनिवार्य। अबतक क्या सभा-समिति बंद नहीं थी ? चरमपंथी दल की सभा-समितियां बहुत पहले से ही लुप्त हो चुकी हैं। मध्यपंथी नेताओं ने निर्वासन के बाद से सभा-समितियों में योग देना बंद कर दिया है। कभी-कभी कालेज स्क्वायर में जो स्वदेशी सभाएं होती हैं उनमें कोई विख्यात वक्ता उपस्थित नहीं होते, दर्शक मंडली की संख्या भी नगण्य रहती है। जेल से बाहर आने के बाद श्रीयुत अरविंद घोष ने कुछ-एक दिन भाषण जरूर दिया पर हुगली प्रादेशिक सभा के बाद से वे भी चुप हो गये हैं। सभाओं में होती हैं बार-बार हत्या-निषेध की सभाएं या कभी-कभी होती हैं दक्षिण सभा के अधिवेशन में अंग्रेज-बंधु गोखले की शक्तिशाली वक्तृताएं। तो क्या हत्या-डकैती हैं गोखले महाशय के भाषण का फल ? हो भी सकता है, क्योंकि गोखले महाशय ने भारत के स्वाधीनता-लुब्ध युवकों को समझा दिया है कि बल प्रयोग ही है एकमात्र स्वाधीनता-प्राप्ति का उपाय। तभी तो पूर्ण नीरवता में हत्या-डकैती दिन-दिन बढ़ रही है। यही स्वाभाविक भी है, भीतर वह्नि हो तो अबाध निर्गमन से ही वह निर्विघ्न शांत होती है, निर्गमन का पथ खोल प्रतिरोध को विनष्ट कर बाहर आती है।

हम क्या निश्चेष्ट रहेंगे ?

अब भी जिला या शहर में यह आईन सरकारी कर्मचारी द्वारा प्रचारित नहीं हुआ है, किंतु किसी भी प्रदेश में आंदोलन के सतेज आरंभ होते ही लागू हो जायेगा, इसमें संदेह नहीं, अतः इसे कहना होगा सब तरह से आंदोलन को बंद करने का सरकारी संकेत। अब विवेच्य यह है कि ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय पक्ष कौन-सा पथ पकड़ेगा। हम अपने राजनीतिक आंदोलन को आईन के दायरे में आबद्ध रखने को सचेष्ट हैं। यदि आईन का घेरा इतना संकीर्ण हो कि उसमें खुला आंदोलन और नहीं चल सकता तो हमारे लिये क्या उपाय रह गया है ? एक ही उपाय—नीरव रह इस भ्रांत नीति की प्रतीक्षा करना। हम जानते हैं और गवर्नमेंट भी जानती है कि भारतीयों की स्वाधीनता

की आशा बुझ नहीं गयी, मस्तक पर दमन-दंड के प्रहार से असंतोष प्रेम में परिणत नहीं हो गया है। जनता की स्पृहा, जनता का असंतोष अपने में आबद्ध हो घुमड़ रहा है। अब भी विप्लवीगण लोगों के मन को गुप्त हत्या और बल-प्रयोग के पथ पर खींच नहीं पाये, पर कब खींच ले जायेंगे यह भी निश्चित नहीं। यदि एक बार अनर्थ घट गया तब तो गवर्नमेंट की विपद् और देश की दुर्दशा की सीमा नहीं रह जायेगी। इसी आशंका से एवं देश के नवजीवन की रक्षा की आशा से हम राष्ट्रीय पक्ष को सुशृंखलित करने का प्रयास कर रहे थे। हमारी धारणा थी कि स्वाधीनता-प्राप्ति का निर्दोष पथ दिखा पाने पर गुप्त हत्या देश से उठ जायेगी। अब हम समझ गये कि अंग्रेज गवर्नमेंट वह उपाय अपनाने नहीं देगी। ऐसी अवस्था में स्वभावतः ही यह विचार मन में उठता है,—वही हो, उनकी यदि ऐसी ही धारणा है कि और भी उग्र दंड-नीति का प्रयोग करने से रोग का उपशम होगा तो वे जी भर दंड-नीति का प्रयोग करें। हम चुप बैठे देखेंगे कि किससे क्या होता है। हम भ्रांत हैं कि वे। जब अंग्रेज राजनीतिज्ञ अपनी भूल समझेंगे तब हमारे कर्म का समय आयेगा। इस पथ को कहा जा सकता है masterly inactivity (फलवती अकर्मण्यता)।

कर्मण्यता के उपाय

अकर्मण्यता को अपनाने से हमारी भावी सुविधा तो हो सकती है पर उससे देश का प्रचुर अमंगल होने की आशंका है। हमने न हुआ भाषण या सभा-सम्मेलन नहीं किया, बीस आदमी सम्मिलित न भी हुए तो क्या। हमारा उद्देश्य न तो भाषण देना है न ही अंग्रेजी ढंग का आंदोलन चलाना। देश के लिये काम करना है हमारा उद्देश्य, कार्य की शृंखला है हमारे मिलन का कारण। देश के बारह-चौदह प्रतिनिधि क्या उस कार्य की शृंखला नहीं बन सकते ? वे जो कार्य-प्रणाली निर्धारित करेंगे देश के लोग क्या उसी परिमाण में छोटी-सी परामर्श-सभा बुला सुसंपन्न नहीं कर सकते ? और यदि ऐसा कानून भी हो कि पांच आदमियों का एक साथ बैठना गैरकानूनी जनता होगी तो क्या और कोई निर्दोष उपाय नहीं है ? शंकराचार्य के देश में सभा-सम्मेलन के बिना क्या कोई मत प्रचारित नहीं हो सकता ? मंदिर में, विवाह में, श्राद्ध में, नाना स्थानों में, नाना अवसरों पर भाई-भाई से भेंट होती है, साधारण बातों के बीच क्या देश-कार्य-विषयक दो-एक बातें नहीं हो सकतीं ? आईन के घेरे में रहेंगे, पर आईन जो कुछ मना नहीं करता उसे तो कर ही सकते हैं ? इतना करने पर भी यदि अंत में गवर्नमेंट राष्ट्रीय शिक्षा-परिषद् को बेकानूनी जनता मान सब राष्ट्रीय विद्यालयों को बंद करे, शिक्षा देने, स्वदेशी कपड़े पहनने, विदेशी माल न खरीदने और सालिसी में कलह मिटाने को घोरतर अपराध मान सश्रम जेल या कालेपानी की व्यवस्था करे, और यदि

ट्रांसवालवासी कुली व दुकानदारों का साहस, देश-हितैषिता और स्वार्थ-त्याग हममें न हो तो पुलिस और गुप्त विप्लवियों के पथ को रुद्ध करना अब अनावश्यक मान हम हट जायेंगे। इस हद तक चेष्टा करके तो देखा जाये।

धर्म
अंक २१
माघ ११, १३१६

आर्य समाज

आर्य समाज है स्वामी दयानंद की सृष्टि। वे जो भाव और प्रेरणा दे गये हैं, जबतक आर्य समाज उस भाव से समन्वित एवं प्रेरणा से अनुप्राणित रहेगा तबतक रहेगा उसका तेज, वृद्धि और सौभाग्य। विभूति या महापुरुष किसी एक विशेष भाव को ले पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं, उस भाव को अभिव्यक्त कर उसकी शक्ति से जगत् का उपकारी महत् कार्य कर चले जाते हैं या अपने भाव के संचार व विस्तार से शक्ति का एक विशेष केंद्र स्थापित कर जाते हैं। उनके द्वारा संस्थापित संस्था, चाहे बड़ी हो या छोटी, उसी विभूति या महापुरुष की प्रतिनिधि हो जगत् में उनका आरब्ध कार्य चलाती रहती है। जिस दिन संस्था में महापुरुष का भाव मलिन हो उठेगा, या उसके तिरोहित होने के लक्षण दिखेंगे उस दिन या तो वह विनष्ट हो जायेगी या अन्य आकार, अन्य भाव ग्रहण कर जगत् का अनिष्ट करना आरंभ कर देगी। उस समय अन्यान्य महापुरुष जन्म ले संस्था का विनाश रोक सकते हैं और अनिष्ट की मात्रा कम कर सकते हैं, किंतु असली भाव लौटा लाना संभव नहीं। आर्य समाज के संस्थापक तेजस्वी स्वामी दयानंद के भाव में हम पाते हैं तीन तत्त्व : पुरुषार्थ, स्वाधीनता और कर्म। इन तीनों पर अवलंबित उनका प्रचारित धर्म कर्मठ, तेजस्वी, स्वधीनताप्रिय पंजाबी जाति का प्रिय बन गया है। वह दिखला पाया है अतुल्य कर्म-शृंखला, कार्य सिद्धि और उत्तरोत्तर उन्नति। जो परीक्षा उपस्थित है हमें नहीं लगता कि उसमें आर्य समाज उत्तीर्ण होगा। लाला लाजपतराय के निर्वासन के समय समाज में अनेक दोष प्रकट हुए थे, अब तो हम और भी शोचनीय दुर्बलता के लक्षण देख रहे हैं। जिस मनुष्यत्व और स्वाधीनता पर आधारित था दयानंद सरस्वती का भाव, उस मनुष्यत्व और स्वाधीनता को तिलांजलि दे किससे निरापद रह सकेगा, इसी चिंता व भय से उन्मत्त हो उठा है समाज। बिना विचारे परमानंद को निकालना और दो सामान्य पत्रों के प्रकाशन से लाला लाजपतराय को उनके सभी पद से हटा देना है इस आश्चर्यभरी विह्वलता के प्रमाण। यदि शीघ्र ही मति न लौटी तो आर्य समाज मृत्यु की ओर दौड़ेगा। जितने भी धर्म जगत् में वर्तमान हैं, मनुष्यजाति के मन में अधिकार जमाये हुए हैं—ईसाई धर्म,

बौद्ध धर्म, इसलाम, सिक्ख धर्म—छोटे हों या बड़े, सभी परीक्षा के समय अपने-अपने भाव की रक्षा कर पाये थे, तभी तो आज वे जीवित हैं।

इंग्लैंड में निर्वाचन

इंग्लैंड में निर्वाचन आरंभ हो गया है। किस दल का प्राधान्य होगा यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। अबतक तो रक्षणशील दल की ही जीत होती रही है। दक्षिण और मध्य इंग्लैंड में इनका प्रभाव अत्यंत अधिक दीख रहा है। लंदन में दोनों दलों का समान प्रभाव है शायद। उत्तर भाग में ही उदारनीतिक दल का प्रभाव है एवं वेल्स और स्कॉटलैंड एक तरह से संपूर्णतः इनकी तरफ है। निर्वाचन के फलस्वरूप उभय दलों की क्षमता एक समान होने पर जो भी दल गवर्नमेंट चलाना चाहेगा उसे नेशनलिस्टों (राष्ट्रवादियों) पर ही निर्भर करना होगा। रक्षणशील होमरूल (स्वराज्य) के पक्षपाती नहीं अतः नेशनलिस्टों के साथ मिल उदारनीतिक दल सरकार बना सकते हैं। किंतु ऐसा हो जाने पर भी वे सरकार नहीं चला सकेंगे। कारण अभिजात सभा के पास वीटो की क्षमता तो रह ही जायेगी और वे फिर बजट को अस्वीकार कर देंगे। अतः जिस पथ पर भी क्यों न जायें, सभी बंद हैं। यह अद्‌भुत उभय संकट एक महा समस्या का विषय बन गया है। इस निर्वाचन के फल के साथ भारतवर्ष का कोई खास संबंध नहीं। पर हम इतनी आशा करते हैं कि उदारनीतिक दल की विजय और अभिजात सभा की वीटो की क्षमता लुप्त व उससे संबंधित कोई परिवर्तन होने पर शासन-सुधार के बारे में हमें थोड़ी सुविधा होगी। फिर चाहे उदारनीतिक दल की विजय हो या रक्षणशील की, हमारे लिये तो दोनों ही हैं समान।

धर्म
अंक २४
फाल्गुन २, १३१६

विचार

विचारों की शुद्धता है समाज का स्तंभ। वह शुद्धता कुछ तो निर्भर करती है जज के मन व चित्त की शुद्धता पर व कुछ रक्षित होती है स्वाधीन लोकमत द्वारा। जज राजा के मुख्य धर्म का भार वहन करते हैं, वे हैं ईश्वर के प्रतिनिधि, जैसे ईश्वर विचार-आसन पर बैठ निरपेक्षता से शत्रु-मित्र, धनी-दरिद्र, राजा-प्रजा इत्यादि का भेद न कर केवल धर्म की रक्षा करते हैं वैसे ही विचार करना है उनका धर्म। यदि राग-द्वेष, मान-

मर्यादा, राजनीतिक या सामाजिक किसी भी उद्देश्य-वश आईन में धांधली मचाते हैं तो वे तो धर्म-च्युत होते ही हैं साथ ही समाज का बंधन भी शिथिल पड़ जाता है। और यदि अज्ञ या लघु-चित्त व्यक्ति को विचारक के आसन पर बिठा दिया जाये तो उस राज्य का अकल्याण है अवश्यंभावी। शासन-तंत्र के अन्य सभी विभागों में धांधली होने से अनिष्ट क्षण-स्थायी हो भी सकता है, पर विचार की अशुद्धता से राजा, राज्य और प्रजा का ध्वंस होता है। किसी भी शासन-तंत्र के गुण-दोष का निर्णय करने के समय सहस्र शृंखला, कार्य-क्षमता व सुख शांति का प्रमाण देना निरर्थक है,—यदि विचार-प्रणाली निर्दोष न हो तो उस शासन-तंत्र की प्रशंसा मिथ्या है।

लोक-मत की आवश्यकता

मनुष्य यदि निष्पाप व स्थिर-बुद्धि होता तो विचार के संबंध में लोकमत की स्वाधीनता आवश्यक न होती। किंतु मनुष्य का मन है चंचल, उसके चित्त में कामना व राग-द्वेष प्रबल हैं, उसकी बुद्धि है अशुद्ध और पक्षपातपूर्ण। ऐसी अवस्था में विचार की शुद्धता की रक्षा के उपाय हैं तीन। प्रथम उपाय—कानूनवेत्ता प्रौढ़, धीर-प्रकृति लोगों को विचार-आसन पर बिठा उन्हें सब तरह के प्रलोभनों से, भय-प्रदर्शन, स्वार्थ-चिंता, पर-आदेश, प्रार्थना, अनुनय आदि से दूर रखना; चंचलमना आईन से अनभिज्ञ युवक को कभी भी विचार-आसन पर आरूढ़ करना उचित नहीं, विचारक को किसी भी तरह से शासक के अधीन करना भी है विपज्जनक। यह तत्त्व व नियम इंग्लैंडीय विचार-प्रणाली में पूर्णतः रक्षित हैं, तभी तो होती है उसकी इतनी प्रशंसा। दूसरा उपाय—विचार का महान् निष्कलंक आदर्श स्थापित कर उस आदर्श को विचारक, आईन-व्यवसायी और सर्व-साधारण के मन में दृढ़तः अंकित करना। किंतु आदर्श-भ्रष्ट होना मनुष्य के लिये है अति सहज, इसीलिये लोक-मत को आदर्श के रक्षक के रूप में खड़ा करना अच्छा है। विचारक को यदि मालूम हो कि आदर्श से लेश-मात्र भी भ्रष्ट होने पर लोगों की निंदा व कलंक का पात्र बनना होगा तो उनके मन में अन्याय करने की प्रवृत्ति सहज ही आश्रय नहीं पायेगी।

हमारे देश में

हमारे देश में कई कारणों से विचारक को शासक के अधीन रखा गया है, इसी से उनका दायित्व बहुत-कुछ शासक पर पड़ा है। विचारक ईश्वर के प्रतिनिधि न हो शासक के प्रतिनिधि हैं। अतएव शासक का दायित्व है अति गुरुतर। तिसपर शासन-

तंत्र की सुविधा के लिये अपक्व-केश, अनभिज्ञ लोगों पर विचार का भार देना आवश्यक हो गया है। हाल में ही बने नये कानून के अनुसार विचारक के विचार के बारे में विपरीत लोक-मत व्यक्त करना निषिद्ध है । प्रचारित किया गया है कि ये व्यवस्थाएं शासन के लिये आवश्यक हैं अतः इसके बारे में कुछ भी कहने का अधिकार हमें नहीं। किंतु इस अवस्था से शासक पर कितना भारी दायित्व आ पड़ा है यह शासक जरा विवेचना कर देखें। वे स्मरण रखें कि वे इस अपूर्व क्षमता का कैसा प्रयोग कर रहे हैं, यह भगवान् देख रहे हैं, देश का हिताहित, राज्य-शासन का फलाफल और साम्राज्य की सुख-शांति व स्थायित्व इसी पर निर्भर है।

धर्म
अंक २५
फाल्गुन ९, १३१६

भगवत्-दर्शन

देश-पूज्य श्रीयुत कृष्णकुमार मित्र ने ब्रह्म-समाज के छात्रों को बतलाया है कि आगरा जेल में निर्वासित हो कैसे उन्होंने भगवान् के प्रत्यक्ष उपलब्धि व सर्वत्र-दर्शन प्राप्त किया। जब श्रीयुत अरविंद घोष ने उत्तरपाड़ा में यही बात कही थी तब पूना के 'इंडियन सोशल रिफार्मर' (समाज-सुधारक) ने उपहास कर कहा था कि देखते हैं जेल में ईश्वर-दर्शन का तांता लग गया है। उपहास का अर्थ यही है कि ये बातें हैं सिरफिरे पागलों की कल्पना या मिथ्या प्रतारणा। अरविंद बाबू ने जो कुछ कहा था अविकल वही तो कहा है ब्रह्म-समाज के शीर्ष स्थानीय श्रीयुत कृष्णकुमार ने। इसमें ऐसी क्या बात है जो अनेकों को परिहास के योग्य लगी, विचारक और जेल में उसी सर्वव्यापी प्रेममय व दयामय का दर्शन, यही तो दोनों ने लाभ किया है। निःसंदेह, एक ही आध्यात्मिक उपलब्धि के दो तरह के तार्किक सिद्धांत हो सकते हैं, एक सत्य को ले नाना मतों का होना है स्वाभाविक। किंतु आगरा और अलीपुर में भिन्न मत और भिन्न प्रकृतिवाले दो व्यक्तियों को जब एक ही प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई है तब क्या कोई उसे पागलपन या ढोंग कह सकता है ? पूना के 'समाज-सुधारक' के मतानुसार भगवान् कभी भी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं देते। वे रहते हैं नियमों की ओट में। हम प्राकृतिक नियम का अनुभव कर सकते हैं, भगवान् के अस्तित्व का अनुभव करना है वाचालों का प्रलाप। कोई विज्ञान-अनभिज्ञ यदि कहे कि अमुक रासायनिक प्रयोग मिथ्या है और कुछ विज्ञानविद् वैज्ञानिक प्रयोग करके कहें कि यह सत्य है, हमने अपनी आंखों से देखा है तो किसकी बात अधिक विश्वासयोग्य होगी, लोग किसका मत ग्रहण करने को बाध्य होंगे ?

जेल में दर्शन

ऐसे लोगों के अविश्वास का एक और कारण है। जेल है अपवित्र स्थान, खूनी, चोर और डकैतों से भरपूर। यदि भगवान् दर्शन दें भी तो देंगे पवित्र स्थान में, साधु-संन्यासियों को, कानून के जाल में फंसे राजनीतिज्ञ, घोर राजसिक कार्य में लिप्त संसारी को जेल में दर्शन देने क्यों जायेंगे ? हमारे मत में साधु-संन्यासी की अपेक्षा ऐसे लोगों को ही भगवान् सहज में पकड़ाई देते हैं। आश्रम व मंदिर की अपेक्षा जेल में या वध्य भूमि में ही लगता है भगवत् दर्शन का तांता। जो मानवजाति के लिये, देश के लिये खटते हैं, जीवन उत्सर्ग करते हैं वे खटते हैं, जीवन उत्सर्ग करते हैं भगवान् के लिये। ईसा मसीह ने कहा है कि जो दुःखी को सांत्वना, दरिद्र को मदद, प्यासे को पानी, निरुपाय को उपाय देता है वह मुझे ही देता है; मैं ही हूं वह दुःखी, वह दरिद्र, वह प्यासा, वह निरुपाय। और फिर जेल में अहंकार पूर्णतः मिट जाता है। वहां रत्ती-भर भी स्वाधीनता नहीं रह जाती। भगवान् के मुंह की ओर ताकते ही रहना होता है आहार, निद्रा, सुख, भाग्य और स्वाधीनता के लिये। अतः ऐसी अवस्था में पूर्ण निर्भरता, पूर्ण आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण जितना सहज हो उठता है उतना और कहीं नहीं। कर्मवीर का आत्म-समर्पण है भगवान् को अतिप्रिय उपहार, यही पूजा है श्रेष्ठ पूजा, यही बलि है श्रेष्ठ बलि। यदि इससे भगवान् के दर्शन नहीं होंगे तो किससे होंगे।

वेद में पुनर्जन्म

जब यूरोपियनों ने पहले-पहल आर्य-साहित्य का आविष्कार किया तब उन्हें इतना आनंद हुआ कि समुचित प्रशंसा करने को शब्द न जुटते, पंडित जो कह देते उसे ध्रुव सत्य मान लेते। इसके बाद पाश्चात्य हृदय में प्रज्वलित हो उठी ईर्ष्या की आग। अनेकों ने उस ईर्ष्यावश संस्कृत भाषा और विफल साहित्य को ब्राह्मणों का जाल व जुआचोरी कह उड़ा देने की चेष्टा की। जब वह चेष्टा चल रही थी तब यूरोपीय पंडितों ने एक नया फंदा रचा, उन्होंने प्रमाणित करने की चेष्टा की कि हिंदुओं का कुछ भी अपना नहीं, सब विदेश से आया है। रामायण और महाभारत हैं होमर के अनुकरण, ज्योतिष, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, शिल्प, चित्रकला, स्थापत्य विद्या, गणित, देवनागरी अक्षर, पंचतंत्र आदि जो कुछ भी भारत के गौरव के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे हैं ग्रीस, इजिप्ट, बैबिलॉन आदि देशों से उधार लिये हुए। गीता है ईसाई-धर्म से चुराया माल। हिंदू-धर्म में यदि कोई गुण है तो वह है बौद्ध-धर्म का दान,—और हम कहें कि बुद्ध तो हैं भारतवासी, तो वे इस अद्भुत कल्पना का आविष्कार करते हैं कि बुद्ध हैं मंगोल या

तुरस्क जाति के। शाक्यगण हैं शक या scythian। इसी समय यह मत प्रचारित हुआ कि कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद बुद्ध के पूर्ववर्ती हिंदूधर्म में नहीं थे, बुद्ध ने ही इन दोनों मतों की सृष्टि की। अभी उस दिन देखा, Hindu Spiritual Magazine के संपादक ने यह मत प्रचारित किया है कि यह बात ठीक है, पुनर्जन्मवाद वेद में नहीं, पुनर्जन्मवाद हिंदूधर्म का अंग नहीं। मालूम नहीं, संपादक महाशय ने यह बात स्वयं वेद का अध्ययन करके कही है या यह है केवल पाश्चात्य पंडितों की प्रतिध्वनि। हम दिखा सकते हैं और दिखायेंगे कि उपनिषदों को पाश्चात्य पंडित तक बुद्ध के आविर्भाव के पहले का मानते हैं। जो उपनिषदें हैं वैदिक ज्ञान का चरम विकास, उन्हीं उपनिषदों में पुनर्जन्म ध्रुव और गृहीत सत्य के रूप में सर्वत्र उल्लिखित है। कर्मवाद भी वेद में मिलता है। बौद्ध धर्म है हिंदूधर्म की एक शाखा-मात्र, हिंदूधर्म बौद्ध धर्म का परिणाम नहीं।

आर्य समाज की अवनति

आर्य समाज की अवनति देख हम दुःखित हैं। इस समाज के अध्यक्ष ने हाल ही में ऐसा विचार प्रकट किया है कि राजभक्ति आर्य समाज के धर्म-मतों में एक मत माना गया है, अतः जो "मैं राजभक्त हूं" कह शपथ लेगा उसे ही प्रवेश करने दिया जायेगा, दूसरे किसी को नहीं। अन्य धर्म संप्रदायों को भी इस महात्मा ने इसी विधान का उपदेश दिया है। यदि यह अध्यक्षजी का प्रकृत मत होता तो हम कुछ नहीं कहते, किंतु आर्य समाज पर बार-बार राजद्रोह का अभियोग लगने के पहले उसमें उस उत्कट राजभक्ति का उदय नहीं हुआ था। धर्म सभी के लिये है, जिस धर्म संप्रदाय से राजनीतिक मत के कारण कोई बहिष्कृत कर दिया जाये, वह संप्रदाय धर्म संप्रदाय नहीं, है स्वार्थ-संप्रदाय। मैं राजभक्त हूं या नहीं यह सरकारी कर्मचारी देखेंगे और सरकारी कर्मचारी भी तो मेरे मन के भावों पर अधिकार करने की चेष्टा नहीं करते, वे केवल यही चेष्टा करते हैं कि राजभक्ति के विरुद्ध-भाव के प्रचार से देश की शांति नष्ट न हो, उनका अधिकार नष्ट न हो। जिस धर्म-मंदिर के द्वार पर यह नहीं पूछा जाता कि तुम भगवद् भक्त हो कि नहीं, पूछा जाता है तुम राजभक्त हो कि नहीं, उस मंदिर में कोई भगवद्-भक्त पग न रखे। Render unto Caesar the things that are Caesar's, unto God the things that are God's—जो सम्राट् का प्राप्य है उसे ही सम्राट् को अर्पण करो, जो भगवान् का प्राप्य है वह भगवान् का है, सम्राट् का नहीं।

परिशिष्ट

ऐक्य और स्वाधीनता

गत दिसम्बर मद्रास में राष्ट्रीय-सभा के उन्नीसवें अधिवेशन के समय बंगाल के प्रधान वक्ता और सभापति श्रीयुत लालमोहन घोष ने जो भाषण दिया था उससे एक नये राजनैतिक युगपरिवर्तन का बहुत ही अस्पष्ट आभास मिला है। श्रीयुत घोष महोदय का भाषण . . .[1] दूसरे अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों से काफी कुछ अलग ढंग का था। उनके भाषण का सुर उस चिर परिचित एकतान से ठीक मिल नहीं सका। पहले के [?][2] सभापति प्रायः ही भिक्षुक वेश में राजद्वार पर उपस्थित होते थे, कोई-कोई रुक्षभाषी दुर्दान्त भिक्षुक गृहस्थ के कर्ण कुहर में शोर मचा-मचा कर, उसे तंग करके दान निकलवाने की चेष्टा करता था—कोई सज्जन भिक्षुक कोमल स्वर में अथवा अति क्षीण क्रन्दन स्वर में गृहस्वामी को फुसला अपना मनोरथ सिद्ध करने की चेष्टा करता था। किंतु घोष महोदय के भाषण में एक नये भाव का अभ्युदय दिखायी देता है, अर्ध-जाग्रत् मनुष्यत्व की वह पहली जरा-सी आवाज अभी भी क्षीण और अस्पष्ट है तथापि कवि वर्ड्सवर्थ की तेजस्वी सारगर्भित महती वाणी की प्रतिध्वनि मानों दूर से सुनायी दे रही है—जो मुक्त होना चाहते हैं उन्हें स्वयं ही आघात करना चाहिये। स्वाधीनता यदि चाहिये तो अपने-आप अपनी शृंखलाएं काटो, कोई और तुम्हारे लिये नहीं काट सकता।

तो स्वाधीनता क्या है—आधुनिक भारतवर्ष के लिये कितनी स्वाधीनता प्रयासलभ्य और श्रेयस्कर है इस संबंध में किसी परिपक्व और निश्चित धारणा को मन में दृढ़रूप से अंकित करना बहुत आवश्यक है। राजनीतिक क्षेत्र में बाहरी, आडंबरपूर्ण, अनिश्चित और अस्पष्ट उक्तियां बार-बार दुहराना भारतवासियों का एक रोग बन गया है। इसमें ही हमारा बल, धन और समय नष्ट होता है। यह रोग जैसे बुद्धि की तीक्ष्णता, प्रगाढ़ चिंतन के अभ्यास, मन के स्वभावगत प्रांजल भाव और . . . को नष्ट करता है वैसे ही कार्यसिद्धि में विलंब करता है, कभी-कभी तो संपूर्णतया लोप ही कर देता है और अंत में निराशा और निश्चेष्ट आलस्य का कारण बनता है। आजकल बंगाल में यही अंतिम अवस्था ही कुछ परिमाण में अनुभव कर रहा हूं।

इस संबंध में राष्ट्रीय मन में दो विभिन्न उद्देश्यों को लेकर चिंतन की दो धाराएं बह रही हैं। एक है प्राचीन जो दिन-प्रतिदिन सूखे जा रही है लेकिन देश के अधिकांश राजनीतिक नेता अभी भी उसी धारा में बह रहे हैं और सारे राष्ट्र को भी उसी में बहाने

---

[1] जहां . . . यह चिह्न है वहां एक या एकाधिक शब्द या पंक्तियां पढ़े नहीं गये।

[2] जहां प्रश्न-चिह्न (?) लगा है वह पाठ संदेहास्पद है।

में लगे हैं। दूसरी है नूतन। यद्यपि दो-चार संभ्रांत और विख्यात पुरुषों को छोड़कर कोई सर्वजनसम्मत नेता इस पथ पर अग्रसर नहीं हुए हैं तथापि वे जो भागीरथी का पथ प्रशस्त कर रहे हैं और राष्ट्रीय जीवन भी उसी पथ पर बहेगा, ऐसी संभावना अधिक है। पुराने नेता कहते हैं, कि हमारे राजनीतिक जीवन का चरम उद्देश्य यह रहना चाहिये कि धीरे-धीरे अधिकार और स्वत्व पाते-पाते अंत में अनेक प्रयास और परिश्रम के फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन स्वाधीनता पा लेंगे। भारत के सरकारी कर्मचारी कितने भी निष्ठुर क्यों न हों लेकिन अंग्रेज जाति महान् और सहृदय है—उसमें विल्बरफोर्स, हॉर्वर्ड, ग्लैडस्टोन आदि महात्माओं ने जन्म लिया है। वे हमारा दुःख नहीं जानते लेकिन रोने से सुनेंगे।

(अपूर्ण)

३० आश्विन

इस वर्ष ३० आश्विन का समारोह जिस आग्रह, स्वाभाविक उच्छ्वास और एकता के साथ सुसंपन्न हुआ है वह पिछले दो वर्षों में नहीं हुआ है, यह बात अंग्रेज, बंगाली, शत्रु-मित्र सभी स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं। इस नवजात राष्ट्रीय भाव की, नवलब्ध मातृबोध की वृद्धि देखकर सर्वत्र उसकी संतान के हृदय में उत्साह और बल का भी दुगुना संचार हुआ है। क्या कारण है कि तीसवीं आश्विन बंगाली के लिये इतनी पवित्र और पूज्य तिथि है ? यह तिथि है बंगभंग का दिन, शोक का दिन, अपमान का दिन, सिर्फ इसीलिये तो यह तिथि प्रगतिशील राष्ट्र के हृदय में प्रतिष्ठा नहीं पा सकती, असंभव है यह। जो दिन ऐसी किसी चिरस्मरणीय घटना या महान् राष्ट्रीय समारंभ का स्मरण करा दे, जिसे स्मरण कर संतान के हृदय में भक्ति, आनंद और उच्च आशा संचारित हों, वह दिन ही राष्ट्र का प्रिय दिन है, वह तिथि ही पूज्य और पवित्र है। ७ अगस्त बॉयकाट के दिन के रूप में याद नहीं किया जाता बल्कि राष्ट्रीय आत्मज्ञान-प्राप्ति के दिन के रूप में स्मरणीय है। बॉयकाट भी विद्वेषजन्य घृणा का प्रकाशन नहीं या सरकार के साथ थोड़े दिन का मनमुटाव नहीं है, उसमें निहित है उच्चतर राष्ट्रीय भाव। हम बंगाली आत्मज्ञानहारा हो गये थे, ७ अगस्त को उसी राष्ट्रीय आत्मज्ञान को पुनः प्राप्त किया है, समझ लिया है कि भारत का राष्ट्रीय जीवन और उन्नति किसी की कृपा की मुहताज नहीं, हम विदेशी साम्राज्य के नगण्य और पराधीन क्षुद्रांश नहीं। हम भी दुनिया में एक राष्ट्र की हस्ती लिये हैं, हम भी स्वतंत्र, दैवी शक्तिसंपन्न हैं और स्वाधीनता के अधिकारी हैं। बॉयकाट है उसी स्वतंत्रता की घोषणा, कर्मक्षेत्र में उसी नवजाग्रत् आत्मज्ञान के विकास का प्रकाशन एवं ७वीं अगस्त है उसी आत्मज्ञान-प्राप्ति की तिथि। इसी तरह बंगभंग नहीं बंगभंग का अमृतमय फल ही है ३०वीं आश्विन का

सार-मर्म। . . . ३0वीं आश्विन को मातृबोध जग उठा, हमने मां को पुनः प्राप्त किया, यही है ३0वीं आश्विन की पवित्रता, इसीलिये है बंगाली के हृदय में इस तिथि की चिर प्रतिष्ठा। ३0वीं आश्विन है मातृबोध की प्राप्ति की पवित्र और पूज्य तिथि।

कुछ फुटकर लेख

पुरातन और नूतन

देख रहे हैं कि हम जो पुरातन के कारागार को तोड़ नूतन की सृष्टि करने के लिये देश को पुकार रहे हैं, उससे बहुतों के मन में क्रोध, भय और आशंका उमड़ पड़ी है। उनकी धारणा है कि पुरातन ही है सर्वमंगलकारी, निर्दोष सत्य, पूर्ण ज्ञान, धर्म ऐश्वर्य का अनिंदनीय समृद्धिशाली कोषागार; पुरातनता में ही है भारत की भारतीयता। हम, जो भगवान् तथा भागवत शक्ति पर अटल भरोसा रख उन्नति-पथ पर अग्रसर होने के लिये उद्यत हैं, अकुंठ साहस के साथ भविष्य का नवीन आकार गढ़ने के इच्छुक हैं, उनकी दृष्टि में हैं यौवन के मद में उन्मत्त, पाश्चात्य ज्ञान से पुष्ट, उच्छृंखल पथ के पथिक। पुरातन को हटा नवीन के आगमन को सहज बनाना अत्यंत विपज्जनक है, सर्वनाश का पथ है। पुरातन यदि चला गया तो फिर भारत का सनातन धर्म रहा कहां ? पुरातन से चिपके रहने में ही है श्रेय—वही चिरन्तन मोक्षपरायणता, वही अतुल्य कल्याणकर मायावाद, वही अचल स्थितिशीलता जो है भारत की एकमात्र संपदा। कह सकता था कि भारत की जो वर्तमान अवस्था है उससे और अधिक सर्वनाश, और अधिक शोचनीय परिणाम क्या हो सकता है, यह समझना या कल्पना करना है दुष्कर। पुरातन से चिपके रहने से जब यह अवस्था हुई तब भला नूतन के लिये चेष्टा करने में क्या दोष ? राष्ट्र की मृत्यु की आशंका सामने है, ऐसे समय पुरातन पर निर्भर रह निश्चेष्ट बन जाना अच्छा है या इस जाल को छिन्न-विच्छिन्न कर स्वाधीनता के जीवन के मुक्त पथ पर चलने की प्रवृत्ति श्रेयस्कर है ? किंतु जो आपत्ति करते हैं, उनमें से बहुतेरे पंडित, विचारशील, गण्यमान्य व्यक्ति हैं, उनकी उक्ति को इस प्रकार उड़ा देने की इच्छा नहीं होती। हम तो अपनी बात का तात्पर्य, अपने इस आह्वान का गभीरतर तत्त्व समझाने की चेष्टा कर रहे हैं।

सनातन और पुरातन एक ही नहीं। सनातन है चिरकालीन, जो त्रिकालातीत है, जो अविनश्वर है, जो सकल परिवर्तनों में अविच्छिन्न धारा रूप से विद्यमान रहता है, जिसे हम *विनश्यत्सु अविनश्यन्तम्* देखते हैं, वही है सनातन। पुरातन होने के कारण भारत के धर्म और मूल विचार को हम सनातन धर्म, सनातन सत्य नहीं कहते। आत्मानुभूतिलब्ध सनातन आत्म-ज्ञान होने के कारण वह विचार तथा सनातन ज्ञान पर प्रतिष्ठित होने के कारण वह धर्म सनातन है। पुरातन तो है सनातन का एक समयोपयोगी रूप-मात्र।

पूर्णता

पूर्णयोग के पथ पर जब पदार्पण किया है तब एक बार गहरे पैठ यह खोज-बीन भी कर लो कि पूर्णयोग का अर्थ और उद्देश्य है क्या, फिर अग्रसर होओ। जिसके अंदर सिद्धि के उच्च शिखर पर आरूढ़ होने की महान् आकांक्षा है उसे ये दो बातें सम्यक् रूप से जान लेनी चाहियें—उद्देश्य और पथ। पथ की बात पीछे कहूंगा, पहले उद्देश्य का पूर्ण चित्र तुम्हारी आंखों के सामने पूर्ण रूप से स्पष्ट रेखाओं में अंकित कर देने की आवश्यकता है।

क्या है पूर्णता का अर्थ ? पूर्णता है भागवत सत्ता का स्वरूप, भागवती प्रकृति का धर्म। मनुष्य है अपूर्ण, पूर्णता का प्रयासी, पूर्णता की ओर क्रमविकास और आत्मा की क्रम-अभिव्यक्ति की धारा में अग्रसर। पूर्णता है उसका गंतव्य स्थान; मनुष्य है भगवान् का एक अर्धविकसित रूप, इसीलिये वह है भागवत पूर्णता की ओर जानेवाला पथिक। इस मनुष्यरूपी कली में भागवत पद्म की पूर्णता छिपी है, उसे क्रमशः, धीरे-धीरे खिलाने में प्रकृति सचेष्ट है। योगाभ्यास और योगशक्ति से वह महान् वेग के साथ शीघ्रातिशीघ्र खिलना आरंभ कर देता है।

लोग जिसे पूर्ण मनुष्यत्व कहते हैं—मानसिक उन्नति, नैतिक साधुता, चित्तवृत्ति का ललित विकास, चरित्र का तेज, प्राण का बल, शारीरिक स्वास्थ्य—वह भागवत पूर्णता नहीं। वह है प्रकृति के एक खंड-धर्म की पूर्णता। आत्मा की पूर्णता से, मानसातीत विज्ञान-शक्ति की पूर्णता से आती है प्रकृत अखंड पूर्णता। कारण, अखंड आत्मा ही है असली पुरुष, मनुष्य का मानसिक, प्राणिक और दैहिक पुरुषत्व है उसका केवल एक खंड-विकास। और मन का विकास है विज्ञान का एक खंड, बाह्य और विकृत खेल, मन की यथार्थ पूर्णता तब आती है जब वह विज्ञान में परिणत हो जाता है। अखंड आत्मा विज्ञान-शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि कर उसे नियंत्रित करती है, विज्ञान-शक्ति द्वारा खंड को अखंड में ले आती है। आत्मा मनुष्य के अंदर मानस-रूपी पर्दे के पीछे छिपी बैठी है, पर्दा हटने पर आत्मा का स्वरूप दिखायी देता है। आत्मशक्ति मन में क्षीणप्राय, अर्धप्रकाशित, अर्धलुकायित रूप और क्रीड़ा को अनुभव करती है, विज्ञान-शक्ति जब खुल जाती है तभी होता है आत्मशक्ति का पूर्ण स्फुरण।

पूर्णयोग के मुख्य लक्षण

भाव को लेकर, तत्त्व को लेकर पूर्णयोग के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है, अब जब कि बहुत-से लोग इस पथ पर आ चुके हैं और आ रहे हैं तो एक बार सहजभाव से अपने इस योगपथ के उद्देश्य की और योगसिद्धि के मुख्य लक्षणों की व्याख्या करना आवश्यक हो गया है। योगावस्था कभी भी बुद्धि से आसानी से नहीं समझी जा सकती, उसे यथार्थ में समझने के लिये अनुभूति होनी जरूरी है, आत्मोपलब्धि के फलस्वरूप आती है वह। तथापि बुद्धि के सम्मुख ऐसी रूपरेखा स्थापन करने की आवश्यकता है जो इस पथ का सभी दिशाओं में गंतव्य स्थान और नक्शा मानव दृष्टि के सामने खींच दे, जो योग का उद्देश्य और लक्षण जानना चाहते हैं उनकी सहज उपलब्धि के लिये,—

(अपूर्ण)

*

हमारा आदर्श मोक्ष नहीं, ब्रह्म में लीन होकर अनिर्देश्य अनन्त में निर्वाण-प्राप्ति नहीं। हमारा आदर्श है व्यष्टि और समष्टि में भागवत चेतना की उपलब्धि, भागवत चेतना के साथ ऐक्य की संसिद्धि और आनंद, उसी चेतना में निवास कर आत्म-प्रतिष्ठित, भगवत्प्रेरित, भगवत्-शक्ति से चालित जीवन और कर्म, मुक्तवत् कर्म। जैसा कि गीता में कहा है, *"योगस्थः कुरु कर्माणि"*, वह योगस्थ कर्म केवल इस साधना का अंग ही नहीं, सिद्धि का भी प्रधान अंग है। समस्त जीवन को, अंतर और बाह्य को भागवत सत्ता में प्रस्फुटित करना और भागवत ऐक्य की अभिव्यक्ति बनाना है इस योग का उद्देश्य और सिद्धावस्था का लक्षण।

*

पूर्णयोग के चार अंग हैं—ज्ञान, कर्म, प्रेम और सिद्धि। इन चार स्तम्भों पर प्रतिष्ठित है देवजीवन का अभ्रभेदी सत्य-मंदिर।

पूर्णयोग में ज्ञानयोग का उद्देश्य मोक्ष नहीं, लय नहीं, संसार-भीरु का पलायन नहीं, वैरागी की विश्व-वितृष्णा नहीं, परब्रह्म की आकांक्षा में लीलामय भगवान् को दूर करना नहीं। इस ज्ञानयोग का उद्देश्य है भगवान् को जानना, भागवत चेतना तक अपनी चेतना को उठाना, उसके साथ एक होना, आत्मा और जगत् में एक, विज्ञान में एवं मन-प्राण-चित्त में एक, शरीर में एक—किसी को भी नहीं छोड़ना। —पूर्ण अद्वैत, . . . *सर्वं खल्विदं ब्रह्म,* तुरीय; कारण, सूक्ष्म, स्थूल, सुषुप्ति, स्वप्न जाग्रत्, ब्रह्ममाया, पुरुष, प्रकृति, तुम, मैं—ये सभी वही हैं, *वासुदेवं सर्वमिति,* यही है इस ज्ञान का मूल मंत्र।

(अपूर्ण)

*

गीता ने कहा है—समता ही योग है, *समत्वं योग उच्यते*। और भी कहती है, जिनका मन समता में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित है वे ही जगत् में रहकर जगज्जयी हैं, क्योंकि परम ब्रह्म जिस प्रयोजन से सर्वत्र समभाव में विराजमान हैं, समताप्राप्त योगसिद्ध ज्ञानी और कर्मी सब कर्मों में, सर्व भावों में ब्रह्म में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

यही है समता-तत्त्व की मूल भित्ति।

पूर्णयोग की साधना-प्रणाली में समता है योगसिद्धि के आरोहण का मुख्य सोपान। या कह सकता हूं कि ब्रह्म-भाव है योगभूमिस्वरूप, समता है वृक्ष और साधना से प्राप्त नाना वस्तुएं हैं पत्र, पुष्प और फल। पूर्ण सत्ता, पूर्ण आत्मज्ञान, पूर्ण चेतना, पूर्ण तपःशक्ति, पूर्ण अखण्ड आनंद में से एक भी समता के बिना नहीं पाया जा सकता, पूर्ण समता में ही इनकी पूर्णता भी विकसित और दृढ़ रूप से प्राप्त हो सकती है। इसीलिये जबतक विशुद्ध समता साधक के अंदर स्थायी, विशाल और सुदृढ़ नहीं हो जाती तबतक इस योगसिद्धि की भित्ति कमजोर और अपर्याप्त समझनी होगी। समता स्थापित हो जाने पर ही योगपथ सम, निष्कंटक, सीधा, सरल, ऋजु, आनन्दमय हो जाता है।

*

भगवत सत्ता के साथ एक होना, भागवत चेतना के साथ चेतना मिला देना, उसी में निवास करना, भागवत शक्ति के प्रभाव में अपनी शक्ति को लीन कर देना, भागवत साधर्म्य प्राप्त कर सिद्ध आत्मवान् होना, यही है पूर्णयोग का उद्देश्य। सौ बात की एक बात—देव-जन्मलाभ, भागवत जीवन।

निर्लक्षण अनिर्देश्य लय नहीं, उस तरह का मोक्ष हमें अभिप्रेत नहीं। ब्रह्म नित्य सनातन है, जगत्रूप ब्रह्मविकास भी नित्य सनातन है। मैं उसी प्रकाश का एक केन्द्र हूं, सारा जगत् मेरी परिधि, सारा ब्रह्मांड मेरी दुनिया, सब जीव मेरे असंख्य मैं, जैसे अनन्त ब्रह्म का अनिर्देश्य ऐक्य सत्य है वैसे ही ब्रह्म का बहुरूप विशिष्ट ऐक्य सत्य है।

क्षर पुरुष में जो बहु रूप विशिष्ट ऐक्य का एक ही समय, एक ही आधार में भोग करते हैं वही गुरुब्रह्म पुरुषोत्तम अक्षर जगत् की स्थिति में भी पुरुष रूप में उसी अनिर्देश्य ऐक्य का भोग करते हैं। पुरुषोत्तम की यही लीला मैं . . . (वाक्य अधूरा)। यह द्विविध रसभोग ही अनन्त की पूर्णता है।

भगवान् की अखण्ड सत्ता एक है, उसी सत्ता को हम परमात्मा कहते हैं।

मानव समाज के तीन क्रम

मनुष्य का ज्ञान और शक्ति क्रमविकास में नाना रूप धारण करती हैं। उस विकास की तीन अवस्थाएं देखते हैं—शरीर-प्रधान प्राणनियंत्रित प्राकृत अवस्था, बुद्धि-प्रधान उन्नत मध्य अवस्था, आत्म-प्रधान श्रेष्ठ परिणति।

शरीर-प्रधान प्राणनियंत्रित मनुष्य है काम और अर्थ का दास। वह जानता है सहज स्वार्थ साधारण भाव और प्रेरणा (instinct और impulse); कामना-कामना में अर्थ-अर्थ में संघर्ष उठ खड़ा होने के कारण घटना-परंपरा द्वारा सृष्ट जो व्यवस्था सुविधाजनक मालूम होती है उसे ही वह पसंद करता है, ऐसी थोड़ी या बहुत-सी व्यवस्थाओं की संहति को वह कहता है 'धर्म'। रुचि-परंपरागत, कुलगत या सामाजिक आचार ऐसी ही निम्न प्राकृत अवस्था के धर्म हैं। प्राकृत मनुष्य में मोक्ष की कल्पना नहीं होती, आत्मा का उसे संधान नहीं मिलता। उसकी अबाध शारीरिक और प्राणिक प्रवृत्तियों का अबाध लीला-क्षेत्र है एक कल्पित स्वर्ग। उस ओर उसकी विचार-धारा नहीं जा पाती। देहपात होने पर स्वर्ग जाना ही है उसके लिये मोक्ष।

बुद्धि-प्रधान मनुष्य काम और अर्थ को विचार द्वारा नियंत्रित करने के लिये सचेष्ट रहता है। वह बराबर ही इस गवेषणा में संलग्न रहता है कि काम की श्रेष्ठ चरितार्थता कहां है, जीवन के अनेक भिन्न मुखी अर्थों में किस अर्थ को प्राधान्य देना उचित है और आदर्श जीवन का स्वरूप क्या है,—बुद्धिचालित किस नियम की सहायता से उस स्वरूप को परिस्फुट एवं उस आदर्श को सिद्ध किया जाता है; बुद्धिमान् मनुष्य इसी स्वरूप, आदर्श नियम के किसी एक शृंखलाबद्ध अनुशीलन को समाज का धर्म कह स्थापित करने का इच्छुक है। ऐसी धर्मबुद्धि ही होती है मानस-ज्ञान से आलोकित उन्नत समाज की नियंत्री।

आत्म-प्रधान मनुष्य बुद्धि, मन, प्राण और शरीर से अतीत गूढ़ आत्मा का संधान पा चुका होता है, आत्मज्ञान में ही जीवन की गति प्रतिष्ठित करता है,—मोक्ष, आत्मप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति को ही जीवन की परिणति समझ आत्मप्रधान मनुष्य उस ओर अपनी समस्त गतिविधि परिचालित करना चाहता है, जो जीवन-प्रणाली और आदर्श-अनुशीलन आत्मप्राप्ति के लिये उपयोगी हैं, जिससे मानवीय क्रमविकास के चक्र के उस उद्देश्य की ओर अग्रसर होने की संभावना है, उसे ही वह कहता है 'धर्म'। श्रेष्ठ समाज ऐसे ही आदर्श, ऐसे ही धर्म से चालित होता है।

प्राण-प्रधान से बुद्धि में, बुद्धि से बुद्धि के अतीत आत्मा में, एक-एक सीढ़ी करके भागवत पर्वत पर ऊर्ध्वगामी नियम द्वारा होता है मनुष्य-यात्री का आरोहण।

⁂

किसी भी एक समाज में एक ही धारा नहीं दिखायी देती। प्रायः सभी समाजों में ऐसे तीन प्रकार के मनुष्य वास करते हैं, उस व्यष्टि-समष्टि का समाज भी मिश्र-जातीय होता है।

प्राकृत समाज में भी बुद्धिमान् और आत्मवान् पुरुष रहते हैं। वे यदि विरल हों, संहति-रहित या असिद्ध हों तो समाज पर विशेष कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। यदि वे बहुत-से लोगों को संहतिबद्ध कर शक्तिमान् सिद्ध हों तभी वे प्राकृत समाज को मुट्ठी में पकड़कर थोड़ी-बहुत उन्नति कराने में सक्षम होते हैं। पर प्राकृत जन की अधिकता के कारण बुद्धिमान् या आत्मवान् का धर्म प्रायः विकृत हो जाता है, बुद्धि का धर्म convention (परंपरा) में परिणत हो जाता है, आत्मज्ञान का धर्म रुचि और बाह्य आचार के बोझ से दब क्लिष्ट, प्लावित, प्राणहीन और स्वलक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है—सदा यही परिणाम दिखायी देता है।

जब बुद्धि का प्राबल्य होता है तब बुद्धि को समाज की नेत्री बन अबोध रुचि और आधार को तोड़-फोड़, उलट-पलट कर मानसज्ञान से आलोकित धर्म की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करते हुए देखते हैं। पाश्चात्य ज्ञान का आलोक (enlightenment) साम्य-स्वाधीनता-मैत्री—इस चेष्टा का एक रूप-मात्र है। सिद्धि असंभव है। आत्मज्ञान के अभाव में बुद्धिमान् भी प्राण, मन, शरीर के खिंचाव से अपने आदर्श को अपने-आप ही विकृत करते हैं। निम्न प्रकृति के हाथ से बच निकलना है कठिन। मध्य अवस्था, मध्य अवस्था में स्थायित्व नहीं—या तो है नीचे की ओर पतन या ऊपर की ओर आरोहण। इन्हीं दो खिंचावों के बीच डोलती रहती है बुद्धि। आत्मवान् मनुष्य आत्मज्ञान का ज्योति स्फुरण होने पर उच्च धर्म की उपयुक्त सहायता कर रुचि और आचार को उच्च धर्म में परिणत करने के लिये यत्नशील है। उसके प्रयत्नों में भी अनेक विपत्तियों की संभावना है। निम्न प्रकृति का खिंचाव बहुत बड़ा खिंचाव है। साधारण मनुष्य की निम्न प्रकृति के साथ यदि समझौता करने जायें तो आत्म-प्रधान समाज की भी अधोगति की आशंका है।

*

[निम्नलिखित अंश श्रीअरविन्द की कापी में ऊपरवाली रचना के ठीक पहले लिखा हुआ है।]

यही ज्ञान और शक्ति समाज को चलायेगी, समाज का गठन करेगी, जरूरत के अनुसार उसका आकार और साधारण नियम बदल देगी। इस जीवन की गति में ज्ञान और शक्ति के विकास के साथ-साथ समाज का रूपांतर भी अवश्यंभावी है। मनुष्य के जीवन का यथार्थ नियन्ता है भगवद्दत्त जीवंत ज्ञान और शक्ति जिसकी उत्तरोत्तर वृद्धि है क्रमविकास का उद्देश्य। समाज लक्ष्य नहीं हो सकता, समाज यंत्र और उपाय

है। समाजरूपी यंत्र के सहस्र बंधनों में बद्ध मनुष्य के पोषण का अर्थ है, अवश्यंभावी निश्चलता और अवनति।

जीवन का लक्ष्य है मनुष्य का भगवान् को पाना, भागवत आत्मविकास करना। जो इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे उन्हें भगवत्-ज्ञान को ही जैसे व्यष्टि जीवन का वैसे ही समष्टि जीवन का नियामक बनाना होगा। बुद्धि को ज्ञान के आसन पर नहीं बिठाना चाहिये। प्राचीन आर्य-जाति का समाज मुक्त और स्वाधीन समाज था, श्रुति से प्राप्त भागवत ज्ञान पर आधारित कुछ एक मुख्य तत्त्वों से गठित था। और फिर कुछ एक अत्यल्प विशेष नियम आर्यधर्म के मुख्य तत्त्व जिनसे समयोपयोगी सामाजिक आकृति दी जाती है श्रौत धर्मसूत्र में संकलित हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि का आधिपत्य बढ़ने लगा वैसे-वैसे इन आकृतियों से बुद्धि द्वारा बंधी परिपाटी की स्वाभाविक स्पृहा अब और संतुष्ट नहीं होती। नियम था कि जिस परिमाण में जो शास्त्र श्रुति के पथ पर चलता है केवल वही शास्त्र उसी परिमाण में ग्राह्य है। स्मार्त (स्मृति-शास्त्र) शास्त्र बृहद् रूप से रचित है। फिर भी आर्य इस बात को भूले नहीं कि श्रुति ही असली हैं। स्मृति गौण है, श्रुति सनातन, स्मृति समयोपयोगी। इसीलिये इसके विस्तार से विशेष कोई हानि नहीं हुई। अंत में, बौद्ध विप्लव के अवसान के बाद श्रुति को बिलकुल ही भुलाकर, उसे केवल संन्यास का ही साधन समझ कर शास्त्र को अवास्तविक प्रधानता दी गयी। समाज का लक्ष्य हो गया कि शास्त्र के दृढ़ बंधन द्वारा मनुष्य के सब पक्षों का स्वाधीन संचालन बंद कर निश्चल भाव में किसी तरह से बचा रहे। मनुष्य की स्वाधीन आत्मा का एकमात्र उपाय रह गया समाज का त्याग कर संन्यास अपनाना।

भागवत विकास में मानुषी बुद्धि गौण उपाय है, असली परिचालक नहीं।

भारतीय समाज के इतिहास में चार अवस्थाएं देखकर यह समझा जा सकता है।

समाज

मनुष्य का जन्म समाज के लिये नहीं, समाज मनुष्य के लिये सृष्ट हुआ है। जो मनुष्य के अंतरस्थ भगवान् को भूल समाज को बड़ा बना देते हैं वे अपदेवता की पूजा करते हैं। अथवा समाज-पूजा मनुष्य जीवन की कृत्रिमता का लक्षण है, स्वधर्म की विकृति है।

मनुष्य समाज का नहीं, मनुष्य है भगवान् का। जो समाज की दासता, समाज की अनेक बाह्य शृंखलाओं को मनुष्य की आत्मा, मन और प्राण पर लाद उसके अंतःस्थ भगवान् को खर्व करने की चेष्टा करते हैं, वे मनुष्य-जाति के यथार्थ लक्ष्य को खो बैठे हैं। इस अत्याचार के दोष के कारण अंतर्निहित देवता जागृत नहीं होते; शक्ति भी सो जाती है। दासत्व ही यदि करना हो तो समाज का नहीं, भगवान् का दास्य स्वीकार करो। उस दास्य में माधुर्य भी है, उन्नति भी। परम आनंद, बंधन में भी मुक्ति और अबाध स्वाधीनता हैं उसका चरम परिणाम।

समाज उद्देश्य नहीं हो सकता, समाज साधन है, यंत्र है। मनुष्य के आत्मप्रणोदित कर्मस्फुरित भगवद्-गठित ज्ञान और शक्ति ही जीवन के सच्चे नियंता हैं जिनकी उत्तरोत्तर वृद्धि जीवन के आध्यात्मिक क्रमविकास का उद्देश्य है। यही ज्ञान, यही शक्ति समाज-रूपी यंत्र को चलायेगी, समाज को गठित करेगी, आवश्यकतानुसार बदल भी देगी, यही है स्वाभाविक अवस्था। निश्चल स्थगित समाज मृत मनुष्यत्व की कब्र बन जाता है, जीवन के स्फुरण से, ज्ञानशक्ति के विकास से समाज का भी रूपांतर अवश्यंभावी है। समाज-यंत्र में सहस्र बंधनों के अंदर असंख्य मनुष्यों को फेंककर कुचल डालने से निश्चलता और अवनति अनिवार्य हैं।

हमने मनुष्य को छोटा कर समाज को बड़ा बना दिया है। परंतु समाज इससे बड़ा नहीं बनता, बल्कि क्षुद्र, निश्चल और निष्फल हो जाता है। हमने समाज को उत्तरोत्तर उन्नति का साधन नहीं वरन् निग्रह और बंधन बना डाला है, यही है हमारी अवनति, निश्चेष्टता, निरुपाय दुर्बलता का कारण। मनुष्य को बड़ा बनाओ, अंतरस्थ भगवान् जहां गुप्त रूप से विराजमान हैं उस मंदिर का सिंहद्वार खोल दो, समाज खुद ही महान्, सर्वांग-सुन्दर, उन्मुक्त उच्चाशय प्रयास का सफल क्षेत्र बन जायेगा। बाह्य है भीतर का परिणाम और प्रतिकृति।

जगन्नाथ का रथ

आदर्श समाज ही है व्यष्टि-समष्टि का अंतरात्मा भगवान् का वाहन, जगन्नाथ का यात्रा-रथ। एकता, स्वाधीनता, ज्ञान और शक्ति हैं इस रथ के चार चक्र।

मनुष्य की बुद्धि द्वारा गठित अथवा प्रकृति के अशुद्ध प्राणस्पंदन की क्रिया से रचा समाज है दूसरी तरह का। यह समाज समष्टि के नियंता भगवान् का रथ नहीं, बल्कि जो बहुरूपी देवता मुक्त अंतर्यामी को आच्छादित कर भगवत्-प्रेरणा को विकृत करता है उस समष्टिगत अहंकार का वाहन है। यह नाना भोगपूर्ण लक्ष्यहीन कर्म-पथ पर, बुद्धि के असिद्ध और अपूर्ण संकल्प के आकर्षण से, निम्न प्रकृति की प्राचीन या नवीन प्रेरणावश चलता है। जबतक अहंकार ही कर्ता है तबतक प्रकृत लक्ष्य का अनुसन्धान पाना है असंभव—लक्ष्य का पता लगने पर भी रथ को उस ओर सीधे ले जाना है असाध्य। अहंकार है भागवत पूर्णता में प्रधान बाधक। यह जैसे व्यष्टि के लिये सत्य है वैसे ही समष्टि के लिये भी।

साधारण मनुष्य-समाज के तीन मुख्य भेद दिखायी देते हैं। पहला, निपुण कारीगर की सृष्टि, यह है सुन्दर, चमचमाता, उज्ज्वल, निर्मल, सुखकर जिसे खींच रहा है बलवान् सुशिक्षित अश्व, वह अग्रसर हो रहा है सुपथ पर, सयत्न, धीर-स्थिर गति से। सात्त्विक अहंकार इसका स्वामी है, आरोही है। जिस उपरिस्थ उत्तुंग प्रदेश में भगवान् का मंदिर है, रथ उसके चारों ओर घूम रहा है, किंतु घूमता है थोड़ा दूर ही दूर रहकर, उस उच्च भूमि के बिलकुल पास नहीं पहुंच पाता। यदि इस स्थान से भी ऊपर उठना हो तो नियम यही है कि रथ से उतर अकेले पैदल जाया जाये। वैदिक युग के बाद प्राचीन आर्य-जाति के समाज को ऐसा ही रथ कहा जा सकता है।

दूसरा है विलासी कर्मठ की मोटरगाड़ी। धूल का अम्बार उड़ाती, भीमवेग से वज्र निर्घोष करती, राजपथ को चूर-चूर करती अशान्त अश्रान्त गति से वह दौड़ रही है। भोंपू की आवाज से कान फटे जा रहे हैं, जिसे भी सामने पाती है उसे ही रौंदती-पीसती चली जाती है। यात्री के प्राण संकट में हैं, अनवरत दुर्घटनाएं होती हैं; रथ टूट जाता है, किसी तरह मरम्मत हो जाने पर फिर सदर्प चल पड़ता है। इसका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं, किंतु जो भी नवीन दृश्य आंखों के सामने पड़ जाता है उसे ही रथ का स्वामी राजसिक अहंकार 'यही है लक्ष्य, यही है लक्ष्य' चिल्लाता उस ओर दौड़ पड़ता है। इस पथ पर चलने में यथेष्ट भोग-सुख मिलता है, विपत्ति भी अनिवार्य है, परंतु भगवान् के निकट पहुंच पाना है असंभव। आधुनिक पाश्चात्य समाज है ऐसी ही मोटरगाड़ी।

तीसरा है मैली, पुरानी, कछुए की चाल चलनेवाली, अध-टूटी बैलगाड़ी। इसे खींच रहे हैं दुबले-पतले, भूख के मारे अधमरे बैल, यह चल रही है संकीर्ण ग्राम्य पथ पर। मैला-कुचैला कपड़ा पहने, अत्यंत सुखपूर्वक कीचड़-सने हुक्के को पीता, गाड़ी की कर्कश घड़-घड़ आवाज सुनता, अतीत की कितनी ही विकृत-बिखरी स्मृतियों में

खोया बैठा है उदरसर्वस्व एक दुर्बल अन्धा बूढ़ा। इस मालिक का नाम है तामसिक अहंकार। गाड़ीवान का नाम है पुस्तकी ज्ञान, वह पंचांग देख-देख कर चलने का समय और दिशा का निर्देश करता है, उसके मुंह में एक ही बात 'जो कुछ है या था वही अच्छा, जो कुछ होने की चेष्टा करता है वह खराब'। इस रथ की भगवान् के निकट न सही, शून्य ब्रह्म के निकट शीघ्र ही पहुंच जाने की संभावना है।

तामसिक अहंकार की बैलगाड़ी जबतक गांवों की कच्ची सड़क पर चलती है तभी तक खैर है। जिस दिन वह चली आयेगी जगत् के राजपथ पर जहां असंख्य वेगवान् मोटरें दौड़ती हैं, उस दिन क्या परिणाम होगा उसको सोचते ही प्राण सिहर उठते हैं। दुःख यही है कि रथ को बदल देने का समय पहचानना या स्वीकारना तामसिक अहंकार की अक्ल के बाहर की बात है। समय को पहचानने की प्रवृत्ति भी उसमें नहीं, क्योंकि इससे उसका व्यवसाय और मिल्कियत मिट्टी में मिल जायेंगे। जब-जब समस्या उपस्थित होती है तो कोई-कोई यात्री बोल उठता है, "नहीं, रहने दो, यही अच्छा है क्योंकि यह हम लोगों का ही है।" ये हैं लकीर के फकीर या भावुक देशभक्त। कोई-कोई कहता है, "इधर-उधर से कुछ मरम्मत कर लो न।" इसी सहज उपाय से मानों बैलगाड़ी तुरत एक अनिन्द्य, अमूल्य मोटरगाड़ी में परिणत हो जायेगी!—इनका नाम है सुधारक। कोई-कोई कहता है, "प्राचीन काल का सुन्दर रथ ही क्यों न लौट आये।" इस असाध्य साधन का उपाय भी ढूंढ़ निकालने का प्रयास बीच-बीच में करते रहते हैं। किंतु आशा के अनुसार फल होगा इसका कोई विशेष लक्षण कहीं भी दिखायी नहीं देता।

इन तीनों में से ही यदि एक को पसंद करना अनिवार्य हो और उच्चतर चेष्टा को भी यदि हम छोड़ दें, तो सात्त्विक अहंकार का एक नवीन रथ निर्मित करना युक्तिसंगत होगा। किंतु जबतक जगन्नाथ का रथ सृष्ट नहीं होता तबतक आदर्श समाज भी संगठित नहीं होगा। वही आदर्श है, वही है चरम, गभीरतम, उच्चतम सत्य का विकास और उसकी प्रतिकृति। गुप्त विश्वपुरुष की प्रेरणा से मनुष्य-जाति उसे ही गढ़ने में सचेष्ट है, किंतु प्रकृति के अज्ञानवश वह दूसरे ही प्रकार की प्रतिमा गढ़ डालती है—यह प्रतिमा या तो विकृत, असिद्ध और कुत्सित होती है या काम चलाऊ, अर्द्ध-सुन्दर या सौन्दर्ययुक्त होने पर भी असंपूर्ण। शिव के बदले या तो वह वानर को गढ़ डालती है या किसी राक्षस को या किसी मध्यम लोक के अर्द्ध-देवता को।

जगन्नाथ के रथ की प्रकृत आकृति या नमूना कोई नहीं जानता, कोई भी जीवन-शिल्पी उसे आंकने में समर्थ नहीं। यह छवि विश्वपुरुष के हृदय में विद्यमान है, किंतु नाना आवरणों से आवृत। द्रष्टा और कर्ता की, अनेक भगवद्-विभूतियों की अनेक चेष्टाओं द्वारा धीरे-धीरे उसे बाहर ला स्थूल जगत् में प्रतिष्ठित करना ही है अन्तर्यामी की अभिसन्धि।

⁂

जगन्नाथ के इस रथ का असली नाम समाज नहीं, संघ है। यह बहुमुखी शिथिल जनसंघ या जनता नहीं, बल्कि आत्मज्ञान की, भागवत ज्ञान की ऐक्यमुखी शक्ति द्वारा सानंद गठित, बंधनरहित, अच्छेद्य संहति है, है भागवत संघ।

अनेक समवेत मनुष्यों के मिलकर कर्म करने के साधनस्वरूप संहति ही है समाज। शब्द की उत्पत्ति समझ लेने से उसका अर्थ भी समझ में आ जाता है। 'सम' उपसर्ग का अर्थ है 'एकत्र', 'अज्' धातु का अर्थ है 'गमन, धावन, युद्ध'। हजारों मनुष्य कर्म के लिये और कामना की पूर्ति के लिये एकत्रित होते हैं, एक ही क्षेत्र में नाना लक्ष्यों की ओर दौड़ते हैं, कौन आगे बढ़े, कौन बड़ा हो, इसी को लेकर लाग-डांट होती है, जैसे अन्य समाजों के साथ वैसे ही आपस में भी युद्ध और झगड़ा होता है—इस कोलाहल में ही शृंखला के लिये, सहायता के लिये, मनोवृत्ति की चरितार्थता के लिये नाना संबंध स्थापित किये जाते हैं, नाना आदर्शों की प्रतिष्ठा होती है, फलतः कष्टसिद्ध, असंपूर्ण, अस्थायी कुछ तैयार होता है—यही है समाज का, प्राकृत संसार का स्वरूप।

भेद की भित्ति पर प्रतिष्ठित है प्राकृत समाज। उसी भेद पर निर्मित होता है उसका आंशिक, अनिश्चित और अस्थायी ऐक्य। किंतु आदर्श समाज का गठन है ठीक इसके विपरीत। उसकी भित्ति है ऐक्य; वहां पार्थक्य का खेल होता है आनन्द-वैचित्र्य के लिये, भेद के लिये नहीं। समाज में हमें शारीरिक, मानस-कल्पित और कर्मगत ऐक्य का आभास मिलता है, किंतु संघ का प्राण है आत्मगत ऐक्य।

आंशिक रूप से, संकीर्ण क्षेत्र में संघ-स्थापना की निष्फल चेष्टा तो कई बार हुई है। वह या तो हुई बुद्धिगत चिंतन की प्रेरणा से—जैसा पाश्चात्य देशों में हुआ; अथवा निर्वाणोन्मुख कर्मविरति के स्वच्छंद अनुशीलन से—जैसा बौद्धों ने किया; या भागवत भाव के आवेग से—जैसा प्रथम ईसाई-संघ ने किया। परंतु थोड़े समय में ही समाज के जितने दोष, अपूर्णताएं और प्रवृत्तियां हैं वे संघ में घुस आती हैं और उसे समाज में परिणत कर देती हैं। चंचल बुद्धि का चिंतन नहीं टिक पाता, बह जाता है प्राचीन या नवीन प्राणप्रवृत्ति के अदम्य स्रोत में। भाव के आवेग से इस चेष्टा को सफल करना असंभव है, भाव अपनी तीव्रता के वश क्लांत हो उठता है। निर्वाण को अकेले ही ढूंढ़ना अच्छा है, निर्वाण-प्रेमियों का किसी संघ की सृष्टि करना है एक विपरीत कांड। संघ स्वभावतः है कर्म की, संबंध की लीलाभूमि।

जिस दिन समष्टिगत विराट् पुरुष को इच्छाशक्ति की प्रेरणा से, ज्ञान, कर्म और भाव के सामंजस्य और एकीकरण द्वारा आत्मगत ऐक्य दिखायी देगा उसी दिन जगन्नाथ का रथ जगत् के रास्ते पर बाहर आ आलोकित कर देगा दसों दिशाओं को। उस दिन पृथ्वी के वक्ष पर उतर आयेगा सत्ययुग, मर्त्य मनुष्य की पृथ्वी होगी देवता का लीला-शिविर, भगवान् की मन्दिर-नगरी, temple city of God—आनन्दपुरी।

गीता

गीता का धर्म

जिन्होंने गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, उनके मन में सम्भवतः यह प्रश्न उठ सकता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने बारंबार 'योग' शब्द का व्यवहार किया है और युक्तावस्था का वर्णन किया है, परंतु कहां, साधारण लोग जिसे योग कहते हैं, उसके साथ तो इसका कोई मेल नहीं दिखायी देता ? श्रीकृष्ण ने जगह-जगह पर संन्यास की प्रशंसा की है, अनिर्देश्य परब्रह्म की उपासना से परम गति प्राप्त होने की बात भी कही है, किन्तु इन्हें अत्यंत संक्षेप में ही समाप्त कर गीता के श्रेष्ठांश में उन्होंने त्याग के महत्त्व और वासुदेव के प्रति श्रद्धा और आत्मसमर्पण द्वारा परमावस्था की प्राप्ति की बात को ही विविध प्रकार से अर्जुन को समझाया है। छठे अध्याय में राजयोग का कुछ वर्णन है, किंतु गीता को राजयोग-प्रचारक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। समता, अनासक्ति, कर्मफल-त्याग, श्रीकृष्ण को संपूर्ण आत्मसमर्पण, निष्काम-कर्म, गुणातीत्य और स्वधर्मसेवा ही हैं गीता के मूल तत्त्व। इसी शिक्षा को भगवान् ने परम ज्ञान और गुह्यतम रहस्य कहा है। हमारा विश्वास है कि गीता ही जगत् के भावी धर्म का सर्वजनसम्मत शास्त्र होगी। किंतु गीता का ठीक-ठीक अर्थ सब नहीं समझते। बड़े-बड़े पण्डित और श्रेष्ठ मेधावी, तीक्ष्णबुद्धि लेखक भी इसका गूढ़ार्थ समझने में असमर्थ हैं। एक ओर मोक्षपरायण व्याख्याकारों को गीता में अद्वैतवाद और संन्यासधर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन दिखायी पड़ा है, दूसरी ओर अंग्रेजी दर्शन में निष्णात बंकिमचंद्र को गीता में केवल वीरभाव से कर्तव्य पालन करने का ही उपदेश मिला है, और उसी अर्थ को तरुणमण्डली के मन में घुसा देने की चेष्टा की है। इसमें संदेह नहीं कि संन्यासधर्म है उत्कृष्ट धर्म, किंतु उस धर्म का आचरण थोड़े लोग ही कर सकते हैं। सर्वजनसम्मत धर्म में आदर्श और तत्त्वसंबंधी एक ऐसी शिक्षा होनी चाहिये जिसे सर्वसाधारण अपने-अपने जीवन और कर्मक्षेत्र में उपलब्ध कर सकें और साथ ही उस आदर्श का पूर्णरूपेण आचरण करने पर अल्पजनसाध्य परमगति को भी प्राप्त कर सकें। वीरभाव से कर्तव्य-पालन करना उत्कृष्ट धर्म तो है किंतु कर्तव्य क्या है इस जटिल समस्या के कारण ही धर्म और नीति में इतनी अधिक धांधली है। भगवान् ने कहा है, *गहना कर्मणो गतिः;* कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है, इसका निर्णय करने में ज्ञानी भी विमोहित हो जाते हैं किंतु मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान दूंगा जिससे तुम्हें अपना गंतव्य पथ निर्धारित करने में कोई रुकावट नहीं होगी, कर्म जीवन का लक्ष्य तथा सर्वदा अनुष्ठेय नियम एक ही शब्द से विशद रूप में स्पष्ट हो जायेगा। यह ज्ञान क्या है, लाख बातों की एक बात कहां मिलेगी ? हमारा विश्वास है कि गीता के अंतिम अध्याय में भगवान् ने जहां अपने सर्वगुह्यतम परम कर्तव्य को बतलाने की प्रतिज्ञा अर्जुन से की है, वहीं खोजने से यह दुर्लभ अमूल्य वस्तु प्राप्त हो सकती है। वह सर्वगुह्यतम परम वाणी क्या है ?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन दो श्लोकों का अर्थ एक शब्द में कहा जा सकता है—आत्मसमर्पण। जो जितने परिमाण में श्रीकृष्ण को आत्मसमर्पण कर सकते हैं, उनके शरीर में उतने ही परिमाण में भगवद्दत्त शक्ति आती है और वे परम मंगलमय के प्रसाद से पापमुक्त हो देवभाव को प्राप्त करते हैं। उसी आत्मसमर्पण का वर्णन श्लोक के पहले अर्द्धांश में किया गया है। *तन्मना तद्भक्त* और *तद्याजी* होना होगा। *तन्मना* अर्थात् सब भूतों में उनके दर्शन करना, सब समय उनका स्मरण करना, सब कार्यों और सब घटनाओं में उनकी शक्ति, ज्ञान और प्रेम के खेल को देखते हुए परम आनन्द से रहना। *तद्भक्त* अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धा और प्रीति रख उनके साथ युक्त रहना। *तद्याजी* अर्थात् छोटे-बड़े सब कर्मों को श्रीकृष्ण के निमित्त यज्ञ रूप में अर्पण करना तथा स्वार्थ और कर्मफल में आसक्ति का त्याग कर उनके लिये ही कर्तव्य-कर्म में प्रवृत्त होना। पूर्णरूप से आत्मसमर्पण करना मनुष्य के लिये कठिन है, किंतु थोड़ी-सी भी चेष्टा करने से स्वयं भगवान् अभय दे, गुरु रक्षक और सुहृद बन योगमार्ग पर अग्रसर कर देते हैं। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।* उन्होंने कहा है, इस धर्म का आचरण करना सहज और सुखप्रद है। वास्तव में ऐसा ही है, संपूर्ण आचरण का फल है अनिर्वचनीय आनन्द, शुद्धि और शक्तिलाभ। *'मामेवैष्यसि'* अर्थात् मुझे प्राप्त करोगे, मेरे साथ वास करोगे, मेरी प्रकृति को प्राप्त करोगे। इस उक्ति से प्रकट होती है सादृश्य, सालोक्य और सायुज्यरूप फल की प्राप्ति। जो गुणातीत हैं वे ही भगवान् के सादृश्य-प्राप्त हैं। उनमें कोई आसक्ति नहीं रहती, फिर भी वे कर्म करते हैं, पापमुक्त हो महाशक्ति के आधार बन जाते हैं और इस शक्ति के सभी कार्यों में आनंदित होते हैं। सालोक्य भी केवल देहपात के बाद की ब्रह्मलोक की गति नहीं है, इस शरीर में भी सालोक्य की प्राप्ति होती है। देहयुक्त जीव जब अपने अंतर में परमेश्वर के साथ क्रीड़ा करता है, मन उनके दिये ज्ञान से पुलकित होता है, हृदय उनके प्रेमस्पर्श से आनंदप्लुत होता है, बुद्धि, मुहुर्मुहुः उनकी वाणी श्रवण करती है तथा प्रत्येक विचार में उन्हींकी प्रेरणा को अनुभव करती है, तभी होती है मानवतनु में भगवान् के साथ सालोक्य प्राप्ति। सायुज्य भी इसी शरीर में होता है। गीता में भगवान् के अंदर निवास करने की बात कही गयी है। जब 'सब जीवों में वह हैं' यह उपलब्धि स्थायी रूप से वर्तमान रहती है, सब इंद्रियां उन्हींके दर्शन करती, श्रवण करती, घ्राण लेती, आस्वादन करती, स्पर्श करती हैं, जीव सर्वदा उन्हींमें अंशभाव से निवास करने का अभ्यस्त होता है, तब इसी शरीर में सायुज्य की प्राप्ति होती है। यह परम गति है, संपूर्ण अनुशीलन

का फल। किंतु इस धर्म के अल्प-आचरण से भी महान् शक्ति, विमल आनंद, पूर्ण सुख और शुद्धता प्राप्त होती हैं। यह धर्म विशिष्ट-गुण-सम्पन्न लोगों के लिये सृष्ट हुआ। भगवान् ने कहा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, नारी, पापयोनी प्राप्त जीव तक इस धर्म द्वारा उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। घोर पापी भी उनकी शरण ले थोड़े समय में विशुद्ध हो जाते हैं। अतएव यह धर्म सबके लिये आचरणीय है। जगन्नाथ के मंदिर में जाति का विचार नहीं, फिर भी इसकी परम गति किसी भी धर्म द्वारा निर्दिष्ट परमावस्था से कम नहीं।

संन्यास और त्याग

पिछले प्रबन्ध में कहा गया है कि गीतोक्त धर्म सबके लिये आचरणीय है, गीतोक्त योग का अधिकार सबको है, फिर भी उस धर्म की परमावस्था किसी भी धर्म की परमावस्था की अपेक्षा कम नहीं। गीतोक्त धर्म है निष्काम कर्मी का धर्म। हमारे देश में आर्यधर्म के पुनरुत्थान के साथ-साथ एक संन्यासमुखी स्रोत सर्वत्र व्याप रहा है। राजयोग के साधक का मन सहज ही गृहकर्म या गृहवास से संतुष्ट रहना नहीं चाहता। उसके योगाभ्यास के लिये ध्यान-धारणा आदि अत्यंत आयासपूर्ण चेष्टाओं की आवश्यकता है। मन में थोड़ा भी विक्षोभ होने से या बाह्य स्पर्श से ध्यान-धारणा की स्थिरता विचलित हो जाती है या एकदम नष्ट। घर में इस तरह की अनेक बाधाएं हैं। अतएव जो पूर्वजन्मप्राप्त योगलिप्सा ले जनमते हैं उनके लिये तरुणावस्था में ही संन्यास की ओर आकृष्ट होना अत्यंत स्वाभाविक है। इस तरह के जन्म से योगलिप्सा रखनेवालों की संख्या अधिक हो जाने के कारण जब सारे देश में वह शक्ति संचारित होती है और देश के युवक-संप्रदाय में संन्यासमुखी स्रोत प्रबल रूप में दिखायी देता है तब देश के कल्याण-पथ का द्वार भी खुल जाता है, उस कल्याण-मार्ग में आनेवाली विपत्तियों की आशंका भी बढ़ जाती है। कहा गया है, संन्यास-धर्म श्रेष्ठ धर्म है, किंतु उस धर्म के अधिकारी थोड़े ही होते हैं। जो बिना अधिकार के उस पथ में प्रवेश करते हैं, वे अंत में, थोड़ी ही दूर जा, आधे रास्ते में तामसिक अप्रवृत्तिजनक आनंद के अधीन हो निवृत्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में इह जीवन तो सुख से कट जाता है किंतु उससे जगत् का कोई हित साधित नहीं होता और योग के ऊर्ध्वतम सोपान पर आरोहण करना भी दुःसाध्य हो जाता है। हमारे लिये जैसा समय और जैसी अवस्था उपस्थित हुई है उसमें हमारा प्रधान कर्तव्य हो गया है रजः और सत्त्व यानी प्रवृत्ति और ज्ञान को जगा, तम का वर्जन कर देशसेवा और जगत्सेवा के लिये अपने राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक बल को पुनरुज्जीवित करना। इस जीर्ण-शीर्ण तमःपीड़ित स्वार्थसीमित राष्ट्र के गर्भ से ज्ञान, शक्तिमान् और उदार आर्य-जाति की पुनः सृष्टि करनी होगी। इसी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये आज भारत में इतने अधिक शक्तिसंपन्न, योगबलप्राप्त आत्माओं का जन्म हो रहा है। वे यदि संन्यास की मोहिनी शक्ति द्वारा आकृष्ट हो स्वधर्म और ईश्वर-प्रदत्त कार्य का त्याग करें तो धर्मनाश से राष्ट्र का ध्वंस होगा। युवक-समुदाय को यह याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रम का समय शिक्षाप्राप्ति और चरित्रगठन के लिये निर्दिष्ट है। इस आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम विहित है। जब हम कुशलरक्षा और भावी आर्य-जाति का गठन कर पूर्वपुरुषों के ऋण से मुक्त हो जायेंगे, जब सत्कर्म और धनसंचय कर समाज का ऋण एवं ज्ञान, दया, प्रेम और शक्ति का वितरण कर जगत् का ऋण चुका देंगे, जब भारत जननी के हित के लिये उदार और महान् कर्म कर जगन्माता को संतुष्ट कर

लेंगे, तब वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण करना दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। अगर ऐसा न किया जाये तो फिर धर्मसंकर और अधर्म की वृद्धि होगी। पूर्वजन्म में ऋणमुक्त हुए बाल-संन्यासियों की बात हम नहीं कहते, पर अनधिकारी का संन्यास ग्रहण करना निन्दनीय है। अनुचित वैराग्य की अधिकता और क्षत्रियों के स्वधर्म-त्याग की प्रवृत्ति के कारण महान् और उदार बौद्धधर्म ने जहां देश का बहुत कुछ हित साधित किया वहां अनिष्ट भी किया और अंत में भारत से बाहर भगा दिया गया। हमें ऐसा दोष नवयुग के नवीन धर्म में नहीं आने देना चाहिये।

गीता में श्रीकृष्ण ने बार-बार अर्जुन को संन्यास लेने से क्यों मना किया है? उन्होंने संन्यास-धर्म का गुण स्वीकार किया है, किंतु विरक्त और कृपापरवश पार्थ के बार-बार पूछने पर भी कर्ममार्ग के अपने आदेश को वापस नहीं लिया। अर्जुन ने पूछा कि यदि कर्म से कामनाशून्य योगयुक्त बुद्धि ही श्रेष्ठ है तो फिर आप गुरुजनों की हत्या के समान अत्यंत भीषण कर्म में मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हैं? बहुतों ने अर्जुन के इस प्रश्न को पुनः उठाया है और कोई-कोई व्यक्ति तो श्रीकृष्ण को निकृष्ट धर्मोपदेशक और कुपथप्रवर्तक कहने से भी बाज नहीं आये। उत्तर में श्रीकृष्ण ने समझाया है कि संन्यास से त्याग श्रेष्ठ है, स्वेच्छाचार की अपेक्षा भगवान् को स्मरण करते हुए निष्कामभाव से स्वधर्म का पालन ही उत्तम है। त्याग का अर्थ है कामना का त्याग, स्वार्थ का त्याग; उस त्याग की शिक्षा के लिये पर्वत या निर्जन स्थान में आश्रय नहीं लेना होता, कर्मक्षेत्र में ही कर्मद्वारा वह शिक्षा मिलती है, कर्म ही है योगपथ पर आरूढ़ होने का साधन। यह विचित्र लीलामय जगत् जीव के आनंद के लिये सृष्ट है। भगवान् का यह उद्देश्य नहीं कि यह आनंदमय खेल समाप्त हो जाये। वह जीव को अपना सखा और खेल का साथी बना जगत् में आनंद का स्रोत बहाना चाहते हैं। खेल की सुविधा के लिये वे हम से दूर चले गये हैं ऐसा मानने से ही, जिस अज्ञान-अंधकार में हम हैं वह अंधकार हमें घेरे रहता है। उनके द्वारा निर्दिष्ट ऐसे बहुत-से साधन हैं जिनका अवलम्बन लेने से मनुष्य अंधकार से निकल उनका सान्निध्य प्राप्त करता है। जो उनकी लीला से विरक्त होते या विश्राम लेना चाहते हैं उनकी अभिलाषा को वह पूरी करते हैं। परंतु जो उन्हींके लिये उन साधनों का अवलम्बन लेते हैं, भगवान् उन्हें ही इहलोक और परलोक में अपने खेल का उपयुक्त साथी बनाते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रियतम सखा और क्रीड़ा के सहचर थे इसीलिये गीता की गूढ़तम शिक्षा प्राप्त कर सके। वह गूढ़तम शिक्षा क्या है, इसे समझाने की चेष्टा इससे पहले की गयी है। भगवान् ने अर्जुन से कहा, कर्मसंन्यास जगत् के लिये अनिष्टकर है और त्यागहीन संन्यास केवल विडम्बना। संन्यास से जो फल मिलता है, त्याग से भी वही मिलता है अर्थात् अज्ञान से मुक्ति, समता, शक्ति, आनंद और श्रीकृष्ण की प्राप्ति। सर्वजनपूजित व्यक्ति जो कुछ करते हैं लोग उसे ही आदर्श मानकर चलते हैं, अतएव तुम यदि कर्म से संन्यास लोगे तो सब उसी पथ के पथिक

हो धर्म की संकरता और अधर्म की प्रधानता की सृष्टि करेंगे। तुम कर्मफल की स्पृहा का त्याग कर मनुष्य के साधारण धर्म का आचरण करो, आदर्शस्वरूप बन सबको अपने-अपने पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा दो, तब तुम मेरा साधर्म्य प्राप्त करोगे और मेरे प्रियतम सुहृद् बनोगे। उसके बाद उन्होंने समझाया है कि कर्मद्वारा श्रेयमार्ग पर आरूढ़ होने पर उस मार्ग की अंतिम अवस्था में शम अर्थात् *सर्वारम्भ-परित्याग* (सब कर्मों का परित्याग) विहित है। यह भी कर्मसंन्यास नहीं, बल्कि यह है अहंकार का त्याग, अत्यंत आयासपूर्ण राजसिक चेष्टा का त्याग, भगवान् के साथ युक्त हो, गुणातीत हो, उनकी शक्तिद्वारा चालित यंत्र की नाईं कर्म करना। उस अवस्था में जीव को यह स्थायी ज्ञान रहता है कि मैं कर्ता नहीं द्रष्टा हूं, मैं भगवान् का अंश हूं, मेरे स्वभावरचित इस देहरूप कर्ममय आधार में भगवान् की शक्ति ही लीला का कार्य कर रही है। जीव है साक्षी और भोक्ता, प्रकृति कर्त्री, परमेश्वर अनुमन्ता। ऐसे ज्ञानप्राप्त पुरुष शक्ति के किसी भी कार्यारम्भ में कामनावश सहायता या बाधा देना नहीं चाहते। शक्ति के अधीन हो उसका शरीर, मन और बुद्धि ईश्वरादिष्ट कर्म में प्रवृत्त होते हैं। कुरुक्षेत्र के भीषण हत्याकाण्ड के लिये भी यदि भगवान् की अनुमति हो और स्वधर्म के मार्ग में वही आ पड़े तो भी अलिप्त बुद्धि, कामनारहित, ज्ञान-प्राप्त जीव को पाप स्पर्श नहीं करता। परंतु इस ज्ञान और आदर्श को बहुत थोड़े लोग ही प्राप्त कर सकते हैं; यह जनसाधारण का धर्म नहीं बन सकता। तो फिर इस पथ के साधारण पथिक का कर्तव्य कर्म क्या है ? साधारण मनुष्य भी कुछ अंश में यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि वे यन्त्री हैं और मैं यंत्र। उसी ज्ञान के बल से, भगवान् को स्मरण करते हुए स्वधर्म का पालन करना ही है उसके लिये निर्दिष्ट।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

स्वधर्म है स्वभावनियत कर्म। कालक्रम में स्वभाव की अभिव्यक्ति और परिणति होती है। कालक्रम में मनुष्य का जो साधारण स्वभाव गठित होता है वही है स्वभावनियत कर्म, युगधर्म। राष्ट्र की कर्मगति से जो राष्ट्रीय स्वभाव गठित होता है उसी स्वभाव द्वारा नियत कर्म है राष्ट्र का धर्म। व्यक्ति की कर्मगति से जो स्वभाव गठित होता है, उसी स्वभाव द्वारा नियत कर्म है व्यक्ति का धर्म। ये नाना धर्म सनातन धर्म के साधारण आदर्श द्वारा परस्पर संयुक्त और सुशृंखलित होते हैं। साधारण धार्मिक व्यक्ति के लिये यही धर्म है स्वधर्म। ब्रह्मचर्य की अवस्था में इसी धर्म का पालन करने के लिये ज्ञान और शक्ति का संचय किया जाता है, गृहस्थाश्रम में इस धर्म का अनुष्ठान होता है और धर्म का पूरी तरह अनुष्ठान होने पर वानप्रस्थ या संन्यास का अधिकार प्राप्त होता है। यही है धर्म की सनातन गति।

विश्वरूपदर्शन

गीता में विश्वरूप

'वन्दे मातरम्' शीर्षक प्रबंध में हमारे श्रद्धेय मित्र विपिनचंद्र पाल ने प्रसंगवशात् अर्जुन के विश्वरूपदर्शन का उल्लेख करते हुए यह लिखा है कि गीता के एकादश अध्याय में विश्वरूपदर्शन का जो वर्णन किया गया है वह है नितान्त असत्य, कवि की कल्पना-मात्र। हम इस बात का प्रतिवाद करने के लिये बाध्य हैं। विश्वरूपदर्शन गीता का अत्यंत प्रयोजनीय अंग है, अर्जुन के मन में जो दुविधा और संदेह उत्पन्न हुआ था, उसका श्रीकृष्ण ने तर्क और ज्ञानगर्भित उक्ति द्वारा निरसन किया था, किंतु तर्क और उपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान दृढ़प्रतिष्ठ नहीं होता, वही ज्ञान दृढ़प्रतिष्ठ होता है जिसकी उपलब्धि हुई हो। इसी कारण अर्जुन ने अन्तर्यामी की गुप्त प्रेरणा से विश्वरूपदर्शन की आकांक्षा प्रकट की। विश्वरूपदर्शन से अर्जुन का संदेह चिरकाल के लिये तिरोहित हो गया, बुद्धि पवित्र और विशुद्ध हो गीता का परम रहस्य ग्रहण करने योग्य हुई। विश्वरूपदर्शन से पहले गीता में जो ज्ञान कहा गया है वह साधक के लिये उपयोगी ज्ञान का बहिरंग है; उस विश्वरूपदर्शन के बाद जो ज्ञान कथित हुआ है वह ज्ञान है गूढ़ सत्य, परम रहस्य, सनातन शिक्षा। उसी विश्वरूपदर्शन के वर्णन को यदि हम कवि की उपमा कहें तो गीता का गांभीर्य, सत्यता और गंभीरता नष्ट हो जाती हैं, योगलब्ध गंभीरतम शिक्षा कतिपय दार्शनिक मत और कवि-कल्पना के संयोग में परिणत हो जाती है। विश्वरूपदर्शन कल्पना नहीं, उपमा नहीं, सत्य है; अतिप्राकृत सत्य नहीं, क्योंकि विश्व है प्रकृति के अंतर्गत, विश्वरूप अतिप्राकृत नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण जगत् का सत्य है, कारण जगत् का रूप दिव्य चक्षु के सम्मुख प्रकट होता है। दिव्यचक्षुप्राप्त अर्जुन ने कारण जगत् का विश्वरूप देखा था।

साकार और निराकार

जो निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे गुण और आकार की बात को रूपक और उपमा कह उड़ा देते हैं; जो सगुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे शास्त्रों की दूसरी तरह की व्याख्या कर निर्गुणत्व को अस्वीकार करते हैं, एवं आकार को रूपक और उपमा कह उड़ा देते हैं। सगुण साकार ब्रह्म के उपासक इन दोनों पर ही तलवार खींचे रहते हैं। हम इन तीनों मतों को संकीर्ण तथा अपूर्ण-ज्ञान-संभूत मानते हैं। कारण, जिन्होंने साकार और निराकार, द्विविध ब्रह्म की उपलब्धि की है वे भला कैसे एक को सत्य और दूसरे को असत्य कल्पना कह ज्ञान के अंतिम प्रमाण को नष्ट कर सकते हैं, असीम ब्रह्म को सीमा के अधीन कर सकते हैं ? अगर हम ब्रह्म के

निर्गुणत्व, निराकारत्व को अस्वीकार करें तो हम भगवान् की खिल्ली उड़ाते हैं, यह सत्य है; परंतु अगर हम ब्रह्म के सगुणत्व और साकारत्व को अस्वीकार करें तो हम भगवान् की अवमानना करते हैं—यह भी सत्य है। भगवान् रूप के कर्ता, स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वह किसी रूप में आबद्ध नहीं; परंतु जिस तरह सकारता से आबद्ध नहीं उसी तरह निराकारता से भी आबद्ध नहीं। भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, स्थूल प्रकृति के नियम अथवा देश-काल के नियमरूप जाल में उन्हें फंसाने का स्वांग भर अगर हम यह कहें कि तुम जब अनंत हो तो हम तुम्हें सान्त नहीं होने देंगे, कोशिश करो, देखें, तुम नहीं हो पाओगे, तुम हमारे अकाट्य तर्क युक्ति से आबद्ध हो, जैसे प्रास्पेरो के इन्द्रजाल में फर्डिनैण्ड था, कैसी हस्यास्पद बात, कैसा घोर अहंकार और अज्ञान! भगवान् बंधन-रहित हैं, निराकार और साकार हैं, साकार हो साधक को दर्शन देते हैं—उस आकार में पूर्ण भगवान् रहते हैं—संपूर्ण ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त। क्योंकि, भगवान् देशकालातीत, अतर्कगम्य हैं, देश और काल उनके खेल की सामग्री हैं, देश और कालरूपी जाल फेंक, सर्वभूत को पकड़ वह क्रीड़ा कर रहे हैं; परंतु हम उन्हें उस जाल में नहीं पकड़ सकते। हम जितनी ही बार तर्क और दार्शनिक युक्ति का प्रयोग कर उस असाध्य को साध्य करने जाते हैं उतनी ही बार रंगमय उस जाल को हटा, हमारे सामने, पीछे, पार्श्व में, दूर, चारों ओर, मृदु-मृदु हंसते हुए, विश्वरूप और विश्वातीत रूप को फैला हमारी बुद्धि को परास्त करते हैं। जो कहता है कि मैंने उन्हें जान लिया वह कुछ नहीं जानता; जो कहता है कि मैं जानता हूं फिर भी नहीं जानता, वही है सच्चा ज्ञानी।

विश्वरूप

जो शक्ति के उपासक हैं, कर्मयोगी हैं, यंत्री का यंत्र बन भगवन्निर्दिष्ट कार्य करने का आदेश पा चुके हैं, उनकी दृष्टि में विश्वरूपदर्शन अत्यंत आवश्यक है। विश्वरूपदर्शन से पहले भी उन्हें आदेश मिल सकता है किंतु उस दर्शन के न हो जाने तक वह आदेश ठीक-ठीक स्वीकृत नहीं होता, पेश हो जाता है, मंजूर नहीं होता। उस समय तक उनकी कर्मशिक्षा का और तैयारी का समय होता है। विश्वरूपदर्शन होने पर होता है कर्म का आरंभ। विश्वरूपदर्शन कई प्रकार का हो सकता है—जैसी साधना हो, जैसा साधक का स्वभाव हो। काली का विश्वरूपदर्शन होने पर साधक जगत्-भर में अपरूप नारी-रूप देखते हैं, देखते हैं एक, फिर भी अगणित देहों से युक्त, सर्वत्र वही निविड़-तिमिर-प्रसारक घनकृष्णा कुन्तलराशि आकाश को छाये हुए हैं, सर्वत्र उसी रक्ताक्त खड्ग की आभा आंखों को झुलसाती नृत्य कर रही है, जगद्व्यापी भीषण अट्टहास का वह स्रोत विश्व-ब्रह्माण्ड को चूर्ण-विचूर्ण कर रहा है। यह सब बातें कवि-कल्पना नहीं, अतिप्राकृत उपलब्धि को अपूर्ण मानव भाषा में प्रकट करने का विफल प्रयास नहीं।

यह है काली का आत्मप्राकट्य, हमारी मां का वास्तविक रूप,—जो कुछ दिव्य-चक्षु द्वारा देखा गया है उसी का अनतिरंजित सरल सच्चा वर्णन। अर्जुन ने काली का विश्वरूप नहीं देखा, देखा था कालरूप श्रीकृष्ण का संहारक विश्वरूप। एक ही बात है। दिव्य-चक्षु से देखा था, बाह्यज्ञानहीन समाधि में नहीं—जो कुछ देखा उसी का अविकल अनतिरंजित वर्णन व्यासदेव ने किया। यह स्वप्न नहीं, कल्पना नहीं, है सत्य, जाग्रत् सत्य।

कारण जगत् का रूप

भगवत्-अधिष्ठित तीन अवस्थाओं की बात शास्त्रों में पायी जाती है—प्राज्ञ-अधिष्ठित सुषुप्ति, तैजस या हिरण्यगर्भ-अधिष्ठित स्वप्न, विराट्-अधिष्ठित जाग्रत्। प्रत्येक अवस्था है एक-एक जगत्। सुषुप्ति में कारण जगत् है, स्वप्न में सूक्ष्म जगत्, जाग्रत् में स्थूल जगत्। कारण में जो निर्णीत होता है वह हमारे देश-काल से अतीत सूक्ष्म में प्रतिभासित होता है और स्थूल में आंशिक रूप में स्थूल जगत् के नियमानुसार अभिनीत होता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, मैं धार्तराष्ट्रगण का पहले ही वध कर चुका हूं, फिर भी स्थूल जगत् में धार्तराष्ट्रगण उस समय कुरुक्षेत्र में अर्जुन के सामने उपस्थित थे, जीवित, युद्ध में संलग्न। भगवान् की यह बात न असत्य है न उपमा ही। कारण जगत् में उन्होंने उनका वध किया था, अन्यथा इहलोक में वध करना असंभव होता। हमारा प्रकृत जीवन कारण में होता है, स्थूल में तो उसकी छाया-भर पड़ती है। परंतु कारण जगत् का नियम, देश, काल, रूप, नाम भिन्न है। विश्वरूप कारण का रूप है, स्थूल में दिव्य-चक्षु के सामने प्रकट होता है।

दिव्य-चक्षु

दिव्य-चक्षु क्या है ? यह कल्पना का चक्षु नहीं, कवि की उपमा नहीं। योगलब्ध दृष्टि तीन प्रकार की होती है—सूक्ष्म-दृष्टि, विज्ञान-चक्षु और दिव्य-चक्षु। सूक्ष्म-दृष्टि से हम स्वप्न में जा जाग्रत् अवस्था में मानसिक मूर्तियों को देखते हैं; विज्ञान-चक्षु से हम समाधिस्थ हो सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् के अंतर्गत नाम-रूप की प्रतिमूर्तियों और सांकेतिक रूपों को चित्ताकाश में देखते हैं, दिव्य-चक्षु से कारण जगत् के नाम-रूप की उपलब्धि करते हैं, समाधि में भी उपलब्धि करते हैं, स्थूल चक्षु के सामने भी देख पाते हैं। जो स्थूल इंद्रियों के लिये अगोचर है, वह यदि इंद्रियगोचर हो तो इसे दिव्य-चक्षु का प्रभाव समझना चाहिये। अर्जुन दिव्य-चक्षु के प्रभाव से जाग्रत् अवस्था में भगवान् के कारणान्तर्गत विश्वरूप को देख संदेहमुक्त हुए थे। वह विश्वरूपदर्शन भले ही स्थूल जगत् का इन्द्रियगोचर सत्य न हो, पर स्थूल सत्य की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है—कल्पना, असत्य या उपमा नहीं।

गीता की भूमिका

प्रस्तावना

गीता है जगत् की श्रेष्ठ धर्मपुस्तक। गीता में जिस ज्ञान की व्याख्या संक्षेप में की गयी है वही ज्ञान चरम और गुह्यतम है; गीता में जिस धर्मनीति का वर्णन है, सब धर्मनीतियां उसी नीति के अंतर्गत तथा उसी पर प्रतिष्ठित हैं; गीता में जो कर्ममार्ग प्रदर्शित किया गया है वही कर्ममार्ग है उन्नतिशील जगत् का सनातन मार्ग।

गीता है अनगिनत रत्नों को उत्पन्न करनेवाला अथाह समुद्र। जीवन-भर इस समुद्र की थाह लेते रहने पर भी इसकी गहराई का अनुमान नहीं लगता, इसकी थाह नहीं मिलती। सैकड़ों वर्षों तक ढूंढते रहने पर भी इस अनंत रत्न-भंडार का सहस्रांश भी आहरण करना दुष्कर है। तथापि इससे दो-एक रत्न भी निकाल लेने पर दरिद्र धनी हो जाते हैं, गभीर चिंतनशील व्यक्ति ज्ञानी, भगवद्विद्वेषी प्रेमिक बन जाते हैं तथा महापराक्रमी, शक्तिमान् कर्मवीर अपने जीवन की उद्देश्य-सिद्धि के लिये पूर्ण रूप से सुसज्जित और सन्नद्ध हो कर्मक्षेत्र में लौट आते हैं।

गीता है अक्षय मणियों की खान। यदि युग-युगांत तक इस खान से मणियां निकलती रहें तो भी भावी वंशधर इससे सर्वदा नये-नये अमूल्य मणि-माणिक्य प्राप्त कर प्रसन्न और विस्मित होते रहेंगे।

ऐसी गभीर और गुप्तज्ञानपूर्ण पुस्तक, फिर भी भाषा अतिशय प्रांजल, रचना सरल तथा बाह्य अर्थ सहजबोधगम्य। गीता-समुद्र की छोटी तरंगों के ऊपर-ही-ऊपर सैर करते रहने पर भी, डुबकी न लगाने पर भी, शक्ति और आनंद की थोड़ी-बहुत वृद्धि हो ही जाती है। गीतारूपी खान की रत्नोद्भासित गभीर गुहा में प्रवेश न कर, केवल चारों ओर घूमते रहने पर भी घास-पात पर गिरी उज्ज्वल मणि मिल जाती है, उससे ही हम जीवन-भर के लिये धनी बन सकते हैं।

गीता की हजारों व्याख्याएं होने पर भी ऐसा समय कभी नहीं आयेगा जब किसी नयी व्याख्या की आवश्यकता नहीं होगी। कोई जगत्-श्रेष्ठ महापंडित या गभीर ज्ञानी गीता की ऐसी व्याख्या नहीं कर सकता जिसे हृदयंगम कर हम यह कह सकें कि बस हो चुका, अब इसके बाद गीता की कोई और व्याख्या करना निष्प्रयोजन है, सारा अर्थ समझ में आ गया। सारी बुद्धि खर्च कर हम इस ज्ञान की मात्र कतिपय शिक्षाओं को समझ या समझा सकेंगे। बहुत दिनों तक योगमग्न अथवा निष्काम कर्ममार्ग में उच्च से उच्चतर स्थान पर आरूढ़ होकर भी हम इतना ही कह सकेंगे कि गीतोक्त कुछ-एक गभीर सत्यों को ही प्राप्त किया है या गीता की दो-एक शिक्षाओं को ही इस जीवन में कार्यान्वित किया है। लेखक ने जितना उपलब्ध किया है, जितने अंश का कर्मपथ पर अभ्यास किया है, उसके अनुसार विचार-वितर्क द्वारा जो अर्थ किया है,

उसका दूसरों की सहायता के लिये विवरण देना ही है इन प्रबंधों का उद्देश्य।

वक्ता

गीता के उद्देश्य और अर्थ को समझने के लिये पहले उसके वक्ता, पात्र और उस समय की अवस्था पर विचार करना आवश्यक है। वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण, पात्र हैं भगवान् के सखा वीरश्रेष्ठ अर्जुन, अवस्था है कुरुक्षेत्र के भीषण हत्याकांड का आरंभ।

बहुत-से लोग कहते हैं कि महाभारत रूपक-मात्र है; श्रीकृष्ण हैं भगवान्, अर्जुन हैं जीव, धार्तराष्ट्रगण कामक्रोधादि रिपु और पाण्डव-सेना मुक्ति के लिये अनुकूल वृत्ति। ऐसा कहने से जैसे महाभारत को काव्य-जगत् में हीन स्थान प्राप्त होता है वैसे ही गीता की गभीरता, कर्मी के जीवन में उसकी उपयोगिता तथा मानवजाति की उन्नति करानेवाली उसकी उच्च शिक्षा भी खर्व और नष्ट होती है। कुरुक्षेत्र का युद्ध गीताचित्र का फ्रेम-भर नहीं, वह है गीता की शिक्षा का मूल कारण तथा गीतोक्त धर्म को संपादित करने का श्रेष्ठ क्षेत्र। यदि कुरुक्षेत्र के महायुद्ध का काल्पनिक अर्थ स्वीकार कर लिया जाये तो गीता का धर्म वीरों का धर्म, संसार में आचरणीय धर्म न बन संसार के लिये अनुपयोगी, शांत संन्यासधर्म में परिणत हो जायेगा।

श्रीकृष्ण हैं वक्ता। शास्त्र कहते हैं श्रीकृष्ण हैं स्वयं भगवान्। गीता में भी श्रीकृष्ण ने अपने-आपको भगवान् कहा है। चौथे अध्याय में अवतारवाद और दसवें अध्याय में विभूतिवाद का वर्णन कर यह बतलाया गया है कि भगवान् भूत-मात्र के शरीर में प्रच्छन्न रूप से अधिष्ठित हैं, विशेष-विशेष भूतों में शक्ति के विकास के अनुसार कुछ परिमाण में व्यक्त हैं और श्रीकृष्ण—शरीर में हैं पूर्णांश रूप में अवतीर्ण। बहुतों का कहना है कि श्रीकृष्ण अर्जुन और कुरुक्षेत्र रूपक-मात्र हैं, इस रूपक को छोड़कर ही गीता की असली शिक्षा का उद्धार करना होगा, किंतु उस शिक्षा के इस अंश को नहीं छोड़ा जा सकता। अवतारवाद को यदि मानते हैं तो श्रीकृष्ण को क्यों छोड़ दें ? अतएव स्वयं भगवान् ही हैं इस ज्ञान और शिक्षा के प्रचारक।

श्रीकृष्ण हैं अवतार, मानवशरीर में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक धर्म को ग्रहण कर तदनुसार लीला कर गये हैं। उस लीला की प्रकट और गूढ़ शिक्षा को यदि हम आयत्त कर सकें तो इस जगद्व्यापी लीला के अर्थ, उद्देश्य और प्रणाली को भी समझ जायेंगे। उस महती लीला का प्रधान अंग है पूर्ण ज्ञान द्वारा प्रवर्तित कर्म; उस कर्म में तथा उस लीला के मूल में जो ज्ञान निहित था वही गीता में प्रकाशित हुआ है।

महाभारत के श्रीकृष्ण हैं, कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य-संस्थापक, राजनीतिज्ञ और योद्धा, क्षत्रिय-शरीर में ब्रह्मज्ञानी। उनके जीवन में महाशक्ति का अतुलनीय विकास और रहस्यमयी क्रीड़ा देखते हैं। उसी रहस्य की व्याख्या है गीता।

श्रीकृष्ण जगत्प्रभु हैं, विश्वव्यापी वासुदेव हैं, फिर भी अपनी महिमा को प्रच्छन्न रख

मनुष्यों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, पति, सखा, मित्र, शत्रु इत्यादि का संबंध स्थापित कर लीला की है। उनके जीवन में आर्य-ज्ञान का श्रेष्ठ रहस्य और भक्तिमार्ग की उत्तम शिक्षा निहित है। इन दोनों का तत्त्व भी गीता की शिक्षा के अंतर्गत हैं।

श्रीकृष्ण द्वापर और कलियुग के संधिकाल में अवतीर्ण हुए थे। प्रत्येक कल्प में भगवान् उसी संधिकाल में पूर्णांश रूप में अवतीर्ण होते हैं। कलियुग चारों युगों में जितना निकृष्ट युग है उतना ही श्रेष्ठ भी। यह युग मानवोन्नति के प्रधान शत्रु पापप्रवर्तक कलि का राज्यकाल है। मनुष्य की अत्यंत अवनति और अधोगति होती है कलि के राज्यकाल में। बाधा के साथ युद्ध करते-करते शक्ति बढ़ती है, पुरातन का ध्वंस होने से नूतन की सृष्टि होती है, कलियुग में भी यही नियम दिखायी देता है। जगत् के क्रमविकास द्वारा अशुभ का जो अंश विनाश की ओर अग्रसर होता रहता है, कलियुग में वही अतिविकास द्वारा नष्ट हो जाता है, दूसरी ओर नव सृष्टि का बीज वपित और अंकुरित होता है, वही बीज सत्ययुग में वृक्ष में परिणत होता है। इसके अतिरिक्त जैसे ज्योतिष विद्या में एक ग्रह की दशा में सभी ग्रहों की अंतर्दशा का भोग होता है, वैसे ही कलि की दशा में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि भी अपनी-अपनी अंतर्दशा का बारंबार भोग करते रहते हैं। इस प्रकार की कालचक्र की गति के कारण कलियुग में घोर अवनति, पुनः उन्नति, पुनः घोरतर अवनति, पुनः उन्नति होती है और इस तरह भगवान् का उद्देश्य साधित होता है। द्वापर और कलियुग के संधिकाल में भगवान् अवतीर्ण हो अशुभ का अतिविकास, अशुभ के नाश, शुभ के बीजवपन और अंकुरित होने के लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न कर जाते हैं, उसके बाद होता है कलियुग का आरंभ। श्रीकृष्ण इस गीता में सत्ययुग ले आने योग्य गुह्य ज्ञान और कर्मप्रणाली छोड़ गये हैं। कलि की वास्तविक अंतर्दशा आरंभ होने के समय गीताधर्म का विश्वव्यापी प्रचार अवश्यंभावी है। अब वह समय आ गया है और इसीलिये गीता का प्रचार कुछ ज्ञानी और पंडित लोगों तक ही सीमित न रह सर्वसाधारण में और म्लेच्छ देशों तक में हो रहा है।

अतएव वक्ता श्रीकृष्ण से उनकी गीतारूपी वाणी को अलग नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण गीता में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं; गीता है श्रीकृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति।

पात्र

गीतोक्त ज्ञान के पात्र हैं पांडवश्रेष्ठ महावीर इंद्रतनय अर्जुन। जिस तरह वक्ता को छोड़ देने से गीता का उद्देश्य और निगूढ़ अर्थ समझना कठिन है, उसी तरह पात्र को छोड़ देने से उस अर्थ की हानि होती है।

अर्जुन थे श्रीकृष्ण के सखा। जो लोग श्रीकृष्ण के समकालीन थे, एक ही कर्मक्षेत्र

में उतरे थे, उन्होंने मनुष्यदेहधारी पुरुषोत्तम के साथ अपने-अपने अधिकार और पूर्वकर्मभेदानुसार नाना संबंध स्थापित किये थे। उद्धव थे श्रीकृष्ण के भक्त, सात्यकि उनके अनुगत सहचर और अनुचर, राजा युधिष्ठर उनकी मंत्रणा के अनुसार चलनेवाले आत्मीय और बंधु, किंतु अर्जुन की तरह कोई भी श्रीकृष्ण के साथ घनिष्ठता स्थापित नहीं कर सका था। समवयस्क दो पुरुषों में जितने भी मधुर और निकट संबंध हो सकते हैं, श्रीकृष्ण और अर्जुन में वे सभी मधुर संबंध थे। अर्जुन थे श्रीकृष्ण के भाई, उनके प्रियतम सखा, उनकी प्राणप्यारी बहन सुभद्रा के स्वामी। चतुर्थ अध्याय में भगवा[illegible] ने कहा है कि इस घनिष्ठता के कारण ही उन्होंने अर्जुन को गीता का परम रहस्य सुनने के पात्र के रूप में वरण किया है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"तुझे अपना भक्त और सखा जान इस पुरातन लुप्त योग को आज मैंने तेरे सामने प्रकट किया है। कारण, यही योग जगत् का श्रेष्ठ और परम रहस्य है।" अठारहवें अध्याय में भी गीता के केन्द्रस्वरूप कर्मयोग का मूलमंत्र व्यक्त करने के समय इसी बात की पुनरुक्ति हुई है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

"अब मेरी परम और सबसे अधिक गुह्यतम बात को सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसी कारण मैं तेरे सामने इस श्रेष्ठ मार्ग की बात प्रकट करूंगा।" इन दोनों श्लोकों का तात्पर्य श्रुति के अनुकूल है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

"यह परमात्मा न दार्शनिक की व्याख्या से प्राप्त होते हैं, न मेधाशक्ति से और न अत्यधिक शास्त्रज्ञान से, भगवान् स्वयं जिन्हें वरण करते हैं उन्हें ही वे प्राप्त होते हैं, उन्हींके सामने परमात्मा अपने शरीर को प्रकट करते हैं।" अतएव जो भगवान् के साथ सख्य आदि मधुर संबंध स्थापित करने में समर्थ हैं, वे ही हैं गीतोक्त ज्ञान के पात्र।

इसके अंदर एक और अत्यंत आवश्यक बात निहित है। भगवान् ने अर्जुन को एक ही शरीर में भक्त और सखा के रूप में वरण किया था। भक्त नाना प्रकार के होते हैं। साधारणतया जब किसी को भक्त कहा जाता है तब हमारा मन गुरु-शिष्य संबंध की ओर ही जाता है। उस भक्ति के मूल में भी प्रेम तो होता ही है, पर प्रायः बाध्यता,

सम्मान और अंधभक्ति ही उसका विशेष लक्षण होती है। परंतु सखा सखा का सम्मान नहीं करता, वह उसके साथ खेल-कूद, आमोद-प्रमोद और स्नेह-संभाषण करता है; क्रीड़ा के लिये उसका उपहास और तिरस्कार भी करता है, उसे गाली देता है और उसके साथ शरारत भी करता है। सखा सर्वदा अपने सखा की आज्ञा से बंधा नहीं होता, वह उसकी ज्ञानगरिमा और अकपट हितैषिता से मुग्ध हो यद्यपि उसके आदेशानुसार चलता है, पर अंधभाव से नहीं, वह उसके साथ तर्क करता है; अपने समस्त संदेहों को उसके सामने रखता है, बीच-बीच में उसके मत का प्रतिवाद भी करता है। सख्य-संबंध की पहली शिक्षा है भयविसर्जन; दूसरी शिक्षा है सम्मान के बाह्य आडंबर का त्याग; प्रेम है उसकी सबसे पहली और अंतिम बात। जो इस जगत् को, संसार को माधुर्यमय, रहस्यमय, प्रेममय और आनंदमय लीला मान भगवान् को लीला सहचर के रूप में वरण कर उन्हें सख्य-संबंध में बांध सकते हैं, वे ही हैं गीतोक्त ज्ञान के पात्र। जो भगवान् की महिमा, प्रभुता, ज्ञानगरिमा और भीषणता को हृदयंगम करके भी उससे अभिभूत नहीं होते और उनके साथ निर्भय हो प्रफुल्ल-वदन खेलते रहते हैं, वे ही हैं गीतोक्त ज्ञान के पात्र।

सख्य-संबंध में क्रीड़ा के बहाने और सब संबंध अंतर्भूत हो सकते हैं। गुरु-शिष्य संबंध सख्य-भाव में प्रतिष्ठित होने पर वह अत्यंत मधुर हो उठता है, ऐसे ही संबंध की स्थापना अर्जुन ने श्रीकृष्ण के साथ गीता के आरंभ में की थी। "तुम मेरे परम हितैषी बंधु हो, तुम्हारे सिवा और किसकी शरण में जाऊं ? मैं हतबुद्धि हो रहा हूं, कर्तव्य के भय से अभिभूत हो रहा हूं, कर्तव्य के संबंध में संदिग्ध हो रहा हूं, तीव्र शोक से आतुर हो रहा हूं। तुम मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश दो, मैं अपने लौकिक और पारलौकिक मंगल का समस्त भार तुम पर छोड़ता हूं। इस भाव के साथ अर्जुन मानवजाति के सखा और सहायक के निकट ज्ञान प्राप्त करने के लिये आये थे। इसके अतिरिक्त मातृसंबंध और वात्सल्यभाव भी सख्यभाव में सन्निविष्ट होता है। वयोवृद्ध और ज्ञानश्रेष्ठ अपने से अल्पवयस्क तथा अल्पविज्ञ सखा को मातृवत् स्नेह करते, उसकी रक्षा करते, देख-भाल करते, उसे सदा अपनी गोद में रख विपत्ति और अशुभ से बचाते हैं। जो श्रीकृष्ण के साथ सख्यभाव स्थापित करते हैं, उनके सामने श्रीकृष्ण अपने मातृरूप को भी प्रकट करते हैं। सख्य-भाव में जैसे मातृप्रेम की गभीरता आ सकती है, वैसे ही दाम्पत्य-प्रेम की तीव्रता और उत्कट आनंद भी। सखा सदा सखा के सान्निध्य की प्रार्थना करते हैं, उनके विरह से कातर होते और शरीर-स्पर्श से पुलकित होते हैं। उनके लिये प्राण तक दे देने में आनंदित होते हैं। दास्य-संबंध भी सख्य की क्रीड़ा के अंतर्भूत होने पर अत्यंत मधुर हो उठता है। कहा जाता है कि पुरुषोत्तम के साथ जो जितना मधुर संबंध स्थापित कर सकते हैं उनका सख्य-भाव उतना ही प्रस्फुटित होता है तथा उन्हें गीतोक्त ज्ञान की उतनी ही पात्रता प्राप्त होती है।

कृष्णसखा अर्जुन हैं महाभारत के प्रधान कर्मी और गीता में कर्मयोग की शिक्षा है

प्रधान शिक्षा। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये तीनों मार्ग परस्पर-विरोधी नहीं, कर्ममार्ग में, ज्ञान-प्रवर्तित कर्म में भक्तिलब्ध शक्ति का प्रयोग कर, भागवत उद्देश्य में उनसे युक्त हो, उनका ही आदिष्ट कर्म करना है गीतोक्त शिक्षा। जो संसार के दुःख से डरते हैं, वैराग्य-पीड़ित हैं, भगवान् की लीला से वितृष्ण हो गये हैं तथा इस लीला को छोड़ अनंत की गोद में छिप जाना चाहते हैं, उनका मार्ग है भिन्न। वीरश्रेष्ठ महाधनुर्धर अर्जुन की ऐसी कोई इच्छा या भाव नहीं था। श्रीकृष्ण ने किसी शांत संन्यासी अथवा दार्शनिक ज्ञानी के सामने इस उत्तम रहस्य को प्रकट नहीं किया, किसी अहिंसापरायण ब्राह्मण को इस शिक्षा के पात्र के रूप में वरण नहीं किया, बल्कि एक महापराक्रमी, तेजस्वी क्षत्रिय योद्धा को माना इस अतुलनीय ज्ञान को प्राप्त करने का उपयुक्त आधार; जो संसार-युद्ध में जय या पराजय से विचलित नहीं होते वे ही इस शिक्षा के गूढ़तम स्तर में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। *नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः* (यह आत्मा बलहीन पुरुषों को प्राप्त नहीं होती)। जो मुमुक्षुत्व की अपेक्षा भगवान् को पाने की आकांक्षा रखते हैं वे ही भागवत सान्निध्य का आस्वाद ग्रहण कर अपने-आपको नित्य-मुक्त जानते हैं और मुमुक्षुत्व को अज्ञान का अंतिम आश्रयस्थल जान उसे त्यागने में समर्थ हैं। जो तामसिक और राजसिक अहंकार त्याग सात्त्विक अहंकार से बद्ध रहना नहीं चाहते वे ही हो सकते हैं गुणातीत। अर्जुन ने क्षत्रियधर्म का पालन कर राजसिक वृत्ति को चरितार्थ किया था, और फिर सात्त्विक आदर्श ग्रहण कर रजःशक्ति को सत्त्वमुखी बनाया था। ऐसा पात्र ही है गीतोक्त शिक्षा का उत्तम आधार।

अर्जुन समसामयिक महापुरुषों में श्रेष्ठ नहीं थे। आध्यात्मिक ज्ञान में श्रेष्ठ थे व्यासदेव, उस युग के सर्वविध सांसारिक ज्ञान में श्रेष्ठ थे भीष्म पितामह, ज्ञान-तृष्णा में राजा धृतराष्ट्र और विदुर, साधुता और सात्त्विक गुण में धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भक्ति में उद्धव और अक्रूर, स्वभावगत शौर्य और पराक्रम में बड़े भाई महारथी कर्ण। फिर भी जगत्प्रभु ने अर्जुन को ही वरण किया था, उन्हीं के हाथों में अचला जयश्री एवं गांडीव आदि दिव्य अस्त्रों को अर्पण कर उनके द्वारा भारत के हजारों जगद्विख्यात योद्धाओं का संहार कर युधिष्ठिर का असपत्न साम्राज्य अर्जुन के पराक्रमलब्ध दान के रूप में स्थापित किया था; और इसके अतिरिक्त उन्हें ही गीतोक्त परम ज्ञान का एकमात्र उपयुक्त पात्र निर्णीत किया था। अर्जुन ही हैं महाभारत के नायक और प्रधान कर्मी; इस काव्य का प्रत्येक अंश उन्हीं की यशकीर्ति की घोषणा करता है। यह पुरुषोत्तम या महाभारत-रचयिता व्यासदेव का अन्याय और पक्षपात नहीं। यह उत्कर्ष है पूर्ण श्रद्धा और आत्म-समर्पण का फल। जो पुरुषोत्तम पर पूर्ण श्रद्धा रख, उन्हीं पर निर्भर रह कोई दावा न कर, अपने शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल, पाप और पुण्य का समस्त भार उन्हें अर्पण करते हैं, अपने प्रिय कर्म में आसक्त न हो उनके आदेशानुसार कर्म करने के इच्छुक अपनी प्रिय वृत्ति को चरितार्थ न कर उनके द्वारा प्रेरित वृत्ति को ग्रहण करते हैं, स्वप्रशंसित गुण का साग्रह आलिंगन न कर उनके दिये गुण और प्रेरणा

को उन्हीं के काम में प्रयुक्त करते हैं, वे श्रद्धावान् अहंकाररहित कर्मयोगी ही हैं पुरुषोत्तम के प्रियतम सखा और शक्ति के आधार, उनके द्वारा जगत् के विराट् कार्य निर्दोष रूप से संपन्न होते हैं। इस्लाम-धर्म के प्रणेता हजरत मुहम्मद इसी प्रकार के श्रेष्ठ योगी थे। अर्जुन भी इसी प्रकार आत्म-समर्पण करने के लिये बराबर सचेष्ट रहे। यही चेष्टा थी श्रीकृष्ण की प्रसन्नता और प्रेम का कारण। जो पूर्ण आत्म-समर्पण करने की दृढ़ चेष्टा करते हैं वे ही हैं गीतोक्त शिक्षा के उत्तम अधिकारी। श्रीकृष्ण उनके गुरु और सखा बन उनका इहलोक और परलोक का सारा भार ग्रहण करते हैं।

अवस्था

मनुष्य के प्रत्येक कार्य और उक्ति का उद्देश्य और कारण पूर्णतया समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस अवस्था में वह कार्य किया गया था या वह उक्ति व्यक्त हुई थी। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के आरम्भ में जिस समय शस्त्रप्रयोग आरंभ हुआ था—*प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते*—उसी समय भगवान् ने गीता सुनायी थी। इस बात से बहुत-से लोग विस्मित और क्रोधित होते हैं; वे कहते हैं कि यह निश्चय ही या तो कवि की असावधानी है या बुद्धि का दोष। परंतु वास्तव में उसी समय, उसी स्थान पर, उसी प्रकार के भावापन्न पात्र को देश-काल-पात्र का विचार कर श्रीकृष्ण ने गीतोक्त ज्ञान प्रदान किया था।

समय था युद्ध का आरंभ। जिन्होंने प्रबल कर्मस्रोत में अपने वीरत्व और शक्ति का विकास नहीं किया, उसकी परीक्षा नहीं की, वे अभी गीतोक्त ज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते। परंतु जो कोई कठिन महाव्रत आरम्भ करते हैं, ऐसा महाव्रत जिसमें अनेक प्रकार के बाधा-विघ्न आते हैं, अनेक शत्रुओं की वृद्धि होती है, बहुत बार पराजय की आशंका स्वभावतः ही होती है, उस महाव्रत का पालन करने से जब दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है तब उस व्रत के अंतिम उद्यापन के लिये, भगवान् की कार्य-सिद्धि के लिये यह ज्ञान प्रकाशित होता है। गीता कहती है कि कर्मयोग द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है, श्रद्धा और भक्तिपूर्ण कर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव गीतोक्त मार्ग का पथिक पथ छोड़कर किसी दूरस्थ शांतिमय आश्रम में, पर्वत या निर्जन स्थान में भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त नहीं करता, बल्कि बीच रास्ते में ही, कर्म के कोलाहल में ही हठात् वह स्वर्गीय दीप्ति उसके सामने जगत् को आलोकित कर देती है, वह मधुर तेजोमयी वाणी उसके कर्णकुहर में प्रवेश कर जाती है।

स्थान था युद्धक्षेत्र, दो सेनाओं का मध्य स्थल, जहां शस्त्रपात हो रहा था। जो इस पथ के पथिक होते हैं, ऐसे कर्म में अग्रणी होते हैं, वे प्रायः ही कोई महत्तर फल उत्पन्न होने के समय, उस समय जब कि कर्मी के भाग्य की गति उसके कर्मानुसार इस ओर

या उस ओर परिचालित होनेवाली होती है, अकस्मात् योगसिद्धि और परम ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनका ज्ञान कर्मरोधक नहीं बल्कि कर्म के साथ घुल-मिल जाता है। यह बात भी सत्य है कि ध्यान से, निर्जन स्थान में, स्वस्थ आत्मा के अंदर ज्ञान प्रकाशित होता है, इसी कारण मनीषिगण निर्जन स्थान में रहना पसंद करते हैं। परंतु गीतोक्त योग के पथिक मन, प्राण और देहरूपी आधार को इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं कि वे जनता के अंदर निर्जनता, कोलाहल के अंदर शांति, घोर कर्मप्रवृत्ति के अंदर परम निवृत्ति का अनुभव कर सकें। वे अंतर को बाह्य द्वारा नियंत्रित नहीं करते, बल्कि बाह्य को अंतर द्वारा नियंत्रित करते हैं। साधारण योगी संसार से डरते हैं और संसार से भागकर योगाश्रम में शरण लेकर योग में प्रवृत्त होते हैं। परंतु कर्मयोगी का योगाश्रम है संसार। साधारण योगी बाहरी शांति और नीरवता की अभिलाषा करते हैं, शांति भंग होने से उनका तपोभंग होता है। कर्मयोगी अंतर की विशाल शांति और नीरवता में लीन रहते हैं, बाहरी कोलाहल में उनकी यह अवस्था और भी गभीर होती है, बाह्य तपोभंग होने से उनका वह स्थिर आंतरिक तप भग्न नहीं होता, अविचलित रहता है। लोग कहते हैं कि युद्ध के लिये तैयार दो सेनाओं के बीच श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद किस प्रकार संभव है ? उत्तर है, योग-प्रभाव से संभव होता है। उस योगबल द्वारा युद्ध के कोलाहल में एक स्थान पर श्रीकृष्ण और अर्जुन के अंदर और बाहर शांति विराजमान थी, युद्ध का कोलाहल उन दोनों व्यक्तियों को स्पर्श नहीं कर सका था। इस बात में कर्मोपयोगी एक और आध्यात्मिक शिक्षा निहित है। जो गीतोक्त योग का अनुशीलन करते हैं वे हैं श्रेष्ठ कर्मी एवं कर्म में अनासक्त। वे कर्म के अंदर ही आत्मा के आंतरिक आवाहन को सुनकर कर्म से विरत हो योगमग्न और तपस्यारत होते हैं। वे जानते हैं कि कर्म भगवान् का है, फल भगवान् का है, हम यंत्र हैं, इसलिये वे कर्मफल के लिये उत्कंठित नहीं होते। वे यह भी जानते हैं कि कर्मयोग की सुविधा के लिये, कर्म की उन्नति के लिये, ज्ञान और शक्ति बढ़ाने के लिये यह आवाहन होता है। इसलिये कर्म से विरत होने में उन्हें भय नहीं होता, वे जानते हैं कि तपस्या में समय लगाने से वह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।

पात्र का भाव है कर्मयोगी के अंतिम संदेह का उद्रेक। विश्व की समस्या, सुख-दुःख की समस्या, पाप-पुण्य की समस्या से विमूढ़ हो बहुत-से लोग पलायन को ही श्रेयस्कर समझ निवृत्ति, वैराग्य और कर्म-त्याग की प्रशंसा का डंका बजाते हैं। बुद्धदेव ने जगत् को अनित्य और दुःखमय बता निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग दिखाया था। ईसा मसीह, टाल्सटाय आदि मानवजाति के लिये संतति पैदा करनेवाली विवाह-पद्धति और जगत् के चिरन्तन नियम—युद्ध—के घोर विरोधी हैं। संन्यासी कहते हैं, कर्म है ही अज्ञान-सृष्ट, अज्ञान त्यागो, कर्म त्यागो, शांत और निष्क्रिय बनो। अद्वैतवादी कहते हैं, जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म में विलीन होओ। तो फिर यह जगत् क्यों ? यह संसार क्यों ? भगवान् यदि हैं तो फिर क्यों उन्होंने एक नादान बच्चे की तरह

यह व्यर्थ पशुश्रम किया, यह नीरस उपहास आरंभ किया ? यदि केवल आत्मा ही हो और जगत् माया ही हो तो फिर इस आत्मा ने इस जघन्य स्वप्न को अपने निर्मल अस्तित्व पर क्यों थोपा ? नास्तिक कहते हैं, भगवान् भी नहीं, आत्मा भी नहीं, है केवल एक अंधशक्ति की अंध क्रिया। यह भला कैसी बात ? शक्ति किसकी ? कहां से उत्पन्न हुई ? अंध और उन्मत्त ही भला क्यों ? इन सब प्रश्नों की संतोषजनक मीमांसा कोई भी न कर सका, न ईसाई, न बौद्ध, न अद्वैतवादी, न नास्तिक, न वैज्ञानिक; सभी हैं इस विषय में निरुत्तर और समस्या की उपेक्षा कर टालने में सचेष्ट। केवल उपनिषद् और तदनुयायी गीता इस प्रकार टाल-मटोल करना नहीं चाहतीं। इसीलिये कुरुक्षेत्र के युद्ध में गीता गायी गयी। घोर सांसारिक कर्म गुरु-हत्या, भ्रातृ-हत्या, आत्मीय-हत्या है उसका उद्देश्य। इस अगणित प्राणिसंहारक युद्ध के प्रारंभ होने पर अर्जुन हतबुद्धि हो गांडीव धनुष हाथ से छोड़ देते हैं और कातर स्वर में कहते हैं—

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

"हे केशव ! क्यों मुझे इस घोर कर्म में नियुक्त करते हो ?" उत्तर में उस युद्ध के कोलाहल के बीच भगवान् के मुंह से वज्र-गंभीर स्वर में यह महागीत निःसृत होता है :

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

*

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

*

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

*

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

*

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

*

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

*

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

*

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

*

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

*

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

“इसलिये तुम कर्म ही करते रहो, तुम्हारे पूर्वपुरुष पहले से जो कर्म करते आये हैं, तुम्हें भी वही कर्म करना होगा। ... योगस्थ हो आसक्ति त्याग कर्म करो। ... जिनकी बुद्धि योगस्थ होती है वे इस कर्मक्षेत्र में ही पाप-पुण्य का अतिक्रमण करते हैं, अतएव योग के लिये साधना करो, योग है ही कर्म का श्रेष्ठ सम्पादन। ... मनुष्य यदि अनासक्त हो कर्म करें तो निश्चय ही वे परम भगवान् को प्राप्त करेंगे। ... ज्ञानपूर्ण हृदय से अपने समस्त कर्म मुझे सौंप दो, कामना त्याग, अहंकार त्याग, दुःख-रहित हो युद्ध करो। ... जो मुक्त हैं, आसक्तिरहित हैं, जिनका चित्त सदा ज्ञान में

निवास करता है, जो यज्ञार्थ कर्म करते हैं उनके समस्त कर्म बंधन का कारण न बन, उसी क्षण पूर्ण रूप से मुझमें विलीन हो जाते हैं।... समस्त प्राणियों का अंतर्निहित ज्ञान अज्ञान से आवृत्त है इसलिये वे सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वंद्वों की सृष्टि कर मोह में जा गिरते हैं। मुझे समस्त लोकों का महेश्वर, यज्ञ, तपस्या आदि सब प्रकार के कर्मों का भोक्ता तथा प्राणि-मात्र का सखा और बन्धु मानने से परम शांति प्राप्त होती है।... मैं तुम्हारे शत्रुओं का वध कर चुका हूं, तुम यंत्र बन उनका संहार करो, दुःखी मत होओ, युद्ध में लग जाओ, विपक्षियों को रण में जीतोगे।... जिनका अंतःकरण अहं-ज्ञान-शून्य है, जिनकी बुद्धि निर्लिप्त है, वे यदि समस्त जगत् का संहार करें तो भी वे हत्या नहीं करते, उन्हें किसी प्रकार का पाप-बंधन नहीं लगता।"

प्रश्न टालने का, प्रश्न से मुंह मोड़ने का कोई लक्षण नहीं। प्रश्न को स्पष्ट रूप में सामने रखा गया है। भगवान् क्या हैं, जगत् क्या है, संसार क्या है, धर्म-पथ क्या है, गीता में इन सभी प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दिया गया है। फिर भी संन्यास की शिक्षा नहीं, कर्म की शिक्षा ही है गीता का उद्देश्य। इसी में है गीता की सार्वजनीन उपयोगिता।

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—

हे संजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिये समवेत हो मेरे पक्ष और पाण्डव-पक्ष ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा—

उस समय राजा दुर्योधन व्यूहबद्ध पांडव-अनीकिनी को देख आचार्य (द्रोणाचार्य) के समीप उपस्थित हो यह बोले।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

देखिये आचार्य! अपने मेधावी शिष्य द्रुपदतनय धृष्टद्युम्न द्वारा रचित व्यूह इस महती पांडवसेना को देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस विराट् सेना में भीम और अर्जुन के समान महाधनुर्धर वीर पुरुष हैं,—युयुधान, विराट् और महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतु, चेकितान और महाप्रतापी काशिराज, पुरुजित्, कुंतिभोज और नरपुंगव शैब्य,

विक्रमशाली युधामन्यु और प्रतापवान् उत्तमौजा, सुभद्रातनय अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्रगण, सभी महायोद्धा हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥७॥

हम में जो असाधारण-शक्तिसम्पन्न हैं, जो मेरी सेना के नायक हैं, उनके नाम आपके स्मरणार्थ कहता हूं, ध्यान दीजिये।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥९॥

आप, भीम, कर्ण और समरविजयी कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त-तनय भूरिश्रवा और जयद्रथ,

और भी अनेक वीर पुरुषों ने मेरे लिये प्राण की ममता छोड़ दी है, ये सभी युद्धविशारद और नानाविध अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥१०॥

हमारा यह सैन्यबल एक तो अपरिमित है, उस पर भीष्म हैं हमारे रक्षक, उनका सैन्यबल परिमित है, भीम ही हैं उनकी रक्षा के आशास्थल।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

अतएव आप सभी युद्ध के सब प्रवेशस्थलों पर अपने-अपने निर्दिष्ट सैन्यभाग में रह भीष्म की ही रक्षा करें।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

दुर्योधन के प्राणों में हर्षोद्रेक कर कुरुवृद्ध महाप्रतापी पितामह भीष्म ने उच्च सिंहनाद से रणस्थल को ध्वनित कर शंखनिनाद किया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

तब शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख आदि युद्ध के बाजे अकस्मात् बजने लगे, तुमुल शब्द से रणक्षेत्र गूंज उठा।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

तदुपरान्त श्वेत अश्वों से युक्त विशाल रथ में खड़े माधव और पांडुपुत्र अर्जुन ने अपना-अपना दिव्य शंख बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेश ने पांचजन्य, धनंजय ने देवदत्त, भीमकर्मा वृकोदर ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय शंख तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

परम धनुर्धर काशीराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, अपराजित योद्धा सात्यकि, द्रुपद, दौपदी के पुत्रगण, महाबाहु सुभद्रातनय, सबने चारों ओर से अपना-अपना शंख बजाया।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस शब्द ने आकाश और पृथ्वो को तुमुल रव से प्रतिध्वनित कर धार्तराष्ट्रों का हृदय विदीर्ण किया।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

तब शस्त्रनिक्षेप आरम्भ होने के बाद पांडुपुत्र अर्जुन ने धनुष उठा हृषीकेश से यह कहा।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अर्जुन ने कहा—

हे निष्पाप! दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ.खड़ा करो। तबतक मैं युद्ध के इच्छुक इन अवस्थित विपक्षियों का निरीक्षण कर लूं। जानना चाहता हूं कि किनके साथ इस रणोत्सव में युद्ध करना होगा।

देखूं, ये युद्धप्रार्थी कौन हैं जो दुर्बुद्धि धृतराष्ट्रतनय दुर्योधन का प्रिय कार्य करने की इच्छा से युद्धक्षेत्र में उतर आये हैं।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—

गुडाकेश की यह बात सुन हृषीकेश दोनों सेनाओं के बीच उस उत्तम रथ को खड़ा कर भीष्म द्रोण और समस्त राजाओं के सामने उपस्थित हो बोले, "हे पार्थ! समवेत कौरवों को देखो।"

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥

उस रणस्थल में पार्थ ने देखा कि पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, सखा, श्वसुर, सुहृद् जितने भी आत्मीय और स्वजन हैं, वे सब दोनों परस्पर-विरोधी सेनाओं में खड़े हैं।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

उन सब बंधु-बांधवों को इस प्रकार अवस्थित देख कुंतीपुत्र तीव्र कृपा से अभिभूत हो विषादग्रस्त हृदय से यह बोले—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति॥२८॥
वेपथुश्च शरीरे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते॥२९॥

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण! इन सब स्वजनों को युद्धार्थ अवस्थित देख मेरे शरीर के सभी अंग अवसन्न हो रहे हैं, मुंह सूखा जा रहा है,

समस्त शरीर में कंप और रोमांच हो रहा है, गांडीव अवश हाथ से गिरा जा रहा है, त्वचा मानों आग में जली जा रही है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव॥३०॥

मैं खड़ा होने में भी असमर्थ हो रहा हूं, मन मानों चक्कर खा रहा है; हे केशव! मैं सभी अशुभ लक्षण देख रहा हूं।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च॥३१॥

युद्ध में स्वजनों को मारने में कोई कल्याण नहीं देखता; हे कृष्ण! मैं जय नहीं चाहता, राज्य भी नहीं चाहता, सुख भी नहीं चाहता।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥३३॥

बोलो, गोविन्द, राज्य से हमें क्या लाभ? भोग से क्या लाभ? जीवन का क्या प्रयोजन? जिनके लिये राज्य, भोग और जीवन वांछनीय हैं,

वे ही जीवन और धन को त्याग इस रणक्षेत्र में उपस्थित हैं,—आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह,

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसुदन॥३४॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।३५॥

मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबंधी। हे मधुसूदन, ये यदि मेरा वध भी करें तो भी मैं इन्हें मारना नहीं चाहता;

त्रिलोक के राज्य के लोभ से भी नहीं, पृथ्वी के आधिपत्य की तो बात ही क्या ? धार्तराष्ट्रों का संहार कर हे जनार्दन, हमारे मन को क्या सुख मिल सकता है ?

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३६॥

ये आततायी हैं, तथापि इनका वध करने से हमारे मन में पाप को ही आश्रय मिलेगा। अतएव धार्तराष्ट्रगण जब हमारे आत्मीय हैं तो हमें इनका संहार करने का अधिकार नहीं। हे माधव ! स्वजनों के वध से हम कैसे सुखी होंगे ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

यद्यपि लोभवश बुद्धिभ्रष्ट हो ये कुलनाश के दोष और मित्र का अनिष्ट करने के महापाप को नहीं समझ पा रहे,

तथापि, हे जनार्दन ! हम कुलक्षयजनित दोष को समझते हैं, हमें बोध क्यों न हो ? इस पाप से क्यों न हम निवृत्त हों ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

कुलक्षय से सारे सनातन कुलधर्म विनाश को प्राप्त होते हैं, धर्मनाश से अधर्म सारे कुल को अभिभूत करता है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥

अधर्म के अभिभव से, हे कृष्ण, कुल की स्त्रियां दुश्चरित्रा हो जाती हैं। कुल की स्त्रियों के दुश्चरित्रा होने से वर्णसंकर होता है।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४१॥

वर्णसंकर कुल और कुलनाशक लोगों को नरक में ले जाने का हेतु बनता है;

क्योंकि उनके पितृगण पिण्डोदक से वंचित हो पितृलोक से पतित होते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४२॥

कुलनाशकों के इन वर्णसंकरोत्पादक दोषों के कारण सनातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४३॥

जिनके कुलधर्म नष्ट हो गये हैं, उन मनुष्यों के लिये नरकवास निर्दिष्ट होता है, प्राचीन काल से यही सुनता आ रहा हूं।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

अहो! हमने बहुत बड़ा पाप करने का निश्चय किया था जो राज्य-सुख के लोभ से स्वजनों का वध करने को उद्यत हो रहे थे।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

यदि मुझ निहत्थे और प्रतिकार न करनेवाले को सशस्त्र धार्त्तराष्ट्रगण रण में मार डालें तो उससे मेरा अधिक मंगल होगा।

सञ्जय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

संजय ने कहा—

ऐसा कह अर्जुन शोक से उद्विग्नचित्त हो युद्ध के समय धनुष-बाण छोड़ रथ में बैठ गये।

संजय को दिव्य-चक्षु-प्राप्ति

गीता महाभारत के महायुद्ध के आरंभ में कही गयी थी। इसीलिये गीता के पहले ही श्लोक में राजा धृतराष्ट्र दिव्य-चक्षु प्राप्त संजय से युद्ध के बारे में पूछ रहे हैं, दोनों ओर की सेनाएं युद्धक्षेत्र में उपस्थित हैं, वृद्ध राजा यह जानने के लिये उत्सुक हैं कि उनकी पहली चेष्टा क्या है। संजय की दिव्य-चक्षु प्राप्ति की बात आधुनिक भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की दृष्टि में कवि-कल्पना के सिवा और कुछ भी नहीं। यदि कहते कि अमुक व्यक्ति दूरदृष्टि (clairvoyance) और दूरश्रवण (clairaudience) से किसी दूरस्थ रणक्षेत्र का रोमांचकारी दृश्य तथा महारथियों का सिंहनाद इंद्रियगोचर कर सका था तो संभवतः यह बात उतनी अविश्वसनीय न भी होती। और यदि कहें कि व्यासदेव ने यह शक्ति संजय को दी थी तो इसे कपोल-कल्पना कह उड़ा देने की प्रवृत्ति होती है। यदि कहते कि एक विख्यात यूरोपीय विज्ञानविद् ने अमुक व्यक्ति को सम्मोहित (hypnotised) कर उसके मुंह से उस दूर घटना का हाल जान लिया था तो जिन्होंने पाश्चात्य सम्मोहन (Hypnotism) की बात ध्यानपूर्वक पढ़ी है वे संभवतः विश्वास कर लेते। किंतु सम्मोहन योगशक्ति का एक निकृष्ट और त्याज्य अंग-मात्र है। मनुष्य में ऐसी अनेक शक्तियां निहित हैं जिन्हें पुराकालीन सभ्य जातियां जानती थीं और उन्हें विकसित करती थीं; पर कलि-संभूत अज्ञान-स्रोत में वे सब विद्याएं बह गयी हैं, केवल अंशतः थोड़े-से लोगों में गुप्त और गोपनीय ज्ञान के रूप में रक्षित होती आ रही हैं। स्थूल इंद्रियों के परे सूक्ष्म दृष्टि नामक एक सूक्ष्मेंद्रिय है जिसके द्वारा हम स्थूल इंद्रियों की पहुंच के परे की वस्तुओं और ज्ञान को आयत्त कर सकते हैं, सूक्ष्म वस्तु का दर्शन, सूक्ष्म शब्द का श्रवण, सूक्ष्म गंध का आघ्राण, सूक्ष्म पदार्थ का स्पर्श और सूक्ष्म आहार का आस्वादन कर सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि के चरम परिणाम को ही दिव्य-चक्षु कहते हैं, उसके प्रभाव से दूरस्थ, गुप्त या अन्य लोकों की सब बातें हमें ज्ञानगोचर होती हैं। परम योगशक्ति के आधार महामुनि व्यास यह दिव्य-चक्षु संजय को देने में समर्थ थे,—इस बात में अविश्वास करने का हम कोई भी कारण नहीं पाते। जब हमें पाश्चात्य सम्मोहनकारी (hypnotist) की अद्भुत शक्ति में अविश्वास नहीं होता तब भला अनुपम ज्ञानी व्यासदेव की शक्ति में ही अविश्वास क्यों ? शक्तिमान् की शक्ति दूसरे के शरीर में संचारित हो सकती है, इसके असंख्य प्रमाण इतिहास के पन्ने-पन्ने पर और मनुष्य जीवन के प्रत्येक कार्य में मिलते हैं। नेपोलियन, इतो इत्यादि कर्मवीरों ने उपयुक्त पात्रों में शक्ति-संचार कर अपने कार्य के लिये सहकर्मी तैयार किये थे। अति सामान्य योगी भी कोई सिद्ध प्राप्त कर कुछ क्षण के लिये या किसी कार्य-विशेष में प्रयोग करने के लिये दूसरों को अपनी सिद्धि दे सकते हैं, व्यासदेव तो जगत् के श्रेष्ठ मनीषी और असामान्य योगसिद्ध पुरुष थे। वास्तव में दिव्य-चक्षु का होना कपोल-कल्पना नहीं, बल्कि है एक वैज्ञानिक

सत्य। हम जानते हैं, आंखें नहीं देखतीं, कान नहीं सुनते, नाक नहीं सूंघती, त्वचा स्पर्श नहीं करती, रसना स्वाद नहीं लेती; मन ही देखता है, मन ही सुनता है, मन ही सूंघता, मन ही स्पर्श करता और मन ही स्वाद लेता है। दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान में यह सत्य चिरकाल से स्वीकृत होता आ रहा है, सम्मोहन में वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा यह परीक्षित हो प्रमाणित हुआ है कि आंखें बंद रहने पर भी दर्शनेंद्रिय का कार्य किसी नाड़ी द्वारा संपादित किया जा सकता है। उससे यही सिद्ध होता है कि चक्षु इत्यादि स्थूल इंद्रियां ज्ञान प्राप्ति के केवल सुविधाजनक साधन हैं, स्थूल शरीर के सनातन अभ्यासवश हम उनके दास हो गये हैं। किंतु वास्तव में चाहे किसी भी शारीरिक प्रणाली द्वारा वह ज्ञान मन तक पहुंचाया जा सकता है—जैसे एक अंधा स्पर्श द्वारा पदार्थों की आकृति और स्वभाव की ठीक-ठीक धारणा करता है। किंतु अंधे की दृष्टि और सम्मोहित व्यक्ति की दृष्टि में यह भेद दिखायी देता है कि सम्मोहित व्यक्ति पदार्थों की प्रतिमूर्ति मन के अंदर देखता है। इसे ही कहते हैं दर्शन। वास्तव में हम सामने रखी पुस्तक नहीं देखते, उस पुस्तक की जो प्रतिमूर्ति हमारी आंखों में चित्रित होती है उसे ही देखकर मन कहता है कि मैंने पुस्तक देखी। किंतु सम्मोहित व्यक्ति के दूर स्थित पदार्थ या घटना को देखने और सुनने से यह भी सिद्ध होता है कि पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी शारीरिक प्रणाली की आवश्यकता नहीं—सूक्ष्म-दृष्टि द्वारा दर्शन क[illegible] सकते हैं। लंदन के एक मकान में बैठे हुए उस समय एडिनबरा में घट रही घटना को मन से देख लेते हैं, ऐसे दृष्टांतों की संख्या आजकल दिन-दिन बढ़ रही है। इसी को कहते हैं सूक्ष्म-दृष्टि। सूक्ष्म-दृष्टि और दिव्य-दृष्टि में यही भेद है कि सूक्ष्म-दृष्टि से अदृष्ट पदार्थ की प्रतिमूर्ति मन के अंदर देखते हैं और दिव्य-दृष्टि से हम उस दृश्य को मन के अंदर न देख शारीरिक स्थूल आंखों के सामने देखते हैं, चिन्तन-स्रोत में उस शब्द को न सुन शारीरिक कानों से सुनते हैं। इसका एक सामान्य दृष्टांत है स्फटिक के अंदर या स्याही के अंदर समसामयिक घटना को देखना। किंतु दिव्य-चक्षु प्राप्त योगी को इस प्रकार के किसी उपकरण की कोई आवश्यकता नहीं, वे इस शक्ति का विकास कर बिना किसी उपकरण के, देश-काल का बंधन तोड़, अन्य देशों और अन्य समयों की घटना जान सकते हैं। देश के बंधन तोड़ने के हम यथेष्ट प्रमाण पा चुके हैं, परंतु इस बात के बहु संख्यक और संतोषजनक प्रमाण अभी जगत् के सामने उपस्थित नहीं किये गये कि काल का बंधन भी तोड़ा जा सकता है, मनुष्य त्रिकालदर्शी हो सकता है। फिर भी यदि देशबंधन को तोड़ना संभव हो तो कालबंधन को तोड़ना असंभव नहीं कहा जा सकता। जो हो, इस व्यासप्रदत्त दिव्य-चक्षु से संजय ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे ही मानो कुरुक्षेत्र में खड़े हो, वहां समवेत धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों को अपनी आंखों देखा, दुर्योधन की उक्ति, भीष्म पितामह का भीषण सिंहनाद, पांचजन्य का कुरुध्वंसघोषक महाशब्द और गीतार्थद्योतक कृष्णार्जुन-संवाद अपने कानों सुना।

हमारे मत में महाभारत रूपक नहीं, कृष्ण और अर्जुन की कवि-कल्पना नहीं, गीता भी आधुनिक तार्किक या दार्शनिक लोगों का सिद्धांत नहीं। अतएव हमें यह सिद्ध करना होगा कि गीता की कोई भी बात असंभव या युक्ति-विरुद्ध नहीं। इसीलिये दिव्य-चक्षु-प्राप्ति की इतनी विस्तृत आलोचना की है।

दुर्योधन की वाक्-चातुरी

संजय ने उस युद्ध के प्रथम प्रयास का वर्णन करना आरंभ किया। दुर्योधन पांडव सेना की व्यूहरचना देख द्रोणाचार्य के निकट उपस्थित हुए। द्रोण के निकट क्यों गये इसकी व्याख्या आवश्यक है। भीष्म थे सेनापति, उचित था युद्ध की बात उनसे ही कही जाती किंतु कूटबुद्धि दुर्योधन के मन में भीष्म पर विश्वास नहीं था। भीष्म पांडवों के प्रति अनुरक्त थे, हस्तिनापुर के शांति-अनुमोदक दल (peace-party) के नेता थे; यदि पांडवों और धार्तराष्ट्रों में ही युद्ध होता तो भीष्म कभी अस्त्र धारण न करते; किंतु कुरुगण के प्राचीन शत्रु और समकक्ष साम्राज्याभिलाषी पांचालों द्वारा कुरुराज्य को आक्रान्त देख कुरुजाति के प्रधान पुरुष, योद्धा और राजनीतिविद् सेनापति के पद पर नियुक्त हो निज बाहुबल से चिर रक्षित स्वजाति के गौरव और प्राधान्य की अंतिम बार रक्षा करने के लिये कृत-संकल्प हुए। दुर्योधन थे स्वयं असुर-प्रकृति, राग-द्वेष ही था उनके सब कार्यों का प्रमाण और कारण, इसलिये कर्तव्यपरायण महापुरुषों के मन का भाव समझने में असमर्थ थे, वह यह कभी विश्वास न कर सके कि कर्तव्य-बुद्धिवश प्राणतुल्य पांडवों का भी युद्धक्षेत्र में संहार करने का बल इस कठिन तपस्वी के प्राणों में है। परामर्श के समय स्वदेश-हितैषी अपना मत प्रकट कर स्वजाति को अन्याय और अहित से निवृत्त करने के लिये प्राणपण चेष्टा करने पर भी वह अन्याय और अहित लोगों द्वारा एक बार स्वीकृत हो जाये तो वे अपने मत की उपेक्षा कर अधर्मयुद्ध में भी स्वजाति की रक्षा और शत्रुदमन करते हैं, भीष्म ने भी इसी पक्ष का अवलंबन लिया था। यह भाव समझना भी दुर्योधन के वश का नहीं था। अतएव भीष्म के पास न जा द्रोण को स्मरण किया। द्रोण व्यक्तिगत रूप से पांचाल राज्य के घोर शत्रु थे, पांचाल देश के राजकुमार धृष्टद्युम्न ने गुरु द्रोण का वध करनेकी प्रतिज्ञा की थी, अतएव दुर्योधन ने सोचा कि इस व्यक्तिगत वैरभाव की बात याद दिलाने से आचार्य शांति का पक्ष छोड़ पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध करेंगे। यह बात स्पष्टतः नहीं कही। धृष्टद्युम्न के नाम का उल्लेख-भर किया, उसके बाद भीष्म को भी संतुष्ट करने के लिये उन्हें कुरु-राज्य का रक्षक और विजय का आशा-स्वरूप कहा। पहले विपक्ष के मुख्य-मुख्य योद्धाओं के नामों का उल्लेख किया, फिर अपनी सेना के कुछ नेताओं के नाम गिनाये, सबके नहीं, द्रोण और भीष्म का ही नाम लेना उनकी उद्देश्य-सिद्धि के

लिये काफी था, किंतु उस उद्देश्य को छिपाने के लिये और चार-पांच नामों का उल्लेख किया। उसके बाद उन्होंने कहा—"मेरी सेना अति विशाल है, भीष्म हैं मेरे सेनापति, पांडवों की सेना है अपेक्षाकृत छोटी, उनका आशास्थल है भीम का बाहुबल, अतएव हमारी विजय क्यों नहीं होगी ? भीष्म ही जब हमारे प्रधान अवलंब हैं तब शत्रुओं के आक्रमण से उनकी रक्षा करना सबके लिये उचित है, उनके रहते हमारी विजय है अवश्यंभावी।" बहुत-से लोग 'अपर्याप्त' शब्द का उलटा अर्थ करते हैं, वह युक्तिसंगत नहीं; दुर्योधन की सेना अपेक्षाकृत विशाल है, उस सेना के नेता शौर्य-वीर में किसी से भी कम नहीं, तब भला आत्मश्लाघी दुर्योधन अपने बल की निन्दा कर निराशा उत्पन्न करने क्यों जायेंगे ? भीष्म ने दुर्योधन के मन का भाव और गूढ़ उद्देश्य समझ लेने पर उनका संदेह दूर करने के लिये सिंहनाद और शंखध्वनि की। दुर्योधन के हृदय में इससे प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा, मेरा उद्देश्य सिद्ध हो गया, द्रोण और भीष्म दुविधा दूर कर युद्ध करेंगे।

पूर्व सूचना

ज्यों ही भीष्म के गगनभेदी शंखनाद से रणक्षेत्र कंपित हुआ त्यों ही उस विशाल कौरवसेना में चारों ओर [illegible]-वाद्य गूंज उठे और रणोल्लास से रथिगण झूमने लगे। इधर पांडवों के श्रेष्ठ वीर और उनके सारथी श्रीकृष्ण ने भीष्म के युद्धाह्वान के उत्तर में शंखनाद किया और युधिष्ठिर आदि पांडव-पक्ष के वीरों ने अपना-अपना शंख बजा सेना के हृदय में रणचंडी को जगाया। उस महा रव ने पृथ्वी और गगनमंडल को प्रतिध्वनित कर मानों धार्तराष्ट्रों का हृदय विदीर्ण किया। इसका अर्थ यह नहीं कि भीष्म आदि इस रव से डर गये थे; वे थे वीर पुरुष, रणचंडी के आह्वान से भला भयभीत क्यों होने लगे ? इस उक्ति द्वारा कवि ने पहले अत्यंत उत्कट रव के शारीरिक वेगवान् संचार का वर्णन किया है, जैसे वज्रनाद से बहुत बार श्रोता को ऐसा लगता है मानों उसका सिर दो टूक हो गया हो, वैसे ही इस रणक्षेत्रव्यापी महा रव का संचार हुआ; और यह रव था मानों धार्तराष्ट्रों के भावी निधन की घोषणा, जिन हृदयों को पांडवों के शस्त्र विदीर्ण करेंगे उन्हें उनके शंखनाद ने पहले ही विदीर्ण कर डाला। युद्ध आरंभ हुआ, दोनों ओर से शस्त्रसंपात होने लगा, ऐसे समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, "तुम मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करो, मैं देखना चाहता हूं कि कौन-कौन विपक्षी हैं, कौन दुर्बुद्धि दुर्योधन का प्रिय कार्य करने के लिये समागत हैं, किनके साथ मुझे युद्ध करना होगा।" अर्जुन का भाव यही था कि मैं ही हूं पांडवों की आशा, मेरे द्वारा ही विपक्ष के प्रधान-प्रधान योद्धा मारे जायेंगे, अतएव देखूं ये कौन हैं। यहां तक तो अर्जुन में संपूर्ण क्षत्रियभाव रहता है, 'कृपा' या दुर्बलता का कोई चिह्न नहीं।

भारत के अनेक श्रेष्ठ वीर पुरुष विपक्ष की सेना में उपस्थित हैं, सबका संहार कर अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर को असपत्न साम्राज्य देने के लिये उद्योगी हैं। परंतु श्रीकृष्ण जानते हैं कि अर्जुन के मन में दुर्बलता है, अभी अगर चित्त शुद्ध न किया गया तो किसी भी समय वह अकस्मात् चित्त से निकल बुद्धि पर अधिकार जमा सकती है जिससे पांडवों का बड़ा अनिष्ट होगा, संभवतः सर्वनाश ही हो जाये। इसीलिये श्रीकृष्ण ने ऐसे स्थान पर रथ स्थापित किया कि भीष्म, द्रोण इत्यादि अर्जुन के प्रियजन उनके सामने रहें और साथ ही कौरव पक्ष के दूसरे सब राजाओं को भी देख सकें, और उनसे कहा : देखो, समवेत कुरुजाति को देखो। याद रखना चाहिये कि अर्जुन स्वयं थे कुरुजातीय, कुरुवंश के गौरव, उनके सभी आत्मीय, प्रियजन, बाल्यसखा उसी कुरुजाति के थे, तब हृदयंगम होगा श्रीकृष्ण के कहे इन तीन सामान्य शब्दों का गभीर अर्थ और भाव। उस समय अर्जुन ने देखा कि जिनका संहार कर युधिष्ठिर का असपत्न राज्य संस्थापित करना होगा, वे और कोई नहीं, अपने ही प्रिय आत्मीय, गुरु, बंधु, तथा भक्ति और प्रेम के पात्र हैं और देखा कि भारत-भर के क्षत्रिय एक-दूसरे के साथ प्रिय संबंध द्वारा आबद्ध हैं फिर भी एक-दूसरे का संहार करने के लिये इस भीषण रणक्षेत्र में इकट्ठे हुए हैं।

विषाद का मूल कारण

क्या था अर्जुन के वैराग्य का मूल कारण ? बहुत-से लोग इस विषाद की प्रशंसा कर श्रीकृष्ण को कुमार्ग-प्रदर्शक और अधर्म का अनुमोदक कह निंदा करते हैं। इस धारणावश ही कि ईसाई-धर्म का शांतिभाव, बौद्ध धर्म का अहिंसाभाव और वैष्णव-धर्म का प्रेमभाव ही उच्च और श्रेष्ठ धर्म है, युद्ध और नरहत्या पाप हैं और भ्रातृहत्या और गुरुहत्या महापातक, वे ऐसी असंगत बात कहते हैं। परंतु यह आधुनिक धारणा द्वापर-युग के महावीर पांडव के मन में भी नहीं उठी थी; इस विचार का कोई चिह्न तक अर्जुन की बात में दिखायी नहीं देता कि अहिंसाभाव श्रेष्ठ है या युद्ध, नरहत्या, भ्रातृहत्या और गुरुहत्या महापाप हैं और इस कारण युद्ध से विरत होना उचित। पर इतना अवश्य कहा कि गुरुजनों की हत्या की अपेक्षा भिक्षावृत्ति का अवलंबन श्रेयस्कर है, यह भी कहा कि बंधु-बांधव की हत्या से हमें पाप लगेगा, किंतु कर्म का स्वभाव देख यह बात नहीं कही, बल्कि कर्म का फल देख यह बात कही। इसी कारण श्रीकृष्ण ने उनका विषाद भंग करने के लिये यह शिक्षा दी कि कर्म का फल नहीं देखना चाहिये, कर्म का स्वभाव देख निश्चय करना चाहिये कि वह कर्म उचित है या अनुचित। अर्जुन का पहला भाव था, ये हैं मेरे आत्मीय, गुरुजन, बंधु, बाल्यसहचर, सभी स्नेह, भक्ति और प्रेम के पात्र, इनकी हत्या कर असपत्न राज्य भोग करने पर

वह राज्यभोग कदापि सुखद नहीं हो सकता, बल्कि जीवन-भर दुःख और पश्चात्ताप से जलते रहना होगा, बंधु-बांधव-शून्य पृथ्वी का राज्य किसी के लिये भी वांछनीय नहीं। अर्जुन का दूसरा भाव था, प्रियजनों की हत्या करना है धर्म-विरुद्ध, जो द्वेष के पात्र हैं उन्हें युद्ध में मारना है क्षत्रिय का धर्म। उनका तीसरा भाव था, स्वार्थ के लिये ऐसा करना धर्मविरुद्ध और क्षत्रिय के लिये अनुचित है। चौथा भाव था, भ्रातृ-विरोध और भ्रातृहत्या से कुलनाश और जातिध्वंस। ऐसा कुफल उत्पन्न करना कुलरक्षक और जाति-रक्षक क्षत्रिय वीर के लिये महापाप है। इन चार भावों के अतिरिक्त अर्जुन के विषाद के मूल में और कोई भाव नहीं। इसे समझे बिना श्रीकृष्ण का उद्देश्य और उनकी शिक्षा का अर्थ भी समझ में नहीं आ सकता। ईसाई-धर्म, बौद्ध-धर्म, वैष्णव-धर्म के साथ गीता के धर्म के विरोध और सामंजस्य की बात बाद में बतलायेंगे। सूक्ष्म विवेचन द्वारा अर्जुन के कथन के भाव का निरीक्षण कर उनका मनोभाव दिखाने की चेष्टा करेंगे।

वैष्णवी माया का आक्रमण

अर्जुन ने पहले अपने विषाद का वर्णन किया। स्नेह और 'कृपा' के अकस्मात् विद्रोह से महावीर अर्जुन अभिभूत और परास्त हो गये, क्षण-भर में उनके शरीर का सारा बल जाता रहा, सारे अंग शिथिल हो गये, खड़े रहने तक की शक्ति नहीं रही, बलवान् हाथ गांडीव धारण करने में असमर्थ थे, शोक के उत्ताप से ज्वर के लक्षण दिखायी देने लगे, शरीर दुर्बल हो गया, त्वचा मानों आग में जलने लगी, मुंह सूख गया, समस्त शरीर जोर से कांपने लगा, मन मानों उस आक्रमण से चक्कर खाने लगा। ऐसे भाव का वर्णन पढ़ पहले तो उसे कवि की तेजस्विनी कल्पना का अतिशय विकास मान केवल उस कवित्व-सौंदर्य का उपभोग कर चुप बैठ जाते हैं; किंतु जब इस भाव की सूक्ष्म विवेचना कर निरीक्षण करते हैं तब मन में इस वर्णन का एक गूढ़ अर्थ प्रकट होता है। पहले भी अर्जुन ने कौरवों के साथ युद्ध किया था, पर ऐसा भाव कभी नहीं उठा, इस बार श्रीकृष्ण की इच्छा से हठात् यह आंतरिक उत्पात उठ खड़ा हुआ। मनुष्यजाति की अनेक अति प्रबल वृत्तियां क्षात्र-शिक्षा और उच्च आकांक्षा द्वारा पराभूत और आबद्ध हो अर्जुन के हृदय-तल में गुप्त पड़ी थीं। निग्रह से चित्तशुद्धि नहीं होती, विवेक और विशुद्ध बुद्धि की सहायता से, संयम से होती है चित्त-शुद्धि। निगृहीत भाव और वृत्तियां इस जन्म या दूसरे जन्म में, किसी-न-किसी दिन चित्त से उभड़ बुद्धि पर आक्रमण करते हैं और उसे विजित कर समस्त कर्मों को निज विकास के अनुकूल मार्ग पर चलाते हैं। इसी कारण इस जन्म में दयावान् दूसरे जन्म में निष्ठुर होता है, इस जन्म में कामी और दुश्चरित्र दूसरे जन्म में साधु और पवित्रचेता होता है। निग्रह न कर विवेक और विशुद्ध बुद्धि की सहायता से सभी वृत्तियों को निकाल चित्त-

शुद्धि करनी चाहिये। यही है संयम। ज्ञान के प्रभाव से तमोभाव दूर न होने तक संयम असंभव है। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुन के अज्ञान को दूर कर, सुप्त विवेक को जगा, चित्त-शोधन करने के इच्छुक थे। परंतु त्याज्य वृत्तियों को चित्त में ऊपर उठा बुद्धि के सामने उपस्थित न करने से बुद्धि ही उन्हें निकाल बाहर करने का अवसर नहीं पाती, और फिर युद्ध में ही अंतःस्थ दैत्य और राक्षस विवेक द्वारा नष्ट किये जाते हैं, तब विवेक बुद्धि को मुक्त करता है। योगसाधना की प्रारंभिक अवस्था में, चित्त में बद्धमूल सब कुप्रवृत्तियां साधक की बुद्धि पर बड़े जोर से आक्रमण करती हैं और अनभ्यस्त साधक को भय और शोक से विह्वल कर देती हैं, पाश्चात्य देशों में इसे ही कहते हैं शैतान का प्रलोभन, यही है मार (कामदेव) का आक्रमण। परंतु यह भय और शोक हैं अज्ञान-संभूत, यह प्रलोभन शैतान का नहीं, है भगवान् का। अंतर्यामी जगद्गुरु ही साधक पर आक्रमण कराने के लिये इन सब प्रवृत्तियों का आह्वान करते हैं, उसके अमंगल के लिये नहीं, मंगल के लिये, चित्त-शोधन के लिये। श्रीकृष्ण जैसे सशरीर बाह्य जगत् में अर्जुन के सखा और सारथी थे वैसे ही उनके अंतर में थे अशरीरी ईश्वर और अंतर्यामी पुरुषोत्तम, उन्होंने ही इन सब गुप्त वृत्तियों और भावों को एक ही साथ बड़े वेग से अर्जुन की बुद्धि पर फेंका था। इस भीषण आघात से अर्जुन की बुद्धि चक्कर खाने लगी और उसी क्षण प्रबल मानसिक विकार स्थूल शरीर में कवि-वर्णित सब लक्षणों द्वारा व्यक्त हुए। प्रबल अप्रत्याशित शोक और दुःख इसी तरह शरीर में प्रकट होते हैं, यह हम जानते हैं, यह मनुष्य-जाति के साधारण अनुभव से बाहर की बात नहीं। भगवान् की वैष्णवी माया ने अर्जुन को अखण्ड बल से क्षण-भर में अभिभूत कर लिया था, उसी से हुआ यह प्रबल विकार। अधर्म जब दया, प्रेम आदि धर्म का कोमल आकार धारण करके आता है, अज्ञान जब ज्ञान के वेष में छद्म-वेषी बन आता है, प्रगाढ़ अंधकारमय तमोगुण जब उज्ज्वल और विशद पवित्रता का रूप धारण कर कहता है कि "मैं हूं सात्त्विक, मैं हूं ज्ञान, मैं हूं धर्म, मैं हूं भगवान् का प्रिय दूत, पुण्य रूप और पुण्य प्रवर्त्तक," तब समझना होगा, भगवान् की वैष्णवी माया प्रकट हुई है बुद्धि के अंदर।

वैष्णवी माया का लक्षण

इस वैष्णवी माया के मुख्य अस्त्र हैं 'कृपा' और स्नेह। मनुष्य-जाति का प्रेम और स्नेह विशुद्ध वृत्तियां नहीं, शारीरिक और प्राण-कोषागत विकारवश पवित्र प्रेम और दया कलुषित और विकलांग हो जाते हैं। चित्त ही है वृत्तियों का वासस्थान। प्राण है भोग का क्षेत्र, शरीर कर्म का यंत्र और बुद्धि चिंतन का देश। शुद्ध अवस्था में इन सब की प्रवृत्ति स्वतंत्र पर परस्पर-अविरोधी होती है, चित्त में भाव उठता है, शरीर से तदनुसार

कर्म होता है, बुद्धि में तत्संबंधी विचार उठते हैं, प्राण उसी भाव, कर्म और चिन्तन का आनंद लेता है और जीव साक्षी रूप से प्रकृति की यह आनंदमयी क्रीड़ा देख आनंदित होता है। अशुद्ध अवस्था में प्राण शारीरिक या मानसिक भोग के लिये लालायित हो शरीर को कर्म-यंत्र न बना भोग का साधन बनाता है, शरीर भोग में आसक्त हो, बारंबार शारीरिक भोग के लिये दावा करता है, शारीरिक भोग की कामना से आक्रांत हो चित्त निर्मल भाव ग्रहण करने में असमर्थ होता है और कलुषित वासना-युक्त भाव चित्त-सागर को विक्षुब्ध करता है, उसी वासना का कोलाहल बुद्धि को अभिभूत कर व्याकुल करता है, उसे बहरी बनाता है, अब बुद्धि निर्मल, शांत और अभ्रांत चिंतन को ग्रहण करने में समर्थ नहीं रह जाती, चंचल मन के वशीभूत हो वह भ्रम, विचार-विप्लव और असत्य के प्राबल्य से अंधी बन जाती है। जीव भी इस बुद्धि-भ्रंश के कारण ज्ञानशून्य हो साक्षीभाव और निर्मल आनंदभाव से वंचित हो आधार के साथ अपना एकत्व स्वीकार कर "मैं हूं देह, मैं हूं प्राण, मैं हूं चित्त, मैं हूं बुद्धि" इस भ्रांत धारणा से शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख से सुखी और दुःखी होता है। अशुद्ध चित्त है इस धांधली का मूल, अतएव चित्त-शुद्धि है उन्नति का प्रथम सोपान। यह अशुद्धि केवल तामसिक और राजसिक वृत्ति को कलुषित कर चुप नहीं बैठ जाती, सात्त्विक वृत्ति को भी कलुषित करती है। "अमुक मनुष्य मेरे शारीरिक और मानसिक भोग की सामग्री है, वह मुझे अच्छा लगता है, उसी को चाहता हूं, उसके विरह से मुझे क्लेश होता है," यह है अशुद्ध प्रेम, शरीर और प्राण ने चित्त को कलुषित कर निर्मल प्रेम को विकृत कर दिया है। बुद्धि भी इस अशुद्धि के कारण भ्रांत हो कहती है : "अमुक मेरी स्त्री है, भाई, बहिन, सखा, आत्मीय, मित्र है, उसे ही प्यार करना होगा, यही प्रेम पुण्यमय है, यदि मैं इस प्रेम के प्रतिकूल कार्य करूं तो वह पाप होगा, क्रूरता होगी, अधर्म होगा।" इस प्रकार के अशुद्ध प्रेम के फल-स्वरूप इतनी बलवती 'कृपा' होती है कि प्रियजनों को कष्ट देने, प्रियजनों का अनिष्ट करने की अपेक्षा धर्म को ही तिलांजलि देना श्रेयस्कर लगता है, अंत में कहीं इस 'कृपा' को चोट न पहुंचे इसलिये धर्म को अधर्म कह अपनी दुर्बलता का समर्थन करते हैं। इस प्रकार की वैष्णवी माया का प्रमाण अर्जुन की प्रत्येक बात में मिलता है।

वैष्णवी माया की क्षुद्रता

अर्जुन की पहली बात थी कि ये हमारे स्वजन हैं, आत्मीय हैं, स्नेह के पात्र हैं, युद्ध में इनकी हत्या कर हमारा क्या हित साधित होगा ? विजेता का गर्व, राजा का गौरव, धनी का सुख ? मैं ये अर्थहीन स्वार्थ नहीं चाहता। लोगों को राज्य, भोग और जीवन क्यों प्रिय होता है ? हमारे स्त्री, पुत्र, कन्या हैं, हम आत्मीय-स्वजनों को सुख

से रख सकेंगे, बंधु-बांधवों के साथ ऐश्वर्य के सुख और आमोद में दिन बितायेंगे—ऐसा मानकर सुख और महत्त्व उनके लोभ के विषय बन जाते हैं। परंतु जिनके लिये हम राज्य, भोग और सुख चाहते हैं, वे ही हमारे शत्रु बन युद्ध में उपस्थित हैं। वे हमारा वध करने को तैयार हैं, पर हमारे साथ मिल-जुल कर राज्य और सुख का उपभोग करने के लिये तैयार नहीं। वे भले ही मेरा वध करें, पर मैं कभी इनका वध नहीं कर सकूंगा। इनकी हत्या से यदि मुझे तीनों लोकों का राज्य मिले तो भी मैं यह काम नहीं कर सकूंगा, पृथ्वी का असपत्न साम्राज्य खाक ही तो है! स्थूल-दर्शी लोग—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।

और—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥

इन उक्तियों से मोहित हो कहते हैं, "वाह, कितना महान्, उदार, निःस्वार्थ और प्रेममय भाव है अर्जुन का! रक्त से सने भोग और सुख की अपेक्षा उन्हें पराजय, मरण और चिर दुःख पसंद है।" परंतु, यदि अर्जुन के मनोभाव की परीक्षा करें तो पता लगेगा कि अर्जुन का भाव अत्यंत क्षुद्र, दुर्बलतासूचक और क्लीवोचित है। कुल के हित के लिये या प्रियजनों के प्रेमवश, 'कृपा' के वशीभूत हो और रक्त-पात के भय से व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग अनार्य के लिये महत् उदार भाव हो सकता है, आर्य के लिये तो वह मध्यम कोटि का है, धर्म और भगवत्प्रीति के लिये स्वार्थ-त्याग करना ही है उत्तम भाव। दूसरी ओर, कुल के हित के लिये, प्रियजनों के प्रेम के कारण, 'कृपा' के वश हो, रक्त-पात के भय से धर्म का परित्याग अधर्म भाव है। धर्म और भगवत्प्रीति के लिये स्नेह, 'कृपा' और भय का दमन करना ही है यथार्थ आर्य-भाव। अपने इस क्षुद्र भाव के समर्थन के लिये अर्जुन स्वजनों की हत्या का पाप दिखाकर पुनः बोले, "कौरवों का वध करने से हमें कौन-सा सुख, कौन-सी मनस्तुष्टि मिल सकती है? वे हमारे बंधु-बांधव हैं, आत्मीय-स्वजन हैं, वे अन्याय और हमारे साथ शत्रुता करते हैं, हमारा राज्य छीनते हैं और सत्य का गला घोंटते हैं, फिर भी उनके वध से हमें पाप ही लगेगा, सुख नहीं मिलेगा।" अर्जुन यह भूल गये थे कि वे धर्मयुद्ध में उतरे हैं, श्रीकृष्ण ने उन्हें उनके अपने या युधिष्ठिर के सुख के लिये, कौरवों के वध के लिये नियुक्त नहीं किया था, बल्कि धर्म-स्थापना, अधर्म-नाश, क्षत्रियधर्म-पालन, भारत में धर्म-प्रतिष्ठित एक महान् साम्राज्य की स्थापना ही था इस युद्ध का उद्देश्य। समस्त सुख को तिलांजलि दे आजीवन दुःख और यंत्रणा सहकर भी इस उद्देश्य को सिद्ध करना था अर्जुन का कर्तव्य।

कुलनाश की बात

परंतु अपनी दुर्बलता के समर्थन में अर्जुन ने एक और उच्चतर युक्ति ढूंढ निकाली, इस युद्ध में कुलनाश और जातिनाश होगा इसलिये यह युद्ध धर्मयुद्ध नहीं, अधर्मयुद्ध है। इस भ्रातृहत्या से मित्रद्रोह, अर्थात् जो स्वभाव के अनुकूल और सहायक हैं उनका अनिष्ट करना होगा, और फिर अपने कुल का, अर्थात् जिस कुरु-नामक क्षत्रियवंश और जाति में दोनों पक्षों का जन्म हुआ है, विनाश होगा। प्राचीन काल में जातियां प्रायः ही रक्त-संबंध पर प्रतिष्ठित थीं। एक बड़ा कुल बढ़ता-बढ़ता जाति में परिणत हो जाता था, भारत राष्ट्र के अंतर्गत कुल-विशेष जैसे भोजवंश, कुरुवंश आदि, एक-एक बलशाली जाति बन गये थे। कुल के अंतर्विरोध और पारस्परिक अनिष्ट-वृत्ति को ही अर्जुन ने मित्रद्रोह कहा। एक तो यह मित्रद्रोह नैतिक दृष्टि से महापाप है, तिस पर अर्थनीतिक दृष्टि से इस मित्रद्रोह में एक महान् दोष यह है कि कुलक्षय इसका अवश्यंभावी फल है। सनातन कुलधर्म का सम्यक् पालन कुल की उन्नति और अवस्थिति का कारण है, गृहस्थ जीवन और राजनीतिक क्षेत्र में पितृगण जिस महत् आदर्श और क्रमशृंखला की स्थापना और रक्षा करते आ रहे हैं, उस आदर्श के ह्रास या शृंखला के शिथिल होने से कुल का अधःपतन होता है। जब तक कुल सौभाग्यवान् और बलशाली बना रहता है, तभी तक यह आदर्श और क्रमशृंखला सुरक्षित रहती हैं, कुल के क्षीण या दुर्बल हो जाने से, तमोभाव बढ़ जाने से इस महान् धर्म में शिथिलता आ जाती है, फलस्वरूप अराजकता, दुर्नीति आदि दोष कुल में घुस जाते हैं, कुल की महिलाएं दुश्चरित्रा हो जाती हैं और कुल की पवित्रता नष्ट हो जाती है, नीच जाति और नीच चरित्रवालों के सहवास से महान् कुल में वर्णसंकर होता है। इस प्रकार पितरों की प्रकृत संतति नष्ट होने से कुलनाशकों को नरक की प्राप्ति होती है तथा अधर्म के फैलने से वर्णसंकर-संभूत नैतिक अधोगति और नीच गुणों के बढ़ जाने से एवं अराजकता आदि दोषों के घुस आने से सारा कुल ही विनष्ट होता है और नरक में जाता है। कुलनाश से राष्ट्रधर्म और कुलधर्म दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। राष्ट्र-धर्म का अर्थ है समस्त कुलसमष्टि से बने महान् राष्ट्र का परंपरागत सनातन आदर्श और क्रम-शृंखला। इसके बाद अर्जुन एक बार फिर अपने प्रथम सिद्धांत और कर्तव्य-धर्म-विषयक अपने निश्चय को जना युद्ध के समय ही गांडीव त्याग रथ में बैठ गये। कवि ने इस अध्याय के अंतिम श्लोक में इशारे से यह दिखाया है कि शोक से बुद्धि-भ्रम होने के कारण अर्जुन ने इस प्रकार क्षत्रिय के लिये अनुचित और अनार्यों जैसा आचरण करने का संकल्प किया था।

विद्या और अविद्या

अर्जुन की कुलनाश-विषयक बात में हमें एक अत्यंत विशाल और उन्नत भाव की छाया दिखायी देती है, इस भाव के साथ जो गुरुतर प्रश्न जुड़ा हुआ है उसकी आलोचना करना गीता के व्याख्याकार के लिये अत्यंत आवश्यक है। और अगर हम गीता का केवल आध्यात्मिक अर्थ ही खोजें, अपने राष्ट्रीय, गृहस्थ-संबंधी और व्यक्तिगत सांसारिक कर्म और आदर्श से गीतोक्त धर्म का संपूर्ण विच्छेद करें तो उस भाव और उस प्रश्न का महत्त्व और प्रयोजनीयता अस्वीकृत हो जाती है और गीतोक्त धर्म का सर्वव्यापी विस्तार संकुचित हो जाता है। शंकर आदि जिन लोगों ने गीता की व्याख्या की है वे थे संसार-त्यागी, दार्शनिक, अध्यात्म विद्यापरायण ज्ञानी अथवा भक्त, गीता में अपने लिये आवश्यक ज्ञान और भाव को खोजकर, प्रयोजनीय को प्राप्त कर वे संतुष्ट हो गये। जो एक साथ ही ज्ञानी, भक्त और कर्मी हैं वे ही हैं गीता की गूढ़तम शिक्षा के अधिकारी। गीता के वक्ता श्रीकृष्ण ज्ञानी और कर्मी थे, गीता के पात्र अर्जुन भक्त और कर्मी थे, उनके ज्ञान-चक्षु-उन्मीलन के लिये कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण ने यह शिक्षा प्रतिपादित की। एक महान् राजनीतिक संघर्ष था गीतोपदेश का कारण, उस संघर्ष में अर्जुन को एक महान् राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के यंत्र और निमित्त के रूप में युद्ध में प्रवृत्त करना था गीता का उद्देश्य, युद्धक्षेत्र ही था शिक्षा का स्थल। श्रीकृष्ण थे श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ और योद्धा, धर्मराज्य-संस्थापना था उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य, अर्जुन भी थे क्षत्रिय राजकुमार, राजनीति और युद्ध थे उनके स्वभाव-नियत कर्म। फिर भला गीता के उद्देश्य को, गीता के वक्ता, पात्र और उसके कारण को अलग कर गीता की व्याख्या करने से कैसे काम चल सकता है?

मानव-जगत् के पांच मुख्य आधार चिरकाल से विद्यमान हैं—व्यक्ति, परिवार, वंश, राष्ट्र और मानवसमष्टि। धर्म भी इन्हीं पांच आधारों पर प्रतिष्ठित है। धर्म का उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। भगवत्प्राप्ति के दो मार्ग हैं—विद्या को आयत्त करना और अविद्या को भी आयत्त करना; दोनों ही हैं आत्म-ज्ञान और भगवद्दर्शन के साधन। विद्या का मार्ग है ब्रह्म की अभिव्यक्ति, अविद्यामय प्रपंच का परित्याग कर, सच्चिदानंद की प्राप्ति या परब्रह्म में लय। अविद्या का मार्ग है सर्वत्र आत्मा और भगवान् के दर्शन कर ज्ञानमय, मंगलमय, शक्तिमय परमेश्वर को बंधु, प्रभु, गुरु, पिता, माता, पुत्र, कन्या, दास, प्रेमी, पति और पत्नी रूप में प्राप्त करना। शांति है विद्या का उद्देश्य और प्रेम अविद्या का। परंतु भगवान् की प्रकृति है विद्या-अविद्यामयी। अगर हम विद्या के मार्ग का ही अनुसरण करें तो हम विद्यामय ब्रह्म को प्राप्त करेंगे, यदि केवल अविद्या के मार्ग का अनुसरण करें तो अविद्यामय ब्रह्म को। जो विद्या और अविद्या दोनों को ही आयत्त कर सकते हैं वे ही पूर्णतया वासुदेव को प्राप्त करते हैं; वे विद्या और अविद्या के परे हैं। जो विद्या के अंतिम लक्ष्य तक पहुंच जाते हैं वे विद्या की सहायता से अविद्या को आयत्त

करते हैं। ईशोपनिषद् में यह महान् सत्य अत्यंत स्पष्टतया व्यक्त किया गया है। जैसे—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

अन्यदेवाहुर्विद्याऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

"जो अविद्या के उपासक हैं वे अंध अज्ञानरूप तम में प्रवेश करते हैं। जो केवल विद्या के उपासक हैं वे भी मानों अधिकतर तम में प्रवेश करते हैं। जिन धीर ज्ञानियों ने हमें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी है, उनके मुंह से सुना है कि विद्या का भी फल होता है और अविद्या का भी, वे दोनों फल भिन्न-भिन्न हैं। जो विद्या और अविद्या दोनों को अपने ज्ञान द्वारा अधिकृत कर पाये हैं वे ही अविद्या द्वारा मृत्यु को अतिक्रम कर विद्या द्वारा अमृतमय पुरुषोत्तम के आनंद का उपभोग करते हैं।

समस्त मानव-जाति अविद्या का भोग करती हुई विद्या की ओर अग्रसर हो रही है, यही है वास्तविक क्रमविकास। जो श्रेष्ठ, साधक, योगी, ज्ञानी, भक्त और कर्मयोगी हैं, वे हैं इस महान् अभियान के अग्रगामी सैनिक, दूरस्थित गंतव्य स्थान पर क्षिप्र गति से पहुंच लौट आते हैं और मनुष्य-जाति को सुसंवाद सुनाते हैं, पथ-प्रदर्शन करते हैं, शक्ति वितरण करते हैं। भगवान् के अवतार और विभूतियां आकर पथ सुगम बनाते हैं, अनुकूल अवस्था उत्पन्न करते हैं और बाधाएं दूर करते हैं। अविद्या में विद्या, भोग में त्याग, संसार में संन्यास, आत्मा में सर्वभूत, सर्वभूत में आत्मा, भगवान् में जगत्, जगत् में भगवान्—यही उपलब्धि है असली ज्ञान, यही है मानवजाति का गंतव्य स्थान की ओर जाने का निर्दिष्ट पथ। आत्मज्ञान की संकीर्णता है उन्नति की प्रधान बाधा, देहात्मक बोध और स्वार्थबोध हैं उस संकीर्णता के मूल कारण, अतएव दूसरे को आत्मवत् देखना है उन्नति का प्रथम सोपान। मनुष्य पहले अपने व्यक्ति-भाव में व्यस्त रहता है, अपनी व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक उन्नति, भोग और शक्ति के विकास में रत रहता है, मैं देह हूं, मैं मन हूं, मैं प्राण हूं, देह का बल, सुख और सौंदर्य, मन की क्षिप्रता, आनंद और स्वच्छता, प्राण का तेज, भोग और प्रफुल्लता हैं जीवन के उद्देश्य और उन्नति की चरमावस्था—यही है मनुष्य का पहला या आसुरिक ज्ञान। इसकी भी आवश्यकता है; देह, मन और प्राण का विकास और परिपूर्णता साधित कर उस पूर्णविकसित शक्ति को दूसरों की सेवा में प्रयुक्त करना उचित है। इसीलिये आसुरिक शक्ति का विकास है मानवजाति की सभ्यता की प्रथम अवस्था; पशु, यक्ष,

राक्षस, असुर, पिशाच तक मनुष्य के मन में, कर्म में, चरित्र में लीला करते और पनपते हैं। उसके बाद मनुष्य आत्मज्ञान का विस्तार कर दूसरों को आत्मवत् देखना आरंभ करता है, परार्थ में स्वार्थ को डुबा देना सीखता है। पहले परिवार को ही आत्मवत् देखता है, स्त्री-पुत्र की प्राणरक्षा के लिये प्राण त्यागता है, स्त्री-संतान के सुख के लिये अपने सुख को तिलांजलि देता है। इसके बाद वंश या कुल को आत्मवत् देखता है, कुलरक्षा के लिये प्राण त्यागता है, स्वयं अपनी, अपनी स्त्री और संतान की बलि चढ़ाता है, कुल के सुख, गौरव और वृद्धि के लिये अपने और स्त्री-पुत्र के सुख को तिलांजलि देता है। फिर देश को आत्मवत् देखता है, देश की रक्षा के लिये प्राण त्यागता है, अपनी स्त्री, संतति और कुल की बलि चढ़ाता है,—जैसे चित्तौड़ के राजपूत कुल ने सारी राजपूत जाति की रक्षा के लिये बार-बार स्वेच्छा से अपना बलिदान किया था,—जाति के सुख और गौरव की वृद्धि के लिये अपने, स्त्री-संतान के कुल के सुख और गौरव की वृद्धि को तिलांजलि देता है। उसके बाद समस्त मानवजाति को आत्मवत् देखता है, मानवजाति की उन्नति के लिये प्राण त्यागता है, अपनी, स्त्री-संतान की, कुल की, जाति की बलि देता है—मानव-जाति के सुख और गौरव-वृद्धि के लिये अपने, स्त्री-संतान के, कुल के सुख और गौरव-वृद्धि को तिलांजलि देता है। इस तरह दूसरे को आत्मवत् देखना, दूसरे के लिये अपनी और अपने सुख की बलि देना है बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्म-प्रसूत ईसाई-धर्म की प्रधान शिक्षा। यूरोप की नैतिक उन्नति इसी पथ से आगे बढ़ी है। पुराकालीन यूरोपियनों ने व्यक्ति को परिवार में, परिवार को कुल में डुबा देना सीखा था, आधुनिक यूरोपियनों ने कुल को राष्ट्र में डुबा देना सीखा है, राष्ट्र को मनुष्य-समष्टि में डुबा देना अभी उनके लिये कठिन आदर्श माना जाता है, टाल्सटाय इत्यादि मनीषिगण तथा सोशलिस्ट (समाजवादी), एनार्किस्ट (अराजकतावादी) इत्यादि नवीन आदर्शों के अनुमोदक दल इसी आदर्श को कार्य में परिणत करने के लिये उत्सुक हैं। यूरोप की दौड़ यहीं तक। वे हैं अविद्या के उपासक, प्रकृत विद्या से अवगत नहीं—*अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।*

भारत में मनीषियों ने विद्या और अविद्या, दोनों को ही आयत्त किया है। वे जानते हैं कि अविद्या के पांच आधारों के अतिरिक्त विद्या और अविद्या दोनों के आधार भगवान् हैं, उनको जाने बिना अविद्या भी नहीं जानी जाती, आयत्त नहीं होती। अतएव केवल दूसरे को आत्मवत् न देख, उन्होंने *आत्मवत् परदेहेषु* अर्थात् अपने अंदर और दूसरों के अंदर समान भाव से भगवान् को देखा है। हम अपना उत्कर्ष करेंगे, हमारे उत्कर्ष से परिवार का उत्कर्ष होगा; परिवार का उत्कर्ष करेंगे, परिवार के उत्कर्ष से कुल का उत्कर्ष होगा; राष्ट्र का उत्कर्ष करेंगे, राष्ट्र के उत्कर्ष से मानवजाति का उत्कर्ष होगा—यही ज्ञान है आर्यों की सामाजिक व्यवस्था और आर्य-शिक्षा के मूल में निहित। व्यक्तिगत त्याग है आर्य का मज्जागत अभ्यास : परिवार के लिये त्याग, कुल के लिये त्याग, समाज के लिये त्याग, मानवजाति के लिये त्याग, भगवान् के लिये

त्याग। हमारी शिक्षा में जो दोष या कमी दिखायी देती है वह कुछ एक ऐतिहासिक कारणों का फल है; जैसे, राष्ट्र को समाज के अंदर देखना, समाज के हित में व्यक्ति और परिवार का हित डुबा देना, परंतु राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का विकास करना हमारे धर्म में मुख्य अंग के रूप में स्वीकृत नहीं था। पश्चिम से इस शिक्षा की आमदनी करनी पड़ी है। किंतु हमारी भी प्राचीन शिक्षा में, महाभारत में, गीता में, राजपूताने के इतिहास में, रामदास के दासबोध में हमारे अपने देश में ही यह शिक्षा विद्यमान थी। विद्या की अत्यधिक उपासना के कारण, अविद्या के भय से हम उस शिक्षा का विकास न कर सके और उसी दोषवश तमोभिभूत हो, राष्ट्रधर्म से च्युत हो कठिन दासत्व, दुःख और अज्ञान में जा पड़े, अविद्या को भी आयत्त नहीं कर सके और विद्या को भी खो बैठे। *ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः*।

श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य

मानव-समाज के क्रमिक विकास में कुल और राष्ट्र भिन्न-भिन्न हैं, प्राचीन काल में भारत तथा अन्य देशों में भी यह भिन्नता इतनी परिस्फुट नहीं हुई थी। कुछ एक बड़े-बड़े कुलों के समावेश से एक राष्ट्र तैयार हो जाता था। ये भिन्न-भिन्न कुल या तो एक ही पूर्व पुरुष के वंशधर होते थे या भिन्न वंश-जात होने पर भी प्रीति-संबंध स्थापित करने के कारण एक ही वंश के माने जाते थे। समस्त भारत एक बड़ा राष्ट्र नहीं बन सका, किंतु जो बड़ी-बड़ी जातियां सारे देश में फैली हुई थीं उनमें एक ही सभ्यता, एक ही धर्म, एक ही संस्कृत भाषा एवं विवाह आदि संबंध प्रचलित थे। तथापि प्राचीन काल से एकत्व की चेष्टा होती आ रही थी, कभी कुरु, कभी पांचाल, कभी कोसल, कभी मगध-जाति देश का नेता या सार्वभौम राजा बनकर साम्राज्य स्थापित करती थी, किंतु प्राचीन कुलधर्म और कुल की स्वाधीनता के प्रति अनुराग एकत्व के लिये ऐसी प्रबल बाधा उत्पन्न करते थे कि वह चेष्टा कभी चिरकाल तक नहीं टिक पायी। भारत में यह एकत्व की चेष्टा, असपत्न साम्राज्य की चेष्टा पुण्यकर्म तथा राजा के कर्तव्य कर्म के अंतर्गत थी। इस एकत्व की धारा इतनी प्रबल हो गयी थी कि चेदिराज शिशुपाल जैसे तेजस्वी और दुर्दांत क्षत्रिय भी युधिष्ठिर के साम्राज्य-संस्थापन को पुण्य कर्म मान सहयोग देने के लिये सम्मत हो गये थे। ऐसा एकत्व, साम्राज्य या धर्मराज्य स्थापित करना था श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य। मगधराज जरासन्ध ने इससे पहले ऐसी चेष्टा की थी, किंतु उनकी शक्ति अधर्म और अत्याचार पर प्रतिष्ठित थी, अतः उसे क्षणस्थायी समझ श्रीकृष्ण ने भीम के हाथों उनका वध करवा वह चेष्टा विफल की। श्रीकृष्ण के कार्य में सब से प्रधान बाधक था गर्वित और तेजस्वी कुरुवंश। कुरु-जाति बहुत दिनों से भारत की नेतृस्थानीया जाति थी, अंग्रेजी में जिसे

कहते हैं hegemony अर्थात् बहुत-सी एक समान स्वाधीन जातियों के बीच प्रधानत्व और नेतृत्व, कुरुजाति का उसपर पुरुषपरंपरागत अधिकार था। श्रीकृष्ण यह जानते थे कि जबतक इस जाति का बल और गर्व अक्षुण्ण रहेगा तबतक भारत में कभी एकत्व स्थापित नहीं होगा। अतः उन्होंने कुरुजाति का ध्वंस करने का संकल्प किया। किंतु श्रीकृष्ण यह नहीं भूले कि भारत के साम्राज्य पर कुरुजाति का परंपरागत अधिकार है; जो धर्मतः किसी का प्राप्य है उससे उसे वंचित करना अधर्म है, इसलिये न्यायतः जो कुरुजाति के राजा और प्रधान थे, उन्हीं युधिष्ठिर को उन्होंने भावी सम्राट् पद के लिये मनोनीत किया। श्रीकृष्ण ने, परम धार्मिक और समर्थ होने पर भी, स्नेहवश अपने प्रिय यादव-कुल को कुरुजाति के स्थान पर बैठाने की चेष्टा नहीं की, पांडवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर की अवहेलना कर अपने प्रियतम सखा अर्जुन को उस पद पर नियुक्त नहीं किया। परंतु केवल उम्र या पूर्वाधिकार देखने से अनिष्ट की संभावना रहती है, गुण और सामर्थ्य भी देखनी होती है। राजा युधिष्ठिर यदि अधार्मिक, अत्याचारी या अशक्त होते तो फिर श्रीकृष्ण दूसरा पात्र खोजने के लिये बाध्य होते। युधिष्ठिर जैसे वंश-परंपरा, न्याय्य अधिकार और देश के पूर्व प्रचलित नियमानुसार सम्राट् होने के उपयुक्त थे, वैसे ही वह गुण में भी थे उस पद के यथार्थ अधिकारी। उनसे कहीं अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् थे बड़े-बड़े वीर राजा, किंतु केवल बल और प्रतिभा से ही कोई राज्य का अधिकारी नहीं हो जाता। राजा को धर्मरक्षा करनी होती है, प्रजारंजन करना होता है, देश की रक्षा करनी होती है। प्रथम दो गुणों में युधिष्ठिर थे अतुलनीय, वे थे धर्मपुत्र, दयावान्, न्यायपरायण, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, सत्यकर्मा और प्रजा को अत्यन्त प्रिय। शेषोक्त आवश्यक गुण में जो उनकी न्यूनता थी उसे उनके दो वीर भाई भीम और अर्जुन पूरा करने में समर्थ थे। समकालीन भारत में पंच पांडवों के समान पराक्रमी राजा या वीर पुरुष कोई नहीं था। अतएव जरासन्ध-वध द्वारा कण्टक दूर कर श्रीकृष्ण के परामर्श से राजा युधिष्ठिर ने देश की प्राचीन-प्रणाली का अनुसरण कर राजसूय यज्ञ किया और देश के सम्राट् बने।

श्रीकृष्ण थे धार्मिक और राजनीतिविशारद। यदि देश के धर्म, देश की प्रणाली, देश के सामाजिक नियमानुसार कार्य करने से उनके महत् उद्देश्य की सिद्धि की संभावना हो तो फिर उस धर्म की हानि, उस प्रणाली के विरुद्ध आचरण, उस नियम का भंग भला क्यों करेंगे ? बिना कारण इस प्रकार का राष्ट्रविप्लव और समाजविप्लव करना देश के लिये अहितकर होता है। इसी कारण पहले पुरानी प्रणाली की रक्षा करते हुए अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये सचेष्ट हुए। किंतु देश की पुरानी प्रणाली में यह दोष था कि उससे प्रयास सफल होने पर भी उस फल के स्थायी होने की संभावना बहुत कम थी। जिनके पास सामरिक बल अधिक था वे राजसूय यज्ञ कर सम्राट् तो बन सकते थे, पर उनके वंशधरों के तेजहीन होते ही वह मुकुट उनके मस्तक से स्वतः गिर पड़ता था। जो तेजस्वी वीर जातियां पिता या पितामह के वश में हुई थीं वे भला अब

विजयी के पुत्र या पौत्र की अधीनता क्यों स्वीकार करतीं ? वंशगत अधिकार नहीं, राजसूय यज्ञ अर्थात् असाधारण बलवीर्य था उस साम्राज्य का मूल, जिनमें अधिक बलवीर्य होता वे ही यज्ञ कर सम्राट् बन जाते थे। अतएव साम्राज्य के स्थायी होने की कोई आशा नहीं रहती थी, थोड़े समय के लिये प्रधानता या hegemony ही मिल सकती थी। इस प्रथा में और एक दोष यह था कि नये-नये सम्राटों के अकस्मात् बलशाली और सर्वप्रधान हो जाने से देश के बलाभिमानी, असहिष्णु, तेजस्वी क्षत्रियों के हृदय में ईर्ष्या-वह्नि प्रज्वलित हो उठती थी; उनके मन में सहज ही इस विचार के उठने की संभावना थी कि ये ही प्रधान क्यों हों, हम क्यों नहीं। युधिष्ठिर के अपने कुल के क्षत्रिय इसी ईर्ष्या से उनके विरोधी हुए थे, उनके पितृव्य की संतानों ने इसी ईर्ष्या का सहारा ले बड़ी चतुराई के साथ उन्हें पदच्युत और निर्वासित किया था। देश की प्रणाली का दोष थोड़े ही दिनों में प्रकट हो गया।

श्रीकृष्ण जैसे धार्मिक थे वैसे ही राजनीतिज्ञ भी। वे कभी सदोष, अहितकर या समय के लिये अनुपयोगी प्रणाली, उपाय या नियम को बदलने में आगा-पीछा नहीं करते थे। वे अपने युग के थे प्रधान विप्लवी। राजा भूरिश्रवा ने श्रीकृष्ण की भर्त्सना करते समय समकालीन प्राचीन मतावलंबी बहुत-से भारतवासियों का आक्रोश प्रकट करते हुए कहा, कृष्ण और कृष्णचालित यादव कुल कभी भी धर्म के विरुद्ध आचरण करने में या धर्म को विकृत करने में कुण्ठित नहीं होता, जो कृष्ण के परामर्श से कार्य करेगा वह निश्चय ही अविलम्ब पाप के गर्त में गिरेगा। कारण, पुरातन रीति में आसक्त रक्षणशील पुरुषों के मतानुसार नूतन प्रयास ही है पाप। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पतन से समझ गये—समझ क्यों गये, वे तो भगवान् थे, पहले से ही जानते थे—कि द्वापरयुग के लिये उपयोगी प्रथा कलि में कभी भी रक्षणीय नहीं। अतएव उन्होंने फिर वैसी चेष्टा नहीं की, कलि के लिये उचित भेद-दण्ड-प्रधान राजनीति का अनुसरण कर, गर्वित, दृप्त क्षत्रिय-जाति का बल नष्ट कर भावी साम्राज्य को निष्कण्टक बनाने की चेष्टा की। उन्होंने कुरुओं के पुराने समकक्ष शत्रु पांचाल जाति को कुरुवंश का ध्वंस करने में प्रवृत्त किया, जितनी जातियां कुरुओं के प्रति विद्वेष होने के कारण, युधिष्ठिर के प्रेम द्वारा या धर्मराज्य और एकत्व की आकांक्षा से आकृष्ट हो सकती थीं, उन सबको उस पक्ष में खींच लाये और युद्ध की तैयारी कराने लगे। सन्धि की जो चेष्टा की गयी थी उसमें श्रीकृष्ण का विश्वास नहीं था, वे जानते थे कि सन्धि की कोई संभावना नहीं, सन्धि होने पर भी वह स्थायी नहीं हो सकती, फिर भी धर्म के लिये और राजनीति के लिये उन्होंने सन्धि की चेष्टा की। इसमें संदेह नहीं कि कुरुक्षेत्र-युद्ध था श्रीकृष्ण की राजनीति का फल और कुरुध्वंस, क्षत्रियध्वंस और निष्कण्टक साम्राज्य और भारत का एकत्वसंस्थापन था उनका उद्देश्य। धर्मराज्य की स्थापना के लिये जो युद्ध होता है वही है धर्मयुद्ध, उसी धर्मयुद्ध के ईश्वरनिर्दिष्ट विजेता, दिव्यशक्ति प्रणोदित महारथी थे अर्जुन। अर्जुन के अस्त्र-त्याग करने से तो श्रीकृष्ण का सारा राजनीतिक प्रयास ही नष्ट

हो जाता, भारत में एकता स्थापित न होती और देश के भावी जीवन में अविलंब घोर कुफल फलता।

भ्रातृवध और कुलनाश

अर्जुन की सारी युक्ति कुल के हित को सामने रखकर प्रयुक्त हुई थी, स्नेहवश जाति के हित का विचार उनके मन से अपसारित हो गया था। वे कुरुवंश के हित का विचार करते हुए भारत का हित भूल गये थे, अधर्म के भय से धर्म को तिलांजलि देने के लिये कटिबद्ध हो उठे थे। यह बात सभी जानते हैं कि स्वार्थ के लिये भ्रातृवध करना महापाप है, परंतु भ्रातृप्रेम के वशीभूत हो राष्ट्र का अनर्थ करने में सहायक होना, राष्ट्र के हितसाधन से मुंह मोड़ना है उससे भी बड़ा पाप। अर्जुन यदि शस्त्रत्याग करते तो अधर्म की जीत होती, दुर्योधन भारत के प्रधान राजा और सारे देश के नेता बन अपने बुरे दृष्टान्त से राष्ट्रीय चरित्र और क्षत्रिय कुल का आचरण कलुषित कर देते, भारत के सारे प्रबल, पराक्रमी कुल स्वार्थ, ईर्ष्या और विरोधप्रियता की प्रेरणा से एक-दूसरे का विनाश करने के लिये तत्पर होते, देश को एकत्रित, नियंत्रित और सारी शक्ति को एकत्रित कर उसकी रक्षा करनेवाली कोई असपत्न धर्मप्रणोदित राजशक्ति न रह जाती, ऐसी अवस्था में जो विदेशी आक्रमण उस समय भी रुद्ध समुद्र की तरह भारत पर टूट परिप्लावित करने के लिये तैयार हो रहा था, वह समय में ही आ आर्य-सभ्यता को नष्ट कर इस जगत् के भावी हित की आशा को ही निर्मूल कर देता। श्रीकृष्ण और अर्जुन द्वारा प्रतिष्ठित साम्राज्य का नाश होने के दो हजार वर्ष बाद भारत में जो राजनीतिक उत्पात आरंभ हुआ था, वह उसी समय आरंभ हो गया होता।

लोग कहते हैं कि अर्जुन ने जिस अनिष्ट के भय से यह आपत्ति उठायी थी, कुरुक्षेत्र-युद्ध के फलस्वरूप ठीक वही अनिष्ट फला। भ्रातृवध, कुलनाश और यहां तक कि राष्ट्र-नाश भी कुरुक्षेत्र के युद्ध के फल थे। कुरुक्षेत्र-युद्ध कलि के आरंभ का कारण बना। इस युद्ध में भीषण भ्रातृवध हुआ था यह सच है। प्रश्न यह है कि अन्य किस उपाय से श्रीकृष्ण का महान् उद्देश्य सिद्ध होता ? इसीलिये तो श्रीकृष्ण ने संधि-प्रार्थना की विफलता को जानते हुए भी संधि करने के लिये काफी प्रयास किया था, यहां तक कि पांच गांव ही मिल जाने पर युधिष्ठिर युद्ध न करते, पैर रखने के लिये उतना-सा ही स्थान पा जाने पर श्रीकृष्ण धर्मराज्य की स्थापना कर लेते। किंतु दुर्योधन का दृढ़ निश्चय था कि बिना युद्ध वे सूच्यग्र भूमि भी नहीं देंगे। जब सारे देश का भविष्य युद्ध के फल पर निर्भर होता है तब उस युद्ध में भ्रातृवध होगा इस कारण महत्कर्म से विरत होना है अधर्म। परिवार का हित राष्ट्र के हित में, जगत् के हित में डुबा देना होता है; भ्रातृस्नेह, पारिवारिक प्रेम के मोह से कोटि-कोटि लोगों का सर्वनाश नहीं

किया जा सकता, कोटि-कोटि मनुष्यों के भावी सुख या दुःखमोचन को विनष्ट नहीं किया जा सकता, उससे व्यक्ति और कुल को नरक की प्राप्ति होती है।

कुरुक्षेत्र-युद्ध से कुलनाश हुआ था—यह बात भी सच है। इस युद्ध के फलस्वरूप महाप्रतापी कुरुवंश एक तरह से लुप्त हो गया। किंतु कुरुजाति के लोप होने से यदि समस्त भारत की रक्षा हुई है तो कुरुध्वंस से हानि नहीं, लाभ ही हुआ है। जैसे पारिवारिक प्रेम की माया होती है वैसे ही कुल की भी। देशभाई को हम कुछ नहीं कहेंगे, देशवासी का विरोध नहीं करेंगे, अनिष्ट करने पर भी, आततायी होने पर भी, देश का सर्वनाश करने पर भी वे हमारे भाई हैं, स्नेह के पात्र हैं, चुपचाप सह लेंगे—हमारे अंदर यह जो वैष्णवी-मायाप्रसूत अधर्म धर्म का स्वांग रच बहुतों की बुद्धि भ्रष्ट करता है वह इस कुल की माया के मोह से उत्पन्न होता है। बिना कारण या स्वार्थ के लिये, नितांत प्रयोजन या आवश्यकता के अभाव में देशभाई का विरोध और उससे कलह करना अधर्म है। किंतु जो देशभाई सबकी मां को जान से मार डालने के लिये या उसका अनिष्ट करने के लिये कटिबद्ध है उसका अत्याचार चुपचाप सहन कर उस मातृहत्या या अनिष्टाचरण को प्रश्रय देना घोरतर पातक है। शिवाजी जब मुसलमानों के पृष्ठपोषक देशभाइयों का संहार करने गये तब यदि उनसे कोई कहता कि अहा! क्या करते हो, ये देशभाई हैं, चुपचाप सहो, मुगल महाराष्ट्र-देश को अधिकृत करते हैं तो करें, मराठे-मराठे के बीच प्रेम बना रहना ही पर्याप्त है, तो क्या यह बात नितांत हास्यजनक न लगती ? दासप्रथा को उठाने के लिये जब अमेरिका में विरोध और गृहयुद्ध भड़का तब अमेरिकनों ने हजारों देशभाइयों का प्राणसंहार किया था तब क्या उन्होंने कोई कुकर्म किया था ? बहुत बार देशभाइयों का विरोध करना, देशभाइयों का युद्ध में वध करना राष्ट्र के हित और जगत् के हित का एकमात्र उपाय होता है। इससे यदि कुलनाश की आशंका हो तो भी राष्ट्र के हित और जगत् के हित-साधन से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। यदि उस कुल की रक्षा करना राष्ट्र के हित के लिये आवश्यक हो तो निस्संदेह समस्या जटिल हो जाती है। महाभारत के युग में भारत में राष्ट्र प्रतिष्ठित नहीं हुआ था, सब कुल को ही मनुष्य-जाति का केंद्र मानते थे। इसीलिये भीष्म, द्रोण आदि ने, जो कि पुरातन विद्या के आ[illegible]र थे, पाण्डवों के विरुद्ध युद्ध किया था। उन्हें पता था कि धर्म पाण्डवों के पक्ष में है, वे जानते थे कि महत् साम्राज्य की स्थापना के लिये समस्त भारत को एक केंद्र में आबद्ध करने की आवश्यकता है। परंतु वे यह भी समझते थे कि कुल ही है कर्म का आधार और राष्ट्र का केंद्र, कुल का नाश होने पर धर्मरक्षा और राष्ट्रसंस्थापन करना असंभव होगा। अर्जुन भी उसी भ्रम में पड़े थे। इस युग में राष्ट्र ही है धर्म का आधार, मानव समाज का केंद्र। राष्ट्र-रक्षा है इस युग का प्रधान धर्म, राष्ट्र का नाश है इस युग का अमार्जनीय महापातक। परंतु ऐसा भी युग आ सकता है जब एक बृहत् मानवसमाज प्रतिष्ठित हो सकता है, हो सकता है कि उस समय जगत् के बड़े-बड़े ज्ञानी और कर्मी राष्ट्र की रक्षा के लिये युद्ध

करें और दूसरे पक्ष में श्रीकृष्ण विप्लवी बन नया कुरुक्षेत्र-युद्ध संघटित कर जगत् का हित-साधन करें।

श्रीकृष्ण की राजनीति का फल

पहले 'कृपा' के आवेश में अर्जुन ने कुलनाश की बात पर अधिक जोर दिया था, क्योंकि ऐसे बृहत् सैन्य-समावेश को देख कुल की चिंता, राष्ट्र की चिंता स्वतः ही मन में उठती है। पहले कह चुके हैं कि कुल की हितचिंता तत्कालीन भारतवासियों के लिये स्वाभाविक थी, जैसे राष्ट्र की हितचिंता आधुनिक मनुष्यजाति के लिये स्वाभाविक है। किंतु क्या यह आशंका निर्मूल थी कि कुल का नाश होने से राष्ट्र का आधार नष्ट हो जायेगा ? बहुत-से लोग कहते हैं कि अर्जुन को जिस बात का भय था वास्तव में वही हुआ, कुरुक्षेत्र-युद्ध भारत की अवनति और दीर्घकालव्यापी पराधीनता का मूल कारण है। तेजस्वी क्षत्रियवंश के लोप से, क्षात्र तेज के ह्रास से भारत का भारी अमंगल हुआ है। एक विख्यात विदेशी महिला, जिनके श्रीचरणों में बहुत-से हिन्दू आज शिष्य-भाव से नतसिर हैं, यह कहने में भी कुण्ठित नहीं होतीं कि क्षत्रियों का नाश कर ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने का पथ सुगम बनाना ही था स्वंय भगवान् के अवतीर्ण होने का वास्तविक उद्देश्य। हमारा ख्याल है कि जो ऐसी असंबद्ध बातें कहते हैं वे इस विषय की गहराई में न जा अति नगण्य राजनीतिक तत्त्व के वशीभूत हो श्रीकृष्ण की राजनीति का दोष दिखाते हैं। यह राजनीतिक तत्त्व है म्लेच्छ-विद्या, अनार्य चिंतन-प्रणाली-संभूत। अनार्यगण आसुरिक बल में बलीयान् होते हैं, उसी बल को स्वाधीनता और राष्ट्रीय महत्त्व का एकमात्र आधार मानते हैं।

राष्ट्रीय महत्त्व केवल क्षात्र तेज पर ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, चतुर्वर्ण का चुतर्विध तेज ही है उस महत्त्व का आधार। सात्त्विक ब्रह्मतेज राजसिक क्षात्रतेज को ज्ञान, विनय तथा परहित-चिंतन की मधुर संजीवनी सुधा से जीवित बनाये रखता है और क्षात्र तेज रक्षा करता है शांत ब्रह्मतेज की। क्षात्रतेज-रहित ब्रह्मतेज तमोभाव द्वारा आक्रांत हो शूद्रत्व के निकृष्ट गुणों को प्रश्रय देता है, इसीलिये जिस देश में क्षत्रिय नहीं होते उस देश में ब्राह्मण का रहना निषिद्ध है। यदि क्षत्रियवंश का लोप हो जाये तो नये क्षत्रियों की सृष्टि करना ब्राह्मण का प्रथम कर्तव्य है। ब्रह्मतेज-परित्यक्त क्षात्रतेज दुर्दान्त, उद्दाम आसुरिक बल में परिणत हो पहले परहित का विनाश करने की चेष्टा करता है फिर अंत में स्वयं विनष्ट हो जाता है। रोमन कवि ने ठीक ही कहा है, असुर अपने ही बलातिरेक से पतित हो समूल नष्ट हो जाते हैं। सत्त्व रजस् की सृष्टि करे, रजः सत्त्व की रक्षा करे, सत्त्विक कार्य में नियुक्त हो, तभी व्यक्ति की और राष्ट्र की रक्षा संभव है। सत्त्व यदि रजस् को ग्रस ले, रजस् यदि सत्त्व को ग्रस ले तो तमस्

के प्रादुर्भाव से विजयी गुण स्वयं पराजित हो जाते हैं, तमोगुण का राज्य फैल जाता है। ब्राह्मण कभी राजा नहीं हो सकता, क्षत्रिय का नाश होने पर शूद्र राजा होगा, ब्राह्मण तामसिक हो अर्थ के लोभ में ज्ञान को विकृत कर शूद्र का दास बन जायेगा, आध्यात्मिक भाव निश्चेष्टता का पोषण करेगा, स्वयं म्लान हो धर्म की अवनति का कारण बनेगा। निःक्षत्रिय शूद्रचालित राष्ट्र का दासत्व है अवश्यम्भावी। यही हुई है भारत की अवस्था। दूसरी ओर आसुरिक बल के प्रभाव से क्षणिक उत्तेजना में शक्ति का संचार तथा महत्त्व की प्राप्ति तो हो सकती है पर शीघ्र ही दुर्बलता और ग्लानि आ जाती है, शक्तिक्षय से देश अवसन्न हो जाता है अथवा राजसिक विलास, दम्भ और स्वार्थ की वृद्धि से राष्ट्र अनुपयुक्त हो अपनी महत्ता की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है या फिर अंतर्विरोध, दुर्नीति और अत्याचार से देश छार-खार हो शत्रु के लिये सहजलभ्य शिकार बन जाता है। भारत और यूरोप के इतिहास में इन सब परिणामों के अनेकों दृष्टांत मिलते हैं।

महाभारत के युग में आसुरिक बल के भार से पृथ्वी डोल उठी थी। भारत में उतने तेजस्वी, पराक्रमशाली, प्रचण्ड क्षत्रिय तेज का विस्तार न तो उससे पहले कभी हुआ था न उसके बाद ही कभी हुआ, पर उस भीषण बल का सदुपयोग होने की संभावना बहुत ही कम थी। जो उस बल के धारणकर्ता थे वे सभी आसुरिक प्रकृतिवाले थे—अहंकार, दर्प, स्वार्थ और स्वेच्छाचार उनकी रग-रग में भरा था। यदि श्रीकृष्ण इस बल का नाश कर धर्मराज्य स्थापित न करते तो जिन तीन परिणामों का वर्णन किया है उनमें से एक-न-एक जरूर घटता। भारत असमय में ही म्लेच्छों के हाथ पड़ जाता। यहां स्मरण रखना चाहिये कि पांच हजार वर्ष पूर्व कुरुक्षेत्र-युद्ध हुआ था। ढाई हजार वर्ष बीतने के बाद म्लेच्छों का पहला सफल आक्रमण सिंध नदी के दूसरे पार तक पहुंच पाया था। अतएव अर्जुन द्वारा प्रतिष्ठित धर्मराज्य ने इतने दिनों तक ब्रह्मतेज-अनुप्राणित क्षात्रतेज के प्रभाव से देश की रक्षा की थी। उस समय भी संचित क्षात्रतेज देश में इतना था कि उसके भग्नांश ने ही और भी दो हजार वर्षों तक देश को बचाये रखा; चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रम, संग्रामसिंह, प्रताप, राजसिंह, प्रतापादित्य, शिवाजी इत्यादि महापुरुषों ने उसी क्षात्रतेज के बल से देश के दुर्भाग्य के साथ संग्राम किया। अभी, उसी दिन तो गुजरात के युद्ध में और लक्ष्मीबाई की चिता में उसका अंतिम स्फुलिंग निर्वापित हुआ है। उस दिन श्रीकृष्ण के राजनीति कार्य का सुफल और पुण्य क्षीण हो गया, भारत की, जगत् की रक्षा के लिये फिर से पूर्णावतार की आवश्यकता हुई। वह अवतार फिर से लुप्त ब्रह्मतेज को जगा गये, वही ब्रह्मतेज क्षात्रतेज की सृष्टि करेगा। श्रीकृष्ण ने भारत के क्षात्रतेज को कुरुक्षेत्र के रक्तसमुद्र द्वारा निर्वापित नहीं किया था, वरन् आसुरिक बल का विनाश कर ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों की ही रक्षा की थी। उन्होंने आसुरिक बलदृप्त क्षत्रियवंश के संहार से उद्दाम रजःशक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था—यह सत्य है। ऐसे महाविप्लव,

अन्तर्विरोध को दारुण दुःखभोग द्वारा क्षीण कर निगृहीत करना, उद्दाम क्षत्रियकुल का संहार करना सर्वदा अनिष्टकर नहीं होता। अंतर्विरोध से रोमन क्षत्रियकुल का नाश होने से और राजतंत्र की स्थापना से रोम का विराट् साम्राज्य अकाल ही कालकवलित होने से बच गया था। इंग्लैंड में श्वेत और रक्त गुलाब-दल के अंतर्विरोध द्वारा क्षत्रिय कुल का नाश होने के कारण चौथे एडवर्ड, आठवें हेनरी और रानी एलिजाबेथ सुरक्षित, पराक्रमशाली, विश्वविजयी आधुनिक इंग्लैंड की नींव स्थापित कर सके थे। कुरुक्षेत्र युद्ध से भारत की भी उसी तरह रक्षा हुई।

इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कलियुग में भारत की अवनति हुई है। किंतु अवनति ले आने के लिये भगवान् कभी अवतीर्ण नहीं होते। धर्मरक्षा, विश्वरक्षा, लोकरक्षा के लिये ही आते हैं अवतार। विशेषतः कलियुग में ही भगवान् पूर्ण रूप में अवतीर्ण होते हैं क्योंकि कलि में मनुष्य की अवनति का भय अधिक होता है, अधर्म की वृद्धि स्वाभाविक होती है, अतएव मानवजाति की रक्षा के लिये, अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिये, कलि की गति को रोकने के लिये इस युग में बार-बार अवतार आते हैं। श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण हुए थे तब कलि का राज्य आरंभ होने का समय हो गया था, उनके आविर्भाव से भयभीत हो कलि अपने राज्य में पदार्पण नहीं कर सके थे, उन्हीं के प्रसाद से परीक्षित ने कलि को पांच गांव देकर उसी के युग में उसके एकाधिपत्य को स्थगित कर रखा था। जिस कलियुग के आदि से अंत तक कलि के साथ मनुष्य का घोर संग्राम चल रहा है और चलता रहेगा, उस संग्राम के सहायक और नायक के रूप में भगवान् की विभूति और अवतार कलि में बार-बार आते हैं, उस संग्राम के उपयुक्त ब्रह्मतेज, ज्ञान, भक्ति, निष्काम-कर्म की शिक्षा देने तथा उनकी रक्षा करने के लिये कलि के आरंभ में भगवान् ने मानव शरीर धारण किया था। भारत की रक्षा है मानव-कल्याण का आधार और आशाओं का स्थल। भगवान् ने कुरुक्षेत्र में भारत की रक्षा की थी। उस रक्तसमुद्र में नवीन जगत् के लीलापद्म पर महाकाल विराट् पुरुष ने विहार करना आरंभ किया।

द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

अर्जुन की 'कृपा' के आवेश को, उसकी अश्रुपूर्ण आंखों और विषण्ण भाव को देख मधुसूदन ने उसे यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! इस संकट के समय यह अनार्यों द्वारा आदृत, स्वर्ग-पथ-रोधक और अकीर्तिकर मन की मलिनता कहां से आ गयी?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

हे पार्थ! हे शत्रुदमन में समर्थ! नपुंसकता का आश्रय मत लो, यह तुम्हारे लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। मन की यह क्षुद्र दुर्बलता त्याग दो, उठो।

श्रीकृष्ण का उत्तर

श्रीकृष्ण ने देखा कि 'कृपा' ने अर्जुन को अभिभूत कर लिया है, विषाद ने ग्रस लिया है। इस तामसिक भाव को दूर करने के लिये अंतर्यामी भगवान् ने अपने प्रिय सखा का क्षत्रियोचित तिरस्कार किया कि शायद इससे राजसिक भाव जागृत हो तामसिक भाव को दूर कर दे। उन्होंने कहा : देखो, यह है तुम्हारे पक्ष के लिये संकट का काल, इस समय यदि तुम हथियार रख दोगे तो उनके एकदम विपत्ति में पड़ जाने और नष्ट हो जाने की संभावना है। रणक्षेत्र में अपने पक्ष का त्याग करने की बात तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ क्षत्रिय के मन में नहीं उठनी चाहिये, हठात् यह दुर्मति कहां से आ गयी? तुम्हारा यह भाव है दुर्बलतापूर्ण और पापपूर्ण। ऐसे भाव की तो अनार्य प्रशंसा करते हैं, वे इसके वश में होते हैं, किंतु आर्य के लिये यह है अनुचित, इससे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति के मार्ग में बाधा पहुंचती है और इस लोक में यश और कीर्ति की हानि होती है। इसके बाद उन्होंने और भी मर्मभेदी शब्दों में तिरस्कार किया। यह भाव

क्लीवोचित है, तुम वीरश्रेष्ठ हो, जेता हो, कुन्ती के पुत्र हो, तुम ऐसी बात कहते हो ? प्राण की यह दुर्बलता त्यागो, उठो, अपने कर्तव्य कर्म में लग जाओ।

कृपा और दया

कृपा और दया हैं दो भिन्न भाव, यहां तक कि कृपा दया का विरोधी भाव भी हो सकता है। दया के वशीभूत हो हम जगत् का कल्याण करते हैं, मनुष्य का दुःख, राष्ट्र का दुःख, दूसरों का दुःखमोचन करते हैं। अगर हम अपना दुःख या किसी व्यक्ति-विशेष का दुःख न सह सकने के कारण उस कल्याण-कार्य से विमुख हो जायें तो हम में दया का नहीं कृपा का आवेश हुआ है। समस्त मानव-जाति या देश के दुःखमोचन के लिये जब हम तत्पर होते हैं तो वह है दया का भाव। रक्तपात के भय से, प्राणहिंसा के भय से जब हम पुण्य-कार्य से विमुख होते हैं, जगत् के, राष्ट्र के दुःख के चिरस्थायी होने में हां भरते हैं तो वह है कृपा का भाव। दूसरों के दुःख से दुःखी हो दुःखमोचन की जो प्रबल प्रवृत्ति है वह है दया। दूसरों के दुःख की चिंता से या दूसरों के दुःख को देख कातर होना है कृपा का भाव। कातरता दया नहीं, कृपा है। दया है बलवान् का धर्म और कृपा दुर्बल का। दया के आवेश से बुद्धदेव ने स्त्री-पुत्र, पिता-माता व बन्धु-बान्धवों को दुःखी और हतसर्वस्व कर जगत् का दुःख दूर करने के लिये घर त्यागा था। तीव्र दया के आवेश से उन्मत्त काली ने संसार-भर के असुरों का संहार कर, पृथ्वी को रक्त से प्लावित कर किया था सबका दुःखमोचन। परंतु अर्जुन ने शस्त्र-परित्याग किया था कृपा के आवेश से।

यह भाव है अनार्य द्वारा प्रशंसित, अनार्य द्वारा आचरित। आर्य-शिक्षा है उदार, वीरोचित, देवताओं की शिक्षा। अनार्य मोह में पड़, अनुदार भाव को धर्म मान उदार धर्म का परित्याग करते हैं। अनार्य राजसिक भाव से भावान्वित हो अपना, अपने प्रियजनों का, अपने परिवार या कुल का हित देखते हैं, विराट् कल्याण नहीं देखते, कृपावश धर्मविमुख हो, अपने को पुण्यवान् कह गर्व करते हैं, कठोर व्रती आर्यों को निष्ठुर और विधर्मी कहते हैं। अनार्य तामसिक मोह से मुग्ध हो अप्रवृत्ति को निवृत्ति कहते हैं, सकाम पुण्य-प्रियता को धर्मनीति के उच्चतम आसन पर बिठाते हैं। दया आर्यों का भाव है, कृपा अनार्यों का।

पुरुष दयावश वीर की तरह दूसरों के अमंगल और दुःख का नाश करने के लिये अमंगल के साथ युद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं। नारी दयावश दूसरे का दुःख हल्का करने में, सेवा-शुश्रूषा और देख-भाल करने में एवं परहित चेष्टा में अपनी पूरी शक्ति और जी-जान से लग जाती है। जो कृपावश अस्त्र त्यागता है, धर्म से विमुख होता है, रोने बैठ जाता है और यह सोचता है कि मैं अपना कर्तव्य कर रहा हूं, मैं पुण्यवान् हूं,

वह है क्लीव। यह भाव क्षुद्र है, दुर्बलता है। विषाद कभी धर्म नहीं हो सकता। जो विषाद को आश्रय देता है, वह पाप को आश्रय देता है। यह चित्त की मलिनता, यह अशुद्ध और दुर्बल भाव त्यागकर युद्ध की चेष्टा करना, कर्तव्य के पालन द्वारा जगत् की रक्षा करना, धर्म की रक्षा करना, पृथ्वी के भार को हल्का करना ही है श्रेयस्कर। यही है श्रीकृष्ण की उक्ति का मर्म।

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन ने कहा—

हे मधुसूदन ! हे शत्रुनाशक ! भीष्म और द्रोण का प्रतिरोध कर उन पूजनीय गुरुजनों के विरुद्ध युद्ध में मैं कैसे अस्त्र चलाऊंगा ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन उदारचेता गुरुजनों का वध न कर पृथ्वी पर भिखारी बनकर रहना ही अच्छा है। यदि मैं गुरुजनों का वध करूं तो धर्म और मोक्ष खो केवल अर्थ और काम का भोग करूंगा, वह भी रुधिर-सना विषय-भोग, पृथ्वी पर ही भोग्य, जो मरने तक ही रहता है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

इसलिये हमारी जय या पराजय कौन-सी है अधिक प्रार्थनीय, हम समझ नहीं पा रहे। जिनका वध कर देने पर हम लोगों की जीने की कोई इच्छा नहीं रह जायेगी, वे ही विपक्षी सेना के अग्रभाग में उपस्थित हैं, धृतराष्ट्र के पुत्रों के सेनानायक हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

मेरा क्षत्रिय-स्वभाव दीनता-दोष से अभिभूत हो उठा है, धर्माधर्म के विषय में बुद्धि विमूढ़ हो गयी है, इसीलिये मैं तुमसे पूछता हूं कि किस में मेरा श्रेय है यह निश्चित रूप से बताओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूं, तुम्हारी शरण आया हूं, मुझे शिक्षा दो।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥८॥

क्योंकि पृथ्वी पर असपत्न राज्य और देवताओं पर आधिपत्य प्राप्त कर लेने पर भी यह शोक मेरी इन्द्रियों का तेज सोख लेगा, इस शोक को दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता।

शिक्षा के लिये अर्जुन की प्रार्थना

अर्जुन ने श्रीकृष्ण की उक्ति का उद्देश्य समझा, अब और राजनीतिक आपत्ति नहीं उठायी; परंतु दूसरी आपत्तियों का कोई उत्तर न पा शिक्षा प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण की शरण में आये। उन्होंने कहा : "स्वीकार करता हूं कि मैं क्षत्रिय हूं, कृपा के वशीभूत हो महान् कार्य से विमुख होना मेरी अपकीर्तिजनक और धर्मविरुद्ध नपुंसकता का ही सूचक है। परंतु मन भी नहीं मानता, प्राण भी नहीं मानता। मन कहता है : गुरुजनों की हत्या महापाप है, अपने सुख के लिये गुरुजनों को मारने से अधर्म का भागी बनूंगा, मेरा धर्म, मोक्ष, परलोक, जो कुछ वांछनीय है सब कुछ जाता रहेगा। कामनाएं तृप्त होंगी, अर्थलिप्सा तृप्त होगी पर कबतक के लिये ? अधर्म द्वारा प्राप्त भोग मृत्यु तक ही टिकता है, उसके बाद होती है अकथनीय दुर्गति। और जब भोग करूंगा तब उस भोग में गुरुजनों के रक्त का स्वाद मिलने पर क्या सुख या शांति मिलेगी ? प्राण कहता है : ये हैं मेरे प्रियजन, इनकी हत्या करने से इस जन्म में फिर न कोई सुख भोग सकूंगा न जीवित ही रहना चाहूंगा। तुम चाहे मुझे समस्त पृथ्वी के साम्राज्य का भोग करने दो या स्वर्ग जीत कर इन्द्र का ऐश्वर्य, मैं नहीं मानूंगा। जो शोक मुझे अभिभूत करेगा उसके द्वारा सभी कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां अभिभूत और अवसन्न हो अपना-अपना कार्य करने में शिथिल और असमर्थ हो जायेंगी, तब तुम क्या सुख भोगोगे ? मेरे चंचल चित्त में दीनता आ गयी है, महान् क्षत्रिय-स्वभाव उस दीनता में डूब गया है। मैं तुम्हारी शरण में आया हूं। मुझे ज्ञान, शक्ति और श्रद्धा दो, श्रेयस्कर पथ दिखा मेरी रक्षा करो।"

संपूर्णतः भगवान् की शरण लेना है गीतोक्त योगमार्ग का पथ। इसे कहते हैं

आत्म-समर्पण या आत्म-निवेदन। जो भगवान् को गुरु, प्रभु, सखा, पथ-प्रदर्शक मान अन्य सब धर्मों को तिलांजलि देने के लिये तैयार हैं, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, मंगल-अमंगल का विचार न कर अपने ज्ञान, कर्म और साधना का सारा भार श्रीकृष्ण के हाथों में सौंप देते हैं, वही हैं गीतोक्त योग के अधिकारी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, "यदि तुम गुरुहत्या करने के लिये कहो तो मुझे समझा दो कि यह है धर्म और कर्तव्य कर्म, मैं वही करूंगा।" इसी गभीर श्रद्धा के बल पर अर्जुन समकालीन सभी महापुरुषों को अतिक्रम कर गीता की शिक्षा के श्रेष्ठ पात्र के रूप में चुने गये थे।

उत्तर देते हुए पहले श्रीकृष्ण ने अर्जुन की दो आपत्तियों का खण्डन किया और फिर गुरु का भार ग्रहण कर उन्हें असली ज्ञान देना आरंभ किया। ३८वें श्लोक तक आपत्तियों का खण्डन है, उसके बाद आरंभ होती है गीता की शिक्षा। किंतु इन आपत्तियों के खण्डन में कई अमूल्य शिक्षाएं मिलती हैं जिन्हें समझे बिना गीता की शिक्षा हृदयंगम नहीं होती। इन कतिपय बातों की विस्तृत आलोचना की आवश्यकता है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

संजय ने कहा—

परन्तप गुडाकेश हृषीकेश को ऐसा कहकर फिर उन गोविन्द से बोले, "मैं युद्ध नहीं करूंगा" और चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच अवस्थित विषण्ण अर्जुन को मुस्कुराते हुए यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्रीभगवान् ने कहा—

जिनके लिये शोक करने का कोई कारण नहीं उनके लिये तुम शोक करते हो, और ज्ञानी की तरह तात्त्विक विषयों पर वाद-विवाद करने की चेष्टा करते हो, किंतु

तत्त्व-ज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिये भी शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ऐसा भी नहीं है कि मैं पहले नहीं था या तुम नहीं थे या ये नृपतिवृन्द नहीं थे, यह भी नहीं कि हम सब देहत्याग करने के बाद फिर नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे इस जीव-अधिष्ठित शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था काल की गति से आती हैं वैसे ही दूसरी देहप्राप्ति भी काल की गति से होती है, इससे स्थिरबुद्धि ज्ञानी पुरुष विमूढ़ नहीं होते।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मृत्यु कुछ भी नहीं, जिस विषय-स्पर्श से शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं वे स्पर्श अनित्य हैं, आते-जाते हैं, अविचलित रह उन सबको ग्रहण करने का अभ्यास करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

जो स्थिरबुद्धि पुरुष इन स्पर्शों को भोगकर भी व्यथित नहीं होते, इनके द्वारा सृष्ट सुख-दुःख को समभाव से ग्रहण करते हैं, वही होते हैं मृत्यु को जीतने में समर्थ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो असत् है उसका अस्तित्व नहीं होता, जो सत् है उसका विनाश नहीं होता, फिर भी सत् और असत् दोनों का अंत होता है, तत्त्व-दर्शियों ने इसका दर्शन किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥१७॥

परंतु जिसने इन समस्त दृश्य जगत् का अपने अंदर विस्तार किया है उस आत्मा का क्षय नहीं होता, कोई उसका ध्वंस नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥१८॥

नित्य देहाश्रित आत्मा के इन सब शरीरों का अंत है, आत्मा असीम और अनश्वर है, इसलिये हे भारत, युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

जो आत्मा को हन्ता कहते हैं और जो देह के नाश पर आत्मा को निहत हुआ समझते हैं वे दोनों ही भ्रांत हैं, अज्ञ हैं, यह आत्मा हत्या भी नहीं करता और हत भी नहीं होता।

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

इस आत्मा का जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, इसका न कभी उद्भव हुआ और न कभी लोप होगा। यह जन्मरहित है, नित्य है, सनातन है, पुरातन है, देह के नाश होने पर हत नहीं होता।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं सः पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२१॥

जो इसे नित्य, अनश्वर और अक्षय जानते हैं, वह कैसे किसी की हत्या करते या कराते हैं?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥

जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्र उतार नया वस्त्र पहनता है वैसे ही जीव जीर्ण देह छोड़ नयी देह का आश्रय लेता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

शस्त्र इसे छेद नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

आत्मा है अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

आत्मा है अव्यक्त, अचिंत्य और विकाररहित, आत्मा को इस रूप में जान शोक करना छोड़ दो।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तुम यह मानते हो कि जीव बार-बार जनमता और मरता है, तब भी उसके लिये शोक करना उचित नहीं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जिसका जन्म होता है, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है, जिसकी मृत्यु होती है, उसका निश्चय ही जन्म होता है, अतएव जब मृत्यु अपरिहार्य परिणाम है तो उसके लिये शोक करना है अनुचित।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

सभी प्राणी प्रारम्भ में अव्यक्त होते हैं मध्य में व्यक्त होते हैं और फिर अन्त में अव्यक्त होते हैं, इस स्वाभाविक क्रम में शोक करने का कोई कारण ही नहीं।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आत्मा को कोई एक आश्चर्य के रूप में देखता है, कोई एक आश्चर्य कहकर उसके विषय में बोलता है, कोई एक आश्चर्य समझकर इसके बारे में सुनता है, किन्तु सुन कर भी कोई आत्मा को नहीं जान पाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

आत्मा सदा सब की देह में अवध्य होकर रहता है, अतएव सब प्राणियों के लिये शोक करना कभी उचित नहीं।

मृत्यु की असत्यता

अर्जुन की बात सुन श्रीकृष्ण के आनन पर हंसी की झलक दिखायीं दी, वह हंसी परिहासमय होते हुए भी प्रसन्नतापूर्ण थी—अर्जुन के भ्रम में मानवजाति के प्राचीन भ्रम को पहचान अंतर्यामी हंसे। वह भ्रम श्रीकृष्ण की माया से ही उत्पन्न हुआ है, जगत् में अशुभ, दुःख या दुर्बलता का भोग और संयम द्वारा क्षय करने के लिये ही उन्होंने मनुष्य को इस माया के वशीभूत किया है। प्राण की ममता, मरने का भय, सुख-दुःख की अधीनता और प्रिय-अप्रिय का बोध आदि अज्ञान अर्जुन की बातों से साफ झलकता था, इसी अज्ञान को मनुष्य की बुद्धि से दूर कर जगत् को अशुभ से मुक्त करना आवश्यक था, इसी शुभ कार्य के अनुकूल अवस्था प्रस्तुत करने के लिये श्रीकृष्ण आये थे, गीता को प्रकट करने जा रहे थे। परंतु पहले, अर्जुन के मन में जो भ्रम उत्पन्न हुआ था उसका भोग द्वारा क्षय करना आवश्यक था। अर्जुन श्रीकृष्ण के सखा थे, मानवजाति के प्रतिनिधि थे, उन्हीं को गीता सुनानी थी, वही थे श्रेष्ठ पात्र; किन्तु मानवजाति अभीतक गीता का अर्थ ग्रहण करने के योग्य नहीं हुई है, अर्जुन भी संपूर्ण अर्थ ग्रहण नहीं कर सके। जो शोक, दुःख और कातरता उनके मन में उठी थी उसे कलियुग के आरंभ से ही मानवजाति पूर्ण मात्रा में भोगती आ रही है, ईसाई धर्म प्रेम से, बौद्ध धर्म दया से और इस्लाम धर्म शक्ति से इस दुःख के भार को हल्का करने के लिये आये हैं। आज कलियुगांतर्गत सत्ययुग का प्रथम खण्ड आरंभ होगा, भगवान् फिर से भारत को, कुरुजाति के वंशधरों को गीता प्रदान कर रहे हैं, यदि इसे ग्रहण करने में, धारण करने में समर्थ हों तो इससे भारत का, जगत् का मंगल सुनिश्चित फल है।

श्रीकृष्ण ने कहा : अर्जुन ! तुम पण्डितों की तरह पाप-पुण्य का विचार कर रहे हो, जीवन और मरण के तत्त्व की चर्चा कर रहे हो, किस बात से राष्ट्र का कल्याण या अकल्याण होता है इसको प्रतिपादित करने की चेष्टा कर रहे हो, किन्तु वास्तविक ज्ञान का परिचय तुम्हारी बातों से नहीं मिलता, बल्कि तुम्हारी प्रत्येक बात है घोर अज्ञानपूर्ण। साफ-साफ कहो कि मेरा हृदय दुर्बल है, शोक से कात[illegible] है, बुद्धि कर्तव्य-विमुख हो गयी है; ज्ञानी की भाषा में अज्ञानी की तरह तर्क कर अपनी दुर्बलता का समर्थन करने का कोई प्रयोजन नहीं। शोक मनुष्य-मात्र के हृदय में उत्पन्न होता है,

मनुष्य-मात्र के लिये ही मरण और विच्छेद है अत्यंत भयंकर, जीवन अत्यंत मूल्यवान्, शोक असह्य और कर्तव्य एक कठोर वस्तु होता है, स्वार्थसिद्धि को मधुर जानकर हर्षित होता है, दुःखित होता है, हंसता है, रोता है, किंतु इन सब वृत्तियों को कोई ज्ञानप्रसूत नहीं कहता। जिनके लिये शोक करना अनुचित है उनके लिये तुम शोक कर रहे हो। ज्ञानी किसी के लिये भी शोक नहीं करते—न मृत व्यक्ति के लिये, न जीवित के लिये। वे तो यह जानते हैं कि न मृत्यु है, न विच्छेद और न दुःख, हम अमर हैं, हम सदा एक हैं, हम आनंद की संतान हैं, अमृत की संतान हैं, इस पृथ्वी पर जीवन-मरण के साथ, सुख-दुःख के साथ आंख-मिचौली खेलने आये हैं—प्रकृति के विशाल रंगमंच पर रोने-हंसने का अभिनय करते हैं, शत्रु-मित्र बन युद्ध और शांति, प्रेम और कलह का रसास्वादन करते हैं। यह जो हम थोड़े समय तक बचे रहते हैं, कल-परसों देह त्याग कहां चले जायेंगे पता नहीं, यह है हमारी अनंत क्रीड़ा का एक मुहूर्त-मात्र, क्षणिक खेल, कुछ ही क्षणों का भाव। हम थे, हम हैं, हम रहेंगे—सनातन नित्य, अनश्वर—हम हैं प्रकृति के ईश्वर, जीवन-मरण के कर्ता, भगवान् के अंश, भूत, वर्तमान और भविष्य के स्वामी। जैसे शरीर की बाल्य, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही देहान्तरप्राप्ति भी—मरण केवल एक नाम है, हम नाम सुनकर डरते हैं, दुःखी होते हैं, यदि ठीक-ठीक समझते तो न डरते, न दुःखी ही होते। यदि हम बालक की यौवनप्राप्ति को मरण समझें और रोते हुए यह कहें कि हाय! हमारा वह प्रिय बालक कहां चला गया, यह युवा पुरुष तो वह बालक नहीं, हमारा वह सोने का चांद किधर गया, तो हमारे इस व्यवहार को सभी हास्यास्पद और घोर अज्ञानप्रसूत ही कहेंगे; क्योंकि यह अवस्थांतर-प्राप्ति प्रकृति का नियम है, बालक-शरीर में और युवक-शरीर में एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तन से अतीत स्थिरतापूर्वक विराजमान हैं। ज्ञानी साधारण मनुष्य में मृत्यु का भय और मृत्यु का दुःख देख उसके इस व्यवहार को ठीक उसी तरह हास्यास्पद और घोर अज्ञानजनित मानता है, क्योंकि देहान्तर-प्राप्ति प्रकृति का नियम है, स्थूल देह और सूक्ष्म देह में एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तन से अतीत स्थिरतापूर्वक विराजमान हैं। अमृत की संतान हैं हम, कौन मरता-मारता है? मृत्यु हमारा स्पर्श नहीं कर सकती—मृत्यु एक निरर्थक शब्द है, मृत्यु भ्रम है, मृत्यु नाम की कोई चीज नहीं।

मात्रा

पुरुष अचल है और प्रकृति सचल। सचल प्रकृति में अचल पुरुष अवस्थित है। प्रकृतिस्थ पुरुष पंचेन्द्रिय द्वारा जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, स्वाद लेता और स्पर्श करता है उसी का भोग करने के लिये वह प्रकृति की सहायता लेता है। हम रूप

देखते हैं, शब्द सुनते हैं, गंध सूंघते हैं, रस का स्वाद लेते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएं ही हैं इंद्रिय-भोग के विषय। छठी इन्द्रिय है मन का विशेष विषय संस्कार। बुद्धि का विषय है चिंतन। पंच तन्मात्राओं और संस्कार एवं चिंतन का अनुभव और भोग करने के लिये है पुरुष-प्रकृति का पारस्परिक संभोग और अनंत क्रीड़ा। यह भोग है दो प्रकार का, शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध भोग में सुख-दुःख नहीं होता, पुरुष का चिरन्तन स्वभावसिद्ध धर्म आनंद ही है। अशुद्ध भोग में सुख-दुःख होता है, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हर्ष-शोक इत्यादि द्वंद्व अशुभ भोग-भोगियों को विचलित और विक्षुब्ध करते हैं। कामना है अशुद्धता का कारण। कामी-मात्र ही हैं अशुद्ध, जो निष्काम है वह है शुद्ध। कामना से राग और द्वेष पैदा होते हैं, राग-द्वेष के वश में हो पुरुष विषयों में आसक्त होता है और आसक्ति का फल है बन्धन। पुरुष विचलित और विक्षुब्ध, यहांतक कि व्यथित और यन्त्रणा से पीड़ित होने पर भी आसक्ति का अभ्यस्त हो जाने के कारण अपने क्षोभ, व्यथा या यन्त्रणा के कारण का परित्याग करने में असमर्थ होता है।

समभाव

श्रीकृष्ण ने पहले आत्मा की नित्यता का उल्लेख किया और फिर अज्ञान के बंधन को ढीला करने का उपाय बताया। मात्रा अर्थात् विषय के नाना स्पर्श हैं सुख-दुःख आदि द्वंद्व के कारण। ये सब स्पर्श हैं अनित्य, इनका आरंभ भी है और अंत भी। इन्हें अनित्य जान आसक्ति त्यागनी चाहिये। अनित्य वस्तु में जब हम आसक्त होते हैं तब उस वस्तु के आगमन से खुश होते और उसका नाश या अभाव होने पर दुःखित और व्यथित होते हैं। इस अवस्था को अज्ञान कहते हैं। अज्ञान द्वारा अनश्वर आत्मा का सनातन भाव और यथार्थ आनंद आच्छादित हो जाता है, केवल क्षणभंगुर भाव और वस्तु में ही मत्त हुए रहते हैं, उसका नाश होने पर मारे दुःख के शोकसागर में डूब जाते हैं। इस प्रकार अभिभूत न हो जो विषयों के स्पर्श को सह सकता है, अर्थात् जो द्वंद्वों की प्राप्ति होने पर भी सुख-दुःख में, सर्दी-गर्मी में, प्रिय-अप्रिय में, मंगल-अमंगल में, सिद्धि-असिद्धि में हर्ष और शोक का अनुभव न कर उनको समान भाव से, प्रफ्फुलित चित्त से, हंसते हुए ग्रहण कर सकता है वह पुरुष राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है, अज्ञान के बन्धनों को काट सनातन भाव और आनंद को उपलब्ध करने में समर्थ होता है—*अमृतत्वाय कल्पते*।

समता की विशेषता

यह समता है गीता की पहली शिक्षा। समता ही है गीतोक्त साधना का आधार। यूनान के स्टोइक (Stoic) संप्रदाय ने भारत से इसी समता की शिक्षा प्राप्त कर यूरोप में समतावाद का प्रचार किया था। यूनानी दार्शनिक एपिक्युरस ने श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित शिक्षा का एक और पक्ष लेकर शांत भोग की शिक्षा, (Epicureanism) या भोगवाद का प्रचार किया था। ये दो मत, समतावाद और भोगवाद प्राचीन यूरोप में श्रेष्ठ नैतिक मत माने जाते थे और आधुनिक यूरोप में भी नया आकार धारण कर उन्होंने Puritanism (पवित्रतावाद) और Paganism (मूर्तिपूजावाद) के चिर द्वंद्व की सृष्टि की है। परंतु गीतोक्त साधना में समतावाद और शांत या शुद्ध भोग एक ही बात है। समता कारण है और शुद्ध भोग कार्य। समता से आसक्ति नष्ट होती है, राग-द्वेष प्रशमित होता है और आसक्ति का नाश तथा रागद्वेष का प्रशमन होने से शुद्धता उत्पन्न होती है। शुद्ध पुरुष का भोग कामना और आसक्ति रहित होता है, अतएव शुद्ध होता है। इसी कारण समता की यह विशेषता है कि समता के साथ आसक्ति और रागद्वेष एक ही आधार में साथ-साथ नहीं रह सकते। समता ही है शुद्धि का बीज।

दुःख पर विजय

यूनानी स्टोइक सम्प्रदाय ने यह भूल की कि वे दुःख-विजय का यथार्थ उपाय न समझ सके। उन्होंने दुःख को निग्रह द्वारा दबा, पददलित कर जीतने की चेष्टा की। किंतु गीता में अन्यत्र कहा गया है : *प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।* भूत-मात्र अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं, निग्रह करने से क्या होगा ? दुःख के निग्रह से मनुष्य का हृदय शुष्क, कठोर और प्रेमशून्य हो जाता है। दुःख में आंसू नहीं बहाऊंगा, यंत्रणा-बोध को नहीं स्वीकारूंगा, 'यह कुछ नहीं है' कह चुपचाप सहन कर लूंगा, स्त्री का दुःख, संतान का दुःख, बंधु का दुःख, देश का दुःख अविचलित चित्त से देखूंगा—इस प्रकार का भाव है बलगर्वित असुर का तपस्या-भाव; इसका भी महत्त्व है, मनुष्य की उन्नति के लिये इसकी भी आवश्यकता है, किंतु यह दुःख पर जय पाने का वास्तविक उपाय नहीं, अंतिम या चरम शिक्षा नहीं। दुःख-जय का वास्तविक उपाय है ज्ञान, शांति और समता। शांत भाव से सुख-दुःख को ग्रहण करना ही है वास्तविक पथ। प्राण में होनेवाले सुख-दुःख के संचार को रोकना नहीं चाहिये, बल्कि बुद्धि को अविचलित रखना चाहिये। समता का स्थान बुद्धि है, चित्त और प्राण नहीं। बुद्धि सम होने पर चित्त और प्राण अपने-आप सम हो जाते हैं और प्रेम आदि प्रकृतिजात प्रवृत्तियां भी नहीं सूखतीं, मनुष्य पत्थर नहीं हो जाता, जड़ और निर्जीव

नहीं बन जाता। *प्रकृतिं यान्ति भूतानि*—प्रेम इत्यादि प्रवृत्तियां हैं प्रकृति की चिरंतन प्रवृत्तियां, उनके हाथ से परित्राण पाने का एकमात्र उपाय है परब्रह्म में विलीन हो जाना। प्रकृति में रहते हुए प्रकृति का त्याग करना है असंभव। यदि हम कोमलता का परित्याग करें तो कठोरता हृदय को अभिभूत कर लेगी—यदि बाहर दुःख के स्पन्दन को पास न आने दें तो दुःख भीतर जमा रहेगा और अलक्षित रूप से प्राण को सुखा देगा। इस प्रकार की कृच्छ्र साधना से उन्नति की कोई संभावना नहीं। ऐसी तपस्या से शक्ति तो प्राप्त होगी पर इस जन्म में जिस चीज को दबा कर रखेंगे दूसरे जन्म में वह सभी अवरोधों को तोड़-फोड़ दुगने वेग के साथ उमड़ आयेगी।

उपनिषद् और वेद

उपनिषद्

हमारा धर्म अत्यंत विशाल और नाना शाखा-प्रशाखाओं से सुशोभित है। उसका मूल है गभीरतम ज्ञान पर आरूढ़ और शाखाएं कर्म के सुदूर प्रांतों तक फैली हुई। जिस तरह गीता का अश्वत्थ वृक्ष है *ऊर्ध्वमूलः* और *अधःशाखः*, उसी तरह यह धर्म है ज्ञानप्रतिष्ठित और कर्मप्रेरक। निवृत्ति है उसकी नींव, प्रवृत्ति है उसका घर, छत और दीवाल तथा मुक्ति है उसका शिखर। मानवजाति का सारा जीवन इस हिन्दूधर्म के विशाल वृक्ष पर आश्रित है।

सभी कहते हैं कि वेद हिन्दूधर्म का आधार है, किंतु थोड़े लोग ही उस आधार के स्वरूप और मर्म से अवगत हैं; प्रायः ही हम शाखा के अग्रभाग में बैठ दो एक सुस्वादु नश्वर फल चख मत्त हो जाते हैं, मूल की कोई खोज-खबर ही नहीं रखते। हमने सुना अवश्य है कि वेद के दो भाग हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड; किंतु यह नहीं जानते कि असल कर्मकांड क्या है, ज्ञानकांड क्या है ? हमने मैक्स मूलर-कृत ऋग्वेद की व्याख्या या रमेशचन्द्र दत्त का बंगला अनुवाद चाहे पढ़ लिया हो, पर नहीं जानते कि ऋग्वेद क्या है। मैक्स मूलर और दत्त महोदय से हमें यह ज्ञान मिला है कि ऋग्वेद के ऋषि प्रकृति के बाह्य पदार्थों या भूतमात्र की पूजा करते थे। सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि इत्यादि के स्तव-स्तोत्र ही हैं सनातन हिन्दूधर्म का वह अनाद्यनन्त अपौरुषेय मूल ज्ञान। हम इसी पर विश्वास कर वेदों का, ऋषियों का और हिन्दूधर्म का अपमान करते हैं और समझते हैं कि हम बड़े ही विद्वान् हैं, बड़े 'आलोकप्राप्त' हैं। इस बात का बिलकुल कोई अनुसंधान ही नहीं करते कि असली वेद में वास्तव में है क्या और क्या कारण है कि शंकराचार्य प्रभृति महाज्ञानी और महापुरुष इन स्तव-स्तोत्रों को अनाद्यनन्त संपूर्ण अभ्रान्त ज्ञान मानते थे।

अथवा उपनिषद् ही क्या है—इसे भी बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। जब उपनिषदों की चर्चा करते हैं तब हम प्रायः ही शंकराचार्य के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व के द्वैतवाद इत्यादि दार्शनिक व्याख्याओं की बात सोचते हैं। असली उपनिषदों में क्या लिखा है, उसका प्रकृत अर्थ क्या है, क्यों परस्पर-विरोधी षड्दर्शन इस एक ही मूल से उत्पन्न हुए हैं, षड्दर्शन के अतिरिक्त कोई निगूढ़ अर्थ इस ज्ञान-भंडार से प्राप्त हो सकता है या नहीं—इन पर हम विचार भी नहीं करते। शंकर ने जो अर्थ किया था उसे ही हम हजारों वर्षों से स्वीकार करते चले आ रहे हैं, शंकर की व्याख्या ही हमारा वेद है, हमारी उपनिषद् है; कष्ट उठा असली उपनिषदें भला कौन पढ़े ? अगर पढ़े भी तो शंकर-विरोधी कोई व्याख्या देखते ही उसे भूल समझ उसे त्याग देते हैं। परंतु उपनिषदों में केवल शंकर-लब्ध ज्ञान नहीं है, भूत, वर्तमान और भविष्य में जो आध्यात्मिक ज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त हुए हैं या होंगे उन सबको आर्य ऋषि और महायोगी अत्यंत संक्षेप में निगूढ़ अर्थप्रकाशक श्लोकों में निहित कर गये हैं।

उपनिषद् क्या है ? जिस अनाद्यनन्त गभीरतम सनातन ज्ञान पर सनातन धर्म प्रतिष्ठित है, उसी ज्ञान का भांडार हैं उपनिषदें। चारों वेदों के सूक्तों में पाया जाता है वह ज्ञान, किंतु उपमा के बहाने, स्तोत्रों के बाहरी अर्थ द्वारा ढका हुआ है, जैसे दर्पण में मनुष्य की प्रतिमूर्ति। उपनिषदें हैं अनाच्छन्न परम ज्ञान, असली मनुष्य के अनावृत अवयव। ऋग्वेद के वक्ता ऋषियों ने ईश्वरीय प्रेरणा से आध्यात्मिक ज्ञान को शब्दों और छन्दों में प्रकट किया था, उपनिषदों के ऋषियों ने साक्षात् दर्शन द्वारा उस ज्ञान का स्वरूप देख थोड़े और गंभीर शब्दों में उसे व्यक्त किया। अद्वैतवाद इत्यादि ही क्यों, उसके बाद जितने भी दार्शनिक विचार और वाद भारत में, यूरोप में, एशिया में सृष्ट हुए—नाममात्रवाद (Nominalism), यथार्थवाद (Realism); शून्यवाद, डारविन का क्रमविकास, कोंत का प्रत्यक्षवाद (Positivism), हेगेल, कांट, स्पिनोजा, शोपेनहावर, उपयोगितावाद (Utilitarianism) सुखवाद (Hedonism)—इन सब को उपनिषद् के ऋषियों ने अपने साक्षात्कार द्वारा अनुभव तथा व्यक्त किया था। परंतु अन्यत्र जिसे हम खंड रूप में देखते हैं, जो सत्य का अंश-मात्र होने पर भी संपूर्ण सत्य के रूप में प्रचारित है, सत्य-मिथ्या मिला विकृत रूप में वर्णित है, वह उपनिषदों में पूर्ण रूप में, अपने प्रकृत संबंध में आबद्ध हो शुद्ध और अभ्रांत रूप में लिपिबद्ध है। अतएव शंकर की व्याख्या से या और किसी की भी व्याख्या से सीमाबद्ध न हो उपनिषदों का वास्तविक, गभीर और अखंड अर्थग्रहण करने की चेष्टा करनी चाहिये।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है गूढ़ स्थान में प्रवेश करना। ऋषियों ने तर्क के बल पर, विद्या का प्रसार कर, प्रेरणा के स्रोत से उपनिषदुक्त ज्ञान को प्राप्त नहीं किया था, बल्कि मन की निभृत कोठरी के जिस स्थान में सम्यक् ज्ञान की चाभी लटक रही है, योग द्वारा अधिकारी बन उसी कोठरी में प्रवेश कर उन्होंने वह चाभी प्राप्त की और अभ्रांत ज्ञान के विशाल राज्य के राजा बने। वह चाभी हस्तगत हुए बिना उपनिषदों का प्रकृत अर्थ नहीं खुलता। केवल तर्क-बल पर उपनिषदों का अर्थ करना और घने जंगल में मोमबत्ती के प्रकाश में तुंग वृक्षों के शिखरों को निरीक्षण करना एक जैसी बात है। साक्षात् दर्शन ही है वह सूर्यालोक जिससे सारा अरण्य आलोकित हो अन्वेषणकारी को नयनगोचर होता है। योग द्वारा ही प्राप्त हो सकता है साक्षात् दर्शन।

पुराण

पिछले प्रबंध में उपनिषदों की बात लिखी है और उपनिषदों का प्रकृत और पूर्ण अर्थ समझने की प्रणाली बतलायी है। जैसे उपनिषदें हिन्दूधर्म का प्रमाण हैं वैसे पुराण भी। जैसे श्रुति प्रमाण है वैसे स्मृति भी, किंतु एक ही श्रेणी के नहीं। श्रुति और प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ यदि स्मृति का विरोध हो तो स्मृति का प्रमाण ग्राह्य नहीं। जो कुछ योगसिद्ध दिव्य-चक्षुप्राप्त ऋषियों ने प्रत्यक्ष दर्शन किया, जो कुछ अंतर्यामी जगद्गुरु ने उनकी विशुद्ध बुद्धि को श्रवण कराया, वही है श्रुति। जो कुछ प्राचीन ज्ञान और विद्या है, जो कुछ पुरुष-परंपरा से रक्षित होता आया है, वही है स्मृति। स्मृति-ज्ञान बहुतों के मुंह से, बहुतों के मन में परिवर्तित, विकृत तक होता हुआ आ सकता है, अवस्था-भेद के अनुसार नया-नया मत और आवश्यकता के अनुसार नया-नया रूप धारण करता हुआ आ सकता है। अतएव स्मृति को श्रुति की तरह अभ्रांत नहीं कहा जा सकता। स्मृति अपौरुषेय नहीं, यह है मनुष्य के सीमाबद्ध परिवर्तनशील मत और बुद्धि की सृष्टि।

स्मृतियों में पुराण प्रधान हैं। उपनिषदों के आध्यात्मिक तत्त्व पुराणों में उपन्यास और रूपकों में परिणत हुए हैं, उनमें भारत का इतिहास, हिन्दूधर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि और अभिव्यक्ति, प्राचीन सामाजिक अवस्था, आचार, पूजा, योगसाधना, चिन्तनप्रणाली अनेक आवश्यक बातें पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणकार या तो सिद्ध थे या साधक : उनका ज्ञान और साधना से प्राप्त उपलब्धि ही उनके द्वारा रचित पुराणों में लिपिबद्ध है। वेद और उपनिषद् हैं हिन्दूधर्म के मूल ग्रन्थ। पुराण हैं इन ग्रंथों की व्याख्या। व्याख्या कभी मूल ग्रंथ के समान नहीं हो सकती। तुम जो व्याख्या करो वही व्याख्या मैं नहीं भी कर सकता, पर मूल ग्रंथ को परिवर्तित या अग्राह्य करने का अधिकार किसी को भी नहीं। जो वेद और उपनिषद् में नहीं मिलता वह हिन्दूधर्म के अंग के रूप में गृहीत नहीं हो सकता, परंतु पुराणों के साथ मेल न होने पर भी नया विचार गृहीत हो सकता है। व्याख्या का मूल व्याख्याकार की मेधाशक्ति, ज्ञान और विद्या पर निर्भर है। जैसे, व्यासदेव-रचित पुराण यदि विद्यमान रहता तो उसका आदर प्रायः श्रुति के समान होता; उसके और लोमहर्षण के रचे पुराण के अभाव में जो अष्टादश पुराण विद्यमान हैं उनमें, सब का समान आदर न कर, विष्णु और भागवत पुराण जैसी योगसिद्ध व्यक्ति की रचनाओं को अधिक मूल्यवान् कहना होगा, शिव या अग्नि पुराण की अपेक्षा गभीर, ज्ञानपूर्ण मानना होगा। पर जब वेदव्यास का पुराण आधुनिक पुराणों का आदि-ग्रंथ है तब इनमें जो निकृष्ट हैं उनमें भी हिन्दूधर्म के तत्त्व को प्रकट करनेवाली अनेक बातें निश्चय ही वर्तमान हैं, और जब निकृष्ट पुराण भी जिज्ञासु या भक्त योगाभ्यासरत साधक का लिखा है तब रचयिता का स्वप्रयास-लब्ध ज्ञान और विचार भी आदरणीय हैं।

वेद और उपनिषद् से पुराणों को अलग कर अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त लोगों ने वैदिक धर्म और पौराणिक धर्म के नाम से जो मिथ्या भेद किया वह भ्रम और अज्ञान-संभूत है। पुराण वेद और उपनिषद् के ज्ञान को सर्वसाधारण को समझाते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं, सविस्तार आलोचना करते हैं, उसे जीवन के छोटे-मोटे क्रिया-कलापों में लगाने की चेष्टा करते हैं, और इसीलिये वे हिन्दूधर्म के प्रमाण-ग्रंथों में गिने जाते हैं। जो वेद और उपनिषद् को भूल पुराण को स्वतंत्र और यथेष्ट प्रमाण मानते हैं वे भी भ्रांत हैं। इससे हिन्दूधर्म का अभ्रांत और अपौरुषेय मूल ही छूट जाता है और भ्रम तथा मिथ्या ज्ञान को प्रश्रय मिलता है। इससे वेद का अर्थ, साथ ही पुराण का प्रकृत अर्थ लुप्त हो जाता है। पुराण को वेद के परिप्रेक्ष्य में रख कर पुराण का उपयोग करना होगा।

कर्मयोग का प्रधान तत्त्व

१. इस चला पृथ्वी में जो कुछ भी चल है सभी मानों ईश्वर द्वारा आवृत और आच्छादित है। इन सब का त्याग कर भोग करो, किसी के धन पर लोभी दृष्टि मत डालो।

२. इस लोक में कर्म करना ही श्रेयस्कर है, कर्म करते हुए सौ साल तक जीने की इच्छा करो। ऐसे कर्मयोग में, जिसका लक्षण है त्याग द्वारा भोग, मनुष्य की बुद्धि अपने किये काम से निर्लिप्त रहती है, तुम मनुष्य हो इससे भिन्न तुम्हारी कोई और गति नहीं।

३. जिन अंध तिमिरावृत लोकों को असुर लोक कहते हैं, जो आत्म-हत्या करते हैं वे देह-त्याग के बाद उन्हीं लोकों को जाते हैं।

ईश्वर क्या हैं ? वे हैं परब्रह्म, आत्मा

४. जो एक हैं, जो अचल होकर भी मन से भी वेगवान हैं, देवता उनके पीछे दौड़ने पर भी उन्हें पकड़ नहीं पाते, और सभी दौड़ते हैं, वे खड़े रहते हुए भी उनसे आगे निकल जाते हैं। उसके अंदर आकाश में बहनेवाला प्राणरूप वायु जल के सारे विकारों को विहित स्थानों में स्थापित करता है।

५. वह चल है फिर भी अचल है, वह दूर है फिर भी निकट है, वह सबके भीतर है पर सब के बाहर भी है।

सर्वत्र आत्म-दर्शन का फल

६. जो सर्व भूत को आत्मा के भीतर और सर्व भूतों में आत्मा को देखते हैं वे कभी दूसरों के प्रति द्वेष नहीं रखते, किसी भी तरह उनमें घृणा का उद्रेक नहीं होता।

७. उनमें ज्ञान है और उनके चित्त में सर्वभूत में आत्मा ही अनुभूत होती है, ऐसी अवस्था में मोह या शोक कैसे हो सकता है ? वे सर्वत्र एकत्व देखते हैं; यानी एक ईश्वर को ही देखते हैं।

कौन है ईश्वर ?

८. वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं। जो ज्योतिर्मय, निराकार, दोषरहित, जिनके स्नायु आदि कुछ नहीं हैं, जो शुद्ध हैं, जिन्हें पाप ने स्पर्श नहीं किया है, वे ही हैं। वे ज्ञानस्वरूप प्राज्ञ हैं, वे मनोमय हिरण्यगर्भ हैं, वे ही सर्वव्यापी विराट् हैं, वे स्वयंभू तुरीय हैं। उन्होंने ही अनादि काल से सभी वस्तुओं का उनके स्वभाव और धर्म के अनुसार विधान किया है।

विद्या और अविद्या के संबंध

९. जो अविद्या का ही सेवन करते हैं वे अन्ध तिमिर में प्रवेश करते हैं, जो विद्या में रत हैं वे मानों और भी घने अंधकार में निमग्न होते हैं।

१०. विद्या में एक फल विहित है तो अविद्या में और एक फल। जिन धीर पुरुषों से हमने परब्रह्म का ज्ञान पाया है उन्होंने ही ऐसा बताया है।

११. जो विद्या और अविद्या दोनों को जानते हैं वे अविद्या द्वारा मृत्यु के पार जा कर विद्या द्वारा अमृतत्व का भोग करते हैं।

१२. जो अव्यक्त प्रकृति की ही उपासना करते हैं वे अंध तिमिर में प्रवेश करते हैं, जो व्यक्त प्रकृति में रत रहते हैं वे मानों और भी घने तिमिर में निमग्न होते हैं।

१३. जन्म से एक फल होता है, जन्म के वर्णन से एक और फल। जिन धीर पुरुषों से हमने परब्रह्म के तत्त्व का ज्ञान पाया है उन्होंने ही हमें ऐसा बताया है।

१४. जो संभूति और विनाश उभय को जानते हैं वे विनाश द्वारा मृत्यु को पार कर संभूति में अमृतत्व का भोग करते हैं।

योग-सिद्धि के लिये प्रार्थना

१५. सत्य के मुंह को स्वर्णमय ढकने से ढक कर रखा गया है। हे सूर्य, सत्य ही है हमारा धर्म, सत्य-दर्शनार्थ तुम इस ढक्कन को हमारे लिये हटा लो।

१६. हे सूर्य, हे पूषण, हे एकमात्र ज्ञानी, हे यम, हे प्रजापति-तनय, अपने किरण-जाल को हटा लो, फिर (सूर्यमंडल के भीतर) उसे संहत करो। जो ज्योति तुम्हारे (अष्ट रूपों में) सर्वश्रेष्ठ हो और सुन्दर-स्वरूप हो उसे जैसे देख पाऊं। जो पुरुष वहां अवस्थित है वह मैं ही हूं।

१७. यह जो हमारे प्राण हैं वह वायु से भिन्न और कुछ नहीं, शरीर भस्म में परिणत हो जाता है, यही है मृत्युरहित। हे शक्ति के आधार मन, स्मरण कर, अपने किये कर्मों का स्मरण कर। हे मन, स्मरण कर, सब कर्मों का स्मरण कर।

१८. हे अग्निदेव, सभी कर्मों को जानते हुए सुपथ से मंगल धाम की ओर हमें ले चलो। हमारी कुटिल पाप-वृत्तियों को आत्मसात् करो। हम तुम्हें बारंबार नमस्कार करते हैं।

* * *

शंकराचार्य ने ईशा उपनिषद् के ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड को अलग-अलग और परस्पर-विरोधी शिक्षा समझकर ऐसी ही व्याख्या की है। शंकर हैं ज्ञानमार्गी अद्वैतवादी —वेद में सर्वत्र ज्ञानमार्ग की प्रशंसा और कर्म की हीनता को, अद्वैतवाद के परिपोषक अर्थ को ही देखा है। दूसरे आचार्यों ने दूसरी तरह से व्याख्या की है। जहां नाना मुण्ड

और नाना मत हों वहां हम किस पथ का अनुसरण करें ? विवेचना करते समय हमें प्रत्येक शब्द के सरल स्वाभाविक अर्थ पर निर्भर रह उपनिषद् स्वयं क्या कहती हैं वही देखना चाहिये। किसी भी "वाद" की तरफ अर्थ की खींचतान से व्याख्या में घपला ही होगा। और एक बात याद रखनी चाहिये—उपनिषदों के ऋषियों ने तर्क के आधार पर किसी सिद्धांत पर पहुंच कुछ नहीं कहा। वे द्रष्टा थे—योगमार्ग में जिसका उन्होंने दर्शन किया उसे ही व्यक्त किया, उसका ही तर्क द्वारा समर्थन किया है। किंतु तर्क प्रमाण नहीं, दर्शन ही प्रमाण है। जो तर्क के आधार पर किसी सिद्धांत पर पहुंचते हैं वे यथार्थ दार्शनिक नहीं। जो तत्त्वदर्शी हैं वे ही हैं वास्तविक दार्शनिक। इन दो नियमों को आधार बना हम ईशा उपनिषद् की व्याख्या के लिये प्रवृत्त हुए हैं। हर श्लोक की व्याख्या कर बाद में इस उपनिषद् में जो ज्ञान की शिक्षा दी गयी है उसकी आलोचना करेंगे। 'धर्म' पत्रिका में गीता की व्याख्या प्रकाशित हो रही है, गीता के अनेक तथ्यों के प्रमाण इस उपनिषद् में मिलते हैं ऐसा जानकर ही ईशा उपनिषद् और गीता की व्याख्या साथ-ही-साथ देना युक्तिसंगत लगा।

उपनिषदों में पूर्णयोग

पूर्णयोग है नरदेह में देवजीवन, आत्मप्रतिष्ठित और भगवत्-शक्ति-चालित पूर्ण लीला जिसे हम मनुष्य-जन्म का चरम उद्देश्य बतलाते और प्रचारित करते हैं, इस सिद्धांत का मूल आधार जैसे कोई बुद्धिरचित नवीन विचार नहीं वैसे किसी प्राचीन पोथी का अक्षर भी नहीं; न किसी लिखित शास्त्र के प्रमाण या दार्शनिक सूत्र की दुहाई ही इसके लिये दी जा सकती है। इसका आधार है पूर्णतर अध्यात्मज्ञान, आधार है आत्मा में, बुद्धि में, हृदय में, प्राण में, देह में भागवत सत्ता की ज्वलंत अनुभूति। यह ज्ञान कोई नया आविष्कार नहीं, यह है अति पुरातन, नितान्त सनातन। यह अनुभूति है वेद के प्राचीन ऋषियों की, उपनिषदों के सत्यद्रष्टा चरम ज्ञानियों—*सत्यश्रुतः कवयः*—की। कलि के पतित भारत की नैराश्यग्रस्त क्षुद्राशयता में और विफलप्रयत्न प्राण में यह विचार नया-सा भले ही सुनायी देता हो जहां प्रायः अधिकतर लोग अर्द्ध-मनुष्य बनकर जीवन यापन करने में संतुष्ट हैं, पूरे मनुष्यत्व की साधना करते ही कितने हैं, वहां नर-देवत्व की बात ही क्या ? किंतु इस आदर्श को ग्रहण करके ही हमारे शक्तिधर आर्य पूर्वपुरुषों ने जाति के प्रथम जीवन का गठन किया था। इसी ज्ञानसूर्य के उंल्लास-भरे उषःकाल में आत्मस्थ आनंदविहंग के सोमरस-प्लावित कण्ठ से वेदगान की आह्वानध्वनि निर्गत हो विश्वदेवता के चरणप्रांत में पहुंची थी। मनुष्य की आत्मा में, मनुष्य के जीवन में सर्वविध देवत्वगठन द्वारा उस अमर विश्वदेव की महीयसी प्रतिमूर्ति स्थापित करने की उच्चाशा ही था भारतीय सभ्यता का बीजमन्त्र। क्रमशः उस मन्त्र को भूल जाना, उसका ह्रास होना, उसे विकृत करना ही है इस देश और इस जाति की अवनति और दुर्गति का कारण। फिर से उसी मन्त्र का उच्चारण, उसी सिद्धि की साधना ही है पुनरुत्थान और उन्नति का एकमात्र श्रेष्ठ पथ, एकमात्र अनिंद्य उपाय। कारण, यही है पूर्ण सत्य—इसीमें है जैसे व्यष्टि की वैसे ही समष्टि की सफलता। मनुष्य की साधना, जाति का गठन, सभ्यता की सृष्टि और क्रमविकास—इन सबका गूढ़ तात्पर्य यही है। अन्य जिन उद्देश्यों के पीछे हमारे प्राण और मन हैरान होते हैं वे गौण उद्देश्य हैं, आंशिक हैं, देवताओं की सच्ची अभिसंधि में सहायमात्र हैं। अन्य जिन खण्ड सिद्धियों को पा हम उल्लसित होते हैं वे हैं पथ के विश्रामगृह-भर, मार्गस्थ पर्वतशिखरों पर जय-पताका गाड़ने के समान। असली उद्देश्य, यथार्थ सिद्धि है मनुष्य में, कुछ विरल महापुरुषों में ही नहीं, बल्कि मन में, जाति में, विश्वमानव में ब्रह्म का विकास और स्वयं-प्रकाश, भगवान् का प्रत्यक्ष शक्ति-संचारण और ज्ञानमयी व आनंदमयी लीला।

इस ज्ञान और इस साधना का प्रथम रूप और अवस्था हम देखते हैं ऋग्वेद में। भारतीय इतिहास के प्रारंभ में ही आर्यधर्म-मंदिर के द्वारस्थ स्तूप पर अंकित थी आदि-लिपि। ऋग्वेद ही उसकी आदिम वाणी है—यह बात हम ठीक निःसंदिग्ध रूप से नहीं

कह सकते, क्योंकि ऋग्वेद के ऋषियों ने भी स्वीकार किया है कि जो उनके अग्रवर्ती थे, आर्यजाति के आदि पूर्वपुरुष— *पूर्वे पितरो मनुष्याः*—उन्होंने इस पथ का आविष्कार किया, उन्हींका देवजीवन-प्राप्ति का साधनमार्ग है परवर्ती मानवजाति का सत्य और अमृतत्व का पंथ। पर वे यह भी कहते हैं कि प्राचीन ऋषियों ने जो कुछ दिखाया था, नवीन ऋषि उसीका अनुसरण करते हैं; जिस दिव्य वाक् का उच्चारण पितृगणों ने किया था उसी वाणी की प्रतिध्वनि हमें सुनायी पड़ती है ऋग्वेद के मंत्रों में; अतएव ऋग्वेद में हम इस धर्म का जो स्वरूप देखते हैं उसे ही उसका आदि-रूप कह देते हैं। इसी का अति महत्, अति उदार रूपांतर है उपनिषदों का ज्ञान, वेदांत की साधना। वेद का वैश्वदेव्य ज्ञान और देव-जीवन साधना, उपनिषदों का आत्म-ज्ञान और ब्रह्म-प्राप्ति की साधना, दोनों ही, समन्वय पर प्रतिष्ठित हैं—विश्वपुरुष और विश्वशक्ति के नाना पहलुओं को, ब्रह्म के सभी तत्त्वों को एकत्र कर वैश्वदेव्य, *सर्वं ब्रह्म* की अनुभूति और अनुशीलन ही है उसकी मूल वाणी। उसके बाद आरंभ होता है विश्लेषण-युग। सत्य के एक-न-एक खंड-दर्शन को ले वेदान्त की पूर्व और उत्तर मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि विभिन्न साधनाओं की सृष्टि हुई; अंत में खंड-दर्शन का खंड ले अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, वैष्णवमत, शैवमत, पुराण, तंत्र आदि रचित हुए। समन्वय की चेष्टा भी बंद नहीं हुई, गीता, तंत्र और पुराणों में भी वह चेष्टा दिखायी पड़ती है, उनमें से प्रत्येक थोड़ा-बहुत कृतार्थ भी हुआ है, बहुत-सी नवीन आध्यात्मिक अनुभूतियां भी उपलब्ध की गयी हैं, पर वेद-उपनिषद् के समान व्यापकता और कहीं नहीं मिलती। भारत की आदिम आध्यात्मिक वाणी मानों बुद्धि से अतीत के किसी सर्वव्यापी उज्ज्वल ज्ञानालोक से उद्भूत हुई थी जिसे अतिक्रम करना तो दूर, वहां पहुंच पाना भी बुद्धि-प्रधान परवर्ती युगों के लिये असाध्य है, कठिन है।

ईश उपनिषद्

(१)

ईश उपनिषद् का सीधा अर्थ ग्रहण करने तथा उसमें निहित ब्रह्मतत्त्व, आत्मतत्त्व और ईश्वरतत्त्व को हृदयंगम करने में प्रधान अंतराय हैं शंकराचार्य द्वारा प्रचारित मायावाद और उपनिषदों का शंकर-प्रणीत भाष्य। साधारण मायावाद, निवृत्ति की एकमुखी प्रेरणा और संन्यासी द्वारा प्रशंसित कर्म-विमुखता के साथ ईशोपनिषद् का पूर्व विरोध है, श्लोकों के अर्थ की खींच-तान कर उलटा अर्थ किये बिना इस विरोध का समाधान करना असंभव है। जिस उपनिषद् में लिखा है—*कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः* अर्थात् कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा कर, और फिर लिखा है—*न कर्म लिप्यते नरे*—कर्म मनुष्य को नहीं बांधते; फिर जिस उपनिषद् ने साहसपूर्वक कहा है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

अर्थात् जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घने अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो विद्या में ही रत रहते हैं वे उससे कहीं अधिक अंधकार में पतित होते हैं; और भी कहा है—*अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा*—अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर, और यह भी कहा है—*सम्भूत्यामृतमश्नुते*—संभूति द्वारा अमृतत्व प्राप्त करता है, उस उपनिषद् के साथ भला मायावाद और निवृत्ति-मार्ग का मेल कैसे बैठ सकता है ? शंकर के बाद दाक्षिणात्य के अद्वैतमत के प्रधान नियंता विद्यारण्य ने ऐसा समझकर ही 'ईश' को बारह प्रमुख उपनिषदों की तालिका से निर्वासित कर उसके स्थान पर नृसिंहतापनीय उपनिषद् को बिठा दिया था। स्वयं शंकराचार्य ने प्रचलित विधान को उलट वैसा करने का दुस्साहस नहीं किया। उन्होंने मान लिया कि यह श्रुति है, माया है श्रुति का प्रतिपाद्य तत्त्व, अतएव इस श्रुति का अर्थ भी प्रकृत मायावाद के अनुकूल ही होगा, उससे भिन्न, उसके प्रतिकूल नहीं हो सकता।* निश्चय ही, निचोड़ने पर अर्थात् मायावाद-निष्पीड़न से प्रकृत प्रच्छन्न अर्थ बाध्य हो बाहर निकल आयेगा। इसी उपलब्धि के वशीभूत हो शंकराचार्य ने उपनिषद् के भाष्य की रचना की थी।

देखें, एक ओर शंकर भाष्य क्या कहता है और दूसरी ओर सचमुच में उपनिषद् क्या कहती है। उपनिषत्कार ईश्वर-तत्त्व और जगत्-तत्त्व को एक-दूसरे के सम्मुख ला एक कर देते हैं और इन दोनों का मूल संबंध बतलाते हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

---

* पांडुलिपि अस्पष्ट।

इसका सीधा अर्थ है, "ईश्वर के वास करने के लिये यह सब विद्यमान है, जो कुछ जगती के अंदर जगत् है" अर्थात् गतिशीला के अंदर गतिशील। यह सहज ही पता चल जाता है कि विश्वविकास में दो तत्त्व प्रकटित होते हैं, स्थाणु और जगती, निश्चल सर्वव्यापी नियामक पुरुष और गतिशीला प्रकृति, ईश्वर और शक्ति। स्थाणु को जब ईश्वर नाम दिया गया है तब समझना होगा कि पुरुष और प्रकृति का संबंध यही है कि जगती ईश्वर के अधीन है, उनके द्वारा नियंत्रित है, उनकी इच्छा से प्रकृति समस्त कर्म करती है। यह पुरुष केवल साक्षी और अनुमंता ही नहीं, ज्ञाता, ईश्वर, कर्म का नियंता भी है, प्रकृति कर्म की नियंत्री नहीं, नियति-मात्र है, कर्त्री तो है पर है कर्ता के अधीन, पुरुष के आज्ञाधीन रहती हुई उसी की कार्यकारिणी शक्ति।

इसके बाद यह भी देखा जाता है कि यह जगती केवल गतिशील शक्ति, केवल जगत्कारण-स्वरूप तत्त्व ही नहीं, वह जगत्-रूप में भी विद्यमान है। जगती शब्द का साधारण अर्थ है पृथ्वी, पर यहां पर लागू नहीं होता। *जगत्यां जगत्*—इन दो शब्दों के संयोग द्वारा उपनिषत्कार यह इशारा करते हैं कि इन दोनों का धातुगत अर्थ उपेक्षणीय नहीं। उस पर जोर देना ही है उनका उद्देश्य। यह धातुगत अर्थ है गमन या गति।

जगती यदि पृथ्वी ही हो तो यह मानना होगा कि यह सब जो कुछ गतिशील पृथ्वी पर है अर्थात् मनुष्य, पशु, कीट, पक्षी, नद, नदी इत्यादि, सब गतिशील हैं। परंतु यह अर्थ है नितान्त असंभव। उपनिषद् की भाषा में *सर्वमिदम्* शब्द से सर्वत्र ही जगत् की सभी वस्तुएं परिलक्षित होती हैं, पृथ्वी की नहीं। अतएव जगती शब्द से समझना होगा जगत्-रूप में प्रकटित गतिशील शक्ति, जगत् शब्द में जो कुछ आता है वह प्रकृति की गति की एक गति है, चाहे प्राणि-रूप में हो या पदार्थ रूप में। विरोध होता है इन दोनों में : ईश्वर और जगत् में जो कुछ है। जैसे, ईश्वर स्थाणु, प्रकृति और शक्ति गतिशीला, सर्वदा कर्म में और जगद्व्यापी गति में व्यापृत रहती है, इस तरह के जगत् में जो कुछ है वह है उसकी गति का एक क्षुद्र जगत्, वह सर्वदा ही है प्रति मुहूर्त्त सृष्टि-स्थिति-प्रलय का संधिस्थल, चंचल, नश्वर, स्थाणु के विपरीत। एक ओर तो ईश्वर है और दूसरी ओर पृथ्वी और पृथ्वी पर विद्यमान समस्त जंगम—इससे वह नित्य विरोध प्रस्फुटित नहीं होता। एक ओर स्थाणु ईश्वर है, दूसरी ओर चंचला प्रकृति और उसके सृष्ट जगत् में प्रकृति द्वारा अधिकृत समस्त चीजें—समस्त अस्थायी वस्तुएं; इसी सर्वजनलक्षित नित्यविरोध को लेकर उपनिषदों का आरंभ होता है। इस विरोध का समाधान कहां है ? इन दोनों तत्त्वों का पूर्ण संबंध भी क्या है ?

इसी विरोध और उसके समाधान पर रचित हैं सभी उपनिषदें। आगे जाकर ईश्वर क्या है और जगत् क्या है—इसका विचार करते हुए उपनिषत्कार तीन बार इसी बात को अन्य प्रकार से उत्थापित करते हैं। पहले ब्रह्म की चर्चा करते हुए पुरुष और प्रकृति का विरोध *अनेजद्* और *मनसो जवीयः* (वह अचल है और मन से अधिक वेगवान् है) . . . *तद् एजति, तन्नैजति* (वह चलता है और वह नहीं भी चलता)—इन

चन्द शब्दों में उन्होंने यह समझाया है कि दोनों ही ब्रह्म हैं, पुरुष भी ब्रह्म, प्रकृति और प्रकृतिरूपी जगत् भी ब्रह्म। फिर आत्मा की बात है, बताते हैं ईश्वर और जगत् में जो कुछ है उसका विरोध। आत्मा ही ईश्वर है, पुरुष . . . ।

(२)

ईश उपनिषद् है पूर्णयोग-तत्त्व तथा पूर्ण अध्यात्म-सिद्धि की परिचायिका, थोड़े में बहुत-सी समस्याओं का समाधान करनेवाली, अति महत्, अतल गभीर अर्थ से परिपूर्ण श्रुति। अठारह श्लोकों में समाप्त कुछ इने-गिने क्षुद्राकार मंत्रों में जगत् के ततोधिक प्रमुख सत्यों की व्याख्या। इस प्रकार एक क्षुद्र परिसर में अनंत अमूल्य संपदा (infinite riches in a little room) श्रुति में पायी जाती है।

समन्वय-ज्ञान, समन्वय-धर्म, विपरीत तत्त्वों का मिलन और एकीकरण है इस उपनिषद् का प्राण। पाश्चात्य दर्शन में एक नियम है जिसे law of contradiction, विपरीत वस्तुओं का परस्पर बहिष्करण कहा जाता है। दो विपरीत सिद्धांत एक संग नहीं रह सकते, परस्पर मिल नहीं सकते, दो विपरीत गुण एक समय में, एक स्थान में, एक आधार में, एक वस्तु के संबंध में युगपत् सत्य नहीं हो सकते। इस नियम के अनुसार विपरीत वस्तुओं का मिलन और एकीकरण हो ही नहीं सकता। भगवान् यदि एक हों तो, वे हजार सर्वशक्तिमान् क्यों न हों, बहु कदापि नहीं हो सकते। अनंत कभी सान्त नहीं होता। अरूप का रूप बनना असंभव, उसके स-रूप होने पर उसका अरूपत्व विनष्ट हो जायेगा। ब्रह्म एक साथ ही निर्गुण और सगुण है, उपनिषद् तो भगवान् के संबंध में कहती है कि वह "निर्गुणो गुणी" है, इस सिद्धांत को भी यह युक्ति उड़ा देती है। ब्रह्म का निर्गुणत्व, अरूपत्व, एकत्व, अनंतत्व यदि सत्य हो तो फिर उसका सगुणत्व, सरूपत्व, बहुत्व, सांतत्व मिथ्या है। मायावादी का यह सर्वध्वंसी सिद्धांत—*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*—इस दार्शनिक नियम की चरम परिणति है। ईशोपनिषद् के द्रष्टा ऋषि पद-पद पर इस नियम का दलन कर हर श्लोक में मानों उसकी असारता की घोषणा करते हुए तथा वैपरीत्य के अंदर विपरीत तत्त्वों के गुप्त हृदय में मिलन और एकीकरण का स्थान ढूंढते हुए चल रहे हैं। गतिशील जगत् और स्थाणु पुरुष का एकत्व, पूर्ण त्याग में पूर्ण भोग, पूर्ण कर्म में सनातन मुक्ति, ब्रह्म की गति में ही चिर स्थाणुत्व, चिरंतन स्थाणुत्व में अबाध अचिंत्य गति, अक्षर ब्रह्म और क्षर जगत् का एकत्व, निर्गुण ब्रह्म और सगुण विश्व-रूप का एकत्व, जैसे अविद्या में वैसे विद्या में परम अमरत्व प्राप्ति का अभाव, युगपत् विद्या-अविद्या के सेवन से अमरत्व, न जन्म-चक्र परिभ्रमण में, न जन्मनाश में, युगपत् संभूति और असंभूति की सिद्धि में परम मुक्ति और परम सिद्धि—ये ही हैं उपनिषद् द्वारा उच्च कंठ से प्रचारित महातथ्य।

*

दुर्भाग्यवश उपनिषद् के अर्थ को ले अनर्थक गोलमाल किया गया है। शंकराचार्य उपनिषद् के प्रायः सर्वजनस्वीकृत प्रधान टीकाकार हैं, किंतु ये सब सिद्धांत यदि गृहीत हों तो शंकर का मायावाद अतल जल में डूब जायेगा। मायावाद के प्रतिष्ठापक दार्शनिकों में अतुल्य अपरिमेय शक्तिशाली हैं। यमुना नदी जब अपना पथ छोड़ने के लिये इच्छुक नहीं हुई तब तृषित बलराम ने जैसे उसे अपने हलास्त्र से जबर्दस्ती घसीट अपने चरण-प्रांत में ला उपस्थित किया था, वैसे ही शंकर ने भी जब इस मायावादनाशी उपनिषद् को अपने गंतव्य स्थल के पथ पर उपस्थित पाया तब उसके अर्थ को खींच-तान कर अपने मत के साथ मिलाकर छोड़ दिया। इससे उपनिषद् की क्या दुर्दशा हुई है यह हम दो-एक दृष्टांतों से समझ सकते हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि जो एकमात्र अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में पतित होते हैं, साथ ही कहा है कि जो एकमात्र विद्या की उपासना करते हैं वे मानों और भी घने अंधकार में प्रवेश करते हैं। शंकर कहते हैं, विद्या और अविद्या को यहां मैं साधारण अर्थ में नहीं लेता, यहां विद्या का अर्थ है देवविद्या। उपनिषद् में कहा गया है— *विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते,* असंभूति द्वारा मृत्यु को जीत संभूति द्वारा अमरत्व का भोग करता है। शंकर कहते हैं, इसे पढ़ना चाहिये, *"असंभूत्यामृतम्"* विनाश का यहां अर्थ है जन्म। ठीक इसी तरह एक द्वैतवादी टीकाकार कहते हैं: *"तत्त्वमसि"* को *"अतत् त्वमसि"* पढ़ना चाहिये। शंकर के परवर्ती एक प्रधान मायावादी आचार्य ने एक दूसरे उपाय का अवलंबन किया है, वह ईशोपनिषद् को मुख्य प्रमाणस्वरूप उपनिषदों की तालिका से बहिष्कृत कर उसके स्थान पर नृसिंहतापनीय को promote (उच्च पद दे) कर कृतार्थ हुए। सच पूछा जाये तो इस प्रकार लाठी के बल पर अपने मत की स्थापना करने की आवश्यकता नहीं। उपनिषदें अनंत ब्रह्म के अनंत पक्ष हैं, किसी एक ही दार्शनिक मत की पोषक नहीं, तभी तो इस एक ही बीज से सहस्र दार्शनिक मत अंकुरित हुए हैं। प्रत्येक दर्शन अनंत सत्य के एक-एक पहलू को बुद्धि के सम्मुख सुशृंखलित रूप में उपस्थित करता है। अनंत ब्रह्म की अभिव्यक्ति अनंत, अनंत ब्रह्म को पाने के पथ भी अनगिनत।

(३)

प्राचीन श्रौतग्रन्थों में थोड़े में बहुत कहा जानेवाला, मुख्यतत्त्व परिचायक और पूर्णयोग के तत्त्व का समर्थक श्रुति-ग्रंथ मैं पाता हूं ईशोपनिषद् को। ईश उपनिषद् का लक्ष्य और पथ है समन्वय-सिद्धि और समन्वयधर्म के ऊपर आधारित। इस उपनिषद् में जगत् की सारी विपरीतताओं को ले, प्रत्येक विरोध के तल में जा उस विरोध में से मेल और एकीकरण के गभीर तत्त्वस्थल में पहुंची है ऋषिदृष्टि। अन्य उपनिषदों में अनन्त ज्ञान का एकपक्ष ले ब्रह्म की व्याख्या दी गयी है, केवल इसीमें सब पक्षों को ले

मात्र अट्ठारह श्लोकों के छोटे से कलेवर में ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप की, पूर्ण ब्रह्मप्राप्ति के पथ की पूर्ण व्याख्या सिर्फ थोड़े-से गभीर और उदार मंत्रों में भर दी गयी है। निस्संदेह संक्षेप में। अनन्त के बारे में विस्तृत, सत्य के सूर्य का सहस्त्ररश्मिमय अशेष परिस्फुरण इसमें नहीं मिलता, मिलता है नितांत यथार्थ, प्रयोजनीय और अपरिवर्जनीय।

वेद-रहस्य

वेद-संहिता भारतवर्ष के धर्म, सभ्यता और अध्यात्म-ज्ञान का सनातन स्रोत है। किंतु इस स्रोत का मूल अगम्य पर्वत-गुहा में विलीन है, उसकी पहली धारा भी अति प्राचीन घनकंटकमय अरण्य में पुष्पित वृक्ष-लता-गुल्म के विचित्र [आवरण][1] से आवृत है। वेद रहस्यमय हैं। उनकी भाषा, कथन-शैली, विचार-धारा आदि अन्य युग की सृष्टि हैं, अन्य प्रकार के मनुष्यों की बुद्धि की उपज। एक ओर तो वे अतिसरल हैं, मानों निर्मल वेगवती पर्वतीय नदी के प्रवाह हों, दूसरी ओर यह विचार-प्रणाली हमें इतनी जटिल लगती है, इस भाषा का अर्थ इतना संदिग्ध है कि मूल विचार तथा पंक्ति में व्यवहृत सामान्य शब्द के विषय में भी प्राचीन काल से तर्क-वितर्क और मतभेद होता आ रहा है। परम पंडित सायणाचार्य की टीका पढ़ने पर मन में यह धारणा बनती है कि चाहे तो वेदों का कभी कोई संगत अर्थ नहीं रहा, अथवा यदि कुछ था तो वह वेदों की परवर्ती ब्राह्मण-रचना के बहुत पहले ही सर्वग्रासी काल के अतल विस्मृति-सागर में निमग्न हो गया।

सायण वेदों का अर्थ करते समय बड़ी भारी धांधली में जा फंसे हैं। मानों इस घोर अंधकार के, मिथ्या प्रकाश के पीछे खड़ा कोई बार-बार फिसला जाता हो, गर्त्त में, पंक में, गंदे जल में जा गिरता हो, परेशान हो रहा हो, फिर भी छोड़ न पा रहा हो। वेद आर्यधर्म के असली ग्रंथ हैं, इनका अर्थ करना ही पड़ता है, किंतु इनमें इतनी पहेलियां हैं, इतने रहस्यमय नानाविध निगूढ़ विचारों से विजड़ित संश्लेषण हैं कि हजारों स्थलों का अर्थ किया ही नहीं जा सकता, जैसे-तैसे जहां अर्थ हो भी जाता है तो वहां प्रायः संदेह की छाया आ पड़ती है। इस संकट से बहुत बार निराश हो सायण ने ऋषियों की वाणी में ऐसी व्याकरण-विरोधी भाषा का, ऐसी कुटिल, जटिल और भग्न वाक्य-रचना का तथा इतने विक्षिप्त असंगत विचारों का आरोप किया है कि उनकी टीका पढ़ने के बाद इस भाषा और विचार को आर्य न कह बर्बर या पागल का प्रलाप कहने की प्रवृत्ति होती है। सायण का कोई दोष नहीं। प्राचीन निरुक्तकार यास्क ने भी धांधली में धांधली मचायी है और यास्क के पूर्ववर्ती अनेक ब्राह्मणकारों ने भी वेद का सरल अर्थ न पाने के कारण कल्पना की सहायता से, गाथा-सर्जक शक्ति (mythopoeic faculty) का आश्रय ले दुरूह ऋचाओं की व्याख्या करने की विफल चेष्टा की है। इतिहासकारों ने इसी प्रणाली का अनुसरण कर नानाविध कल्पित इतिहास का आडम्बर खड़ा कर वेद के परिष्कृत सरल अर्थ को विकृत और जटिल बना डाला है।

---

[1] यहां पाण्डुलिपि में कुछ रिक्त जगह छुटी हुई है।—सं०

एक ही उदाहरण से इस अर्थविकृति का रूप और मात्रा समझ में आ जायेगी। पंचम मंडल के द्वितीय सूक्त में अग्नि की निष्पेषित या आच्छन्न (गुंठित) अवस्था और तुरत ही उसके बृहत् प्रकाश की बात कही गयी है—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे। . . .
कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।
पूर्वीर्हि गर्भः शरदो ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूत माता॥

इसका अर्थ है : "युवती माता कुमार को ढक गुहा में अर्थात् गुप्त स्थान में अपने जठर में वहन करती है, पिता को देना नहीं चाहती। हे युवती, वह कुमार कौन है जिससे तुम संपिष्ट हो अर्थात् अपनी संकुचित अवस्था में, अपने भीतर वहन करती हो ? माता जब संकुचित अवस्था छोड़ महती बनती है तब वह कुमार को जन्म देती है। गर्भस्थ शिशु लगातार कई वर्षों तक बढ़ता रहा, जब माता ने उसे जन्म दिया तब मैं उसे देख सका।" वेद की भाषा सर्वत्र ही थोड़ी सघन, संहत, सारयुक्त है, थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ प्रकट करना चाहती है, फिर भी अर्थ की सरलता में, विचारों के सामंजस्य में कोई क्षति नहीं होती। इतिहासकार इस सूक्त के इस सरल अर्थ को नहीं समझ सके, जब माता *पेषी* होती है तब कुमार *समुब्धम्* होता है, माता की संपिष्ट अर्थात् संकुचित अवस्था में कुमार की भी निष्पिष्ट अर्थात् ढकी हुई अवस्था होती है, ऋषि की भाषा और विचारसंबंधी इस सामंजस्य को वे न तो देख सके और न हृदयंगम ही कर सके। उन्होंने *पेषी* को पिशाची समझा, सोचा किसी पिशाचिनी ने अग्नि का तेज हरण किया है, *महिषी* का अर्थ राजा की महिषी समझा। *कुमारं समुब्धम्* को किसी ब्राह्मण-कुमार को रथ के पहिये से निष्पेषित हो मरा हुआ समझा। इस अर्थ के सहारे एक अच्छी-खासी आख्यायिका की भी सृष्टि हो गयी। फलतः सीधी ऋक् का अर्थ दुरूह बन गया, कुमार कौन है, जननी कौन है, पिशाचिनी कौन है, अग्नि की कहानी है या ब्राह्मणकुमार की, कौन किसे किस विषय में कह रहा है कुछ समझ में नहीं आता, सब घपला हो गया है। सर्वत्र ऐसा ही अत्याचार दिखायी देता है, अनुचित कल्पना के उपद्रव से वेद का प्रांजल पर गभीर अर्थ विकृत और विकलांग हो गया है, अन्यथा जहां भाषा और विचार कुछ जटिल हैं, टीकाकार की कृपा से दुर्बोधता ने भीषण अस्पृश्य मूर्ति धारण कर ली है।

अलग-अलग ऋक् अथवा उपमा ही क्यों, वेद के यथार्थ मर्म के विषय में अति प्राचीन काल में भी बहुत अधिक मतभेद था। ग्रीस देश के यूहेमेर (Euhemeros) के मतानुसार ग्रीक जाति के देवता चिरस्मरणीय वीर और राजा थे, कालक्रम से अन्य प्रकार के कुसंस्कार ने तथा कवियों की उद्दाम कल्पना ने उन्हें देवता बना स्वर्ग में सिंहासनारूढ़ कर दिया। प्राचीन भारत में भी यूहेमेर-मतावलम्बियों का अभाव नहीं था। दृष्टांतस्वरूप, वे कहते, असल में अश्वि-द्वय (अश्विनौ) न देवता हैं न नक्षत्र, वरन्

थे दो विख्यात राजा, हमारी तरह ही रक्त-मांस के मनुष्य, हो सकता है मृत्यु के बाद देव-पद पा गये हों। दूसरों के मतानुसार यह सब solar myth है अर्थात् सूर्य, चन्द्र, आकाश, तारे, वृष्टि इत्यादि बाह्य प्रकृति की क्रीड़ा को कविकल्पित नाम-रूपों से सजा मनुष्याकृतिसंपन्न देवता बना दिया गया है एवं इस मत ने यूरोपीय पंडितों के मनोनीत पथ को परिष्कृत कर दिया है। वृत्र मेघ है, वल भी मेघ है, और जितने दस्यु, दानव, दैत्य हैं वे सब आकाश के मेघ-मात्र हैं, वृष्टि के देवता इन्द्र इन सब सूर्यकिरणों को रोकनेवाले जलवर्षण विमुख कृपण जलधारों को विद्ध कर वृष्टि प्रदान करते तथा उससे पंचनद की सप्त नदियों के अबाध स्रोत का सृजन कर भूमि को उर्वर, आर्य को धनी और ऐश्वर्यशाली बना देते हैं। अथवा इन्द्र, मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, विष्णु आदि सबके सब सूर्य के नाम-रूपमात्र हैं; मित्र दिन के देवता हैं, वरुण रात्रि के; जो ऋभुगण मन के बल से इन्द्र के अश्व, अश्विनीकुमारों के रथ का निर्माण करते हैं, वे भी और कुछ नहीं, सूर्य की ही किरणें हैं। दूसरी ओर असंख्य कट्टर वैदिक लोग भी थे, वे थे कर्मकाण्डी (ritualist)। उनका कहना था कि देवता मनुष्याकृति देवता भी हैं और प्राकृतिक शक्ति के सर्वव्यापी शक्तिधर भी, अग्नि एक साथ ही हैं विग्रहवान् देवता और वेदी की आग। पार्थिव अग्नि, वड़वानल और विद्युत् इन तीन मूर्तियों में प्रकटित हैं, सरस्वती नदी भी है और देवी भी, इत्यादि। इनका दृढ़ विश्वास था कि देवतागण स्तव-स्तुति से संतुष्ट हो परलोक में स्वर्ग, इहलोक में बल, पुत्र, गाय, घोड़ा, अन्न और वस्त्र देते हैं, शत्रु का संहार करते हैं, स्तोता के अशिष्ट निन्दक समालोचक का मस्तक वज्राघात से चूर्ण करते हैं और इस तरह के शुभ मित्र-कार्य संपन्न करने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। प्राचीन भारत में यह मत ही प्रबल था।

तथापि ऐसे विचारशील लोगों का अभाव नहीं था जो वेद के वेदत्व में, ऋषि के प्रकृत ऋषित्व में आस्था रखते थे, ऋक्-संहिता के आध्यात्मिक अर्थ को खोज निकालते थे, वेद में वेदान्त का मूल तत्त्व खोजते थे। उनके मतानुसार ऋषिगण देवता के सम्मुख ज्योतिर्दान के लिये जो प्रार्थना करते थे वह भौतिक सूर्य की नहीं वरन् ज्ञानसूर्य की, गायत्री-मन्त्रोक्त सूर्य की ज्योति थी जिसके दर्शन विश्वामित्र ने किये थे। यह ज्योति वही *तत्सवितुर्वरेण्यं देवस्य भर्गः* थी, वे देवता वही *यो नो धियः प्रचोदयात्* थे जो हमारे सभी विचारों को सत्य-तत्त्व की ओर प्रेरित करते हैं। ऋषि *तमः* से डरते थे—रात्रि के नहीं बल्कि अज्ञान के घोर तिमिर से। इन्द्र जीवात्मा या प्राण हैं; वृत्र न मेघ है न कविकल्पित असुर—जो हमारे पुरुषार्थ को घो[illegible] अज्ञान के अंधकार से आवृत कर रोक रखता है, जिसमें देवगण पहले निहित और लुप्त रहते, पीछे वेदवाक्यजनित उज्ज्वल ज्ञानालोक से निस्तारित और प्रकटित होते हैं, वही है वृत्र। सायणाचार्य ने इन लोगों को "आत्मविद्" नाम से अभिहित कर बीच-बीच में उनकी वेदव्याख्या का उल्लेख किया है।

इस आत्मवित्-कृत व्याख्या के दृष्टांत रूप रहूगण पुत्र गौतम ऋषि के मरुत्स्तोत्र

का उल्लेख किया जा सकता है। उस सूक्त में गौतम मरुद्‌गण का आवाहन कर उनसे *ज्योति* की भिक्षा मांगते हैं—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्षः॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

कर्मकांडियों के मत से इन दोनों ऋचाओं की व्याख्या में ज्योति को भौतिक सूर्य की ही ज्योति समझना होगा। "जिस राक्षस ने सूर्य के आलोक को अंधकार से ढक दिया है उस राक्षस का विनाश कर मरुद्‌गण सूर्य की ज्योति को पुनः दृष्टिगोचर करें।" आत्मविद् मत से दूसरे प्रकार से अर्थ करना उचित है, जैसे "तुम सत्य के बल से बली हो, तुम्हारी महिमा से वह परमतत्त्व प्रकाशित हो, अपने विद्युत्-सम आलोक से राक्षस को विद्ध करो। हृद्-गुहा में प्रतिष्ठित अंधकार को छिपा दो अर्थात् वह अंधकार सत्य के आलोक की बाढ़ में निमग्न, अदृश्य हो जाये। पुरुषार्थ के समस्त भक्षकों को अपसारित कर हम जो ज्योति चाहते हैं उसे प्रकट करो।" यहां मरुद्‌गण मेघहंता वायु नहीं, पंचप्राण हैं। तम है हृदयगत भाव-रूप अंधकार, पुरुषार्थ के भक्षक हैं षड् रिपु, *ज्योतिः* है परमतत्त्व के साक्षात्कार-स्वरूप ज्ञान का आलोक। इस व्याख्या से वेद में अध्यात्मतत्त्व, वेदांत का मूल सिद्धांत, राजयोग की प्राणायाम-प्रणाली सभी एक साथ मिल जाते हैं।

यह तो हुई वेदसंबंधी भारतीय धांधली। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य पंडितों के कमर कस अखाड़े में उतर आने से इस क्षेत्र में घोरतर विदेशी धांधली मची है। उस जलप्लावन की विपुल तरंग में हम आज भी डूबते-उतराते बह रहे हैं। पाश्चात्य पंडितों ने प्राचीन निरुक्तकारों तथा इतिहासकारों की पुरानी नींव पर ही अपने चमचमाते नवीन कल्पना-मंदिर का निर्माण किया है। वे यास्क के निरुक्त को उतना नहीं मानते, बर्लिन और पेट्रोगार्ड में नवीन मनोनीत निरुक्त तैयार कर उसी की सहायता से वेद की व्याख्या करते हैं। उन्हीं प्राचीन भारतवर्षीय टीकाकारों की 'सौर गाथा' (solar myth) की विचित्र नवीन मूर्ति गढ़, प्राचीन रंग पर नवीन रंग चढ़ा, इस देश के शिक्षित संप्रदाय की आंखें चौंधिया दीं। इस यूरोपीय मत के अनुसार भी वेदोक्त देवतागण बाह्य प्रकृति की नानाविध क्रीड़ा के रूपक भर हैं। आर्य लोग सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, उषा, रात्रि, वायु, आंधी, झील, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष इत्यादि दृश्य वस्तुओं की पूजा करते थे। इन सबको देख आश्चर्य से अभिभूत बर्बर जाति कविप्रदत्त रूपक के बहाने इन्हीं सबकी विचित्र गति का स्तवगान करती थी। फिर उन्हींके अंदर नाना देवताओं की चैतन्यपूर्ण क्रिया समझ उन शक्तिधरों के साथ मित्रता स्थापित करती तथा उनसे युद्ध में विजय, धन-दौलत, दीर्घ जीवन, आरोग्य और संतति की कामना करती थी, रात के अंधकार से अत्यंत भयभीत हो यज्ञ-याग द्वारा सूर्य की पुनरुपलब्धि करती थी। उन्हें भूत का भी आतंक था, भूत को भगाने के लिये देवताओं से कातर

प्रार्थना करते थे। यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति की आशा और प्रबल इच्छा इत्यादि प्रागैतिहासिक बर्बर जाति के उपयुक्त धारणा और कुसंस्कार हैं।

युद्ध में विजयलाभ, पर युद्ध किसके साथ ? वे कहते हैं कि पंचनद-निवासी आर्यजाति का युद्ध वास्तव में भारतवासी द्राविड़ जाति के साथ था और पड़ोसियों के बीच जैसे युद्ध-विग्रह सदा होता रहता है वैसे आर्य-आर्य में आपसी कलह था। जिस तरह प्राचीन ऐतिहासिक वेद की अलग-अलग ऋचाओं तथा सूक्तों को आधार बना नाना प्रकार का इतिहास तैयार करते थे इनकी भी ठीक वही प्रणाली है। अतः विचित्र अतिप्राकृतिक घटनाओं से भरी विचित्र कहानी न गढ़, जैसे जार (जरपुत्र) वृष ऋषि के सारथ्य में रथ के चक्के से ब्राह्मणकुमार के निष्पेषण, मंत्र द्वारा पुनर्जीवन दान, पिशाची द्वारा अग्नितेज हरण आदि-आदि की अद्भुत कल्पना न कर, ये आर्य तृत्सुराज सुदास के साथ मिश्रजातीय दस राजाओं के युद्ध, एक ओर वशिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्र का पौरोहित्य, पर्वतगुहानिवासी द्राविड़ जाति द्वारा आर्यों के गोधन का हरण तथा नदीप्रवाह का बंधन, देवशुनी सरमा की उपमा के बहाने द्राविड़ों के निकट आर्यों का दूत या राजदूती का प्रेरण आदि सत्य या मिथ्या संभव घटनाओं को ले प्राचीन भारत का इतिहास लिखने की चेष्टा करते हैं। इस प्राकृतिक क्रीड़ा के परस्पर-विरोधी रूपक में और इस इतिहास-संबंधी रूपक में मेल बैठाने की चेष्टा करते हुए पाश्चात्य पंडितमंडली ने वेद के विषय में जो अपूर्व गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है। परंतु उनका कहना है कि आखिर हम करें क्या, प्राचीन बर्बर कवियों के मन में ही गोलमाल था, इसी कारण इस तरह जोड़-तोड़ करना पड़ा है, किंतु हमारी व्याख्या बिलकुल ठीक, विशुद्ध और निर्भ्रान्त है। जो हो, फलस्वरूप प्राच्य पंडितों की व्याख्या से जिस तरह वेद का अर्थ असंगत, गड़बड़, दुरूह और जटिल हो गया है वैसे ही पाश्चात्यों की व्याख्या से भी। सभी बदला फिर भी सभी वही है। टेम्स, सैन (Sein) और नेवा (Neva) नदी के सैंकड़ों वज्रधरों ने हमारे मस्तक पर नवीन पांडित्य की स्वर्गीय सप्त नदियों को बरसाया तो है परंतु उनमें से कोई भी वृत्रकृत अंधकार को नहीं हटा सका। हम जिस तिमिर में थे उसी तिमिर में रह गये।

ऋग्वेद

भूमिका

“आर्य”[१] पत्रिका में “वेद रहस्य” में वेदसंबंधी जो नवीन मत प्रकाशित हो रहा है उसी मत के अनुसार यह अनुवाद है। उस मत के अनुसार वेद का यथार्थ अर्थ आध्यात्मिक है, किन्तु गुह्य और गोपनीय होने के कारण अनेक उपमाओं, सांकेतिक शब्दों, बाह्य यज्ञ-अनुष्ठानों के उपयुक्त वाक्यों द्वारा वह अर्थ आवृत है। आवरण साधारण मनुष्यों के लिये अभेद्य था, पर दीक्षित वैदिक लोगों के लिये झीना और सत्य का सर्वाङ्ग प्रकाशक वस्तु-मात्र था। उपमा इत्यादि के पीछे इस अर्थ को खोजना होगा। देवताओं के “गुप्त नाम” तथा उनकी अपनी-अपनी क्रियाओं, “गो”, “अश्व”, “सोमरस” इत्यादि सांकेतिक शब्दों के अर्थों, दैत्यों के कर्मों और गूढ़ अर्थों, वेद के रूपकों, गाथाओं (myths) इत्यादि का तात्पर्य जान लेने पर वेद का अर्थ मोटे तौर पर समझ में आ जाता है। निस्संदेह, उसके गूढ़ अर्थ की वास्तविक और सूक्ष्म उपलब्धि विशेष ज्ञान और साधना का फल है, बिना साधना के केवल वेदाध्ययन से वह नहीं होती।

इस सकल वेदतत्त्व को अपने पाठकों के सम्मुख रखने की इच्छा है। अभी तो वेद की केवल मुख्य बात ही संक्षेप में बतायेंगे। यह है : जगत् ब्रह्ममय है, पर ब्रह्मतत्त्व मन के लिये अज्ञेय है। अगस्त्य ऋषि ने कहा है : *तद् अद्भुतम्* अर्थात् सबसे ऊपर और सबसे अतीत, कालातीत है वह। आज या कल कब कौन उसे जान सका है ? और सबकी चेतना में उसका संचार होता है, किंतु मन यदि नजदीक जाकर निरीक्षण करने की चेष्टा करता है तो *तत्* अदृश्य हो जाता है। केनोपनिषद् के रूपक का भी यही अर्थ है, इन्द्र ब्रह्म की ओर धावित होते हैं, निकट जाते ही ब्रह्म अदृश्य हो जाता है। फिर भी *तत्* “देव”-रूप में ज्ञेय है।

“देव” भी “अद्भुत” हैं किंतु त्रिधातु के अंदर प्रकाशित अर्थात् देव सन्मय, चित्-शक्तिमय, आनंदमय हैं। आनंदतत्त्व में देव को प्राप्त किया जा सकता है। देव नाना रूपों में विविध नामों से जगत् में व्याप्त हैं और उसे धारण किये हुए हैं। नाम-रूप हैं वेद के सब देवता।

वेद में कहा गया है कि दृश्य जगत् के ऊपर और नीचे दो समुद्र हैं। नीचे अप्रकेत “हृद्य” वा हृत्समुद्र है, अंग्रेजी में जिसे अवचेतन (subconscient) कहते हैं,—ऊपर सत्-समुद्र है जिसे अंग्रेजी में अतिचेतन (superconscient) कहते हैं। दोनों को ही

---

[१] सन् १९१४ से १९१९ तक प्रकाशित “आर्य” पत्रिका में श्रीअरविन्द ने “वेद-रहस्य” शीर्षक से जो लेखमाला लिखी थी यहां उसी की तरफ संकेत है।

गुहा या गुह्यतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्मणस्पति अप्रकेत से वाक् द्वारा व्यक्त को प्रकट करते हैं, रुद्र प्राणतत्त्व में प्रविष्ट हो रुद्र-शक्ति द्वारा विकास करते हैं, जोर लगाकर ऊपर की ओर उठाते हैं, भीम ताड़ना द्वारा गंतव्य पथ पर चलाते हैं, विष्णु व्यापक शक्ति द्वारा धारण कर इस नित्यगति के सत्-समुद्र या जीवन की सप्त नदियों के गंतव्य स्थल की ओर ले जाते हैं। अन्य सभी देवता हैं इस गति के कार्यकर्ता, सहाय और साधन।

सूर्य सत्य-ज्योति के देवता हैं, सविता—सृजन करते हैं, व्यक्त करते हैं, पूषा—पोषण करते हैं, "सूर्य"—अनृत और अज्ञान की रात्रि में से सत्य और ज्ञानालोक को जन्म देते हैं। अग्नि चित्-शक्ति के "तपः" हैं, जगत् का निर्माण करते हैं, जगत् की वस्तुओं में विद्यमान हैं। वह भूतत्त्व में हैं अग्नि, प्राणतत्त्व में कामना और भोगप्रेरणा, जो पाते हैं भक्षण करते हैं; मनस्तत्त्व में हैं चिन्तनमयी प्रेरणा और इच्छाशक्ति और मन से परे के तत्त्व में ज्ञानमयी क्रियाशक्ति के अधीश्वर।

कुछ चुने हुए सूक्त

प्रथम मण्डल—सूक्त १

मूल, अर्थ और व्याख्या

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

मैं अग्नि की उपासना करता हूं जो यज्ञ के देव, पुरोहित, ऋत्विक, होता एवं आनंद-ऐश्वर्य का विधान करने में श्रेष्ठ हैं।

ईळे—भजामि, प्रार्थये, कामये। उपासना करता हूं।

पुरोहितम्—जो यज्ञ में पुरः, सामने स्थापित हैं; यजमान के प्रतिनिधि और यज्ञ के संपादक।

ऋत्विजम्—जो ऋतु के अनुसार अर्थात् काल, देश, निमित्त के अनुसार यज्ञ का संपादन करे।

होतारम्—जो देवता का आह्वान कर होम निष्पादन करे।

रत्नधा—सायण ने रत्न का अर्थ रमणीय धन किया है। आनंदमय ऐश्वर्य कहना यथार्थ अर्थ होगा। *धा* का अर्थ है जो धारण करता है या विधान करता है अथवा जो दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत। स देवाँ एह वक्षति ॥२॥

जो अग्नि-देव प्राचीन ऋषियों के उपास्य थे वह नवीन ऋषियों के भी (उत) उपास्य हैं। क्योंकि वह देवताओं को इस स्थान पर ले आते हैं।

मंत्र के अंतिम चरण द्वारा अग्नि-देव के उपास्य होने का कारण निर्दिष्ट किया गया है। *स* शब्द उसी का आभास देता है।

एह वक्षति—इह आवहति। अग्नि अपने रथ पर देवताओं को ले आते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषम् एव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

रयिम्—रत्न का जो अर्थ है वही रयिः, राधः, रायः इत्यादि का भी। फिर भी "रत्न" शब्द में "आनंद" अर्थ अधिक प्रस्फुटित है।

अश्नवत्—अश्नुयात्। प्राप्त हो या भोग करे।

पोषम् प्रभृति रवि के विशेषण हैं। पोषम् अर्थात् जो पुष्ट होता है, जो वृद्धि को प्राप्त होता है।

यशसम्—सायण ने यश का अर्थ कभी तो कीर्ति किया है और कभी अन्न। असली अर्थ प्रतीत होता है सफलता, लक्ष्य-स्थान की प्राप्ति इत्यादि। दीप्ति अर्थ भी संगत है, किंतु यहां वह लागू नहीं होता।

अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूः असि। स इद् देवेषु गच्छति ॥४॥

जिस अध्वर यज्ञ को चारों ओर से व्यापे हुए तुम प्रादुर्भूत होते हो वही यज्ञ देवताओं तक पहुंचता है।

अध्वरम्—'ध्वृ' धातु का अर्थ है हिंसा करना। सायण ने 'अध्वर' का अर्थ अहिंसित यज्ञ किया है। किंतु 'अध्वर' शब्द स्वयं यज्ञवाचक हो गया है। "अहिंसित" शब्द का ऐसा अर्थ-परिवर्तन कभी संभव नहीं। "अध्वन्" का अर्थ है पथ, अतः अध्वर का अर्थ 'पथगामी' अथवा 'पथस्वरूप' ही होगा। यज्ञ था देवधाम जाने का पथ और यज्ञ देवधाम के पथिक के रूप में सर्वत्र विख्यात है। यही है संगत अर्थ। 'अध्वर' शब्द भी 'अध्वन्' की तरह 'अध्' धातु से बना है। इसका प्रमाण यह है कि 'अध्वा' और 'अध्वर' दोनों ही आकाश के अर्थ में व्यवहृत थे।

परिभूः—परितो जातः (चारों ओर प्रादुर्भूत)।

देवेषु—सप्तमी के द्वारा लक्ष्यस्थान निर्दिष्ट है।

इत्—एव (ही)।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत् ॥५॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः ॥६॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥७॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

आध्यात्मिक अर्थ

जो देवता होकर हमारे यज्ञ के कर्मनियामक पुरोहित, कालज्ञ, ऋत्विक् और हवि और आह्वान को वहन करनेवाला होता बनते हैं तथा अशेष आनंद और ऐश्वर्य का विधान करते हैं, उन्हीं तपोदेव अग्नि की मैं उपासना करता हूं ॥१॥

प्राचीन ऋषियों की तरह आधुनिक साधकों के लिये भी ये तपोदेवता उपास्य हैं। वे ही देवताओं को इस मर्त्यलोक में ले आते हैं ॥२॥

तपः-अग्नि द्वारा ही मनुष्य दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त करता है। वही ऐश्वर्य अग्नि-बल से दिन-दिन वर्द्धित, अग्निबल से विजयस्थल की ओर अग्रसर तथा अग्निबल से ही प्रचुर वीर-शक्तिसंपन्न होता है ॥३॥

हे तपः-अग्नि, जिस देवपथगामी यज्ञ के सब ओर तुम्हारी सत्ता अनुभूत होती है, वह आत्म-प्रयासरूपी यज्ञ ही देवताओं के निकट पहुंचकर सिद्ध होता है ॥४॥

जो तपः-अग्नि होता, सत्यमय हैं, जिनकी कर्मशक्ति सत्यदृष्टि में स्थापित है, नानाविध ज्योतिर्मय श्रौत ज्ञान में जो श्रेष्ठ हैं, वही देववृंद को साथ ले यज्ञ में उतर आवें ॥५॥

हे तपः-अग्नि, जो तुम्हें देता है तुम तो उसके श्रेय की सृष्टि करोगे ही, यही है तुम्हारी सत्य सत्ता का लक्षण ॥६॥

हे अग्नि, प्रतिदिन, अहर्निश हम बुद्धि के विचार द्वारा आत्मसमर्पण को उपहार-स्वरूप वहन करते हुए तुम्हारे निकट आते हैं ॥७॥

जो समस्त देवोन्मुख प्रयास के नियामक, सत्य के दीप्तिमय रक्षक हैं, जो अपने धाम में सर्वदा वर्द्धित होते हैं, उन्हींके निकट हम आते हैं ॥८॥

जिस तरह पिता का सामीप्य संतान के लिये सुलभ है उसी तरह तुम भी हमारे लिये सुलभ होओ। दृढ़संगी बन कल्याणगति साधित करो ॥९॥

विकल्प अनुवाद

जो मेरे यज्ञ के पुरोहित और ऋत्विक् हैं, मेरे यज्ञ के होता हैं, प्रभूत आनन्द जिनका दान है उन तपोदेव अग्नि की मैं कामना करता हूं ॥१॥

तपोदेवता ही प्राचीन ऋषियों के काम्य थे, वे ही हैं नवीनों के भी काम्य। वे ही इस पृथ्वी पर देववृन्द को वहन कर ले आते हैं ॥२॥

तपोदेव अग्नि द्वारा ही मानव उस वैभव का भोग करता है जिसकी प्रतिदिन वृद्धि होती है, जो यशस्वी है और वीर-शक्ति से परिपूर्ण है ॥३॥

हे अग्नि तपोदेव, जिस देवपथगामी यज्ञ को चारों ओर से तुम अपनी सत्ता से परिवेष्टित करते हो, वही कर्म देवमण्डल में पहुंच लक्ष्य स्थान को प्राप्त करता है ॥४॥

तपोदेव अग्नि हमारे यज्ञ के होता, सत्य कविकर्मा, विचित्र, नाना स्तुतियों के स्रोता हैं। देवता दूसरे अन्य देवताओं को साथ ले हमारे समीप आते हैं ॥५॥

हे अंगिरा अग्नि, यज्ञदाता के लिये तुम जो परम आनन्द व कल्याण की सृष्टि करोगे वही है परम सत्य ॥६॥

अग्नि तपोदेवता, हम प्रतिदिन, अहोरात्र तुम्हारे पास चिन्तन में, मन में समर्पण भाव को वहन कर आते हैं ॥७॥

तुम देवयात्री राजास्वरूप सत्य के गोप्ता स्व-भवन में सदा वर्द्धित हो सुदीप्ति को प्रकाशित करो ॥८॥

पिता जैसे अपने पुत्र के लिये सहज गम्य होता है वैसे ही तुम भी सहज गम्य बनो। सदा हमारा कल्याण करो ॥९॥

व्याख्या

विश्व-यज्ञ

विश्व-जीवन एक बृहत् यज्ञस्वरूप है। उस यज्ञ के देवता हैं स्वयं भगवान् और प्रकृति है यज्ञदाता। भगवान् हैं शिव और प्रकृति उमा। उमा अपने अंतर में शिव-रूप को धारण करने पर भी प्रत्यक्ष में शिवरूप-विरहित हैं, प्रत्यक्ष में शिव-रूप को पाने के लिये सर्वदा लालायित। यही लालसा है विश्व-जीवन का निगूढ़ अर्थ।

किंतु किस उपाय से मनोरथ सफल हो? अपने स्वरूप को पा पुरुषोत्तम के स्वरूप को पाने का क्या उपाय है? पुरुषोत्तम तक पहुंच पाने का कौन-सा पथ प्रकृति के लिये निर्दिष्ट है? आंखों पर अज्ञान का आवरण, चरणों में जड़ता के सहस्र बंधन। स्थूल सत्ता ने मानों अनंत सत् को भी सांत में बांध लिया है, मानों [अनंत सत्] स्वयं

भी बंदी हो गया है, स्वयंरचित इस कारागार की खोयी चाभी अब और हाथ नहीं लग रही। जड़-प्राणशक्ति के अवश संचार से अनंत, उन्मुक्त, चित्-शक्ति विमूढ़, निलीन, अभिभूत, अचेतन हो गयी है जैसे। अनंत आनंद तुच्छ सुख-दुःख के अधीन प्राकृत चैतन्य बन छद्मवेश में घूमते-घूमते अपने स्वरूप को ही भूल गया है मानों, अब उसे खोज ही नहीं पाता, खोजते-खोजते दुःख के और भी असीम पंक में निमज्जित हो जाता है। सत्य मानों अनृत की द्विधामयी तरंग में डूब गया है। मनसातीत विज्ञानतत्त्व में अनंत सत्य का आधारस्थल है। विज्ञानतत्त्व की क्रीड़ा पार्थिव चैतन्य के लिये या तो निषिद्ध है या स्वल्प और विरल, मानों परदे के पीछे के क्षणिक विद्युत् का उन्मेष भर हो। यहां सिर्फ सत्य और अनृत के बीच दोलायमान भीरु, खंज, विमूढ़ मानसतत्त्व घूम-फिरकर सत्य को खोजता रहता है, पाकर भी खो देता है, क्षण-भर सत्य के एक पहलू को पकड़ लेने पर दूसरे पहलू को पकड़ने की कोशिश में पहला हाथ से फिसल जाता है। मानसतत्त्व बहुत प्रयास करने पर सत्य का आभास या सत्य का भग्नांश पा सकता है, लेकिन सत्य का पूर्ण और यथार्थ ज्योतिर्मय अनन्त रूप उसकी पहुंच के बाहर है। जैसे ज्ञान में वैसे ही कर्म में भी वही विरोध, वही अभाव, वही विफलता। सहज सत्यकर्म के हास्यमय देवनृत्य के बजाय प्राकृत इच्छाशक्ति की शृंखलाबद्ध चेष्टा, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, वैध-अवैध, कर्म-अकर्म-विकर्म के जटिल पाश में वृथा छटपटाया करती है। वासनाहीन, वैफल्यहीन, आनंदमय, प्रेममय, ऐक्यरस में मत्त भागवती क्रियाशक्ति की गति मुक्त, अकुंठित, अस्खलित होती है, उसका सहज-स्वाभाविक विश्वमय संचारण प्राकृत इच्छाशक्ति के लिये असंभव है। इस तरह से सांत के अनृत जाल में पड़ी इस पार्थिव प्रकृति के लिये उस अनंत सत्, उस अनंत चित्-शक्ति, उस अनंत आनंद-चैतन्य को प्राप्त करने की भला क्या आशा है, उपाय ही क्या है ?

यज्ञ ही है उपाय। यज्ञ का अर्थ है आत्म-समर्पण, आत्म-बलिदान। जो कुछ तुम हो, जो कुछ तुम्हारा है, जो कुछ भविष्य में निज चेष्टा से या देवकृपा से बन सकते हो, जो कुछ कर्मप्रवाह में अर्जन या संचय कर सको, सब उसी अमृतमय को लक्ष्य कर हवि रूप में तपः-अग्नि में डालो। अल्प सर्वस्व का दान करने से अनंत सर्वस्व प्राप्त करोगे। यज्ञ में योग निहित है। योग में आनन्त्य, अमरत्व और परमतत्त्व के परमानन्द की प्राप्ति विहित है। यही है प्रकृति के उद्धार का पथ।

जगती देवी इस रहस्य को जानती हैं। अतएव उस विपुल आशा से वह अनिद्रित, अशांत, दिन-रात, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, युग पर युग यज्ञ ही करती जा रही हैं। हमारे सभी कर्म, सभी प्रयास, समस्त ज्ञान, समस्त द्वेष, समस्त भ्रम, सुख-दुःख हैं उसी विश्व-यज्ञ के अंगमात्र। जगती देवी ने स्थूल की सृष्टि कर विश्वमय अग्नि के जठर में उसे डाल दिया है, बदले में पाया है प्राण-शक्ति का संचार जीव में, उद्‌भिद में, धातु में। किंतु प्राण-शक्ति प्रकृति का स्वरूप नहीं, प्राणमय पुरुष पुरुषोत्तम नहीं। जगती

देवी ने जगत् के सभी प्राणियों को और उनके सारे प्रयासों को वैश्वानर अग्नि के क्षुधित जठर में डाल दिया है, बदले में पाया है मनःशक्ति का संचार पशु में, पक्षी में, मानव में। पर मनःशक्ति भी प्रकृति का स्वरूप नहीं, मनोमय पुरुष पुरुषोत्तम नहीं। जगती देवी ने जगत् के सभी प्रेम-द्वेष, हर्ष-दुःख में, सुख-वेदना, पाप-पुण्य, ज्ञान-विज्ञान में, चेष्टा-आविष्कार, मति और मनीषा-बुद्धि को विश्व-मानव अग्नि के अनन्त जठर में डाल दिया है, बदले में पायेंगी विज्ञान-तत्त्व का उन्मुक्त द्वार, अनन्त सत्य का पथ, विश्व-पर्वत के आनन्द-शिखर पर आरोहण, अनन्तधाम में अनन्त पुरुषोत्तम का आलिंगन।

पायेंगी, अभीतक पाया नहीं है। क्षीण आशा की रेखा-भर काल-गगन में दिखायी दी है। अतएव अनवरत यज्ञ चल रहा है, देवी जो कुछ भी उत्पादित कर पायी है उसी की बलि देती जा रही हैं। वे जानती हैं कि सभी के अंदर वही लीलामय अकुण्ठित मन से लीला का रसास्वादन कर रहे हैं, यज्ञ मानकर सभी चेष्टाओं, सभी तपस्याओं को ग्रहण कर रहे हैं। वे ही विश्व-यज्ञ को धीरे-धीरे, घुमा-फिरा, सर्पिल गति से, उत्थान-पतन द्वारा, ज्ञान में, विज्ञान में, जीवन में, मरण में निर्दिष्ट पथ से निर्दिष्ट गंतव्य धाम की ओर सर्वदा ही आगे ही आगे बढ़ाते जा रहे हैं। उन्हीं के भरोसे प्रकृति देवी तो हैं निर्भीक, अकुण्ठित और निश्चिंत। सर्वत्र और सर्वदा ही भागवती प्रेरणा को समझ सर्जन और हनन, उत्पादन और विनाश, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, पक्व-अपक्व, कुत्सित, सुन्दर, पवित्र, अपवित्र जिसे भी हाथ में पाती हैं, सभी का उसी बृहत् चिरंतन होमकुण्ड में निक्षेपण कर रही हैं। स्थूल है सूक्ष्म यज्ञ की हविः, जीव है यज्ञ का बद्ध पशु। यज्ञ के मन-प्राण-तन रूपी त्रिबन्धनयुक्त यूपकाष्ठ से जीव को बांधे रख प्रकृति अहरह उसकी बलि चढ़ाती जा रही है। मन के बन्धन हैं अज्ञान, प्राण के बंधन हैं दुःख, कामना और विरोध और देह का बंधन है मृत्यु।

प्रकृति का उपाय तो निर्दिष्ट हुआ किंतु इस बद्ध जीव का क्या उपाय हो ? उसका निस्तार न होने से प्रकृति का भी उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, इसीलिये उपाय तो अवश्य है लेकिन वह है क्या ? उपाय है यज्ञ, आत्मदान, आत्मबलि। पर प्रकृति के अधीन न हो, स्वयं उठ खड़े हो, यजमान बन सर्वस्व दे देना होगा। यही विश्व का निगूढ़ रहस्य है कि पुरुष ही जैसे यज्ञ का देवता है, वैसे ही पुरुष ही यज्ञ का पशु है। जीव ही पशुरूप है। पुरुष ने अपने मन, प्राण और शरीर को बलि-रूप में, यज्ञ के प्रधान उपाय-रूप में, प्रकृति के हाथ समर्पित कर दिया है। उनके इस आत्मदान में यह गुप्त उद्देश्य निहित है कि एक दिन चैतन्य प्राप्त कर, प्रकृति को अपने हाथ में ले, प्रकृति को अपनी इच्छा-अनुकूल दासी, प्रणयिनी और यज्ञ की सहधर्मिणी बना वह स्वयं निर्दोष यज्ञ संपन्न करेंगे। इसी गुप्त कामना को पूरी करने के लिये हुई है नर की सृष्टि। पुरुषोत्तम नर-मूर्ति में वही लीला करना चाहते हैं। आत्मस्वरूप, अमरत्व, सनातन आनन्द का विचित्र आस्वादन, अनंत ज्ञान, अबाध शक्ति, अनंत प्रेम का भोग

नर-देह में, नर-चैतन्य में करना होगा। यह सब आनंद तो पुरुषोत्तम के अपने अंदर है ही, पुरुष अपने अंदर सनातन रूप से सनातन भोग कर रहे हैं। किंतु मानव की सृष्टि कर, बहु में एकत्व, सांत में अनंत, बाह्य में आंतरिकता, इंद्रिय में अतीन्द्रिय, पार्थिव में अमर लोकत्व, इस विपरीत रस को ग्रहण करने में वे तत्पर हैं। पहले दोनों के बीच अविद्या द्वारा भेद-भाव का सर्जन कर भोग करने की इच्छा, बाद में अविद्या को विद्या के और विद्या को अविद्या के आलिंगन में बांध एकत्व में द्विविधत्व को सुरक्षित रख एक ही आधार में, एक साथ संभोग द्वारा दोनों बहनों का पूर्ण भोग करेंगे। जागरण के दिनतक हमारे अंदर मन के ऊपर, बुद्धि के उस पार, गुप्त सत्यमय विज्ञानतत्त्व में बैठ, फिर हमारे ही अंदर हृदय के पीछे चित्त का जो गुप्त स्तर है, जहां हृदय-गुहा है, जहां अंतर्निहित गुह्य चैतन्य का समुद्र है, हृदय, मन, प्राण, देह और अहंकार जिस समुद्र की छोटी-छोटी तरंगें हैं, वहीं बैठ वह पुरुष प्रकृति के अंध प्रयास, अंध अन्वेषण, द्वंद्व और प्रतिघात द्वारा ऐक्य स्थापन की चेष्टा का विविध रसास्वादन अनुभव करते हैं। ऊपर सज्ञान भोग है, नीचे अज्ञानपूर्ण भोग, इस प्रकार दोनों एक संग चल रहे हैं। किंतु चिरकाल इसी अवस्था में मग्न रहने से उनकी निगूढ़ प्रत्याशा, उनका चरम उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य के जागरण का दिन विहित है। अंतरस्थ देवता एक दिन अवश पुण्यहीन प्राकृत आत्म-बलि त्याग कर सज्ञान समंत्र यज्ञ संपादन करना आरंभ करेंगे; सभी प्राणियों के लिये यह निर्धारित है।

यही सज्ञान समंत्र यज्ञ है वेदोक्त "कर्म"। उसका उद्देश्य है द्विविध, विश्वमय बहुत्व में संपूर्णता, जिसे वेद में विश्वदेव्य और वैश्वानरत्व कहा गया है, और उसके साथ एकात्म परम-देवसत्ता में अमरत्व लाभ। जब विश्वदेव्य कहता हूं तो समझना चाहिये ये वेदोक्त देवतागण अर्वाचीन, साधारण लोगों के हेय इन्द्र, अग्नि, वरुण नामक तुच्छ देवता नहीं, ये हैं भगवान् की ज्योतिर्मयी शक्तिसंपन्न नाना मूर्तियां। और यह अमरत्व पुराणोक्त तुच्छ स्वर्ग नहीं, है वैदिक ऋषियों का अभिलषित स्वर्लोक, जन्म-मृत्यु के उस पार परम धाम अनंत लोक का आधार, वेदोक्त अमरत्व, सच्चिदानंदमय अनंत सत्ता और चैतन्य। मानव के अंदर देवत्व का जागरण, मानव-आधार में सभी देवताओं के गठन, उन्हीं देवगणों के एकीभूत बहुत्व को अपने में प्रतिष्ठित कर परम देवत्व की सत्ता की ओर चरम आरोहण और उसी जगत्‌बन्धु गोपाल[१] की गोद में आनंद की लीला—यही है वेद में उल्लिखित यज्ञ का उद्देश्य।

---

[१] वैदिक शब्द। भगवान् का गोपालत्व पुराण की सृष्टि नहीं, यह है वैदिक उपमा।

तपोदेव अग्नि

इस यज्ञ में जीव ही है यजमान, गृहस्वामी, जीव की प्रकृति गृहपत्नी है यजमान की सहधर्मिणी, परंतु पुरोहित कौन होगा ? जीव यदि स्वयं अपने यज्ञ में पुरोहिताई करने जाये तो कहा जा सकता है कि यज्ञ के सुचारु रूप से परिचालित होने की कोई आशा नहीं; कारण जीव अहंकार द्वारा चालित होता है, मानसिक, प्राणिक और दैहिक त्रिविध बंधनों से विजड़ित होता है। ऐसी अवस्था में अपने-आप पुरोहिताई करने पर अहंकार ही होता, ऋत्विक्, यहांतक कि यज्ञ का देवता भी बन बैठता है और फिर अवैध यज्ञ-विधान के कारण महत् अनर्थ घटित होने की आशंका होती है। सबसे पहले नितांत बद्ध अवस्था से वह मुक्ति चाहता है। और यदि बंधनमुक्त होना हो तो अपनी शक्ति से भिन्न अन्य शक्ति का आश्रय लेना ही होगा। त्रिविध यूप-रज्जु के शिथिलीकरण के बाद भी यज्ञ करने योग्य निर्दोष ज्ञान और शक्ति हठात् प्रादुर्भूत या सत्वर गठित नहीं होतीं। दिव्यज्ञान और दिव्यशक्ति की आवश्यकता है, उसका आविर्भाव और सुगठन यज्ञ द्वारा ही संभव है। और जीव के मुक्त हो जाने पर भी, दिव्यज्ञानी और दिव्य-शक्तिमान् हो जाने पर भी यज्ञ के भर्ता अनुमंता ईश्वर यज्ञफल के भोक्ता होते हैं, किंतु कर्मकर्ता नहीं। देवता को ही पुरोहित-रूप में वरण कर वेदी पर संस्थापित करना होगा। जबतक देवता स्वयं मानव-हृदय में प्रविष्ट, प्रकाशित और प्रतिष्ठित नहीं हो जाते तबतक मनुष्य के लिये देवत्व और अमरत्व प्राप्त करना असाध्य है; यह ठीक है कि देवता के जाग्रत् होने से पहले उस बोधन के लिये मंत्रद्रष्टा ऋषिगण यजमान का पौरोहित्य स्वीकार करते हैं, वशिष्ठ और विश्वामित्र सुदास, त्रसदस्यु और भरतपुत्र के होता बनते हैं किंतु देवता का आह्वान करने पर वेदी पर पुरोहित और होता का स्थान देने के लिये ही होता है मंत्रप्रयोग और हविःप्रयोग। देवता यदि अंतर में जाग्रत् न हों तो कोई भी जीव को तार नहीं सकता। देवता ही हैं त्राणकर्ता। देवता ही हैं यज्ञ के एकमात्र सिद्धिदाता पुरोहित।

देवता जब पुरोहित होते हैं तब उनका नाम होता है अग्नि, उनका रूप भी होता है अग्निस्वरूप। अग्नि का पौरोहित्य है सर्वांग सुन्दर और सफल यज्ञ का मुख्य साधन और प्रारंभ। इसीलिये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की प्रथम ऋचा में ही अग्नि का पौरोहित्य निर्दिष्ट किया गया है।

यह अग्नि कौन है ? 'अग्' धातु का अर्थ है 'शक्ति', जो शक्तिमान् है वही है अग्नि। 'अग्' धातु का दूसरा अर्थ है आलोक या ज्वाला, जो शक्ति ज्वलंत ज्ञान के आलोक से उद्भासित है, ज्ञान का कर्मबल-स्वरूप है, उस शक्ति का शक्तिधर है अग्नि। 'अग्' धातु का अन्य अर्थ है पूर्वत्व और प्रधानत्व, जो ज्ञानमय शक्ति जगत् का आदि-तत्त्व है और जगत् की अभिव्यक्त सभी शक्तियों का मूल और प्रधान है, उसी शक्ति का शक्तिधर है अग्नि। 'अग्' धातु का एक और अर्थ है नयन, जगदादि

सनातन-पुरातन प्रधान शक्ति के जो शक्तिधर जगत् को निर्दिष्ट पथ से निर्दिष्ट गंतव्य धाम की ओर ले जा रहे हैं, जो कुमार देवसेना के सेनानी हैं, जो पथ के प्रदर्शक हैं, जो प्रकृति की नाना शक्तियों को ज्ञान से, बल से, उनके अपने-अपने व्यापार में प्रवर्तित कर सुपथ पर चलाते हैं वही शक्तिधर हैं अग्नि। वेद के सैकड़ों सूक्तों में अग्नि के ये सब गुण कथित और स्तुत हुए हैं। जगत् के आदि, जगत् के प्रत्येक स्फुरण में निहित, सब शक्तियों के मूल और प्रधान, सकल देवताओं के आधार, सकल धर्मों के नियामक, जगत् के निगूढ़ उद्देश्य तथा निगूढ़ सत्य के रक्षक यह अग्नि और कुछ नहीं स्वयं भगवान् के ओजः-तेजः-भ्राजः-स्वरूप सर्वज्ञानमंडित परम ज्ञानात्मक तपःशक्ति हैं।

सच्चिदानंद का सत्-तत्त्व चिन्मय है। यही सत् का चित् बन जाती है सत् की शक्ति। चित्-शक्ति ही है जगत् का आधार, चित्-शक्ति ही है जगत् का आदिकरण और स्त्रष्टी, चित्-शक्ति ही है जगत् की नियामिका और प्राणस्वरूप। चिन्मयी जिस समय सत्-पुरुष के वक्षस्थल में मुंह छिपा, स्तिमित नयन से केवल सत्-स्वरूप का चिंतन करतीं हैं उस समय अनंत चित्-शक्ति निस्तब्ध रहती है, वही अवस्था है प्रलय की अवस्था, निस्तब्ध आनंदसागर-स्वरूप। और जब चिन्मयी मुंह ऊपर उठा नेत्र उन्मीलित कर सत्-पुरुष का मुखमण्डल तथा तनु प्रेमसहित हेरती हैं, सत्-पुरुष के अनंत नाम-रूप का ध्यान करती हैं, कृत्रिम विच्छेद-मिलन-जनित संभोग-लीला का स्मरण करती हैं तब उस आनंद का अजस्र प्रवाह उनके उन्मुक्त विक्षोभ की, विश्वानंद की अनंत तरंगों की सृष्टि करता है। चित्-शक्ति का यह विविध ध्यान, यह एकमुखी फिर भी बहुमुखी समाधि ही तपःशक्ति के नाम से अभिहित है। सत्-पुरुष जब किसी नाम-रूप का सृजन करने, किसी तत्त्व का विकास करने और किसी भी अवस्था को प्राप्त करने के लिये अपनी चित्-शक्ति को संगृहीत, संचालित तथा अपने विषय पर संस्थापित करते हैं तब तपःशक्ति प्रयुक्त होती है। यह तपःप्रयोग ही है योगेश्वर का योग। इसी को अंग्रेजी में 'डिवाइन विल' (Divine Will) अथवा 'कास्मिक विल' (Cosmic Will) कहते हैं। इसी 'डिवाइन विल' या तपःशक्ति द्वारा जगत् सृष्ट, चालित और रक्षित होता है। अग्नि ही है यह तपःशक्ति।

हम चित्-शक्ति के दो पक्ष देखते हैं—चिन्मय और तपोमय, सर्वज्ञान-स्वरूप और सर्वशक्ति-स्वरूप, किंतु यथार्थ में ये दोनों एक ही हैं। भगवान् का ज्ञान सर्वशक्तिमय है और उनकी शक्ति सर्वज्ञानमय। उनके प्रकाश का चिंतन करते ही प्रकाश की सृष्टि का होना अनिवार्य है, क्योंकि उनका ज्ञान उनकी शक्ति का चिन्मय स्वरूप ही है। जगत् के किसी भी जड़-स्पन्दन में ज्ञान निहित है, जैसे, अणु के नृत्य में अथवा विद्युत् के लम्फन में, क्योंकि उनकी शक्ति उनके ज्ञान का ही स्फुरण है। केवल हमारे अंदर अविद्या की भेद-बुद्धि में, अपरा प्रकृति की भेदगति में, ज्ञान और शक्ति विभिन्न, असम और मानों परस्पर कलहप्रिय हैं अथवा विसंगतिग्रस्त और खर्व हो पड़ी हैं

अथवा क्रीड़ा के लिये उस तरह की असमता और कलह का ढोंग करती हैं। वास्तव में देखा जाये तो जगत् के क्षुद्रतम कर्म या संचरण में भगवान् का सर्वज्ञान और सर्वशक्ति निहित हैं, इसके बिना या इसके कम होने पर उस कर्म या संचरण को घटित कराने की शक्ति किसी में नहीं। जिस तरह ऋषि के वेदवाक्य में वा शक्तिधर महापुरुष के युग-प्रवर्तन में, उसी तरह मूर्ख की निरर्थक वाचालता में अथवा आक्रांत क्षुद्र जीव की छटपटाहट में वही सर्वज्ञान और सर्वशक्ति प्रयुक्त होते हैं। हम सब जब ज्ञान के अभाव में शक्ति का अपव्यय करते हैं या शक्ति के अभाव में ज्ञान का निष्फल प्रयोग करते हैं तब सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिमान् आड़ में बैठ उस शक्ति के प्रयोग को अपने ज्ञान द्वारा, उस ज्ञान-प्रयोग को अपनी शक्ति द्वारा संभालते और चलाते हैं और इसी कारण उस क्षुद्र चेष्टा द्वारा जगत् में कुछ घट जाता है। निर्दिष्ट कर्म संपन्न हो गया और उसका उचित कर्मफल भी साधित हुआ। उससे तुम्हारा-हमारा अज्ञ मनोरथ और प्रत्याशा व्यर्थ अवश्य हो जाती है किंतु उस विफलता द्वारा ही उनकी गूढ़ अभिसंधि सिद्ध होती है एवं उस विफलता द्वारा ही हमारे किसी छद्मवेशी कल्याण और जगत् के महान् उद्देश्य के एक क्षुद्रतम अंश का क्षुद्र आंशिक पर अत्यावश्यक उपकार साधित होता है। अशुभ, अज्ञान और विफलता हैं छद्मवेश-मात्र। अशुभ में शुभ, अज्ञान में ज्ञान, विफलता में सफलता और शक्ति गुप्त रूप से विद्यमान रहकर अप्रत्याशित कर्म संपादन करती हैं। तपः-अग्नि की निगूढ़ अवस्थिति है इसका कारण। यह अनिवार्य शुभ, यह अखंडनीय ज्ञान, यह अचूक शक्ति है भगवान् का अग्नि-रूप। जैसे सत्पुरुष का चित् और तपः एक हैं, जैसे दोनों ही आनंद के स्पंदन हैं, वैसे ही उनके प्रतिनिधि-स्वरूप इस अग्नि का ज्ञान और शक्ति अविच्छिन्न हैं तथा दोनों ही हैं शुभ और कल्याणकारी।

जगत् की बाहरी आकृति दूसरी तरह की है, वहां अनृत, अज्ञान, अशुभ, विफलता ही प्रधान हैं। परंतु बच्चे को डरानेवाले मुखौटे के भीतर मातृमुख छिपा है। यह अचेतन, यह जड़, यह निरानंद है प्रहेलिका-मात्र। भीतर आसीन हैं जगत्पिता, जगन्माता, जगदात्मा सच्चिदानंद। इसीलिये वेद में हमारी साधारण चेतना रात्रि नाम से अभिहित है। हमारे मन का चरम विकास भी है ज्योत्सना-पुलकित तारा-नक्षत्र-मंडित भगवती रात्रि का विहार-मात्र। किंतु इसी रात्रि की गोद में उसकी भगिनी दैवी उषा अनंत-प्रसूत भावी दिव्य ज्ञान का आलोक लिये छिपी बैठी है। पार्थिव चेतना की इस रात्रि में भी 'तपः-अग्नि' बार-बार जाज्वल्यमान हो उषा की आभा से आलोक फैलाते हैं। 'तपः-अग्नि' ही अंध जगत् में सत्य-चैतन्यमयी उषा के जन्म-मुहूर्त्त की तैयारी कर रहे हैं। परम देव ने इस 'तपः-अग्नि' को जगत् में भेजा और स्थापित किया है, प्रत्येक पदार्थ और जीव-जंतु के अंतर में निहित हो विश्व की समस्त गति का नियमन अग्नि-देव ही कर रहे हैं। क्षणिक अनृत में वह अग्निदेव ही हैं चिरंतन सत्य के रक्षक, अचेतन और जड़ में अग्नि ही हैं अचेतन की निगूढ़ चेतना, जड़ की

प्रचंड गति-शक्ति। अज्ञान के आवरण में अग्नि ही हैं भगवान् का गूढ़ ज्ञान, पाप की विकृति में अग्नि ही हैं उनकी सनातन अकलंक शुद्धता, दुःख-दैन्य के विषण्ण कुहासे में अग्नि ही हैं उनका ज्वलंत विश्वभोगी आनंद। दुर्बलता और जड़ता के मलिन वेश में अग्नि ही हैं उनकी सर्ववाहक, सर्वक्षम, दक्ष क्रियाशक्ति। एक बार इस काले आवरण को भेद यदि हम अग्नि को अपने अंतर में प्रज्वलित, प्रकाशित, उन्मुक्त और ऊर्ध्वगामी बना सकें तो वही दैवी उषा को मानव चैतन्य में ला, देवताओं को भीतर जगा अनृत, अज्ञान, निरानंद और विफलता के काले आवरण को दूर हटा हमें अमर और देवभावापन्न बना देंगे। अग्नि ही हैं अंतरस्थ देवता का प्रथम और प्रधान जाग्रत् रूप। उन अग्नि को हृदय-वेदी में प्रज्वलित कर, पौरोहित्य के लिये वरण करते हैं। उनकी सर्वप्रकाशक ज्वाला है ज्ञान, सर्वदाहक और पावक ज्वाला है शक्ति। उन ज्ञानमय, शक्तिमय, ज्वलंत अग्नि में अपने इन सब तुच्छ सुख-दुःखों को, इन सब क्षुद्र परिमित चेष्टाओं और विफलताओं को, इस समस्त मिथ्यापन और मृत्यु को समर्पित करते हैं। पुरातन और अनृत भस्मीभूत हो जाने दो, नवीन और सत्य जाज्वल्यमान सावित्री-रूप में गगनस्पर्शी तपः-अग्नि से आविर्भूत होंगे।

भूलना मत कि सभी हमारे अंतर में हैं; मनुष्य के भीतर ही अग्नि है, भीतर ही हैं वेदी, हवि और होता, भीतर ही हैं ऋषि-मंत्र और देवता, भीतर ही हैं ब्रह्म का वेदगान, भीतर ही हैं ब्रह्मद्वेषी राक्षस और देवद्वेषी दैत्य, भीतर ही हैं वृत्र और वृत्रहंता, भीतर ही हैं देव-दानव युद्ध, भीतर ही हैं वशिष्ठ, विश्वामित्र, अंगिरा, अत्रि, भृगु, अथर्वा, सुदास, त्रसदस्यु, दासजाति और पंचविध ब्रह्मान्वेषी आर्यगण। मनुष्य की आत्मा और जगत् एक हैं। उसके भीतर ही है दूर और निकट, दस दिशाएं, दो समुद्र, सात नदियां और सात भुवन। हमारा यह पार्थिव जीवन दो गुप्त समुद्रों के बीच अभिव्यक्त है। नीचे का समुद्र वह गुप्त अनंत चैतन्य है जिससे ये समस्त भाव और वृत्तियां, नाम और रूप अहरह प्रति मुहूर्त्त प्रादुर्भूत होते हैं जैसे प्रस्फुटित होते हैं भगवती रात्रि की गोद में तारा-नक्षत्र। आधुनिक भाषा में इसे निश्चेतना (inconscient) अथवा (subconscient) कहते हैं, वेद का *अप्रकेतं सलिलम्*, प्रज्ञाहीन समुद्र। प्रज्ञाहीन होने पर भी यह अचेतन नहीं है, इसके अंदर प्रज्ञातीत विश्व-चैतन्य सर्वज्ञान में ज्ञानी, सर्वकर्म में समर्थ हो मानो अवश संचरण द्वारा जगत् की सृष्टि और गति संपादित करता है। ऊपर है गुह्य मुक्त अनन्त चैतन्य जिसे अतिचैतन्य (superconscient) कहते हैं, जिसकी छाया है यह अचेतन-चेतन। वहां सच्चिदानन्द जगत् में पूर्णतः अभिव्यक्त हैं, सत्यलोक में अनंत सत्-रूप में, तपोलोक में अनंत चित्-रूप में, जनलोक में अनंत आनंद-रूप में और महर्लोक में विशाल विश्वात्मा के सत्य-रूप में। मध्यस्थ पार्थिव चैतन्य है वेदोक्त पृथिवी। इसी पृथिवी से जीवन का आरोहणीय पर्वत ग[illegible]न की ओर उठता है, उसका प्रत्येक सानु है आरोहण का एक सोपान, प्रत्येक सानु है सत्यलोक के एक लोक का अंतस्थ राज्य। देवगण आरोहण के सहायक हैं, दैत्यगण शत्रु और

पथरोधक। यह पर्वतारोहण ही है वैदिक साधक की यज्ञगति, यज्ञसहित परम लोक में, परम आकाश में, आलोक-समुद्र में ऊपर उठना होगा। यह अग्नि ही है आरोहण का साधन-स्वरूप, इस पथ का नेता, इस युद्ध का योद्धा और इस यज्ञ का पुरोहित। वैदिक कवियों का अध्यात्म-ज्ञान इसी मूल उपमा पर प्रतिष्ठित है, जैसे वृन्दावनवासी प्रेमी गोप-गोपियों पर वैष्णवों का राधा-कृष्ण-विषयक सकल ज्ञान। इस उपमा का अर्थ सर्वदा मन में रखने से वेदतत्त्व को हृदयंगम करना आसान हो जाता है।

प्रथम मण्डल—सूक्त २

हे सर्वद्रष्टा जीवनदेव वायु, आओ। तुम्हारे लिये यहां प्रस्तुत है आनंद का मद्य रस। इस आनंद मद्यरस का पान करो, सुनो यह आह्वान, जब पुकारूं, सुनो॥१॥

जीवन देवता, तुम्हारे प्रणयीजन अपने उक्थों से तुम्हारी उपासना करते हैं, उनके आनंद रस प्रस्तुत हैं, तुम्हारे दिन की ज्योति उनको प्राप्त है॥२॥

जीवन देवता, दाता के लिये तुम्हारी भरी प्राण-नदी स्पर्श करती हुई बह रही है, आनंद मद्य का पान करने के लिये उसकी धारा विशाल और विस्तृत बन गयी है॥३॥

इन्द्र और वायु, यही वह आनंद मद्य रस है, सकल श्रेयों को लेकर आओ। सोम और देवतागण तुम दोनों की कामना करते हैं॥४॥

विभव से धनवान्, इन्द्र और वायु, तुम दोनों आनंद-रस की चेतना को जगा दो। दौड़े आओ॥५॥

इन्द्र और वायु, त्रिदेव के नर, अपने यथार्थ चिंतन को ले इस सु-सिद्ध आनंद-रस के भोग के लिये शीघ्र उपस्थित होओ॥६॥

पवित्र बुद्धि मित्र का, नाशक परिपन्थी को विनष्ट करनेवाले वरुण का आह्वान करता हूं, जो ज्योतिर्मय हैं, सत्य के आलोकमय चिन्तन की साधना करते हैं॥७॥

मित्र और वरुण, तुम सत्य की वृद्धि करते हो, सत्य का स्पर्श करते हो, सत्य द्वारा बृहत् कर्म-शक्ति प्राप्त कर भोग करो॥८॥

मित्र व वरुण हैं हमारे दो द्रष्टा कवि, बहुविध जन्म हैं उनके, उरु अनन्त लोक है उनकी वास-भूमि। कर्म करते समय वे ज्ञानशक्ति को सम्मुख धारण करते हैं॥९॥

प्रथम मण्डल—सूक्त ३

द्रुतपद, अश्वीद्वय, बहुभोगी, आनन्दपति, हमारी कर्म-प्रसूत सभी प्रेरणाओं में आनन्द लो ॥१॥

बहुकर्मी, मनस्वी नर अश्वीद्वय, तुम अपने तजोमय चिन्तन में हमारी सकल उक्तियों को स्थान दे संभोग करो ॥२॥

हे कर्मी पथिकद्वय! प्रसृत हुआ है, उनका यौवन भरा आनन्द-रस स्थान, यह यज्ञासन; वह भी प्रस्तुत है। तीव्रगामी पथिक तुम सब आओ ॥३॥

हे विचित्र-रश्मि से युक्त शक्तिधर इन्द्र, दस सूक्ष्म शक्तियों के हाथों यह सोमरस शरीर में पवित्र हो तुम्हारी कामना करता है ॥४॥

आओ इन्द्र, हमारे चिन्तन तुम्हें पथ की प्रेरणा दे रहे हैं, द्रष्टा ऋषिगण सवेग पथ पर चला रहे हैं। सोमदाता! आह्वानकारी के मंत्रों को वरण करने के लिये आओ ॥५॥

हरिव-अश्व के नियामक इन्द्र, मन्त्रों को वरण करने के लिये तीव्र गति से आओ; इस सोमरस से हमें जो आनंद है तुम भी उसे अपने मन में धारण करो ॥६॥

हे विश्वदेवगण! तुम भी आओ जो द्रष्टा मानव के कल्याणकारी धारणकर्ता हैं, दाता का आनन्द-रस जो वितरण करते हैं ॥७॥

हे विश्वदेवगण, स्वर्ग नदी को पार कर त्वरित आओ जहां सोमयज्ञ के मानो अपने-अपने विश्राम-स्थान में त्रिदिव के दीप्तगामी के झुण्ड हैं ॥८॥

हे विश्वदेवगण, तुम सब हो प्रकाण्ड ज्ञानी, तुम्हारा कोई विरोधी नहीं, न ही कोई विनाशकारी। मेरे मन के इस यज्ञ को वहन करो, इसका वरण करो ॥९॥

बहु वैभव से वैभवशालिनी, चिंतनधन से ऐश्वर्यमयी विश्वपावनी देवी सरस्वती, वे भी मानों मेरे इस यज्ञ कर्म की कामना करें ॥१०॥

सरस्वती हैं सत्य वाक् के लिये प्रेरणादायिनी, सरस्वती हैं सुचिन्तन के लिये ज्ञान जागृत करनेवाली, मेरे यज्ञकर्म को अपने में धारण कर आसीन हैं ॥११॥

सरस्वती मन की दृष्टि के बल पर चेतना के महासमुद्र को हमारे ज्ञान की वस्तु बना देती हैं। मेरे विचारों में आलोक का विस्तार कर वे आसीन हैं ॥१२॥

प्रथम मण्डल—सूक्त ४

प्रतिदिन मानों उस सुन्दर रूपों के शिल्पी का, ज्ञानरश्मि का दोहन करने में कुशल उस दोहनकारी का आह्वान करता हूं॥१॥

आनन्द-रस के आनन्दपायी, सोमयज्ञ में आओ। पान करो। प्रचुर ऐश्वर्य, तुम्हारी महत्ता॥२॥

तुम्हारे वे सब अंतरतम सुविचार हमारे ज्ञान में आते हैं। आओ, तुम्हारा प्रकाश हमसे परे उस पार न चला जाये॥३॥

अग्रसर होओ उस पार ही, शक्तिमान, अपराजित, आलोकित चित्त इन्द्र को प्राप्त करो, जो तुम्हारे सखाओं के लिये जो परम है उसी का विधान करेंगे॥४॥

जो हमारी सिद्धि की निन्दा करते हैं वे कहेंगे, "जाओ, हो गया है, अन्य क्षेत्रों में भी साधना करो। इन्द्र में अपने कर्म को स्थापित करो॥५॥

हे कर्मी, ये आर्यगण भी हमें सौभाग्यशाली कहें। इन्द्र की शांति से हम आनन्द में वास करें॥६॥

तीव्र गतिवाले इन्द्र को इस तीव्र गति यज्ञश्री को, इस नरचित्त मत्तकारी को आनन्द-मदिरा लाकर दो। उन्हें पथ की प्रेरणा दो जो अपने सखाओं को आनन्द-मद से विभोर करते हैं॥७॥

हे शतकर्मी, इस आनन्द-रस का पान कर तुमने आवरणकारियों का विनाश किया है, ऐश्वर्यशाली मनुष्य को उसके ऐश्वर्य से वर्धित किया है॥८॥

हे इन्द्र शतकर्मी, ऐश्वर्य से ऐश्वर्यशाली हो तुम, ऐश्वर्य से ही तुम्हारा भरण करें; तुम हमारे होकर और भी ऐश्वर्यों को जय करोगे॥९॥

जो ऐश्वर्य की नदी हैं, जो महान् हैं, जो उस पार नित्य पथ पर पहुंचाते हैं, जो सोमदाता के सखा हैं उन्हीं इन्द्र का गान करें॥१०॥

प्रथम मण्डल—सूक्त ५

हे स्तोमवाहक सखागण, आओ, बोलो, इन्द्र के लिये गान करो॥१॥

बहु के मध्य जिसका बहुत्व श्रेष्ठ है, सभी कमनीय वस्तुओं के जो ईश्वर हैं, प्रकाश हैं—आनंद-रस का दोहन कर उसी इन्द्र के लिये गान करो॥२॥

वे मानों योग द्वारा लभ्य लाभ के लिये, वे ऐश्वर्य और आनंद देने के लिये, वे इस पुरी की अधिष्ठात्री शक्ति से आविर्भूत होती हैं। मानों वे अपना सारा वैभव लेकर हमारे पास आती हैं ॥३॥

जिसके युद्ध में दीप्त अश्वों को शत्रु संग्राम में रोकने में असमर्थ हैं, उस इन्द्र की स्तुति करो ॥४॥

वे आनन्द-रस को पवित्र करते हैं, पवित्र हो यही दधि-मिश्रित सोम पानार्थ उनके निकट जा रहा है ॥५॥

हे सुतकर्मी इन्द्र उसे पान करने, महत् से महत्तर बनने के लिये तुम उसी मुहूर्त्त स्वयं का विस्तार करो ॥६॥

हे मंत्र प्रिय, वही तीव्र गतिवान् आनन्द-रस मानों तुममें प्रवेश करे, तुम्हारे ज्ञानी मन को आनन्द दे ॥७॥

हे शतकर्मी, हमारी उक्थियां, हमारे स्तव तुम्हें पहले ही वर्धित करते थे, अब भी मानों हमारे वाक्य तुम्हें और भी वर्धित करें ॥८॥

अक्षयवृद्धिशाली इन्द्र इस वैभव पर विजय पायें जिसमें सर्वविध बलवीर्य निहित हैं ॥९॥

हे मन्त्रप्रिय, देखना कोई भी मर्त्य हमारे शरीर को कोई हानि न पहुंचाये। तुम सभी के ईश्वर को, उसके अस्त्रों को किसी और ही दिशा की ओर मोड़ दो ॥१०॥

प्रथम मण्डल—सूक्त १७

मूल

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे ॥१॥

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्तारा चर्षणीनाम् ॥२॥

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। ता वां नेदिष्ठमीमहे ॥३॥

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥४॥

इन्द्रः सहस्रदाव्नां वरुणः शंस्यानाम्। क्रतुर्भवत्युक्थ्यः ॥५॥

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि। स्यादुत प्रेरचनम् ॥६॥

इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम् ॥७॥

इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ॥८॥

प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे। यामृधाथे सधस्तुतिम् ॥९॥

इदृशे। अथवा "इस दृष्टि से"। इतनी दृष्टि में। *मावतः*। "म" धातु का आदिम अर्थ ही है सकल वंश का धारण किंतु चूडान्त प्राप्ति, संपूर्णता और सिद्धि भी "म" से व्यक्त होते हैं। *विप्रस्य मावतः*—इसका अर्थ यह भी हो सकता है "जो ज्ञानी ज्ञान या साधना की अंतिम सीमा पर पहुंच गये हैं"; लेकिन जब इन्द्र और वरुण कार्य के धारणकर्ता के रूप में आहूत हुए तो पहला अर्थ ही समर्थनीय है। मानिसक बल के देवता इन्द्र और भाव-महत्त्व के देवता वरुण शक्तिधारण में जो कार्यसिद्धि और सामर्थ्य है उसीकी सहायता करते हैं। दुर्बल उनका आवेश सहने में असमर्थ है इसीलिये वे उस परिमाण में उसकी सहायता और रक्षा नहीं कर सकते।

क्रतुः शब्द का प्राचीन अर्थ था शक्ति, बल या सामर्थ्य; ग्रीक भाषा में उसी अर्थ में क्रातौस् (kratos—बल, krateros—बलवान्) शब्द मिलता है। यहां जब इन्द्र और वरुण को क्रतु कह कर अभिहित किया गया हो तो इससे यही प्रमाणित होता है कि इस शब्द का अर्थ बलवान् या प्रभु भी था।

प्रेचनम् शब्द का आध्यात्मिक अर्थ था कुमति और कुवृत्ति का बहिष्कार कर आधार को मलशून्य और शुद्ध करना। यही है ग्रीक लोगों का "katharsis"।

सधस्—सध् धातु का विशेषण और विशेष्य, जिस धातु से साधन शब्द बनता है। लेकिन बाद में संस्कृत से वह धातु लुप्त हो गयी। बलद अर्थ का द्योतक सधिष्ठ शब्द है—जो जन्तु परिश्रम करता है, जमीन को खेती के योग्य बनाता है वही है सधिष्ठ।

अनुवाद

हे इन्द्र, हे वरुण, तुम्हीं सम्राट् हो, तुम देवों को ही हम रक्षक-रूप में वरण करते हैं—ऐसे तुम इस अवस्था में हमारे प्रति सदय होओ ॥१॥

कारण, जो ज्ञानी शक्ति धारण कर पाते हैं, उन्हींके यज्ञस्थल में तुम रक्षा करने के लिये उपस्थित होते हो। तुम ही सब कार्यों के धारणकर्ता हो ॥२॥

आधार के आनंद-प्राचुर्य में यथा-कामना आत्मतृप्ति अनुभव करो, हे इन्द्र और वरुण, हम तुम्हारे अत्यंत निकट सहवास चाहते हैं ॥३॥

जो शक्तियां एवं जो सुबुद्धियां आंतरिक ऋद्धि बढ़ाती हैं, उन्हीं सबके प्रबल आधिपत्य में हम मानों प्रतिष्ठित रहें ॥४॥

जो-जो शक्तिदायक हैं उनके इन्द्र और जो-जो प्रशस्त और महत् हैं उनके वरुण ही स्पृहणीय प्रभु हों ॥५॥

इन दोनों के रक्षण से हम स्थिर सुख के साथ निरापद रहते एवं गभीर ध्यान करने में समर्थ होते हैं। हमारी पूर्ण शुद्धि हो ॥६॥

हे इन्द्र, हे वरुण, हम तुमसे तरह-तरह के आनंद प्राप्त करने के लिये यज्ञ करते हैं, हमें सर्वदा विजयी बनाओ ॥७॥

हे इन्द्र, हे वरुण, हमारी बुद्धि की सभी वृत्तियां हमारी वश्यता स्वीकार करें, उन सभी वृत्तियों में अधिष्ठित हो हमें शांति प्रदान करो ॥८॥

हे इन्द्र, हे वरुण, ये जो सुन्दर स्तव हम तुम्हें यज्ञरूप में अर्पण करते हैं, वह तुम्हारा भोग्य हो, उस साधना के लिये तुम ही स्तव-वाक्य को पुष्ट और सिद्धियुक्त बना रहे हो ॥९॥

व्याख्या

प्राचीन ऋषि जब आध्यात्मिक युद्ध में अन्तर-शत्रु के प्रबल आक्रमण होने पर देवताओं की सहायता पाने के लिये प्रार्थना करते, साधना-पथ पर किञ्चित् अग्रसर होने पर असंपूर्णता का अनुभव कर पूर्णता की प्रतिष्ठा की, मन में *वाजः* या शक्ति की स्थायी घनीभूत अवस्था की कामना करते या अन्तर-प्रकाश और आनंद की परिपूर्णता में उसीकी प्रतिष्ठा करने में, भोग करने में या उसकी रक्षा करने के लिये देवताओं का आह्वान करते, तब हम देखते हैं कि वे प्रायः युग्म रूप में अमरगण के सम्मुख एक वाक्य, एक स्तव द्वारा स्तुति कर अपना मनोभाव प्रकट करते थे। अश्वि-युगल (अश्विनौ), इन्द्र और वायु, मित्र और वरुण ऐसे संयोगों के उदाहरण हैं। इस स्तव में इन्द्र और वायु नहीं, मित्र और वरुण भी नहीं। इन्द्र और वरुण का इस प्रकार संयोग कर कण्ववंशज मेधातिथि आनंद, महत्त्वसिद्धि और शांति के लिये प्रार्थना कर रहे हैं। इस समय उनके मन का भाव उच्च, विशाल और गंभीर है। वह चाहते हैं मुक्त और महत् कर्म, चाहते हैं प्रबल तेजस्वी भाव किंतु वह बल प्रतिष्ठित होगा स्थायी, गंभीर और विशुद्ध ज्ञान पर, वह तेज विचरण करेगा शांति के दो विशाल पंखों पर आरूढ़ हो कर्मरूपी आकाश में। आनंद के अनंत सागर में निमग्न होने पर भी, आनंद की तरह-तरह की तरंगों पर आंदोलित होने पर भी वह चाहते हैं उसी आनंद में स्थैर्य, महिमा और चिरप्रतिष्ठा का अनुभव। वे उस सागर में डूब आत्म-ज्ञान खोने, उन तरंगों पर लुलितदेह गोता खाने को अनिच्छुक हैं। उस महत्-आकांक्षा की प्राप्ति कराने के

योग्य सहायता देनेवाले देवता हैं इन्द्र और वरुण। राजा इन्द्र, सम्राट् वरुण। जो मानसिक तेज और तपः समस्त मानसिक वृत्तियों, अस्तित्व और कार्यकारित्व के कारण हैं उनके दाता इन्द्र ही हैं, वृत्रों के आक्रमण से उसकी रक्षा वे ही करते हैं। चित्त और चरित्र के जितने भी महत् और उदार भाव हैं, जिनके अभाव में मन और कर्म में उद्धतता, संकीर्णता, दुर्बलता या शिथिलता का आना अवश्यंभावी है, उनकी स्थापना और रक्षा वरुण ही करते हैं। अतएव इस सूक्त के प्रारंभ में ऋषि मेधातिथि इन दोनों की सहायता और मित्रता का वरण करते हैं। *इन्द्रावरुणयोरहमव आ वृणे। सम्राजोः*—क्योंकि वे ही सम्राट् हैं। अतएव *ईदृशे*, इस अवस्था में (मन की जिस अवस्था का वर्णन किया है) या इस अवसर पर वे अपने लिये और सबके लिये उनकी प्रसन्नता की प्रार्थना करते हैं—*ता नो मृळात ईदृशे*। जिस अवस्था में देह, प्राण, मन तथा विज्ञानांश की सभी वृत्तियां और चेष्टाएं अपने स्थान में समारूढ़ और संवृत रहती हैं, किसी का भी जीव पर आधिपत्य, विद्रोह अथवा यथेच्छाचार नहीं होता, सभी अपने-अपने देवता की पराप्रकृति की वश्यता स्वीकार कर अपना-अपना कर्म भगवन्निर्दिष्ट समय पर और परिमाण में आनंद के साथ करने में अभ्यस्त होते हैं, जिस अवस्था में गभीर शांति तथा साथ ही तेजस्विनी सीमारहित प्रचण्ड कर्म-शक्ति होती है, जिस अवस्था में जीव स्वराज्य का स्वराट् होता है, अपने आधारभूत आंतरिक राज्य का यथार्थ सम्राट्, उसी के आदेश से या उसी के आनंद के लिये सभी वृत्तियां सुचारु रूप से परस्पर सहायता करती हुई कर्म करती हैं अथवा उसकी इच्छा होने पर गंभीर तमोरहित नैष्कर्म्य में मग्न हो अतल शांति के अनिर्वचनीय आनंद का आस्वादन करती हैं, उसी अवस्था को पूर्व युग के वैदांतिक स्वराज्य वा साम्राज्य कहा करते थे। इन्द्र और वरुण इसी अवस्था के विशेष अधिष्ठाता हैं, सम्राट् हैं। इन्द्र सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियों को चालित करते हैं, वरुण सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियों पर शासन करते और उन्हें महिमान्वित करते हैं।

इन महिमान्वित अमरद्वय की संपूर्ण सहायता प्राप्त करने के अधिकारी सभी नहीं होते। जो ज्ञानी हैं, धैर्य-प्रतिष्ठित हैं वे ही हैं अधिकारी। 'विप्र' होना होगा, 'मावान्' बनना होगा। विप्र का अर्थ ब्राह्मण नहीं। 'वि' धातु का अर्थ है प्रकाश, 'विप्' धातु का अर्थ है प्रकाश की क्रीड़ा, कंपन या पूर्ण उच्छ्वास। जिसके मन में ज्ञान का उदय हुआ है, जिसके मन का द्वार ज्ञान की तेजस्वी क्रीड़ा के लिये मुक्त है वही है विप्र। 'मा' धातु का अर्थ है धारण करना। जननी गर्भ में संतान धारण करती है इसीलिये वह 'माता' नाम से अभिहित है। आकाश समस्त भूत के, समस्त जीव के जन्म, खेल और मृत्यु को अपने गर्भ में धारण कर स्थिर, अविचलित बना रहता है, इसलिये वह समस्त कर्म के प्रतिष्ठापक प्राणस्वरूप वायुदेवता मातरिश्वा के नाम से विख्यात है। आकाश की तरह ही जिसमें धैर्य और धारण-शक्ति है, जब प्रचण्ड बवण्डर दिङ्मण्डल को आलोड़ित कर प्रचंड हुंकार के साथ वृक्ष, पशु, गृह तक को उड़ाता हुआ रुद्र भयंकर

रासलीला का नृत्य-अभिनय करता है तब आकाश उस क्रीड़ा को जिस प्रकार सहन करता है, चुपचाप आत्मसुख में मग्न रहता है, उसी तरह जो प्रचण्ड विशाल आनंद को, प्रचण्ड रुद्र कर्मस्रोत को, यहांतक कि शरीर या प्राण की असह्य यंत्रणा को भी, अपने आधार में उस क्रीड़ा के लिये उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान कर अविचलित और आत्मसुख में प्रफुल्ल रहता हुआ साक्षी-रूप में धारण करने में समर्थ होता है वही है 'मावान्'। जिस समय ऐसे मावान् विप्र, ऐसे धीर ज्ञानी अपने आधार को वेदी बना यज्ञ के लिये देवताओं का आवाहन करते हैं, उस समय इन्द्र और वरुण की वहां अबाध गति होती है, वे स्वेच्छा से भी उपस्थित होते हैं, यज्ञ की रक्षा करते हैं, उसके समस्त अभीप्सित कर्म के आश्रय और अवलंब बन (*धर्तारा चर्षणीनाम्*) विपुल आनंद, शक्ति और ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं।

प्रथम मण्डल—सूक्त ७५

मूल और अनुवाद

जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनि ॥१॥

मैं जिसे व्यक्त करता हूं वह अतिशय विस्तृत और बृहत् है एवं देवता के भोग की सामग्री है, उसे तुम प्रेमसहित आत्मसात् करो। जितना भी हव्य प्रदान करता हूं, सब अपने ही मुंह में अर्पण करो ॥१॥

अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि ॥२॥

हे तपः-देव ! हे शक्तिधारियों में श्रेष्ठ तथा उत्तम विधाता ! मैं अपने लोगों के हृदय का जो मंत्र व्यक्त करता हूं वह तुम्हें प्रिय हो और मेरी अभिलषित वस्तुओं का विजयी भोक्ता हो ॥२॥

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥३॥

हे तपः-देव अग्नि ! जगत् में कौन तुम्हारा साथी और भाई है ? तुम्हें देवगामी सख्य देने में कौन समर्थ है ? तुम ही कौन हो ? किसके अंतर में अग्निदेव का आश्रय है ? ॥३॥

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः ॥४॥

हे अग्नि ! तुम ही सब प्राणियों के भ्राता हो, तुम ही जगत् के प्रिय बन्धु हो, तुम ही सखा और अपने सखाओं के काम्य हो ॥४॥

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥५॥

मित्र और वरुण के लिये, देवताओं के लिये, बृहत् सत्य के लिये यज्ञ करो। हे अग्नि! वह सत्य तुम्हारा अपना ही घर है, उसी लक्ष्यस्थल पर यज्ञ को प्रतिष्ठित करो।५॥

प्रथम मण्डल—सूक्त ११३

सर्व ज्योतियों में जो श्रेष्ठ ज्योति है वही आज हमारे सम्मुख उपस्थित है। देखो, सर्वव्यापी विचित्र ज्ञानमय बोधरूप में उसका जन्म हुआ है! रात्रि भी है विश्वस्रष्टा सत्यात्मा की नन्दिनी, वे भी हैं स्रष्टा की सृष्टि के लिये सृष्टा, रात्रि अपने गर्भ में उषा को वहन कर रही हैं, अब गर्भ को शून्य कर उस ज्योति को जन्म दे गयी हैं॥१।

रक्ताभ-वत्स-युक्ता, रक्ताभ-श्वेतवर्णा आलोक देवी उपस्थित हैं, कृष्णवर्णा तमोरूपिणी रात्रि ही जीवों के इन सभी विविध गृहों को उनके लिये मुक्त करती चल रही हैं। इस रात्रि और इस उषा के एक ही प्रेममय बन्धु हैं, दोनों ही हैं अमृतत्व-पूर्ण, दोनों ही हैं आपस में अनुकूलमना। ये जो पृथ्वी और द्युलोक हैं ये हमारे बाहरी-भीतरी क्षेत्र हैं, उसकी दिशाओं को निश्चित करने के लिये दोनों ही विचरण करती हैं॥२॥

दोनों भगिनियों का है एक ही अनन्त पथ, देवों की शिष्याएं दोनों भगिनियां अलग-अलग उस पथ पर विचरण करती हैं। दोनों न मिलती हैं न एक-दूसरे के ऊपर दान-वर्षण करते-करते पथ पर रुकती हैं। रात्रि और उषा के मन एक ही हैं, केवल रूप अलग-अलग हैं॥३॥

सत्यपथ में जो हमारी दीप्तिमयी नेत्री हैं वे ही अभी सारे सत्यों को चित्त में उद्भासित कर रही हैं। देखो, कितने तरह-तरह के अर्गलाबद्ध द्वार उद्घाटित हो गये। दसों दिशाओं में जगत् की सकल संकीर्ण परिधियों को देवता ने अपनी भुजाओं में ले लिया है, हमारे प्राणों में आनन्द के बहुत्व प्रकाशित हुए हैं। उषा ने हमारे जगत्-क्षेत्र के सारे अव्यक्त भुवनों को प्रकाशित किया है॥४॥

पुरुष जगत् के इस अनृतमय वक्र पथ पर सोये पड़े थे। हे पूर्णतादायिनी उषा, तुम ही उसे कर्मपथ पर, भोगपथ पर, आनंदपथ पर आगे बढ़ने के लिये आह्वान करती हो, पुकारती हो। जो अल्प दर्शन में समर्थ और संतुष्ट थे उनकी दृष्टि को विशाल बनाने के लिये तुमने जगत्-क्षेत्र के नाना भुवनों को उनके सामने प्रकट किया है॥५॥

तुम ही क्षात्रतेज हो, तुम ही हो दिव्य ज्ञान-शक्ति, तुम ही महती प्रेरणा हो, तुम ही हमारे क्षेत्र और हमारे पथ हो, तुम ही हो उस पथ पर चलने की शक्ति। जीवन के जितने एकात्म नानारूप विकास और क्रीड़ाएं हैं उन्हें दिखाने के लिये उषादेवी ने जगत्-क्षेत्र के नाना भुवनों को प्रकट किया है॥६॥

यह देखो, स्वर्ग की दुहिता संपूर्ण प्रभात बन रही है, आलोक-वसना युवति ने दर्शन दिया है। हे पूर्ण भोगमयी उषा, आज ही इस मर्त्य लोक में पृथ्वी के सारे ऐश्वर्यों के ईश्वरी रूप में स्वयं को प्रकट करो॥७॥

जो आगे जा चुके हैं उनके गन्तव्य स्थल का अनुसरण ये भी कर रहे हैं; जो प्रतिदिन धारा में बहते आयेंगे उनमें से ये ही हैं प्रथमा और अग्रगामिनी। जो जीवित हैं उन्हें आरोहण मार्ग में उठाती चलती हैं। विश्वप्राण में जो भी मृत पड़ा था उसे भी जगाती जा रही हैं॥८॥

उषा, तुमने बल-देवता अग्नि को पूर्णदीप्ति प्राप्त करने में समर्थ बनाया है, तुमने सत्यात्मा सूर्य की सत्य-दृष्टि द्वारा इन सबको प्रकाशित किया है, विश्व-यज्ञ के हेतु तुम मानव को तमस् से प्रकाश में ले आयी हो। देवताओं के व्रत में ये ही हैं तुम्हारे आनंद-दायक कर्म॥९॥

ज्ञान की क्या सीमा, प्रकाश की क्या विशालता, जब जो उषा पहले प्रकाशित हुई हैं और जो अब प्रकाशित होती आ रही हैं उनके साथ अब का उषा रूप विश्वमय ज्ञानोन्मेष एकदीप्त हो जाता है। प्राचीन सभी प्रभातों ने इस प्रभात की कामना की थी, उनके आलोक से ये आलोकित हैं। अब ध्यानस्थ हो भावी सभी उषाओं के साथ मिलने और एकचित्त होने के लिये मानस में उसी आलोक को भविष्य की ओर आगे बढ़ा रही हैं॥१०॥

तृतीय मण्डल—सूक्त ४६

मूल

युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि॥१॥

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्॥२॥

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी॥३॥

उरुं गभीरं जनुषाभ्युग्रं विश्वव्यचसमवतं मतीनाम्।
इन्द्रं सोमासः प्रदिवि सुतासः समुद्रं न स्रवत आ विशन्ति॥४॥

यं सोममिन्द्र पृथिवीद्यावा गर्भं च माता बिभृतस्त्वाया।
तं ते हिन्वन्ति तमु ते मृजन्त्यध्वर्यवो वृषभ पातवा उ ॥५॥

अनुवाद

जो देवता पुरुष योद्धा, ओजस्वी, स्वराज्य के स्वराट् हैं, जो देवता नित्ययुवा स्थिर-सक्षम प्रखर दीप्तिस्वरूप और अक्षय, अति महान् हैं, वही हैं श्रुतिधर वज्रधर इन्द्र, अति महान् हैं उनके समस्त वीरकर्म ॥१॥

हे विराट्, हे ओजस्वी ! तुम महान् हो, अपनी विस्तार-शक्ति के कर्म द्वारा तुम अन्य सब पर जोर-जबर्दस्ती कर उनसे हमारा अभिलषित धन छीन लो। तुम एक हो, समस्त जगत् में जो कुछ दीख रहा है उस सबके राजा हो, मनुष्य को युद्ध की प्रेरणा दो, उसके जेतव्य स्थिर-धाम में उसे स्थापित करो ॥२॥

इन्द्र दीप्ति-रूप में प्रकट होकर जगत् की सारी मात्रा का अतिक्रमण कर जाते हैं, देवताओं को भी सब ओर से अनंतभाव से अतिक्रम कर सबके लिये अगम्य हो जाते हैं। ऋजुगामी ये शक्तिधर सवेग इन्द्र अपनी ओजस्विता से मनोजगत्, विस्तृत भूलोक एवं महान् प्राण-जगत् को भी अतिक्रम कर जाते हैं ॥३॥

इस विस्तृत और गभीर, इस जन्मतः उग्र और तेजस्वी, इस सर्वविकासकारी और सर्वविचारधारक इन्द्र-रूप समुद्र में जगत् के सभी आनंद-मद्यकर रसप्रवाह मनोलोक की ओर अभिव्यक्त होकर स्रोतस्विनी नदियों की तरह प्रवेश करते हैं ॥४॥

हे शक्तिधारी, जिस तरह माता अजात शिशु को धारण करती है उसी तरह यह आनंद-मदिरा मनोलोक और भूलोक को तुम्हारी ही कामना से धारण करती है। हे वर्षक इन्द्र ! अध्वर का अध्वर्यु तुम्हारे ही लिये, तुम्हारे ही पाने के लिये उस आनंदप्रवाह को दौड़ाता है, तुम्हारे लिये ही उस आनंद को परिशुद्ध करता है ॥५॥

चतुर्थ मण्डल—सूक्त १

हे तपोदेवता अग्नि, तुम्हें ही देववृन्द ने एक प्राण हो उच्चाशय से कर्मधर रूप में मानव के अंतर में प्रेरित किया है, चिन्मय क्रियाशक्ति के आवेश में प्रेरित किया है। हे यज्ञकारिन्, उन्होंने ही मर्त्य मानव के अंतर में अमर देवता को जन्म दिया है। जिसके प्रज्ञाबल से मानव में देवता प्रकाशित हैं, विश्वमय के ज्ञान-संचारण में जो देवता मानव में विकसित हुए हैं, देववृन्द ने उनको जन्म दिया है ॥१॥

हे तपः-अग्नि, वही तुम हमारे भ्राता वरुण को यज्ञानन्द बृहत्तम अनंतव्यापी को पथ में प्रवर्तित करो, मन की सुमति में देवधाम के उद्देश्य से मानव के आरोहण को साधित करो ॥२॥

हे कर्म-निष्पादक सखा, जैसे अश्वयुगल, वेगवान् अश्वयुगल शीघ्रगामी रथचक्र को पथ पर दौड़ने में प्रवर्तित करते हैं, वैसे ही हमारी यात्रा में भी इस सखा को प्रवर्तित करो। वरुण संगी हैं, सर्व-ज्योति-प्रकाश मरुद्गण संगी हैं, परम सुख खोज लो। हे फलदायिन्! पवित्र ज्वाला से दीप्त तपः-अग्नि! योद्धा की पथ-प्रेरणा की पूर्ति के लिये, आत्मपुत्र रूप देवता के सृजन के लिये जो सुख-शांति मिलती है उसे भीतर गठित करो ॥३॥

वरुण जब क्रुद्ध हों तब तुम ज्ञानी उनके उद्धत प्रहार को अपसारित करो। यज्ञ में समर्थ, कर्म-धारणा में बलवान्, पवित्र दीप्त प्रकाश द्वारा प्राण में अशुभ सेना के विदारक स्पर्श को दूर करो ॥४॥

हमारे इस उषाकाल में, इस ज्ञानोदय में निम्नतम पार्थिव भुवन में उतर मानव का अति अंतरंग संगी बन तपः-अग्नि का आनंद मानों वरुण के ग्रास के परे जा सुख-शांति से पहुंच कर प्रतिष्ठित होता है। सर्वदा पुकार सुनकर सत्वर हृदय में आओ हे तपःअग्नि ॥५॥

मर्त्यगण के लिये ये सुखभोगी देवताओं के दर्शन हैं श्रेष्ठ चित्रतम और स्पृहणीय जैसे अविनाश्य विश्वधात्री जगत् धेनु का दान-स्रोत, मानों उसका स्वच्छ सुप्त घृत क्षरित हुआ हो ॥६॥

इस अग्नि के तीन परम जन्म हैं, तीनों ही हैं सत्यमय, तीनों ही हैं स्पृहणीय। वे ही त्रिविध रूप में अनन्त के मध्य विश्वभर में संचरण के लिये प्रकाशित हो अनन्त अग्नि सान्त में उतर आये हैं। पवित्र, शुभ्र आदिकर्मा हैं, उनकी दीप्ति प्रकट हो रही है ॥७॥

अग्नि दूत बन मानव आत्मा के वास-भवनरूपी सर्व भुवन में अपनी कामना प्रसारित कर रहे हैं, सर्व भुवन में होता बन ज्योतिर्मय रथ में आरूढ़ संचरण करते हुए आनन्दमयी जिह्वा से सर्व वस्तुओं का भोग करते हैं। उनके अश्व हैं रक्तवर्णी, वपु के महत् आलोक सर्वत्र विस्तारित हो रहे हैं, सर्वदा ही वे आनन्द में रहते हैं मानों सभागृह भोग-वस्तुओं से परिपूर्ण है ॥८॥

ये ही मनुष्य को ज्ञान द्वारा जागृत करते हैं, ये ही मानव यज्ञ के ग्रंथि हैं, मानों दीर्घ रज्जु उन्हें अग्रसर करते हुए ले जा रही हो, आत्मा के इस द्वारयुक्त विविध वासगृह में तपः-अग्नि सिद्धि की साधना में रत रहते हुए निवास करते हैं। देवता मर्त्य मानव की साधना के साधन-स्वरूप स्वीकृत हैं ॥९॥

सप्तम मण्डल—सूक्त ७०

हे अश्विद्वय, जो कुछ वरणीय है वह तुम्हीं दान करते हो! आओ, तुम्हारा वह स्वर्ग पृथ्वी पर ही व्यक्त हुआ है। जीवन का अश्व सुखी और पुष्ट हो उस स्थान में प्रविष्ट हुआ है, वह तुम्हारे जन्म का स्थान है, आश्रय-स्थान है, उसी स्थान में तुम सभी ध्रुव स्थिति के लिये आरोहण करो॥१॥

वही वह तुमलोगों की आनन्दमयी सुमति हमें दृढ़ता से आलिंगन में बांध रही है, मनुष्य के इस बहु द्वारयुक्त पुर में मन का स्वच्छ तपः तप्त हुआ है। वही शक्ति सुयुक्त श्वेत किरणमय अश्वद्वय का रूप धारण कर हमारे रथ में योजित होते हैं। सारे समुद्रों को, सभी नदियों को पार करा देते हैं॥२॥

सप्तम मण्डल—सूक्त ७७

उषा-स्तोत्र

तरुणी प्रेयसी उषा की दीप्तिमयी देह प्रकट हुई है। अखिल विश्व के जीवन को उद्देश्यपथ की ओर प्रेरित किया है उषा ने। तपोदेव अग्नि मनुष्यों के भीतर प्रज्वलित होने के लिये जन्मी है। सब तरह के अंधकार को ठेलकर ज्योति के सृजन में तत्पर हैं उषा।

महत् विस्तार, सब की ओर दृष्टि डालते हुए उदित हो रही हैं उषा। आलोक वस्त्रों से भूषित वीर्यतत्त्व से श्वेतकाय बनी देवी प्रकाश फैला रही हैं। उनका वर्ण है स्वर्ग का सोना, उनका दर्शन है पूर्णदृष्टि-स्वरूप, ज्ञान के रश्मिपुंज की माता, ज्ञान के दिवसों की नेत्री, उनकी आलोकमयी काया प्रकट हो रही है।

देवताओं के चक्षु सूर्य को वहन करने के लिये, श्वेत प्राण-अश्व को लाने के लिये, सत्य की किरणों से सुव्यक्त हो दर्शन दिया है भोगमयी उषा देवी ने। देख रहा हूं नानाविध दैव ऐश्वर्य, सबके अंदर, सर्वत्र संभूत हुई हैं आलोकमयी देवी।

जो कुछ आनंदमय है वह भीतर खिल उठे, जो कुछ मानव का शत्रु है वह दूर हो! कामना है तुम्हारे ऐसे प्रभात की। संचित करो हमारे अंदर सत्यदीप्तियों का असीम गोयूथ, गठित करो हमारी भयरहित आनन्दभूमि। जो कुछ द्वंद्वमय है, द्वेषमय है उसे दूर हटाओ, मनुष्य की आत्मा की जितनी संपदा है सब बहा ले आओ। हे ऐश्वर्यमयि! आनन्द और ऐश्वर्य से समृद्ध करो जीवन।

देवी उषा, जिन श्रेष्ठ दीप्तियों के साथ तुम खेलती हो उन्हें लेकर हमारे अंतर में विकसित होओ, इस देही के जीवन को विस्तारित करो। हे सर्वानन्दमयि! स्थायी प्रेरणा दो। दो वह ऐश्वर्य जिसमें सत्यकिरणों का गोधन है, जहां जीवन का वही अनन्तगामी रथ और अश्व हैं।

उसी धन से धनी वसिष्ठ हैं हम लोग। हे सुजाते, हे स्वर्गनन्दिनि, जब हम अपने मनन-चिंतन से वर्धित करते हैं तुम्हें, तुम भी हमें अंदर धारण करती हो। वही आनन्दराशि है हमारा उपलब्ध ज्ञान।

नवम मण्डल—सूक्त १

मन के देवता इन्द्र के पान के लिये अभिषुत हो स्वादुतम, मादकतम धारा में बह निकलो हे सोमदेव ॥१॥

प्रतिरोधी, राक्षसों के हन्ता, सर्वकर्मी शक्तिधर, ज्ञानविद्युत-प्रहृतजन्म-स्थान से इन्द्रियों के आधार में ढाला हुआ सिद्धि-स्थान में आसीन हो ॥२॥

वृत्र के हननकारी अपने धन के मुक्तहस्त दाता हो तुम, परम सुख के विधाता बनो, ऐश्वर्यशाली देवताओं के ऐश्वर्य-सुख को पार कराते हुए हमारे पास ले आओ ॥३॥

अपने आनंद-सार के बल पर महान् देवताओं को जन्म देने, ऐश्वर्यपूर्णता और सत्यश्रुति की पूर्णता की सृष्टि करने के लिये यात्रा करो ॥४॥

वही देव जन्म ही है हमारा गन्तव्य-स्थल, उसी लक्ष्य की ओर, दिन-प्रतिदिन हम कर्मपथ पर अग्रसर होते हैं। हे आनंददाता, तुम में ही हमारे सत्यद्योतक सारे उक्थ प्रकाशित होते हैं ॥५॥

ज्ञानमय सूर्यदेव की दुहिता पवित्र मन के अविच्छिन्न विस्तार में रस ग्रहण कर पूत करती हैं ॥६॥

जिस मानसलोक को हम पार करेंगे वही द्युलोक में मन की सूक्ष्म शक्ति द्वारा कर्मप्रयास से देवता को पकड़ता है। वे दस बहनें हैं, देवता की दस भोग्या रमणीस्वरूप ॥७॥

इस देवता को अग्रगामिनी सारी शक्तियां पथ पर दौड़ने के लिये प्रेरणा देती हैं, उनके आधार-पात्रों को शब्दों से भर देती हैं। वही आनन्द-मदिरा सर्वव्यापी है, तीन परम तत्त्वों से निर्मित ॥८॥

मन के देवता इन्द्र के पान के लिये स्वर्ग की अहननीय धेनुगण इस शिशु आनन्द को ज्योति-दुग्ध से मिश्रित करती हैं॥९॥

इसी की मत्तता से वीर मन के देवता सारे विरोधी दानवों का नाश करते हैं और स्वर्ग के प्रसूत धन प्रभूत दान में वितरण करते हैं॥१०॥

नवम मण्डल—सूक्त २

देवत्व को जन्म देने के लिये, पवित्र मन को अतिक्रम कर सवेग बहते जाओ, हे सोमदेव! हे आनन्द, विश्वधन के वर्षणकारी बन मन-देवता इन्द्र में प्रवेश करो॥१॥

हे आनन्द के देवता, विपुल ज्योति से युक्त होओ, विश्व-धन के वर्षणकारी वृषभ हो तुम, हमारे अंदर महत् सुख भोग का विकास करो। स्वधाम में आसीन होओ, विश्वजीवन को धारण करो॥२॥

सुत होने पर ये सर्व विधाताओं की प्रीतिमय, स्वर्ग-मधु आनन्द-धारा का दोहन कर देते हैं। संकल्प से सिद्ध हो इन्होंने विश्वप्रवाह को वसन-रूप में धारण किया॥३॥

वही महती विश्व-प्रवाह रूप स्वर्ग की सारी नदियां इस महान् की ओर धावित होती हैं जब वे ज्योतिपुंज से आच्छादित होना चाहते हैं॥४॥

ये जो आनन्द समुद्र द्युलोक के चरणकारी और भित्तिस्वरूप हैं, उसी प्रवाह में बह पवित्र मन में परिमार्जित होता है, पवित्र मन में आनन्ददेव मानव को चाहता है॥५॥

ज्योतिर्मय आनन्द-वृषभ ने हुंकारा है। वे महान् हैं, मित्र की तरह सर्वदर्शी हैं, ज्ञान-सूर्य की किरणों से उद्दीप्त॥६॥

हे आनन्ददेव, तुम्हारी कर्मेच्छुक सारी उक्तियां महाबल से पूत और मार्जित होती हैं जब तुम मत्तता देने के लिये अपने शरीर को शोभायमान करते हो॥७॥

उसी तेजस्वी मत्तता के लिये हम तुम्हें चाहते हैं, हमारे अंदर तुम अतिमानस लोक के स्रष्टा हो, तुम जो व्यक्त करते हो वह सभी महान् है॥८॥

सुमधुर मदिरा की धारा में हमारे लिये देवमन-आकांक्षी बन, वर्षणकारी पर्जन्य बन धावित होओ॥९॥

हे आनन्ददेव, तुम उस लोक के ज्योतिर्मय गाभी हो, आशु अश्व, वीर योद्धा पुरुष हो और पूर्ण धन को विजित कर लेते हो, सोमदेव, तुम ही हो यज्ञ के आदि और परम आत्मा॥१०॥

नवम मण्डल—सूक्त ११३

अमरत्व के प्रकाश्य और आनन्दस्वरूप इस सूक्त में कश्यप ऋषि ने सोमदेव का आह्वान कर उस महान् देवता से स्तवपूर्वक अमरत्व की याचना की। सूक्त का तत्त्व इस प्रकार है :

वृत्रहन्ता इन्द्र आनन्द-सरोवर से सोमरस पान करें, सोमपान द्वारा आत्मा में बल धारण करें, सोमपान द्वारा महत् वीर कर्म की इच्छा करें। हे आनन्दमय! विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥१॥

अनन्तदिक्पति, सर्ववरदायिन्! ऋजुता की जन्मभूमि से चिरदिन आते रहो, सोमदेव! सत्यबल में सत्यवाणी के गर्भ में श्रद्धा से, तपस्या से समुद्रभूत हो तुम। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥२॥

पर्जन्य के सर्वदान से यह महान् देवता वर्धित है, सूर्यदुहिता के सर्वज्ञान से स्थापित किया गया है यह महान् देवता, गन्धर्व के रसग्रहण से गृहीत है यह महान् देवता, गन्धर्व-ग्रहण के लिये सोमरस में वह परम रस निहित है। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥३॥

सत्य-ज्योतिर्मय हो तुम, वाणी में व्यक्त करो सत्य धर्म, सत्यकर्मा हो तुम, व्यक्त करो सत्य सत्ता, आनंद के राजा सोमदेव हो तुम, वाणी में व्यक्त करो सत्य-श्रद्धा। सोमदेव, धाता के हाथ हुआ है तुम्हारा निर्दोष सर्जन। विशाल प्रवाह में बह प्लावित करो इन्द्र को॥४॥

विशाल, उग्र आनंद का पूर्ण नानाविध प्रवाह सत्य-सत्ता से संयुक्त होने के लिये धावित है, मिलन की इच्छा से रसमय के असंख्य रस एक-दूसरे पर गिर रहे हैं। हे देवता! हृद्‌गत मंत्र से तुम पूत हो, हृद्‌गत सत्यमंत्र से द्युतिमान् हो। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥५॥

मन की जिस उच्च चूड़ा पर छन्द की गति से मंत्रद्रष्टा के चिन्तन वाणी से उद्‌गत हुए वहीं है सोम-निस्सरण से, सोमरस के प्लावन से आनंद की सृष्टि, आनंद की स्वर्गीय महिमा। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥६॥

जिस धाम में अविनाशी ज्योति, जिस धाम में स्वर्लोक निहित है, हे आदि सोमदेव, उसी धाम में हमें उठा के ले चलो, अमर लक्ष्य लोक में हमें ठौर दो। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो॥७॥

जिस धाम में सूर्यतनय धर्मराज राजा हैं, जिस धाम में द्युलोक की आरोहणीय सानु

की चूड़ा है, जिस धाम में प्रबल विश्वनदी सबका उत्स है, उसी धाम में हमें अमर बना दो। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो ॥८॥

जिस धाम में स्वच्छन्द विचरण है द्युलोक का, जो त्रिदिव के स्वर्लोक के त्रिपुट आनन्द का धाम है, जिस लोक की अधिवासी हैं निर्मल, ज्योतिर्मयी आत्माएं, उस धाम में हमें ले जाकर अमर बना दो। विशाल प्रवाह में बह प्लावित कर दो इन्द्र को ॥९॥

जिस धाम में कामना है अतिकामना की निःशेष प्राप्ति, जिस धाम में है महत् सत्य की निवास-भूमि, जिस धाम में हैं स्वभाव की सारी प्रेरणाओं की तृप्ति, स्वप्रकृतिपूर्ण है, उसी धाम में हमें अमर बना ले चलो। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो ॥१०॥

जिस धाम में हैं सकल आनन्द, सकल प्रमोद, जिस धाम में चिरकाल के लिये आसीन हैं सकल प्रीति, सारे सुखों की क्रीड़ा, जिस धाम में है काम की सभी कामनाओं का निर्दोष सुख-आस्वादन, हमें अमर बना ले चलो उसी धाम में। विशाल प्रवाह में बह इन्द्र को प्लावित करो ॥११॥

दशम मण्डल—सूक्त १०८

हृदय में कौन-सी कामना है सरमे ? किसलिये इस देश में आगमन हुआ है ? दूर है वह पन्था जो परम शक्ति से प्रकाशित है। हमसे क्या आशा रखती हो, कौन-सी प्रेरणा की आशा ? पथ में कौन-सी गभीर वाणी है ? अतल रसा-नदी की तरंगों को किस रंग में पार किया है सरमे ? ॥१॥

इन्द्र की दूती हूं मैं, इन्द्र की प्रेरणा से विचरण कर रही-हूं तुम लोगों की विपुल गुप्त निधि की कामना से पाणिगण। उल्लंघन के भय से रात्रि हट गयी। कूद कर पार की रसा-नदी की तरंगमालाएं ॥२॥

वह इन्द्र कैसा है सरमे ? कैसी है उसकी दृष्टि-शक्ति जिसके दूत-कार्य के लिये जगत् के शिखर से इस देश में आयी हो ? आवें वे देवता, बनाऊंगा उसे सखा, बना दूंगा ज्योतिर्मय गोयूथ का गोपति ॥३॥

विजित इन्द्र कभी किसी के नहीं[१] . . . जिसके दूत-कार्य के लिये जगत् की चूड़ा से इस देश में आयी हूं। सुगभीर अवहमान सब नदियां तरंगों में छिपा नहीं रखतीं ॥४॥

---

[१] अस्पष्ट।

पत्र

मृणालिनी देवी को
बारीन को
'प्रवर्तक' को
'न' को
'स' को
'ए' को

c/o K. B. Jadhav esq.
Near Municipal office
Baroda
25 June, 1902

प्रियतमा मृणालिनी,

तुम्हारे बुखार का सुनकर बहुत ही दुःख हुआ। आशा है अब से अपनी सेहत का ख्याल रखोगी। ठंडी जगह है, वही करना जिससे ठंड न लग जाये। आज दस रुपये भेज रहा हूं। दवा मंगाकर रोज खाना। लापरवाही मत करना। मुझे एक ऐसी दवा का पता चला है जिससे तुम्हारी बीमारी ठीक हो सकती है। हर रोज खाने की जरूरत नहीं, दो-एक बार लेने से ही छुटकारा मिल जायेगा। लेकिन आसाम में इसका सेवन संभव नहीं। यदि देवघर जाओगी तो वहां ले सकती हो। मैं सरोजिनी को लिख दूंगा कि क्या करना होगा।

सरोजिनी देवघर में ही है। भाभी दार्जिलिंग से कलकत्ते आयी हुई हैं। दार्जिलिंग में वे बीमार पड़ जाती हैं। सरोजिनी ने लिखा है कि जाड़ा जाने तक वे कलकत्ते ही रहेंगी। नानी आदि सबने उन्हें खूब पकड़ा है, उनकी आशा है कि भाभी सरोजिनी के विवाह की व्यवस्था कर सकती हैं। मेरे ख्याल से आशा कम ही है। सरोजिनी अतिशय रूप और गुणों के सपने देखना छोड़े तब न!

कैंचो लानावली पहाड़ पर गया था। मुझे भी वहां बुला रहा था। एक प्रबन्ध लिखाने की उसकी इच्छा थी इसीलिये बुलाया था। लेख तो लिखना हुआ पर प्रकाशित नहीं करेगा। अंत में क्या हुआ पता नहीं, एकाएक विचार बदल गया। और एक बहुत बड़ा और गोपनीय काम आ पड़ा। मुझे ही करना पड़ा। मेरा काम देखकर कैंचो बहुत संतुष्ट था और वायदा किया है कि वेतन ज्यादा देगा। कौन जाने देगा कि नहीं। कैंचो सिर्फ बोलता है, काम कुछ नहीं दीखता। दे भी सकता है। जो देख रहा हूं उससे लगता है कि कैंचो का पतन सन्निकट है, सारे लक्षण खराब हैं।

मैं अभी खासीराव के घर पर ही हूं। तुम लोग जब आओगी तब नौलाखी जायेंगे। इस साल शायद वर्षा ज्यादा न हो। वर्षा न होने पर निश्चित ही भयंकर अकाल पड़ेगा। तब तुम लोगों का आना स्थगित हो सकता है। आने पर कष्ट ही कष्ट होगा। खाने का कष्ट, पीने का कष्ट, गरमी का कष्ट। इस साल बड़ौदा में कोई खास गरमी नहीं पड़ी। बड़ी ही सुहावनी हवा बह रही है पर इस सुहावनी हवा से वर्षा की संभावना भी उड़ी जा रही है। अभी भी १०-१२ दिन बचे हैं। इस बीच यदि अच्छी वर्षा हो गयी तो इस महाविपद् से छुटकारा मिल जायेगा। देखें, अदृष्ट में क्या लिखा है।

तुम्हारी छवि जल्दी ही भेजूंगा। यतीन्द्र बनर्जी हमारे मकान में ही रहते हैं। आज मिलने जाऊंगा, एक अच्छी-सी छवि चुन लूंगा।

अपने पिताजी और मां से मेरा प्रणाम कहना। और कुछ ज्यादा न लिखने पर भी सब समझ लेना।

तुम्हारा स्वामी

30th August

प्रियतमा मृणालिनी,

तुम्हारी २४ अगस्त की चिट्ठी मिली। तुम्हारे मां-बाप को फिर वही दुःख हुआ है—पढ़कर दुःखी हुआ। तुमने यह नहीं लिखा कि कौन-सा लड़का परलोकवासी हुआ है। दुःख होने से भी क्या बनता है ? संसार में सुख की खोज में जाने से ही सुख के बीच दुःख दिखायी देता है, दुःख सदा ही सुख को घेरे रहता है यह नियम केवल पुत्रकामना के विषय में ही लागू नहीं होता, सब सांसारिक कामनाओं का फल यही होता है। धीर चित्त से सब दुःख-सुख भगवान् के चरणों में अर्पण करना ही है मनुष्य के लिये एकमात्र उपाय।

मैंने बीस रुपयों की जगह दस रुपये पढ़ा था, इसलिये दस रुपये भेजने की बात लिखी थी। अगर पन्द्रह रुपयों की जरूरत है तो पन्द्रह रुपये ही भेजूंगा। इस महीने सरोजिनी ने दार्जिलिंग में तुम्हारे लिये कपड़ा खरीदा था उसके लिये रुपया भेज चुका हूं। इधर जो तुम उधार कर बैठी हो यह भला कैसे जानूं ? पन्द्रह रुपये लगे थे वे भेज दिये हैं; और तीन-चार रुपये जो लगेंगे वे आगामी महीने भेज दूंगा। इस बार तुम्हें बीस रुपये भेजूंगा।

अब उस बात पर आवें। अबतक तुम्हें पता चल गया होगा कि जिसके भाग्य के साथ तुम्हारा भाग्य जुड़ा है वह बड़े विचित्र ढंग का मनुष्य है। इस देश में आजकल के लोगों का जैसा मनोभाव है, जीवन का उद्देश्य और कर्म का क्षेत्र है, मेरा वैसा नहीं; सब कुछ ही भिन्न है, असाधारण है। सामान्य लोग असाधारण मत, असाधारण प्रयास, असाधारण उच्च आशा के बारे में जो कहते हैं वह शायद तुम जानती हो। इन सब भावों को वे पागलपन कहते हैं, परंतु पागल के कर्मक्षेत्र में सफलता मिलने पर उसे पागल न कह प्रतिभावान् महापुरुष कहते हैं। किंतु कितनों का प्रयास सफल होता है ? हजारों में दस असाधारण होते हैं, उन दस में कोई एक कृतकार्य होता है। मेरे कर्मक्षेत्र में सफलता तो दूर की बात है, कर्मक्षेत्र में पूर्णतः उतर भी नहीं सका हूं, अतएव मुझे पागल ही समझेंगे। पागल के हाथ में पड़ना एक स्त्री के लिये बड़ा ही अमंगल है क्योंकि स्त्री-जाति की सारी आशा सांसारिक सुख-दुःख में ही आबद्ध होती है। पागल अपनी स्त्री को सुख नहीं दे सकता, दुःख ही देता है।

हिंदूधर्म के प्रणेताओं ने इसे समझा था, वे असामान्य चरित्र, प्रयास और आशा के

बड़े अनुरागी थे; पागल हो या महापुरुष, असाधारण मनुष्य को बहुत मानते थे; किंतु इन सब बातों से स्त्री की जो भयंकर दुर्दशा होती है उसका क्या उपाय हो ? ऋषियों ने यह उपाय निश्चित किया : उन्होंने स्त्री-जाति से कहा कि तुम दूसरे की अपेक्षा 'पतिः परमो गुरुः' इसी मंत्र को स्त्री-जाति का एकमात्र मंत्र समझना। स्त्री स्वामी की सहधर्मिणी है, पति जिस कार्य को स्वधर्म मान ग्रहण करे उसमें तुम सहायता देना, सलाह देना, उत्साह देना, उन्हें देवता समझना, उन्हींके सुख में सुख, उन्हींके दुःख में दुःख मानना। कार्य का चुनाव करना पुरुष का अधिकार है, सहायता और उत्साह देना स्त्री का।

अब प्रश्न यह है कि तुम हिन्दुधर्म का पथ ग्रहण करोगी या नये सभ्य धर्म का ? पागल के साथ तुमने विवाह किया है—यह है तुम्हारे पूर्वजन्मार्जित कर्मदोष का फल। अपने भाग्य के साथ एक समझौता कर लेना अच्छा है। कैसा होगा वह समझौता ? पांच आदमियों की राय मान क्या तुम भी उसे पागल कहकर उड़ा दोगी ? पागल तो पागलपन के रास्ते दौड़ेगा ही दौड़ेगा, तुम उसे पकड़कर नहीं रख सकोगी, तुम्हारी अपेक्षा उसका स्वभाव अधिक बलवान् है। तब क्या तुम कोने में बैठ केवल रोओगी या उसके साथ ही दौड़ पड़ोगी, पागल के उपयुक्त पगली बनने की चेष्टा करोगी, जैसे अंधे राजा की महिषी दोनों आंखों पर पट्टी बांध स्वयं भी अंधी बन गयी थीं ? हजार ब्राह्म स्कूल में तुम क्यों न पढ़ी होओ, आखिर हो तो हिंदू घर की लड़की, हिंदू पूर्वपुरुषों का रक्त तुम्हारे शरीर में है, मुझे संदेह नहीं, तुम शेषोक्त पथ ही अपनाओगी।

मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन है : मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, और जो धन दिया है, सभी भगवान् का है, जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उतना ही अपने लिये खर्च करने का अधिकार है, बाकी बचे को भगवान् को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये खर्च करूं तो मैं चोर कहलाऊंगा। हिंदू शास्त्र कहते हैं, जो भगवान से धन ले भगवान् को नहीं देता वह चोर है। आजतक मैं भगवान् को दो आने दे, चौदह आने अपने सुख में खर्च कर, हिसाब चुकता कर, सांसारिक सुख में मत्त था। जीवन का अर्द्धांश वृथा ही गया, पशु भी अपना और अपने परिवार का उदर भर कृतार्थ होता है।

मैं अबतक पशुवृत्ति और चौर्यवृत्ति करता आ रहा था, यह जान गया हूं। यह जान बड़ा अनुताप और अपने पर घृणा हो रही है, अब और नहीं, वह पाप जन्म-भर के लिये छोड़ दिया। भगवान् को देने का अर्थ क्या है ? अर्थ है धर्मकार्य में व्यय करना। जो रुपया सरोजिनी या उषा को दिया है उसके लिये मुझे कोई अनुताप नहीं, परोपकार धर्म है, आश्रित की रक्षा करना महाधर्म है, किंतु केवल भाई-बहिन को देने से हिसाब नहीं चुक जाता। इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, इस देश

में मेरे तीस कोटि भाई-बहन हैं, उनमें से बहुत-से अनाहार मर रहे हैं, अधिकांश कष्ट और दुःख से जर्जरित हो किसी तरह बचे हुए हैं, उनका हित करना होगा।

क्या कहती हो, इस विषय में मेरी सहधर्मिणी बनोगी ? केवल सामान्य लोगों की तरह खाना-पहनना, जिस चीज की सचमुच जरूरत हो उसे ही खरीदना और सब भगवान् को दे देना—यही है मेरी इच्छा; तुम्हारी राय मिलने पर और त्याग स्वीकार कर सकने पर ही मेरी अभिसन्धि पूरी हो सकती है। तुमने कहा था, "मेरी कोई उन्नति नहीं हुई", यह एक उन्नति का पथ दिखा दिया, चलोगी इस पथ पर ?

दूसरा पागलपन हाल में ही सिर पर सवार हुआ है : चाहे जैसे भी हो भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना। आजकल का धर्म है, बात-बात में भगवान् का नाम लेना, सबके सामने प्रार्थना करना, लोगों को यह दिखाना कि मैं कितना धार्मिक हूं ! वह मैं नहीं चाहता। ईश्वर यदि हैं तो उनके अस्तित्व का अनुभव करने का, उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने का कोई-न-कोई पथ होगा, वह पथ कितना भी दुर्गम क्यों न हो, उस पथ पर जाने का दृढ़ संकल्प कर बैठा हूं। हिंदूधर्म का कहना है कि अपने शरीर के, अपने मन के भीतर ही है वह पथ। जाने के नियम दिखा दिये हैं, उन सबका पालन करना आरंभ कर चुका हूं, महीने-भर में अनुभव करने लगा हूं कि हिंदूधर्म की बात झूठी नहीं, जिन-जिन चिह्नों की बात कही गयी है उन सबको उपलब्ध करने लगा हूं। अब मेरी इच्छा है कि तुम्हें भी उस पथ पर ले चलूं; ठीक साथ-साथ नहीं चल सकोगी, क्योंकि तुममें अभी उतना ज्ञान नहीं है, किंतु मेरे पीछे-पीछे आने में कोई बाधा नहीं, उस पथ पर सबको सिद्धि मिल सकती है, किंतु प्रवेश करना अपनी इच्छा पर निर्भर है, कोई तुम्हें जबरदस्ती नहीं ले जा सकता, यदि तुम सहमत होओ तो इस संबंध में फिर और लिखूंगा।

तीसरा पागलपन है : अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी-भर मानते हैं; मैं स्वदेश को मां मानता हूं, उसकी भक्ति करता हूं, पूजा करता हूं। मां की छाती पर बैठ यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिये उद्यत हो तो भला बेटा क्या करता है ? निश्चिंत हो भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिये बैठ जाता है या मां का उद्धार करने के लिये दौड़ पड़ता है ? मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अंदर है, ज्ञान का बल, शारीरिक बल नहीं, तलवार या बंदूक ले मैं युद्ध करने नहीं जा रहा। क्षात्र तेज ही एकमात्र तेज नहीं, ब्रह्म तेज भी है, यह तेज है ज्ञान पर प्रतिष्ठित। यह भाव नया नहीं, आजकल का नहीं, इस भाव के साथ ही मैं जनमा था, यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान् ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिये मुझे पृथ्वी पर भेजा है। चौदह वर्ष की उम्र में बीज अंकुरित होने लगा था, अठारह वर्ष की उम्र में इसकी प्रतिष्ठा दृढ़ और अचल हो गयी थी। तुमने न-मौसी (चौथी मौसी) की बात सुन यह सोचा था कि न मालूम कहां का बदजात मेरे सरल भलेमानस स्वामी को कुपथ पर खींचे ले जा रहा है। परंतु

तुम्हारा भलामानस स्वामी ही उस आदमी को तथा और सैंकड़ों आदमियों को उस पथ पर, कुपथ हो या सुपथ, खींच ले आया था तथा और भी हजारों आदमियों को खींच ले आयेगा। कार्यसिद्धि मेरे रहते ही होगी यह मैं नहीं कहता, पर होगी अवश्य।

अब पूछता हूं इस विषय में तुम क्या करना चाहती हो? स्त्री स्वामी की शक्ति है। तुम उषा की शिष्या बन साहबी पूजा-मंत्र का जप करोगी? उदासीन हो स्वामी की शक्ति को खर्व करोगी? या सहानुभूति और उत्साह द्विगुणित करोगी? तुम कहोगी कि इन सब महत् कर्मों में भला मेरे जैसी एक सामान्य लड़की क्या कर सकती है? मुझ में मन का बल नहीं, बुद्धि नहीं, उन बातों का विचार तक आने से भय होता है। उसका सहज उपाय है भगवान् का आश्रय लो, ईश्वर-प्राप्ति के पथ में एक बार प्रवेश करो, तुममें जो-जो अभाव हैं उन्हें वे शीघ्र पूरा कर देंगे, जो भगवान् का आश्रय ले चुका है उसे भय धीरे-धीरे छोड़ देता है। अगर मेरा विश्वास करो, दस जनों की बात न सुन यदि मेरी ही बात सुनो तो मैं अपना ही बल तुम्हें दे सकता हूं, इससे मेरे बल की हानि न हो वृद्धि ही होगी। हम कहते हैं कि स्त्री स्वामी की शक्ति है, यानी, स्वामी स्त्री में अपनी प्रतिमूर्ति देख उसमें अपनी महत् आकांक्षा की प्रतिध्वनि पा दुगुनी शक्ति पाता है।

चिरदिन क्या वैसी ही रहोगी? मैं अच्छा पहनूंगी, अच्छा खाऊंगी, हसूंगी, नाचूंगी, सब प्रकार के सुख भोगूंगी, मन की ऐसी अवस्था को उन्नति नहीं कहते। आजकल हमारे देश की स्त्रियों के जीवन ने ऐसा ही संकीर्ण और अति हेय रूप धारण कर लिया है। तुम यह सब छोड़ दो, मेरे साथ आओ, जगत् में भगवान् का कार्य करने के लिये आये हैं, आओ, वही कार्य आरंभ करें।

तुम्हारे स्वभाव में एक दोष है, तुम जरूरत से ज्यादा सरल हो। जो कोई जो कुछ कहता है वही मान लेती हो। इससे मन सर्वदा अस्थिर रहता है, बुद्धि का विकास नहीं हो पाता, किसी काम में एकाग्रता नहीं आती। इसे सुधारना होगा, एक अदमी की ही बात मान ज्ञान संचय करना होगा, एक लक्ष्य बना अविचलित चित्त से कार्य सिद्ध करना होगा, लोगों की निन्दा और कटाक्ष की परवाह न कर स्थिर भक्ति रखनी होगी।

और एक दोष है, तुम्हारे स्वभाव का नहीं, काल का दोष। बंगाल में ऐसा ही समय आया है। लोग गंभीर बात को भी गंभीर भाव से नहीं सुन पाते; धर्म, परोपकार, महती आकांक्षा, देशोद्धार, जो कुछ गंभीर, जो कुछ उच्च और महत् है उन सभी बातों का हंसी-मजाक और कटाक्ष, सब कुछ हंसकर उड़ा देना चाहते हैं। ब्राह्म स्कूल में रहते-रहते तुम्हारे अंदर यह दोष थोड़ा-थोड़ा आ गया है, बारीन में भी था, थोड़ी-बहुत मात्रा में हम सभी इस दोष से दूषित हैं, देवघर के लोगों में तो यह बुरी तरह बढ़ गया है। मन के इस भाव को दृढ़ मन से भगाना होगा, तुम सहज ही कर सकोगी, और एक बार चिंतन करने का अभ्यास कर लेने पर तुम्हारा असली स्वभाव फूट उठेगा; परोपकार और स्वार्थत्याग की ओर तुम्हारी प्रवृत्ति है, केवल एक मन के जोर का

अभाव है, ईश्वर-उपासना से वह जोर पाओगी।

यही थी मेरी वह गुप्त बात। किसी के सामने प्रकट न कर अपने मन में, धीर चित्त से, इन सब बातों को सोचना। इसमें भय करने का कुछ नहीं है, पर चिन्तन के लिये बहुत-सी बातें हैं। पहले और कुछ नहीं करना होगा, हर रोज आध घंटा भगवान् का ध्यान करना होगा, उनके सामने प्रार्थना-रूप अपनी बलवती इच्छा प्रकट करनी होगी। मन धीरे-धीरे तैयार हो जायेगा। उनके सामने सदा यह प्रार्थना करनी होगी कि मैं स्वामी के जीवन, उद्देश्य और ईश्वर-प्राप्ति के पथ में बाधा न डाल सर्वदा सहायक होऊं, साधनभूत बनूं। करोगी यह ?

तुम्हारा—

---

3 Oct. 1905

प्रियतमा,

करीब पन्द्रह दिनों से कॉलेज में परीक्षाएं चल रही हैं। इसके अलावा एक स्वदेशी समिति की भी स्थापना हो रही है। इन दोनों कार्यों में व्यस्त था अतः पत्र लिखने का अवकाश नहीं मिला। तुम्हारी चिट्ठी भी बहुत दिन से नहीं आयी। आशा करता हूं तुम सभी सकुशल हो। कल से कॉलेज बन्द हो रहा है पर मुझे छुट्टी कहां ? तब हां, एक घंटे से ज्यादा नहीं करना होगा।

इस बार मैं २०/- भेज रहा हूं। दस रुपये Burn Company (बर्न कम्पनी) के कर्मचारियों के लिये दे सकती हो। न हो तो किसी और भले काम में खर्च कर सकती हो। Burn Company का क्या मामला है कुछ समझ नहीं आता। अखबारों में भी कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। आजकल इस तरह की हड़तालें करना सहज काम नहीं। गरीब प्रायः ही मार खाते हैं। धनियों की जय होती है। जिस दिन भारत के मध्यम वर्ग के लोग तुच्छ नौकरियों की आशा छोड़ निजी व्यवसाय करना आरंभ करेंगे वह दिन भारत के लिये बड़ा शुभ दिन होगा। ज्यादा पैसा नहीं भेज सकूंगा क्योंकि सरोजिनी के खर्चे के लिये ६०-७०/- दार्जिलिंग भेजने होंगे। और माधवराव को किसी विशेष काम के लिये विलायत भेजा गया है, उसके लिये भी कुछ रुपये बचाने होते हैं। स्वदेशी आंदोलन के लिये भी बहुत-से रुपये दिये हैं, इसके अलावा एक और movement (आंदोलन) चलाने की चेष्टा कर रहा हूं उसके लिये भी अपार धन चाहिये। अतः मेरे पास कुछ बचता ही नहीं।

Floriline (फ्लोरिलिन) भेजा गया है, शायद मिल गया होगा। धनजी यहां नहीं थे, बाद में आये। लक्ष्मणराव परीक्षा में लगे हैं, मेरी भी वही दशा है। हम दोनों ही भूल गये थे। जल्दी ही prescription (नुस्खा) भेजूंगा।

''Seeker'' क्यों पढ़ना चाहती हो ? वह तो पुरानी कविता है। धर्म के बारे में

तब मेरी जानकारी नगण्य थी। वह कविता बेहद pessimistic है। बंगला में pessimistic को क्या कहते हैं मुझे मालूम नहीं, मराठी में "निराशावादी" कहते हैं। अब समझ पाया हूं कि निराशा अज्ञान का ही एक रूप है।

उस दिन खासेराव के यहां गया था। आनन्दराव भी खूब तगड़ा हो गया है। बड़ा मस्तान बनेगा।

श्री

---

22 October 1905

प्रियतमा मृणालिणी,

तुम्हारा पत्र मिला। बहुत दिनों से तुम्हें चिट्ठी नहीं लिखी, बुरा न मानना। मेरी health (स्वास्थ्य) के बारे में इतनी चिंता क्यों करती हो, मुझे तो सर्दी-खांसी को छोड़ कभी कोई बीमारी नहीं होती। बारीन यहां है, उसकी शारीरिक अवस्था बहुत खराब है, जरा-सा ज्वर होते ही नाना रोग आ घेरते हैं, किंतु हजार रोग हो जायें तो भी उसका तेज कम नहीं होता, चैन से नहीं बैठता, जरा-सा ठीक होते ही देश के काम के लिये निकल पड़ता है। वह नौकरी करेगा नहीं। हां, ये सब खबरें सरोजनी को नहीं देता, तुम भी न लिखना, वह सोच-सोच कर पागल हो जायेगी। लगता है नवंबर में कलकत्ता जाऊंगा, वहां मुझे बहुत-से काम करने हैं।

तुम्हारी लंबी चिट्ठी पाकर मैं निराश नहीं हुआ, आनंदित ही हुआ। तुम्हारी तरह सरोजिनी भी त्याग करने को प्रस्तुत हो जाये तो भावी कार्यों में मुझे बहुत सुविधा होगी। लेकिन वह होगा नहीं। उसकी सुख की अभिलाषा बहुत प्रबल है, पता नहीं इसे कभी विजित कर पायेगी कि नहीं। जैसी भगवान् की इच्छा वैसा ही होगा।

तुम्हारी चिट्ठी कागजों के जंगल में खो गयी है, ढूंढूंगा। मिलते ही दुबारा लिखूंगा। शाम हो आयी है, आज यहीं तक।

मैं सकुशल हूं, चिट्ठी न मिले तो भी चिंता मत करना। मुझे क्या बीमारी होगी ? आशा करता हूं तुम लोग सब सकुशल होओगे।

तुम्हारा

—

मेरा नाम लेकर क्या करोगी ? डैश लगाया है, वह काफी नहीं होगा क्या ?

c/o Babu Subodh Chandra Mallick
12 Wellington square
Calcutta
December 1905

प्रियतमा मृणालिनी,

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर दुःख हुआ। बम्बई से मैंने तुम्हें एक पत्र लिखा था। उस पत्र में मैंने कलकत्ता लौटने का अपना इरादा बताया था। साथ ही कई जरूरी बातें भी लिखी थीं। और किसी को अपने लौटने के बारे में नहीं बताया। नहीं बताने का खास कारण भी था। अब मालूम हुआ कि वह चिट्ठी तुम्हें नहीं मिली। या तो नौकर ने डाक में डाली ही नहीं या फिर डाकवालों ने कुछ गड़बड़ी की है। जो हो, तुम इतने जरा-से में धीरज खो बैठती हो यह बड़े दुःख की बात है। फिर वही बात दोहराता हूं—तुम किसी एक साधारण पुरुष की पत्नी नहीं हो, तुम्हें तो विशेष धैर्य और बल की जरूरत है। ऐसा समय भी आ सकता है जब तुम्हें एक-डेढ़ महीना तो क्या, छः महीने तक मेरी कोई खोज-खबर न मिले। अभी से थोड़ा सशक्त बनना सीखना होगा। नहीं तो भविष्य में बहुत कष्ट सहने पड़ेंगे।

बहुत-सी जरूरी बातें लिखी थीं, फिर से वह सब लिखने के लिये समय नहीं है। बाद में लिखूंगा। यहां से शीघ्र ही काशी जाऊंगा, काशी से बड़ौदा जाते ही छुट्टी ले पुनः वापस कलकत्ते आऊंगा। यदि Clarke (क्लार्क) लौटकर न आये हों तो छुट्टी मिलने में थोड़ी कठिनाई होगी।

बारीन देवघर में है। उसे हमेशा बुखार रहता है। मुझे यदि छुट्टी नहीं मिली तो शायद वह बड़ौदा वापिस आ जाये।

A. G.

प्रियतमा मृणालिनी,

आज कलकत्ते जा रहा हूं। बहुत पहले ही जाने की बात थी किंतु छुट्टी मंजूर होने के बावजूद बड़ौदा के अधिकारियों को हस्ताक्षर करने का अवकाश नहीं मिलने के कारण मेरे दस दिन व्यर्थ हो गये। जो हो, सोमवार को कलकत्ते पहुंचूंगा। कहां ठहरूंगा मालूम नहीं। 'न' मौसी के यहां ठहरने की गुंजायश नहीं। एक तो मांस-मछली खाना छोड़ दिया है मैंने, और इस जीवन में अब शायद ही कभी खाऊं। पर 'न' मौसी तो मानने से रहीं। दूसरे, यदि एकांत जगह न हुई तो मुझे सुविधा नहीं होगी। सुबह-शाम डेढ़-डेढ़ घंटा अकेले बैठ कितना कुछ करना होता है जो दूसरों के सामने नहीं किया जा सकता। 12, Wellington Square (१२ वेलिंगटन स्कवेयर) मेरे लिये काफी सुविधाजनक होता, पर हाल ही में हेम मल्लिक का

स्वर्गवास हो गया है। वहां ऐसे समय नहीं जा सकूंगा। पर उसी पते पर यदि पत्र लिखोगी तो मुझे मिल जाया करेगा।

आसाम आने के लिये कह रही हो, चेष्टा करूंगा। किंतु एक बार कलकत्ते में पांव रखने पर कोई छोड़ना नहीं चाहता। हजारों काम आ पड़ते हैं। रिश्तेदारों से भी मिलने जाने का समय नहीं मिलता। और यदि आसाम गया भी तो दो-चार दिन ही रह पाऊंगा। बारि आराम से तुम्हें ले आ सकता है। उसके साथ रणछोड़ को भेज सकता हूं।

शायद इस महीने मेरा जाना संभव न हो। फिर भी कलकत्ते जाकर देखना पड़ेगा कि क्या कर सकता हूं। यह भी हो सकता है कि यदि सरोजिनी आसाम जाना चाहे तो बारि उसे पहुंचा दे और मैं महीने-भर बाद जाकर ले आऊं। कलकत्ते पहुंचने पर निश्चित करूंगा।

श्रीअरविन्द घोष

23, Scott's Lane,
Calcutta.
*17th February, 1907**

प्रिय मृणालिनी,

बहुत दिनों से पत्र नहीं लिखा, यह मेरा चिरंतन अपराध है, यदि तुम निज गुण से क्षमा न करो तो मेरे लिये भला और चारा ही क्या ? जो मज्जागत है वह एक दिन में ही नहीं चला जाता, इस दोष को सुधारने में शायद मेरा यह जीवन बीत जाये।

८ जनवरी को आने की बात थी, पर आ नहीं सका, मेरी इच्छा से ऐसा नहीं हुआ। भगवान् जहां ले गये वहां जाना पड़ा। इस बार अपने काम से नहीं गया था, उन्हींके काम से गया था। आजकल मेरे मन की अवस्था दूसरी तरह की हो गयी है, यह बात इस पत्र में प्रकट नहीं करूंगा। तुम यहां आ जाओ, तब जो कुछ कहना है वह कहूंगा; केवल इतना ही कहना है कि अब मैं अपनी इच्छाधीन नहीं रहा, भगवान् मुझे जहां ले जायेंगे वहीं कठपुतली की तरह जाना होगा, जो करायेंगे वही कठपुतली की तरह करना होगा। अभी इस बात का अर्थ समझना तुम्हारे लिये कठिन होगा, परंतु कहना आवश्यक है, अन्यथा मेरी गतिविधि तुम्हारे आक्षेप और दुःख का कारण हो सकती है। तुम समझोगी कि मैं तुम्हारी उपेक्षा कर काम कर रहा हूं परंतु ऐसा मत समझना। आजतक मैंने तुम्हारे प्रति बहुत अपराध किये हैं, तुम जो इससे असंतुष्ट हो गयी थीं

---

* पत्र में उल्लिखित घटनाओं के तथ्य के आधार पर ऐसा लगता है कि ये पत्र १७ फरवरी १९०८ में लिखे गये, १९०७ में नहीं।

वह स्वाभाविक ही था, परंतु अब मुझे स्वाधीनता नहीं रही, अब से तुम्हें यह समझना होगा कि मेरे सभी कार्य मेरी अपनी इच्छा पर निर्भर न हो भगवान् के आदेश से ही हो रहे हैं। तुम जब आओगी तब मेरा तात्पर्य हृदयंगम कर सकोगी। आशा करता हूं कि भगवान् ने अपनी अपार करुणा का जो आलोक मुझे दिखाया है उसे तुम्हें भी दिखायेंगे, पर वह उन्हींकी इच्छा पर निर्भर है। यदि तुम मेरी सहधर्मिणी होना चाहती हो तो तुम प्राणपण से चेष्टा करो जिससे तुम्हारी ऐकांतिक इच्छा के बल से तुम्हें भी करुणा का पथ दिखावें। यह पत्र किसी को भी देखने मत देना, कारण जो बात मैंने लिखी है वह अत्यंत गोपनीय है। तुम्हारे सिवा और किसी को भी नहीं कहा है, कहना मना है। आज इतना ही।

तुम्हारा स्वामी

पुनश्च—सांसारिक बातें सरोजिनी को लिखी हैं, तुम्हें अलग से लिखना अनावश्यक था, वह पत्र देखने से ही समझ जाओगी।

6th December, 1907

प्रिय मृणालिनी,

मैंने परसों चिट्ठी पायी थी, उसी दिन रैपर भी भेजा गया था, क्यों तुम्हें नहीं मिला समझ नहीं पाया। . . .

⁂

यहां मुझे मुहूर्त्त भर भी समय नहीं, लिखने का भार मुझ पर, कांग्रेस-संबंधी कार्य का भार मुझ पर, 'वंदे मातरम' के झमेले निपटाने का भार मुझ पर। इतना अधिक काम है कि संभाले नहीं संभाल पा रहा। इसके अलावा मेरा अपना काम भी है, उसे भी नहीं छोड़ सकता।

मेरी एक बात मानोगी क्या ? मेरे लिये यह बड़ी ही दुश्चिंता का समय है, चारों ओर से इतनी खींच-तान चल रही है कि पागल होने की नौबत आ गयी है। इस समय तुम्हारे अस्थिर होने से मेरी चिंता और कठिनाई और भी बढ़ जायेंगी, उत्साह और सांत्वनाभरी चिट्ठी लिखने से मुझे विशेष बल मिलेगा, प्रसन्न मन समस्त विपत्ति और भय अतिक्रम कर सकूंगा। जानता हूं कि देवघर में अकेली रहने से तुम्हें कष्ट होता है, परंतु मन को दृढ़ करने और विश्वास पर निर्भर रहने से दुःख मन पर उतना आधिपत्य नहीं जमा सकेगा। जब तुम्हारे साथ मेरा विवाह हुआ है, तो तुम्हारे भाग्य में यह दुःख अनिवार्य है, बीच-बीच में विच्छेद होगा ही, कारण साधारण मनुष्य की तरह परिवार और स्वजनों के सुख को ही मैं जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं बना सकता।

ऐसी अवस्था में मेरा धर्म ही है तुम्हारा धर्म, मेरे निर्दिष्ट कार्य की सफलता में ही अपना सुख मानने के सिवा तुम्हारे किये और कोई गति नहीं। और एक बात, जिनके साथ तुम अभी रहती हो उनमें से बहुत-से तुम्हारे और मेरे गुरुजन हैं, वे यदि कटु वचन कहें, अनुचित बात कहें तो भी उन पर क्रोध मत करना। और जो कुछ वे कहें उससे यह मत सोच बैठना कि वह सब कुछ उनके मन की बात है अथवा बिना सोचे तुम्हें दुःख देने के लिये कहते हैं। बहुत बार क्रोधवश बिना सोचे समझे बात निकल जाती है, उसे पकड़े रहना अच्छा नहीं। यदि रहना नितांत कठिन मालूम हो तो मैं गिरीश बाबू से कहूंगा, जबतक मैं कांग्रेस में हूं तबतक तुम्हारे नानाजी घर पर रह सकते हैं।

मैं आज मेदिनीपुर जा रहा हूं। लौटने पर यहां की सारी व्यवस्था कर सूरत जाऊंगा। संभवतः १५ या १६ तारीख तक जाना होगा। दो जनवरी को लौट आऊंगा।

तुम्हारा—

23, Scott's lane
Calcutta
21.2.08

प्रियतमा मृणालिनी,

कॉलिज से वेतन मिलने में देर होगी अतः राधा कुमुद मुखर्जी से ५०/- कर्ज लेकर तुम्हें भेज रहा हूं। अविनाश से कहा है भेजने के लिये। उसने शायद तार द्वारा भेज दिया होगा। पर तुम्हारे नाम से भेजना भूल गया। उसमें से किराये के पैसे रखकर जो बचे उसमें से कुछ मां को देकर बाकी से थोड़ा उधार चुका देना। अगले महीने फरवरी और जनवरी के ३००/- मिलेंगे तब बकाया कर्जा चुका सकूंगा।

पहले जो चिट्ठी लिखी थी उसकी बात अभी रहने दो। तुम जब आओगी तब सब खोलकर बताऊंगा। आदेश जब हुआ है तब सब कुछ कहे बिना रह नहीं सकता। आज यहीं तक।

तुम्हारा स्वामी

◆

प्रियतमा मृणालिनी,

काफी अरसे से तुम्हें पत्र नहीं लिख पाया। लगता है कि जल्दी ही हमारे जीवन में एक बड़ा परिवर्तन होने जा रहा है। यदि ऐसा हुआ तो हमारे सारे अभाव दूर हो जायेंगे। मां की इच्छा पर निर्भर हूं। मेरे भीतर भी कुछ विशेष परिवर्तन हो रहे हैं। बार-बार मां का भावावेश हो रहा है। एक बार इस परिवर्तन के अंत हो जाने पर,

आवेश के स्थायी हो जाने पर हमारा विच्छेद नहीं रह जायेगा। क्योंकि योग-सिद्धि के दिन निकट ही हैं। उसके बाद सारे कार्यों का स्रोत। कल या परसों तक कोई-न-कोई लक्षण प्रकट होगा। उसके बाद तुमसे मिलूंगा।

मृणालिनी,

काफी दिन हुए तुम्हारा पत्र मिला था, उत्तर नहीं दे पाया। उसके कुछ दिन बाद से मेरी अवस्था जड़भरत-सी हो गयी थी। सब तरह का काम और लेखन बंद हो गया था। आज फिर प्रवृत्ति जगी है, तभी तुम्हारे पत्र का उत्तर दे पा रहा हूं।

बारीन को

पांडिचेरी
अनिश्चित तिथि

प्रिय बारीन,

तुम्हारी तीन चिट्ठियां मिलीं (आज एक और मिली) पर अबतक उत्तर देना न हो सका। आज जो लिखने बैठा हूं यह भी एक miracle (चमत्कार) ही है, क्योंकि मेरा चिट्ठी लिखना होता है once in a blue moon (कभी-कभार ही); विशेषकर बंगला में लिखना जो इधर पांच-सात वर्षों में एक बार भी नहीं हुआ। इसे समाप्त कर यदि post (डाक) में डाल सकूं तभी यह miracle पूरा होगा।

पहले तुम्हारे योग की बात लें। तुम मुझे ही अपने योग का भार देना चाहते हो; मैं भी लेने के लिये राजी हूं। इसका अर्थ है जो मुझे और तुम्हें, प्रकट या गुप्त रूप में, अपनी भगवती शक्ति द्वारा चला रहे हैं उन्हें ही भार देना। पर इसका यह फल अवश्यंभावी जानना कि उन्हींका दिया जो मेरा योग-मार्ग है, जिसे मैं पूर्णयोग कहता हूं उसी मार्ग पर चलना होगा। हम जो अलीपुर जेल में करते थे, कालेपानी की सजा के समय तुमने जो किया यह ठीक वही नहीं है। जिससे मैंने आरंभ किया था, लेले ने जो दिया था, जेल में जो किया था वह सब था पथ खोजने की अवस्था, इधर-उधर घूम-फिरकर देखना; पुराने सभी खंड योगों में से इसे-उसे छूना, उठाना, हाथ में ले परखना; एक की एक तरह से पूरी अनुभूति ले दूसरे का अनुसरण करना। उसके बाद पांडिचेरी आने पर यह चंचल अवस्था खतम हो गयी। अंतर्यामी जगद्गुरु ने मुझे मेरे पथ का पूर्ण निर्देश दिया। उसका संपूर्ण theory (सिद्धांत) है कि योग शरीर के दस अंग हैं; इन दस वर्षों से अनुभूति द्वारा उन्हींका development (विकास) करा रहे हैं; अभीतक खतम नहीं हुआ, और दो वर्ष लग सकते हैं और जबतक शेष नहीं हो जाता, शायद तबतक मैं बंगाल न लौट पाऊं। पांडिचेरी ही है मेरी योगसिद्धि का निर्दिष्ट स्थल—पर हां, एक बात को छोड़कर—वह है कर्म। मेरे कार्य का केंद्र है बंगाल, पर आशा करता हूं उसकी परिधि होगा सारा भारत, सारी पृथ्वी।

योगमार्ग क्या है, यह पीछे लिखूंगा; या अगर तुम यहां आओ तो उस विषय में बातचीत होगी। इस वषय में लिखने की अपेक्षा जबानी बात करना अधिक अच्छा है। अभी मैं इतना ही कह सकता हूं कि पूर्ण ज्ञान, पूर्ण कर्म और पूर्ण भक्ति के सामंजस्य और ऐक्य को मानसिक स्तर (level) से ऊपर उठा मन के परे विज्ञान-स्तर पर पूर्ण सिद्ध करना है इसका मूलतत्त्व। पुराने योगों का दोष यह था कि वे मन-बुद्धि को जानते थे और आत्मा को जानते थे; मन के अंदर ही आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर संतुष्ट रहते थे। किंतु मन खंड को ही आयत्त कर सकता है, अनंत, अखंड को संपूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकता। उसे ग्रहण करने के लिये समाधि, मोक्ष, निर्वाण इत्यादि ही हैं

मन के साधन, और कोई उपाय नहीं। उस लक्ष्यहीन मोक्ष को कोई-कोई प्राप्त कर सकते हैं, ठीक है, किंतु उससे लाभ क्या ? ब्रह्म आत्मा, भगवान् तो हैं ही। भगवान् मनुष्य से जो चाहते हैं वह है उन्हें यहां ही मूर्तिमान करना, व्यक्ति में, समष्टि में—to realise God in life (जीवन में भगवान् को मूर्त करना)। पुरानी योगप्रणालियां अध्यात्म और जीवन में सामंजस्य या ऐक्य स्थापित नहीं कर सकीं; उन्होंने जगत् को माया या अनित्य लीला कहकर उड़ा दिया है। इसका फल हुआ जीवन-शक्ति का ह्रास, भारत की अवनति। गीता में जिसे कहा गया है *उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्*, भारत के *'इमे लोका:'* सचमुच में उत्सन्न हो गये हैं। कुछ संन्यासी और बैरागी साधु सिद्ध, मुक्त हो जाएं, कुछ भक्त प्रेम से, भाव से, आनंद से अधीर हो नृत्य करें और समस्त जाति प्राणहीन, बुद्धिहीन हो घोर तमोभाव में डूब जाय, यह भला कैसी अध्यात्म-सिद्धि है ? पहले मानसिक level (स्तर) पर सभी खंड अनुभूतियों को या मन को अध्यात्म-रस से परिप्लावित, अध्यात्म आलोक से आलोकित करना होता है, उसके बाद ऊपर उठना। ऊपर अर्थात् विज्ञान-भूमि पर उठे बिना जगत् का अंतिम रहस्य जानना असंभव है, जगत् की समस्या solved (की मीमांसा) नहीं होती। वहीं आत्मा और जगत् अध्यात्म और जीवन—इस द्वंद्व की अविद्या का अंत होता है। तब जगत् माया नहीं दिखायी देता; जगत् भगवान् की सनातन लीला, आत्मा का नित्य विकास प्रतीत होता है। तब भगवान् को पूर्णत: जानना, पाना संभव होता है, गीता में जिसे कहा है— *समग्रं मां ज्ञातुं प्रविष्टुम्*। अन्नमय देह, प्राण, मन-बुद्धि, विज्ञान और आनंद— ये हैं आत्मा की पांच भूमियां। मनुष्य जितना ही ऊपर उठता है उतना ही उसके spiritual evolution (आध्यात्मिक विकास) की चरम सिद्धि की अवस्था समीप आती जाती है। विज्ञान में पहुंच जाने पर आनंद में जाँना सहज हो जाता है, अखंड, अनंत आनंद की अवस्था में दृढ़ प्रतिष्ठा होती है। केवल त्रिकालातीत परब्रह्म में ही नहीं—देह में, जगत् में, जीवन में भी। पूर्ण सत्ता, पूर्ण चैतन्य, पूर्ण आनंद विकसित हो जीवन में मूर्त होते हैं। यह प्रयास ही है मेरे योगमार्ग का central clue (मूल बात)।

ऐसा होना आसान नहीं। इन पन्द्रह वर्षों के बाद मैं अभीतक विज्ञान के तीन स्तरों में से निम्नतर स्तर में पहुंच नीचे की सभी वृत्तियों को उसमें खींच ले जाने के उद्योग में लगा हूं। पर जब यह सिद्धि पूर्ण होगी तब भगवान् मेरे through (द्वारा) दूसरों को थोड़े आयास से ही विज्ञान-सिद्धि देंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। तब होगा मेरे असली कार्य का आरंभ। मैं कर्मसिद्धि के लिये अधीर नहीं। जो होना है वह भगवान् द्वारा निर्दिष्ट समय पर होगा, उन्मत्त की न्याईं दौड़ क्षुद्र अहमिका की शक्ति से कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने की प्रवृत्ति मुझ में नहीं। यदि कर्मसिद्धि न भी हो तो भी मैं धैर्यच्युत नहीं हूंगा; यह कार्य मेरा नहीं, भगवान् का है। मैं और किसी की पुकार नहीं सुनूंगा; भगवान् जब चलायेंगे तभी चलूंगा।

बंगाल अभी ठीक तैयार नहीं है, यह जानता हूं। जिस अध्यात्म की बाढ़ आयी है

वह है बहुत-कुछ पुराने का नया रूप, वास्तविक रूपांतर नहीं। पर इसकी भी जरूरत थी। बंगाल सभी पुराने योगों को अपने अंदर जगा उनका संस्कार exhaust (क्षय) कर, असली सार ले जमीन उर्वर बना रहा है। पहले थी वेदांत की बारी—अद्वैतवाद, संन्यास, शंकर की माया इत्यादि। अभी जो हो रहा है वह है वैष्णव धर्म की बारी—लीला, प्रेम, भाव के आनंद में मत्त हो जाना। ये अत्यंत प्राचीन हैं, नवयुग के लिये अनुपयोगी, यह टिकने का नहीं, क्योंकि ऐसी उत्तेजना टिकने लायक नहीं। पर वैष्णव भाव का यह गुण है कि यह भगवान् के साथ जगत् का एक संबंध बनाये रखता है, इसमें जीवन का एक अर्थ है; किंतु खंडित भाव के कारण इसमें पूर्ण संबंध, पूर्ण अर्थ नहीं। तुमने जो दलबंदी का भाव देखा है वह अनिवार्य है। मन का धर्म ही है इस खंड को पूर्ण कहना, अन्य सभी खंडों को बहिष्कृत करना। जो सिद्ध पुरुष भाव को ले आते हैं वे खंडित भाव का अवलंबन करने पर भी, पूर्ण को मूर्त न कर सकने पर भी, पूर्ण भाव का कुछ-कुछ पता रखते हैं। किंतु शिष्यों को वह नहीं मिलता, मूर्त नहीं होता। गठरी बांध रहा है तो बांधे, जिस दिन भगवान् देश में पूर्ण रूप से अवतीर्ण होंगे उस दिन गठरी अपने-आप खुल जायेगी। यह सब है अपूर्णता का, कच्ची अवस्था का लक्षण; उससे मैं विचलित नहीं होता। खेले देश में अध्यात्मभाव चाहे जिस भी रूप में, चाहे जितने भी दल बनें, बाद में देखा जायेगा। यह है नवयुग का शैशव, बल्कि embroyonic (भ्रूण) अवस्था। आभास-मात्र है, आरंभ नहीं।

इसके बाद मोतीलाल आदि की बात। मोतीलाल ने जो मुझ से पाया है वह है मेरे योग की प्रथम प्रतिष्ठा, भित्ति,—आत्मसमर्पण, समता इत्यादि, इसी का अनुशीलन करते आ रहे हैं, पूरा नहीं हुआ,—इस योग की विशेषता यही है कि थोड़ी ऊपर की सिद्धि के बिना भित्ति भी पक्की नहीं होती। मोतीलाल अब और ऊपर उठना चाहता है। उसमें पहले बहुत-से पुराने संस्कार थे, कुछ तो दूर हुए हैं पर कुछ अबतक हैं। पहले था संन्यास का संस्कार, अरविन्द-मठ स्थापित करना चाहा था।[१] अब बुद्धि ने मान लिया है कि संन्यास नहीं चाहिये किंतु अभीतक उस पुरातन की छाप प्राण से एकदम पुंछ नहीं गयी है। इसी से संसार में रह त्यागी-संसारी होने के लिये कहता है। कामना के त्याग की आवश्यकता को समझा है, किंतु कामना-त्याग और आनंद-भोग के समंजस्य को पूर्णतः नहीं पकड़ पाया है। और मेरे योग को अपनाया था ठीक वैसे जैसे कि बंगाली का साधारण स्वभाव होता है—ज्ञान की दृष्टि से उतना नहीं जितना कि भक्त की दृष्टि से, कर्म की दृष्टि से। ज्ञान कुछ-कुछ प्रस्फुट हुआ है, परंतु बहुत-कुछ बाकी है, और भावुकता का कुहासा dissipated नहीं हुआ है (छंटा नहीं है), छंट नहीं गया है। पर हां, जितना घना था उतना अब नहीं है। सात्त्विकता के घेरे को पूरी मात्रा में नहीं काट सका है, अहं अभीतक है; एक शब्द में कह सकते हैं, उसका

[१] आज मोतीलाल की चिट्ठी मिली है। उसका कहना है, संघ की कल्पना उसकी कतई नहीं थी, कहीं कुछ गलतफहमी हुई है।

development (विकास) चल रहा है, पूर्ण नहीं हुआ। मुझे भी कोई जल्दी नहीं, मैं उसे उसके स्वभाव के अनुसार ही develop होने दे रहा हूं। एक ही सांचे में सबको ढालना नहीं चाहता, असली चीज ही सबमें एक होगी, नाना प्रकार से नाना मूर्तियों में प्रस्फुटित होगी। सब भीतर से grow (बढ़ रहे) कर रहे हैं, गढ़े जा रहे हैं। मैं बाहर से गढ़ना नहीं चाहता। मोतीलाल ने मूल को पा लिया है, और सब आ जायेगा।

तुम पूछते हो कि मोतीलाल अपनी गठरी क्यों बांध रहा है। उसका explaination (उत्तर) यह रहा। पहली बात, उसके इर्द-गिर्द ऐसे लोग इकट्ठे हुए हैं जो मुझे भी जानते हैं, उसे भी। उसे जो मुझसे मिला है, वे लोग भी पा रहे हैं। उसके बाद 'प्रवर्तक' में एक छोटा-सा निबन्ध लिखा था 'समाज के बारे में'। उसमें संघ के बारे में चर्चा की थी, मैं भेदप्रतिष्ठ समाज नहीं चाहता, आत्मप्रतिष्ठ—आत्मा के ऐक्य की मूर्ति—संघ चाहता हूं। इसी idea (विचार) को ले मोतीलाल ने देवसंघ नाम दिया है, मैंने अंग्रेजी में divine life कहा था। नलिनी ने उसका अनुवाद किया 'देवजीवन'। जो देवजीवन चाहते हैं उन्हींका संघ है देवसंघ। ऐसे संघ को मोतीलाल ने बीजरूप में चंदननगर में स्थापित कर, बाद में सारे देश में फैला देने की कोशिश आरंभ की। ऐसे प्रयास पर यदि अहमिका की छाया पड़े तो फिर संघ दल में परिणत हो जाता है। यह धारणा सहज ही की जा सकती है कि जो संघ अंत में दिखायी देगा वह यही है, मानों सब कुछ होगा एकमात्र इसी केंद्र की परिधि, जो इसके बाहर हैं वे भीतर के लोग नहीं; होने पर भी वे भ्रांत हैं, ठीक हमारा जो वर्तमान भाव है उसके साथ मेल न खाने के कारण (मानों भ्रांत हैं)। मोतीलाल की अगर यह भूल है, थोड़ी-बहुत भूल रहने की संभावना है भी, मुझे पता नहीं है कि नहीं, तो खास कुछ आता-जाता नहीं, क्योंकि वह भूल टिकेगी नहीं। उसके द्वारा और उसकी छोटी मंडली के द्वारा हमारा बहुत काम हुआ है और हो रहा है जो आजतक और कोई नहीं कर सका। निस्संदेह उसके भीतर भागवत शक्ति work (काम) कर रही है।

शायद तुम कहोगे कि संघ की क्या आवश्यकता है ? मुक्त बनकर सर्वघट में विद्यमान रहूंगा; सब एकाकार होकर रहें, उस बृहत् एकाकार में ही जो कुछ होना हो वह हो। यह बात ठीक है; किंतु यह है सत्य का केवल एक पहलू। हमारा कारबार केवल निराकार आत्मा के साथ ही नहीं, जीवन को भी चलाना होगा; और आकार-मूर्ति के बिना जीवन की effective (कार्यकरी) गति नहीं। अरूप जो मूर्त हुआ है, उसका यह नाम-रूप-ग्रहण माया की मनमौज नहीं, रूप का नितांत प्रयोजन है इसीलिये रूप ग्रहण किया गया है, हम जगत् के किसी भी काम को छोड़ना नहीं चाहते; राजनीति, वाणिज्य, समाज, काव्य, शिल्प, कला, साहित्य सब कुछ रहेगा; इन सबको देना होगा नवीन प्राण, नवीन आकार। राजनीति मैंने क्यों छोड़ दी ? क्योंकि हमारी राजनीति भारत की असली चीज नहीं, विलायती आमदनी है, विलायती ढंग का अनुकरण-मात्र। पर इसकी भी जरूरत थी। हमने भी विलायती ढंग की राजनीति की

है, नहीं करते तो देश नहीं उठता; न हमें experience (अनुभव) होता, न हमारा पूर्ण development (विकास) होता। अभी भी उसकी जरूरत है, बंगाल में उतनी नहीं जितनी भारत के अन्य प्रदेशों में। किंतु अब समय आ गया है छाया का विस्तार न कर वास्तव को पकड़ने का। भारत की असली आत्मा को जगा उसीके अनुरूप करने होंगे सब कार्य। पिछले दस सालों से मौन भाव से इसी विलायती राजनीति-घट को प्रभावित करता आ रहा हूं, कुछ फल भी मिला है। अब भी, जहां जरूरत हो, वह कर सकता हूं। किंतु यदि बाहर जा उसी काम में लगूं, राजनीतिक पंड़ाओं के साथ मिलकर वही काम करूं तो एक परधर्म और मिथ्या राजनीतिक जीवन को पोषण देना होगा। आजकल लोग राजनीति को spiritualise (अध्यात्म का रंग चढ़ाना) करना चाहते हैं, जैसे गांधी। ठीक राह नहीं पकड़ पा रहे। गांधी क्या कर रहे हैं? अहिंसा परमो धर्म, जैनीज़्म, हड़ताल, passive resistance (निष्क्रिय प्रतिरोध) आदि की खिचड़ी पका, उसे सत्याग्रह का नाम दे एक तरह का Indian Tolstoyism (भारतीय टाल्सटॉयिज़्म) देश में ला रहे हैं। उसका फल होगा—अगर कोई स्थायी फल हुआ तो—एक प्रकार का Indianised Bolshevism (भारतीय बोलशेविज़्म)। उनके कार्य में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं; जैसी जिनकी प्रेरणा हो वैसा ही करें। परंतु यह भी असली वस्तु नहीं; अशुद्ध आधार में spiritual (आध्यात्मिक) शक्ति ढालना कच्चे घड़े में करणोदधि का जल ढालने के समान है, चाहे तो वह कच्चा पात्र फूट जायेगा, जल बिखरकर नष्ट हो जायेगा या फिर अध्यात्म-शक्ति evaporate हो जायेगी (विला जायेगी) और रह जायेगा बस वही अशुद्ध रूप; सभी क्षेत्रों में यही होता है। Spiritual influence (आध्यात्मिक प्रेरणा) मैं दे सकता हूं, उसके प्रभाव से लोग energy (तेजी) से काम करेंगे पर वह शक्ति expended (खर्च) होगी शिवमंदिर में बंदर की मूर्ति गढ़कर स्थापित करने में। हो सकता है, प्राणप्रतिष्ठा से वह बंदर शक्तिमान् हो भक्त हनुमान बन जितने दिन वह शक्ति रहे उतने दिन, राम के बहुत से कार्य करे; परंतु हम भारत-मंदिर में हनुमान नहीं चाहते, चाहते हैं देवता, अवतार, स्वयं राम।

सभी से मिल सकता हूं—किंतु सबको सच्चे पथ पर खींच लाने के लिये, अपने आदर्श के spirit (भाव) और रूप को अक्षुण्ण रखते हुए। अगर ऐसा नहीं हुआ तो मैं पथभ्रष्ट हो जाऊंगा, वास्तविक कार्य नहीं होगा। Individually (व्यक्तिगत रूप से) सर्वत्र कुछ होगा तो सही, किंतु संघरूप में सर्वत्र उससे सौ गुना अधिक होगा। पर अभी तक वह समय नहीं आया। अगर तुरत-फुरत रूप देने की चेष्टा करूं तो ठीक जो चाहता हूं वह नहीं होगा। संघ होगा आरंभिक निर्मित रूप; जिन्होंने आदर्श पा लिया है वे ऐक्यबद्ध हो नाना स्थानों में कार्य करेंगे; बाद में spiritual commune (आध्यात्मिक संघ) की तरह रूप दे, संघबद्ध हो सब कर्मों को आत्मा के अनुरूप, युग के अनुरूप आकृति देंगे। प्राचीन आर्यों के समाज की तरह

कठोरतापूर्वक बंधा रूप नहीं, अचलायतन नहीं; स्वाधीन रूप, समुद्र की तरह जो फैल सकेगा, नाना रूप धर, इसे घेर, उसे प्लावित कर, सबको आत्मसात् कर लेगा; करते-करते spiritual community (देवजाति) तैयार होगी। यही है मेरा वर्तमान idea (भाव), अभी भी पूरी तरह developed (विकसित) नहीं हुआ है। अलीपुर जेल में ध्यान में जो कुछ अनुभव हुआ था वही develop (विकसित) हो रहा है। अंततः क्या होगा, बाद में देखूंगा। फल भगवान् के हाथ में है, वह जो करायें। मोतीलाल का लोकसंग्रह एक प्रयोग-मात्र है। वह देखना चाह रहा है कि संघबद्ध होकर व्यापार, उद्योग और कृषि आदि कैसे कर सकते हैं। मैं शक्ति दे रहा हूं और watch कर रहा हूं (निगाह रख रहा हूं)। इसमें भविष्य के लिये कुछ माल-मसाला और सुझाव मिल सकते हैं। वर्तमान के दोषगुण और limitation (सीमाएं) देखकर judge न करो (धारणा मत बनाओ)। यह सब अभी initial (आरंभिक) और experimental (प्रयोगात्मक) अवस्था में है।

अब तुम्हारे पत्र की कुछ-एक विशेष-विशेष बातों की चर्चा करता हूं। अपने योग के विषय में तुमने जो लिखा है उस विषय में इस पत्र में विशेष कुछ नहीं लिखना चाहता, मुलाकात होने पर उसकी चर्चा करने में सुविधा होगी। तुमने लिखा है कि मनुष्य का देह के साथ कोई संबंध नहीं। तुम्हारी दृष्टि में देह है शव समान लेकिन मन खींच रहा है संसारी बनने के लिये। वह अवस्था अभी भी है क्या ? देह को शव के रूप में देखना संन्यास के निर्वाण-पथ का लक्षण है, इस भाव के साथ घर-गृहस्थी नहीं चलती, सब वस्तुओं में आनंद चाहिये—जैसे आत्मा में वैसे शरीर में। देह चैतन्यमय है, देह भगवान् का रूप है। जगत् में जो कुछ है उसमें भगवान् को देखने से, *सर्वमिदं ब्रह्म—वासुदेवं सर्वमिति*—यह दर्शन प्राप्त करने से विश्वानंद मिलता है। शरीर में भी उसी आनंद की मूर्त तरंगें उठती हैं; इस अवस्था में अध्यात्मभाव से पूर्ण हो गृहस्थी, विवाह सब किया जा सकता है, सभी कर्मों में प्राप्त हो सकती है भगवान् की आनंदमयी अभिव्यक्ति। बहुत दिनों से मानसिक स्तर पर भी, मन के, इंद्रियों के सभी विषयों और अनुभूतियों को आनंदमय बना रहा हूं। अब वह सब विज्ञानानंद का रूप धारण कर रहा है। यही अवस्था है सच्चिदानंद के पूर्ण दर्शन और अनुभूति की।

देवसंघ की बात कहते हुए तुमने लिखा है—"मैं देवता नहीं, बहुत ठुका, पिटा, सान चढ़ाया लोहा हूं।" देवसंघ का यथार्थ उद्देश्य तुम्हें लिख चुका हूं। कोई भी देवता नहीं फिर भी प्रत्येक मनुष्य के अंदर देवता हैं, उन्हींको प्रकट करना है देवजीवन का लक्ष्य। यह सभी कर सकते हैं। बड़े आधार और छोटे आधार की बात मानता हूं। तुमने अपने विषय में जो लिखा है उसे मैं accurate (ठीक) नहीं मानता। आधार चाहे जैसा भी हो, एक बार यदि भगवान् का स्पर्श मिल जाये, आत्मा यदि जाग्रत् हो जाये, तो फिर 'बड़ा-छोटा' इन सबसे विशेष कुछ आता-जाता नहीं। बाधाएं अधिक हो सकती हैं, समय अधिक लग सकता है, विकास में ऊंच-नीच हो सकती है पर ऐसा

कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भीतर के देवता उन सब बाधाओं, न्यूनताओं का हिसाब नहीं रखते; ठेलकर ऊपर उठ आते हैं। मुझमें भी क्या कम दोष थे ? मन की, चित्त की, प्राण की, देह की क्या कम बाधाएं थीं ? समय क्या नहीं लगा ? आए दिन, हर पल भगवान् ने क्या कम पीटा है ? देवता हुआ हूं या क्या हुआ हूं—यह नहीं जानता; पर कुछ हुआ हूं या हो रहा हूं—भगवान् जो गढ़ना चाहते हैं वही यथेष्ट है। सबके लिये ऐसा ही होता है। हमारी शक्ति नहीं, इस योग को साध्य बनानेवाली शक्ति है भगवान् की।

अच्छा है कि तुमने 'नारायण' का भार संभाला है। 'नारायण' की शुरूआत अच्छी हुई थी। उसके बाद अपने इर्द-गिर्द छोटे-छोटे सांप्रदायिक गुट इकट्ठे कर, दलबन्दी के भाव को प्रश्रय दे वह सड़ना शुरू हो गया। नलिनी शुरू में 'नारायण' के लिये लिखता था, उसके बाद लिखने की आजादी न मिलने पर अन्यत्र जाने के लिये बाधित हुआ। खुले घर की खुली हवा चाहिये, नहीं तो जीवन-शक्ति टिके कैसे ? मुक्त आलोक, मुक्त बयार हैं प्राणशक्ति के प्रथम आहार। मेरे लिये अभी लेख देना असंभव है, बाद में दे सकता हूं। 'प्रवर्तक' भी claim (मांग) कर रहा है। दोनों की call satisfy (मांग पूरी) करना पहले-पहल कठिन हो सकता है। जब बंगाली में लिखना शुरू करूंगा तब देखा जायेगा। अभी समय की तंगी है। 'आर्य' छोड़ और कुछ लिखना अभी असंभव है, हर माह ६४ पृष्ठ मुझे ही भरने होते हैं, यह कुछ कम श्रम नहीं। उसके बाद कविता लिखने, योगसाधना के लिये भी समय चाहिये। कुछ विश्राम भी जरूरी है। "समाज-कथा" जो सौरीन के पास है उसका अधिकांश, लगता है, 'प्रवर्तक' में प्रकाशित हो चुका है। उसके पास जो बचा है, हो सकता है वह असंशोधित हो, उसका अंतिम संशोधन नहीं हुआ है। पहले मैं देख लूं कि उसमें क्या है, फिर निश्चय करूंगा कि 'नारायण' में प्रकाशित हो सकता है कि नहीं।

'प्रवर्तक' का तुमने जिक्र किया है, लोग समझते नहीं, वह misty (धुंधला) है, कुहेलिकामय है, यही शिकायत बराबर सुनता आ रहा हूं। मानता हूं मोतीबाबू के लेखों में उतना स्पष्ट चिंतन नहीं होता, बहुत क्लिष्ट लिखते हैं। फिर भी प्रेरणा शक्ति, (power) है उनमें। मणि और नलिनी ही थे पहले 'प्रवर्तक' के लेखक, तब भी लोग कहते थे कि कुहेलिकामय है जब कि नलिनी का चिंतन बहुत clear cut (सीधा और स्पष्ट) है। मणि के लेख direct (मार्मिक) और ओजपूर्ण हैं। 'Arya' ('आर्य') के बारे में भी यही शिकायत है। लोग समझ नहीं पाते, इतना सोच-विचार कर कौन पढ़ना चाहता है भला ? इसके बावजूद 'प्रवर्तक' बंगाल में काफी काम करता रहा है, और तब लोगों को पता नहीं था कि मैं प्रवर्तक में लिखता हूं। अब यदि इसका कोई effect (असर) न होता हो तो इसका कारण यह होगा कि लोग अभी काम और उन्माद की ओर दौड़ रहे हैं। एक तरफ है भक्ति की बाढ़, दूसरी तरफ धनोपार्जन का प्रयास। किंतु बंगाल जब दस साल से निश्चेष्ट और निःस्पंद था तब प्रवर्तक ही था

एकमात्र शक्ति का स्रोत। बंगाली चिंतन को बदलने में उसने बहुत मदद की है। मुझे नहीं लगता कि अब बस उसका काम खतम हो गया है।

मैं जो कुछ बहुत दिनों से देख रहा हूं उसके बारे में दो-एक बातें संक्षेप में कहता हूं। मेरी यह धारणा है कि भारत की दुर्बलता का प्रधान कारण पराधीनता नहीं, दरिद्रता नहीं, अध्यात्मबोध या धर्म का अभाव नहीं, बल्कि है चिंतनशक्ति का ह्रास—ज्ञान की जन्मभूमि में अज्ञानता की व्यापकता। सर्वत्र ही देखता हूं inability या unwillingness to think (विचारने की अक्षमता या अनिच्छा) अथवा चिंतन-"फोबिया"। मध्ययुग में चाहे जो हो, पर आजकल तो यह भाव घोर अवनति का लक्षण है। मध्ययुग था रात्रिकाल, अज्ञान की विजय का युग। आधुनिक जगत् है ज्ञान की विजय का युग। जो जितना अधिक विचार करता है, अन्वेषण करता है, परिश्रम कर विश्व के सत्य को गहराई में पैठ जान सकता है, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती है। यूरोप को देखो, पाओगे दो चीजें—अनंत विशाल चिंतन का समुद्र और प्रकांड वेगवती पर सुश्रृंखल शक्ति का खेल। यही है यूरोप की समस्त शक्ति, उसी शक्ति के बल पर वह जगत् को ग्रस पा रहा है हमारे प्राचीन तपस्वियों की तरह, जिनके प्रभाव से विश्व के देवता भी भयभीत, संदिग्ध और बशीभूत थे। लोग कह देते हैं कि यूरोप ध्वंस की ओर दौड़ा जा रहा है। मैं यह नहीं मानता। यह जो विप्लव है, यह जो उलट-पुलट है, यह है नव-सृष्टि की पूर्वावस्था। फिर देखो भारत की तरफ। कुछ solitary giants (जहां-तहां प्रतिभाशाली महापुरुषों) के अतिरिक्त सर्वत्र ही सीधे-सरल मनुष्य हैं, अर्थात् average man (औसत मनुष्य), जो विचारना नहीं चाहते, विचार ही नहीं सकते, जिनमें बिंदु-मात्र भी शक्ति नहीं, है केवल क्षणिक उत्तेजना। भारत चाहता है सरल विचार, सीधी बात; यूरोप चाहता है गंभीर विचार, गंभीर बात। सामान्य कुली-मजदूर भी सोचता है, सब कुछ जानना चाहता है, मोटे तौर पर जानकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता, गहरे पैठकर देखना चाहता है। प्रभेद यही है। यूरोप की शक्ति और चिंतन की fatal limitation (घातक सीमा) है। अध्यात्मक्षेत्र में पहुंचने पर उसकी चिंतनशक्ति अब और काम नहीं करती। वहां यूरोप देखता है सब कुछ गोरखधंधा, nebulous metaphysics (कुहेलिकामय तत्त्वशास्त्र), Yogic hallucination (योगजन्य मतिभ्रम); धुंए में आंख रगड़ते हुए कहीं कोई ठहराव नहीं पाता। पर आजकल इस limitation (सीमा) को भी surmount (अतिक्रम) करने की चेष्टा यूरोप में कुछ कम नहीं हो रही। हमें अध्यात्मबोध अपने पूर्वजों से विरासत में मिला है, और जिसमें यह बोध है उसके हाथ में है ऐसा ज्ञान, ऐसी शक्ति जिसकी एक फूंक से यूरोप की समस्त प्रकांड शक्ति तिनके के समान उड़ जा सकती है। किंतु उस शक्ति को पाने के लिये शक्ति की उपासना की जरूरत है। परंतु हम शक्ति के उपासक नहीं, सहज के उपासक हैं, सहज से शक्ति नहीं मिलती। हमारे पूर्वजों ने विशाल चिंतन-समुद्र में गोता लगा विशाल ज्ञान प्राप्त किया

था, विशाल सभ्यता खड़ी कर दी थी। रास्ता चलते-चलते उनमें अवसाद आ जाने, क्लांत हो जाने के कारण चिंतन-मनन का वेग कम हो गया, साथ-ही-साथ शक्ति का वेग भी कम हो गया। हमारी सभ्यता हो गयी है जड़भरत-सी, धर्म हो गया है बाह्याचार की कट्टरता, अध्यात्मभाव हो गया है एक क्षीण आलोक या क्षणिक उत्तेजना की तरंग। यह अवस्था जबतक रहेगी तबतक भारत का स्थायी पुनरुत्थान है असंभव।

बंगाल में ही इस दुर्बलता की चरम अवस्था दिखायी देती है। बंगाली में क्षिप्र बुद्धि है, भाव की capacity (क्षमता) है, intuition (अंतर्ज्ञान) है; इन्हीं गुणों के कारण वह भारत में श्रेष्ठ है। ये सभी गुण चाहियें, किंतु इतना ही यथेष्ट नहीं। इनके साथ यदि विचार की गंभीरता, धीर शक्ति, वीरोचित साहस, दीर्घ परिश्रम की क्षमता और आनंद आकर मिल जायें तो बंगाली केवल भारत का ही क्यों, जगत् का नेता बन जायेगा। किंतु बंगाली में वह चाहना कहां, सहज में ही काम निपटाना चाहता है, विचार किये बिना ही ज्ञान, परिश्रम किये बिना ही फल, सहज साधना कर सिद्धि प्राप्त कर लेना चाहता है। उसका संबल है भाव की उत्तेजना, किंतु ज्ञानशून्य भावोद्रेक ही है इस रोग का लक्षण। चैतन्य के समय से ही क्यों उसके बहुत पहले से बंगाली क्या कर रहा है ? आध्यात्मिक सत्य की सहज-स्थूल बात को पकड़ भाव-तरंग में कुछ दिन नाचता फिरता है, उसके बाद है अवसाद और तमोभाव। इधर तो देश की क्रमशः अवनति हुई है, जीवनी शक्ति का ह्रास हुआ है, फिर बंगाली के अपने देश में क्या हुआ है—खाना नहीं, पहनने के लिये कपड़ा नहीं, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है, धन-दौलत, वाणिज्य-व्यवसाय, जगह-जमीन, खेती-बारी तक दूसरों के हाथों में जाना आरंभ हो गया है। हमने शक्ति-साधना छोड़ दी है; शक्ति ने भी हमें छोड़ दिया है। प्रेम की साधना करते हैं, परंतु जहां ज्ञान और शक्ति नहीं वहां प्रेम भी नहीं रहता; संकीर्णता, क्षुद्रता आ जाती है; क्षुद्र संकीर्ण मन, प्राण और हृदय में प्रेम का स्थान नहीं। प्रेम भला कहां है बंगदेश में ? जितना झगड़ा, मनोमालिन्य, ईर्ष्या, घृणा, दलबंदी इस देश में है, उतना भेदक्लिष्ट भारत में और कहीं भी नहीं। आर्य-जाति के उदार वीरयुग में इतना हो-हल्ला, नाच-कूद नहीं था, जो प्रयास वे आरंभ करते वह बहु शताब्दियों तक स्थायी रहता। बंगाली का प्रयास दो दिन तक रहता है। तुम कहते हो कि जरूरत है भावोन्माद की, देश को मतवाला बना देने की। राजनीतिक क्षेत्र में यह सब मैंने किया था, स्वदेशी के समय में जो किया था सब धूलिसात् हो गया है। अध्यात्म-क्षेत्र में क्या शुभतर परिणाम होगा। मैं नहीं कहता कि कोई भी फल नहीं हुआ। हुआ है; जितनी भी movement (आंदोलन) होती है उसका कुछ-न-कुछ फल होता ही है, पर वह है अधिकांश में possibility (संभावनाओं) की वृद्धि; स्थिर भाव से actualise (वास्तविक रूप प्रदान) करने की यह ठीक रीति नहीं। इसी कारण मैं अब emotional excitement (प्राण की उत्तेजना, भावोन्माद), भाव, मन के मतवालेपन को base (आधार) बनाना नहीं चाहता। अपने योग की प्रतिष्ठा

के लिये मैं चाहता हूं विशाल वीर-समता; उसी समता में प्रतिष्ठित आधार में सभी वृत्तियों से पूर्ण, दृढ़, अविचल शक्ति, शक्ति-समुद्र में ज्ञानसूर्य की रश्मियों का विस्तार; उस आलोकमय विस्तार में अनंत प्रेम, आनंद, ऐक्य की स्थिर ecstasy (तीव्रानंद)। लाखों शिष्य मैं नहीं चाहता, तुच्छ अहंकार-रहित भगवान् के यंत्ररूप पूर्ण कर्मी यदि सौ भी मुझे मिल जायें तो यही यथेष्ट है। प्रचलित गुरुगिरी पर मेरी आस्था नहीं, मैं गुरु बनना नहीं चाहता। मेरे स्पर्श से जगकर हो, चाहे दूसरे के स्पर्श से जगकर हो, अपने भीतर से अपने सुप्त देवत्व को प्रकट कर, भागवत जीवन प्राप्त करें, बस मैं यही चाहता हूं। ऐसे लोग ही इस देश को ऊपर उठायेंगे।

इस lecture (भाषण) को पढ़कर यह मत समझ बैठना कि मैं बंगाल के भविष्य के बारे में निराश हो गया हूं। जो यह कहते हैं कि बंगाल में ही इस बार महाज्योति का आविर्भाव होगा, मैं भी ऐसी ही आशा करता हूं। पर other side of the shield (दूसरे पहलू) को, कहां दोष-त्रुटि है, न्यूनता है यह भी देखने की चेष्टा की है। ऐसी अवस्था रही तो वह ज्योति न महाज्योति बनेगी न स्थायी ही होगी। जितने भी महापुरुषों के बारे में तुमने लिखा है वह सब जरा खटकता है, मानों जो चाहता हूं वह इनमें नहीं पाता। दयानन्द को अद्भुत-अद्भुत सिद्धियां मिली हैं। आश्चर्य है, उनके निरक्षर शिष्य भी automatic writing (स्वचालित लेखन) करते हैं। अच्छी बात है। पर यह तो है psychic faculty (अतींद्रिय क्षमता) मात्र। जानना चाहता हूं कि असली वस्तु कितनी है उनमें, कहांतक है उनकी पहुंच। और एक है जिसके छूने भर से आदमी दीवाना हो उठता है। अति उत्तम, किंतु ऐसे दीवानेपन का क्या लाभ ? प्रश्न उठता है, वह क्या उस तरह का मनुष्य बन जाता है जो नवयुग का, भागवत सत्ययुग का स्तम्भ बनकर खड़ा हो सके ? देखता हूं इसके बारे में तुम्हें भी संदेह है, मुझे भी।

साधु-संतों की भविष्यवाणी पढ़कर मुझे हंसी आयी थी, अवज्ञा या अविश्वास की हंसी नहीं,—दूर भविष्य की बात मैं नहीं जानता, रह-रहकर भगवान् जो आलोक दिखाते हैं उससे मेरा एक कदम आगे बढ़ता है, उसी आलोक से चलता हूं। पर मैं सोचता हूं,—ये लोग मुझे क्यों चाहते हैं, उस महासम्मेलन में मेरा क्या स्थान है ? शंका होती है, कहीं मुझे देखकर वे निराश न हों, मेरी कहीं fish out of the water (घर का न घाट का) जैसी अवस्था न हो जाये। मैं न तो संन्यासी हूं, न साधु-संत ही, न मेरा कोई धर्म है न आचार। सात्त्विकता भी नहीं है मुझमें। मैं हूं घोर संसारी, विलासी, मांसभोजी, मद्यपायी, अश्लीलभाषी, स्वेच्छाचारी, वाममार्गी तान्त्रिक। इन महापुरुषों और अवतारों के बीच क्या मैं भी एक महापुरुष हूं, अवतार हूं ! मुझे देखकर शायद वे सोचें कि मैं कलि का अवतार हूं या आसुरी राक्षसी काली का अवतार, ईसाई लोग जिसे कहते हैं Antichrist (ईसाई मतविरोधी) ! देखता हूं, मेरे बारे में एक भ्रांत धारणा फैल गयी है, लोग यदि disappointed (निराश) हुए तो उसके लिये मैं उत्तरदायी नहीं।

इस असाधारण लंबी चिट्ठी का तात्पर्य यही है कि मैं भी पोटली बांध रहा हूं। परंतु मेरा विश्वास है कि यह पोटली St. Peter (सेण्ट पीटर, ईसा के प्रथम शिष्य, क्रिश्चियन स्वर्ग के द्वारपाल) की चादर के समान है, अनंत के जितने शिकार हैं उसमें किलबिल कर रहे हैं। अभी पोटली नहीं खोलूंगा, असमय खोलने से शिकार भाग सकते हैं। बंगाल भी अभी वापस नहीं जा रहा, इसलिये नहीं कि बंगदेश तैयार नहीं बल्कि इसलिये कि मैं तैयार नहीं हूं। कच्चा कच्चों के बीच जा भला क्या काम कर सकता है ?

इति—
तुम्हारा 'सेजदा'

पुनश्च : नलिनी ने लिखा है कि तुम लोग अप्रैल के अंततक नहीं आ रहे हो—मई में आओगे। उपेन ने भी आने के बारे में लिखा था, उसका क्या हुआ ? वह तुम लोगों के साथ रह रहा है या और कहीं ? मुकुन्दीलाल ने मेरे पास चिट्ठी भेजी है कि उसे सरोजिनी के पते पर भेज दूं। पर सरोजिनी कहां है मुझे मालूम नहीं, अतः तुम्हारे पास भेज रहा हूं। तुम उसे forward कर देना (यथास्थान भेज देना)।

मोतीलाल की चिट्ठी मिली है। उससे और कुछ circumstances (परिस्थितियों) से समझा कि उसके और सौरीन के बीच misunderstanding (गलतफहमी) की छाया पड़ रही है, वह मनोमालिन्य का रूप ले सकती है। हम लोगों में ऐसा होना बिलकुल अनुचित है। मोतीलाल को इसके बारे में लिखूंगा। तुम सौरीन से कहना कि सावधान रहे ताकि इस तरह के breach (दरार) या rift (अनबन) का कोई मौका न आये। किसी ने मोतीलाल को कहा है कि सौरीन लोगों को कहता फिर रहा है, (impression दे रहा है) कि 'प्रवर्तक' के साथ अरविंद घोष का कोई संबंध नहीं है। निश्चय ही, सौरीन ने ऐसी बात नहीं कही है। 'प्रवर्तक' अपनी ही पत्रिका है, मैं स्वयं उसमें लिखूं या न लिखूं, मेरे द्वारा ही भगवान् मोतीलाल को शक्ति देकर लिखवा रहे हैं, spiritual (आध्यात्मिक) हिसाब से मेरे ही लेख हैं, मोतीलाल केवल उसमें अपने रंग भरता है। हो सकता है कि सौरीन ने कहा हो कि 'प्रवर्तक' में प्रकाशित लेख उनके खुद के लिखे नहीं हैं। यह भी कहने की जरूरत नहीं है। इससे लोगों पर wrong impression (उलटा असर) पड़ सकता है। 'प्रवर्तक' में कौन लिखता है, कौन नहीं लिखता इस बात को जरा गुप्त रखा है,—प्रवर्तक को प्रवर्तक ही लिखता है, शक्ति ही लिखती है, वह किसी व्यक्ति-विशेष की सृष्टि नहीं। हकीकत भी यही है। नलिनी और मणि के 'देवजन्म' आदि लेख पुस्तकाकार में छपे हैं। उसमें लेखक का नाम नहीं दिया गया है इसी नियम के कारण। ऐसा ही रहे until further order (जबतक कि कोई अगला आदेश न मिले)।

'प्रवर्तक'* को

सततं कीर्तयन्तो त्वं यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च त्वं भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।

तच्चित्ता तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च त्वं नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति...

जो थोड़ा-बहुत बन सका हूं उतनी-सी है हमारी उपलब्धि। उस आदर्श को पूर्ण चरितार्थ नहीं कर पाया हूं, कर पाऊंगा ऐसी आस्था उसकी बातों पर रख साधना करता जा रहा हूं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

हमारी जो आस्था है, अनुभव हैं और उससे भी ज्यादा pisgah की चोटी से जो promised land के दर्शन करते हैं उसी के बल पर दूसरों का इस साधन-पथ पर आह्वान कर हम मुक्त कंठ से प्रचार करते हैं। हममें से बहुतों को ऐसी अनुभूति हुई है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

बिन्दु-भर जो शक्ति मिली है उसी से कर्म करने में प्रवृत्त हुआ हूं। फल है भगवान् के हाथ में, किंतु इस पथ में पूर्ण सिद्धि दूर की बात है। यह पथ केवल व्यष्टियोग के लिये या individual (व्यक्तिगत) सिद्धि का नहीं है, समष्टियोग का effective (कारगर) सिद्धि का पथ है, एक ने यदि भगवत्कृपा से पूर्णयोग की सिद्धि पा भी ली तो उसे सिद्ध पुरुष नहीं कहेंगे। यह पथ है आरोहण का पथ, सिद्धि के बाद भी सिद्धियां हैं, अंतिम सिद्धि न पाने तक और उत्तम योगारूढ़ न होने तक उसे सिद्धपुरुष कहना दर्पोक्ति होगी। हम miracle mongers (चमत्कारों के पीछे भागनेवाले) भी नहीं हैं। चमत्कार क्या होता है ? जो कुछ भी जगत् में होता है सभी है प्रकृति के नियम के अंतर्गत एक शक्ति का खेल। या तो वह miracle (चमत्कार) नहीं है या फिर all is miracle (सब कुछ ही चमत्कार है)। तब हां, साधारण शक्ति के ऊपर ईश्वरी शक्ति का खेल है यह

---

* श्रीअरविन्द की प्रेरणा से स्थापित आध्यात्मिक संस्था और उसी नाम की मासिक पत्रिका।—सं०

सच है, वह है भीतरी बात, बाहरी प्रवंचना नहीं। व्यक्तिगत शक्ति नहीं, भगवान् की इच्छाशक्ति है भगवदिच्छा की पूर्ति का साधन; व्यक्ति के अहंकार-स्फुरण, हृदय के आवेग, प्राण की वासनाएं, बुद्धि के मत-अभिमत पूर्णता के साधन नहीं।

जो कुछ लिख रहा हूं वह पत्र-लेखक के मत के खंडन के हेतु नहीं लिख रहा। उस पत्र से कुछ एक साधारण प्रश्न उठते हैं। साधक के मन की अधपकी अवस्था में संदेह या भ्रांत धारणाएं जनम सकती हैं। इस पत्र को lead या starting point (आधार) बना उन प्रश्नों का उत्तर देना, शंका दूर करना ही उद्देश्य है। फिर भी, एक बात बता दूं। इन विषयों पर अंग्रेजी में बहुत दिनों से चर्चा करता रहा हूं,—तुम जो बंगला में इन विषयों पर लिखने को कह रहे हो वह जैसे मुझपर अत्याचार करना है वैसे ही पाठक पर भी। तुम तो अच्छी तरह जानते हो कि शिक्षा और घटनाओं की परंपरा के दोष से अंग्रेजी में थोड़ी-बहुत लिखने की क्षमता पनपी है किंतु वैसी क्षमता बंगला में नहीं। मैं यदि मातृभाषा का अंगच्छेद या यहांतक कि हत्या भी कर दूं, 'प्रवर्तक' के पृष्ठों को अंग्रेजी-बंगला मिश्रित भाषा से कलुषित करूं तो वह दोष मेरा नहीं तुम्हारा होगा। यह तो हुई लंबी प्रस्तावना। अब असली बात पर आता हूं।

पत्र

इस पत्र के उत्तर की वसूली मुझसे ही क्यों ? तर्क यदि करना हो तो उसके लिये चाहिये साझा आधार (common ground) जिसका यहां निहायत अभाव है। विचार करने का तरीका भी अलग है, (जैसे) भागवत अनुभव में प्रकाश और अंधकार में भेद। मैं यह नहीं कहता कि पत्र लिखनेवाले के मन में अंधेरा है और मेरा मन प्रकाशित है। कहने का तात्पर्य यही है कि उनके लिये जो "निशा" है, उसी योगज्ञान की गभीर गुहा में हमारा जागरण होता है, दर्शन होता है, जिस बुद्धि के दिवालोक में वे जागते हैं और देखते हैं हमारी आंखों में वही आलोक घोर रात्रि भले न हो, रात्रि का अर्द्ध-आलोकित प्रदेश तो है ही, शायद मिथ्या प्रकाश का इंद्रजाल। योगलब्ध ज्ञान, योगलब्ध शक्ति उनके लिये हैं पहेली, आत्म-प्रवंचना और अज्ञान। मेरे लिये बौद्धिक ज्ञान है प्राण की आवेगमयी आशा, अज्ञान, जादुई पहेली और आत्म-प्रवंचना।

शायद पत्र-लेखक हैं यूरोपीय बुद्धि-प्रधान शास्त्र के उपासक। जिस मानवी बुद्धि के कल्याणकारी परिणाम से मानवजाति आजतक दलित, अधीर, क्षत-विक्षत है उसी के जयगान में उन्मत्त श्रीहक कैसे महारव से *नभश्च पृथ्वीञ्चैव* (नभ और पृथ्वी) को तुमुल निनाद से भर भगवान् के विरुद्ध युद्ध की घोषणा में रत हैं। *सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्*। इस घोर आक्रमण द्वारा महा-कापुरुष भगवान् यदि भारत से सदा के लिये पलायन नहीं करते तो मानुषी बुद्धि की शक्ति व्यर्थ है। रही यूरोपीय शास्त्र की बात, उस शास्त्र में यूरोप के बुद्धिवाद को अब और अटल विश्वास नहीं रहा।

कुछ तो बुद्धिवाद की अपूर्णता को समझ और कुछ उसके अति सेवन से परिणाम भोगकर यूरोप नयी भावना से सोच रहा है, यूरोप भगवान् को खोज रहा है। फ्रांस में, इंग्लैंड में, अमेरिका में, दर्शन में, काव्य में, चित्रकारी में, संगीत में २०-३० साल से यह धारा बह रही है। यह सच है कि अब भी बहुत-से लोग जिस अंधकार में थे उसी में पड़े हैं, कितने ही हथड़ा रहे हैं। कुछ कुहासे में अस्पष्ट मूर्तियां देख रहे हैं। और बहुत-से हैं दिवालोक से आलोकित चक्षुष्मान। देख रहा हूं धारा दिन-पर-दिन वेग से बह रही है। अभी भी यूरोप की भूल के भुक्तभोगी नहीं हैं हम। भारत की नाना भूल-भ्रांतियों के शोचनीय परिणाम से अस्थिर हैं हम। पत्र-लेखक उसी अधीरता से एक-देशदर्शी कल्पना के वशीभूत हो सपना देख रहे हैं, बुद्धि की उपासना से जब यूरोप प्रबल सुखी (?) अधीश्वर बन गया है तो वहां फल हुआ है उत्थान, यहां हुआ है पतन और जब नतीजा देखकर ही राह चुननी होती है, *फलेन परिचीयते*, तब हम भी क्यों न उसी पथ पर दौड़ पड़ें ? कोई आपत्ति नहीं। देश को यदि यही अभिप्रेत है तो क्यों न दौड़ पड़ें सब-के-सब ? गड्ढों में गिरने के बाद भी यदि होश आ जाये और ठीक राह पर चलना सीख लें। मानुषी तनु धारण करनेवाले भगवान् की अवमानना कर ज्ञान, कर्म को तुच्छ मानकर जिस गड्ढे में गिर पड़े हैं उसमें ही आजतक चक्कर खा रहे हैं। बुद्धि के बल से उठ जिस गर्त में गिर प्राचीन ग्रीस, रोम, मिस्र मर मिट गये, आधुनिक रूस, जर्मनी गिरे हैं और कितने ही राष्ट्र गिर कर सड़-पच जायेंगे, क्यों न हम भी उसी गर्त में गिर मुंह की खा उस सुख का उपभोग कर लें। मादक बुद्धि-मदिरा का सेवन— *यावत् पतति भूतले*—उसके बाद भी यदि इच्छा हुई—*उत्थायापि पुनः नीत्वा दद्विष्णोः परमं पदम्*—अंत में सारा देश निर्वाण प्राप्त करे। पर हमने जिस सत्य के पथ का अन्वेषण किया है और सत्य को पाया है उस पथ पर चलने के लिये देश को आह्वान करने से विरत नहीं होंगे।

मत के विरोध की बात रहने दो। मेरे मत में यद्यपि श्रीहक का कथन भ्रांतिपूर्ण है यानी विकृत सत्य है, तथापि विकृति में भी सत्य का आभास मिलता है। उसके मन की भावना और अवस्था काफी स्वाभाविक है। हो सकता है कि भारत में बहुतों की ऐसी ही मनोदशा हो। इसकी आवश्यकता भी थी। यह बात कई बार पहले भी लिख चुका हूं कि धर्म की कुमति को, भगवत्संबंधी तुच्छ भ्रांत धारणा को दृढ़ता से ध्वस्त करने के लिये यूरोप की जड़वादी नास्तिकता की एक समय आवश्यकता थी। अब

पत्र में इस अंश का कोई स्थाननिर्देश नहीं था—

ऐसा क्या हो सकता है ? मनुष्य की वीरबुद्धि कापुरुष भगवान् को निकाल बाहर नहीं कर सकती। क्या धरा पर से उनका नाम मिट गया ? अलबत्ता वे चाहते जरूर हैं; खेद है कि जो कृष्ण श्रीहक के विस्मय और भक्ति के पात्र हैं, वही धूर्त कृष्ण एक बार पलायन करके भी पुनः राज्य का विस्तार कर रहे हैं, बुद्धिवाद घटता चला जा रहा है। पुनः वेदान्त के भारत से, अवतारों के देश भारत से, चैतन्य, रामकृष्ण, विवेकानन्द की जन्मभूमि बंगाल से भगवान् को भगाने के लिये आह्वान कर रहे हैं। श्रीहक हमें क्षमा करें, ऐसी असाध्य साधना करने के लिये हम राजी नहीं।

जो आध्यात्मिक चिंतन और धारणा यूरोप और अमेरिका को आलोकित कर रही है वह है वेदान्त के उदार, उदात्त, गभीर सत्य से प्लावित। बुद्धिवाद, वैज्ञानिक जड़वाद, नास्तिकता ने इस भूमि को साफ-सुथरा कर नये बीज को बोने का अवसर दिया है। हमारे अंदर पुरानी अचल-अटल रूढ़ियों को तोड़ने की जरूरत थी। बुद्धिवादी अंग्रेजी शिक्षा ने इस काम में मदद की है। असली आध्यात्मिक पूर्ण सत्य को प्रकट करने का अवकाश दिया गया है। प्राचीन भारत के अंतिम समय में योग में वैराग्य, निश्चेष्टता और जीवन से पलायन के प्रयास में बहुत अधिक वृद्धि हो गयी थी। संसार में निस्तेज क्षुद्राशयता के लक्षण देखता हूं। पर उस व्याधि की वास्तविक औषधि बुद्धिवाद नहीं। जीवन में भी वेदान्त धर्म का पूर्णतर आचरण, यह ज्ञान ही है हमारी साधना और प्रचार का मूलमंत्र।

श्रीहक उस पथ पर पांव धरना ही नहीं चाहते। बुद्धि-बल से ही देश को बलवान् करने के उत्सुक हैं। मुझे कोई आपत्ति नहीं। सभी अपने-अपने चिंतन और प्रेरणा-प्रवाह से काम में लग जायें। तथ्य तो यह है कि बुद्धि को ही जो मुख्य मानते हैं उनके लिये योग की बात एक पहेली और आत्म-प्रवंचना के सिवाय और कुछ नहीं। योग का प्रधान आधार है—बुद्धि के परे भी कुछ है, *यो बुद्धेः परतस्तु सः*। बुद्धि का विकास और विशुद्धता तो चाहिये ही चाहिये। चाहे तो पहले बुद्धि के बन्द द्वार खुलने पर स्वधाम में प्रतिष्ठित भगवान् के दर्शन करें या फिर हृदय के गुह्य गह्वर में अनुभव करें, उसके बाद बुद्धि के परे जाना—*एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना*—गीता।

जो बुद्धि के परे है, बुद्धि से महान् है, बुद्धि की सहायता से ही उन्हें प्राप्त कर Small Self को Greater Self में (छोटे 'मैं' को बड़े 'मैं' में), मनुष्य के अहं को अंतरस्थ परमात्मा पुरुषोत्तम में निहित करना ही विहित है। बुद्धिवादी और आत्मवादी के पथ अलग हैं। गति के नियम और शक्ति में आस्था अलग-अलग हैं। पथिक की भाषा भी अलग है। मैं और श्रीहक दोनों ही भगवत् शब्द का प्रयोग करते हैं किंतु भगवत्संबंधी उनकी बुद्धि की धारणा और मेरे अंतर के अनुभव, इन दोनों में बिन्दु-भर भी साम्य नहीं। शब्द एक हैं पर अर्थ अलग। ऐसे में तर्क करने से क्या लाभ ? वे यदि अंग्रेजी में लिखें और मैं यदि फ्रेंच में लिखूं तो इसका जैसा परिणाम होगा वैसा ही होगा इस क्षेत्र में भी। मैं उनकी अंग्रेजी भले समझ लूं, वे मेरी फ्रेंच क्यों समझने लगे। उनके विचार मैं समझता हूं, साधारण लोगों के ऐसे ही विचार हैं। जब मैं बुद्धिवादी, नास्तिक या agnostic (संशयवादी) था, भगवान् का साक्षात्कार नहीं किया था तब मुझ में कभी ऐसे विचार, तर्क, संदेह नहीं थे ऐसी बात नहीं। मेरे जो विचार और प्रत्यक्ष दर्शन (direct experience) हैं, वे उनसे अछूते हैं, जब वे उस वस्तु को पहचानते ही नहीं तो जिस भाषा में वह व्यक्त होता है उनके लिये वह निरी कल्पना है, कोरे शब्द हैं। श्रीहक के कल्पित भगवान् को मानवी मन विताड़ित करे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, लेकिन सच्चे भगवान् को कोई भी विताड़ित नहीं कर सकता,

न श्रीहक न ही Voltair (वाल्तेयर), न जड़वादी विज्ञान। वे नास्तिक को भी चलाते हैं और आस्तिक को भी। वे सबके अंतर्यामी, सबके नियन्ता हैं।

इस पत्र की एक और मुश्किल है कि जो हमने कहा ही नहीं वही पत्रलेखक जबर्दस्ती हमारे मुंह से कहलवा रहे हैं। उसी कल्पित झूठी भक्ति को ही व्यंग्यपूर्ण जोशीले वाक्यों के प्रवाह में बहा ले जाने पर तुले हुए हैं। पहली बात—उनका कहना है, आत्म-समर्पण है अकर्मण्यता का साधन, तुम्हारी साधना है अकर्मण्यता की साधना। ऐसा यदि हो . . . ।

धैर्य के साथ, बारीकी से दार्शनिक के विचार को समझ लेना आवश्यक है। लघुकाय 'प्रवर्तक' पत्रिका में छोटे निबन्ध द्वारा उस तरह का पूर्ण दार्शनिक आलोचना संभव नहीं। योग-पथ सिर्फ चिंतन की वस्तु नहीं, है आंतरिक जीवन के अनुभव का विषय। जैसे साधारण मानव जीवन में नाना विघ्न उठ खड़े होते हैं उसी तरह योग की राह पर भी उतने या उससे भी अधिक बाधा-विघ्न प्रकट होते हैं। Provisional (सामयिक) सामंजस्य करते हैं अनुभूति द्वारा, विचार और अंतर्दृष्टि की सहायता से जिससे अंत में भगवदालोक विस्तारित होने से सब विघ्न-बाधाओं से रहित विरोधी सत्यों का असली अर्थ समझ में आता है—इससे सामंजस्य अपने-आप आ जाता है, बुद्धि से मिलाने का प्रयास नहीं करना पड़ता। पर श्रीहक तो योगप्रार्थी नहीं हैं, आंतरिक जीवन उनका लक्ष्य नहीं, लक्ष्य है भारत का बाहरी जीवन। हमारा लक्ष्य और मत* है अंतर्मुखी जीवन से बाहरी जीवन को गढ़ना, to live from within outward, परिस्थिति का गुलाम न बनना, बाहरी घटनाओं के वेग में कठपुतली नहीं बनना, भीतरी स्वराज्य और साम्राज्य को ठोस भित्ति पर खड़ा करना। हमारा यह विश्वास है कि देश के युवक यदि इस तरह के भीतर के स्वराज्य और साम्राज्य का गठन कर सकें तो भारतभूमि पुनः अभ्रभेदी महिमा से सिर ऊंचा कर सारे जगत् को अपने आलोक से, शक्ति से, आनंद से भर देगी, प्लावित कर देगी। *फलेन परिचीयते,* फल किंतु एक दिन में नहीं मिलेगा न ही कच्ची अवस्था में मिलेगा। पूर्ण सिद्धि पर सब निर्भर है।

हमारा विश्वास है कि ऐसे आध्यात्मिक प्रयास से ही प्राचीन काल में भारत महान् था। बाद में अवनति काल में भी इसीके बल पर हजारों संकटों से बचता रहा है। यूरोप आजकल जो पृथ्वी पर धर्म-राज की, भगवद् राज्य की स्थापना का प्रयासी है, वह प्रयास इस राह द्वारा सफल हो सकता है, बुद्धि के अहंकार के बल पर नहीं। श्रीहक के विचार में यह सिद्धांत नितान्त सारहीन और शिशु की सुखद कल्पना-मात्र है। उनका कहना है कि भारत की केंद्रीय शक्ति कभी भी आध्यात्मिक नहीं रही। Principle (सिद्धांत) को सामने रख ऐश्वर्य का त्याग नहीं किया, उसमें थी दुर्बलता,

---

* अस्पष्ट पाठ।

आत्म-रक्षा की असमर्थता, अतः संन्यासी बनने के सिवा कोई चारा ही नहीं था उसके पास ! सच, इतिहास की कैसी अद्‌भुत व्याख्या ! भारत ने जान-बूझकर टॉल्सटाय की तरह resist no evil (किसी भी बुराई का प्रतिरोध न करो) इस महावाक्य में श्रद्धा रख दुःख-दारिद्र्य को बढ़ावा नहीं दिया। "भारत का अध्यात्म-विज्ञान केवल एक छलावा है। यह जीवन को पूरी तरह गढ़ने में असमर्थ है।" और क्या कहते हैं कि "Lyod George, Dr. Wilson (लॉयड जॉर्ज और डा० विल्सन) सरीखा एक भी आदमी भारत में नहीं था जिसने सिद्धांत को सामने रख सारे ऐश्वर्य का त्याग किया हो।" हमारे आत्म-समर्पण की बात सुनकर श्रीहक को हंसी आती है, ऐसी बात सुनकर हमारे लिये भी हंसी को रोकना कठिन है। हम भले पागल हों या शिशु की तरह बहुत बेतुकी बातें बोलते हों पर तुम बुद्धि के उपासक यह बच्चों की तरह बात कैसे कर बैठे श्रीहक ? सच, प्राचीन भारत की आश्रम-प्रथा में क्या कोई विधि-विधान नहीं थे ? बुद्ध के ऐश्वर्य-त्याग में क्या कोई सिद्धांत नहीं था ? क्या निरुपाय होकर बुद्ध से लेकर रामकृष्ण तक सभी ने संन्यासियों का स्वांग रचा था ?

असल बात पर आता हूं। Resist no evil (किसी भी बुराई का प्रतिरोध न करो) प्राचीन बौद्धों और जैनियों का सिद्धांत था, सारे भारत का नहीं। भारत के प्राचीन मत में दारिद्र्य को अपनाना, निःस्व हो जाना था संन्यासियों का धर्म, संसारियों का धर्म नहीं। भारतीय शास्त्रों ने मानव जीवन के चार पुरुषार्थों को स्वीकारा है : अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष। यूरोपीय शास्त्रों ने भी इन चारों को अपनाया था, भले ही वह unformulated (विधिवत् न) रहा हो। वह मानवी भावों पर आधारित था। यह सत्य है कि भारत के संन्यासी जो भी करें उन्होंने जातिगत इच्छा से ऐश्वर्य-त्याग नहीं किया। 'प्रवर्तक' के लेखक भावोच्छ्‌वास में ऐसी बात कह गये हैं कि भारतवर्ष युग-युगांतर से इस जगत् के सारे ऐश्वर्यों से सदा से वंचित रहा है, अत्याचार सहता रहा है—स्वेच्छा से नहीं, दैव दुर्विपाक से। यह अतिशयोक्ति है, यथार्थ सत्य नहीं। उस दिन तक भारत ऐश्वर्यशाली था, महाशक्तिवान् था। चन्द दिनों में हूण, शकों को आत्मसात् कर लिया था। बर्बर को सुसभ्य और आध्यात्मिक भावसंपन्न बना सका था। मुसलमान आये पर भारत की समृद्धि में कमी नहीं आयी। विजित यदि कहते हो तो देखोगे कि यूरोप में भी एक भी ऐसा देश नहीं जो कभी-न-कभी विजेताओं के अधीन न रहा हो। किंतु भारत में राजनीतिक एकता न होने के कारण उसे बार-बार आक्रांत होना पड़ा है, पर बार-बार अपने को संभाल भी लिया है। चाहे तो विजेता को आत्मसात् कर लिया शांति से समझौता करके या युद्ध करके। यह भी कुछ कम शक्ति का प्रमाण नहीं। अंत में इन दो शताब्दियों में वह अवसन्न, दुर्बल और दरिद्र हो गया—हो गया ऐश्वर्यहीन, बन गया नाना दुर्दशाओं का शिकार। अब वह फिर से उठ रहा है, अंग्रेजों के साथ एक तरह का समझौता कर आजादी की चेष्टा में लगा है। यदि यह आध्यात्मिक बल नहीं तो किस शक्ति से वह इतने दिनों तक सुरक्षित रहा, बार-

बार विपदाओं की तरंगों से उबरा है, सोचो जरा। भारतवासी जो भी कहें, चाहे वे अंग्रेज हों चाहे भारतीय, इस बात को कभी स्वीकार न करो कि हम हीन हैं, चिरपतित गुणहीन राष्ट्र हैं। यह कतई सत्य नहीं। सरासर झूठ है यह।

अब अध्यात्म की बात लें—जो कहते हैं कि भारत की प्राचीन सभ्यता आध्यात्मिकता को principle (आदर्श) बना गठित नहीं की गयी तो या तो उन्होंने अच्छी तरह इसका अध्ययन नहीं किया कि आध्यात्मिकता क्या है या फिर उसके बारे में उनकी धारणा भ्रांत है। मानता हूं कि जीवन को पूर्णरूपेण आध्यात्मिकता के सांचे में नहीं ढाला जा सका। कितने हैं जो principle (विधि-विधान) को मान सत्ता के सभी अंशों को गढ़ सकने में समर्थ हैं ? मनुष्य अति complex being (जटिल प्राणी) है, तभी तो जीवन में हैं इतनी जटिलताएं, समस्याएं और आत्मविरोधिता। यह भी मानता हूं कि वही न्यूनता है सारे गोलमाल की जड़। ऐसे आदर्श का जैसे महत् फल होता है वैसे ही महाविपत्ति भी आती है। न्यूनता के कारण सहज ही ह्रास भी होता है लेकिन फिर शीघ्र ही पुनरुत्थान भी होता है। यह भी स्वीकारता हूं कि अंत की तरफ अति करने से गड़बड़ी हुई थी, मानवी तनु में अवतरित भगवान् की अवमानना; ज्ञान, कर्म को अवज्ञा से देखना, योग का जीवन से विच्छेद और विमुखता आदि भ्रांतियों में अतिशय वृद्धि। इसीलिये भारत के अध्यात्म-विज्ञान को बेबुनियाद मान उड़ा देना है अल्प और अधीर बुद्धि के लक्षण। आध्यात्मिकता की सच्ची राह से भटक जाने के कारण भारत की यह दुर्दशा हुई है। आध्यात्मिकता है भीतर की चीज। वह कभी लुप्त नहीं होती। उसी निहित शक्ति से सारे आक्रमणों और विपदाओं को सहते हुए भारत बचा हुआ है। उसी शक्ति से उठा है। प्रमाण है, जब भी, जहां कहीं भी वह उठा है तो उठा है आध्यात्मिकता की एक नयी तरंग के प्रभाव से, इतिहास है इसका साक्षी। इस बार भी वह जो उठ रहा है, आध्यात्मिकता की नूतन तरंग ही उसका पूर्व चिह्न थी। इतिहास को यदि अस्वीकार करो, fact (तथ्य) को अपने मत के जोर से उड़ा दो तो कुछ कहने को नहीं रह जाता।

श्रीहक यूरोप का उदाहरण देते हैं। पूछता हूं, मानवी बुद्धि का अनुशीलन करके कोई यूरोपीय राष्ट्र अमर हुआ है, या हजारों वर्षों तक जीवित रह सका है ? वे यदि यह कहें कि बुद्धि को प्रधानता न दे आध्यात्मिकता की पुनरावृत्ति के कारण भारत की यह अधोगति हुई है, स्वाधीन बुद्धि के अनुशीलन की कमी के कारण बड़ी हानि हुई है तो मैं इसे अस्वीकार नहीं करता, मैंने यह बात बार-बार लिखी है,—मैं भी कह सकता हूं कि केवल मानुषी बुद्धि को प्रधानता देने के कारण रोम, ग्रीस, मिस्र, असीरिया, बेबिलोन मर-मिट गये हैं। किंतु मानुषी बुद्धि के प्राबल्य से इंग्लैंड, फ्रांस और अमेरिका ने जर्मनी पर विजय पायी है अतः भगवान् को उड़ा दो, जय हो मानवी बुद्धि, तेरी जय हो ! पूछता हूं क्या जर्मनी में बुद्धि-बल और बुद्धि का अनुशीलन नहीं था ? युद्ध के पहले दिन तक तो एक शताब्दी से जर्मनी ही था यूरोप का गुरु, दर्शन में गुरु,

विद्या में गुरु, बुद्धि में गुरु, socialism (समाजवाद) में गुरु, वैज्ञानिक अन्वेषण में उतना अगुआ भले ही न हो पर उसके प्रयोग के क्षेत्र में तो गुरु था ही। इस तरह की बुद्धि द्वारा गठित शृंखला, दृढ़बंधन, organisation, efficiency (संगठन और दक्षता) और कहीं भी नहीं थे। यदि यह बुद्धि ही सर्वस्व है तो ऐसे जर्मनी का पतन क्यों हुआ ? जो इंग्लैंड बुद्धि की परवाह नहीं करता, जिसकी वाहवाही इसमें है कि we somehow muddle through (हम किसी तरह नैया पार लगा लेते हैं), वह क्योंकर जयी हुआ ? जिस फ्रांस के ऊपर चिर कलंक है कि वह साहसी, बुद्धिमान् और सभ्यता का केंद्र होते हुए भी विपदा में टिक नहीं पाता वही इस बार टिक कैसे गया ? जो अमेरीका सभ्य भूखण्ड के कोने में पड़ा था वह भला एकाएक जगत् के idealism (आदर्श) का नेता कैसे बन बैठा ? सिर्फ क्या बुद्धि के बल पर ही ?

लगता है कि श्रीहक यूरोप के किसी भीतरी अखबार की खबर नहीं रखते, केवल इस देश का अखबार पढ़कर अपनी धारणा बनाते हैं। वे क्या यह नहीं जानते कि बुद्धिवादी यूरोप अब बुद्धिवादी नहीं रहा ? वहीं आरंभ हुआ है भारत की आध्यात्मिकता के आधिपत्य का काल। दर्शन, चिंतन, काव्य, कला, संगीत में यह स्रोत करीब बीस-तीस साल से प्रवाहित हो रहा है। वे क्या यह नहीं जानते कि अमेरिका में सैनिक किस तरह की चिट्ठियां लिख रहे हैं—बीच-बीच में काव्यमय उद्‌गार, रह-रह कर भगवान् की बातें, भगवान् पर भरोसा रख उनकी ही शक्ति के बल पर युद्ध करने की बातें। और साधारण लेखक जो सब कविताएं लिख रहे हैं उनमें होता है केवल आध्यात्म, पुनर्जन्म, सर्वभूत में भगवद् दर्शन की बात। कभी अंग्रेज Wells (वेल्ज़) ने बुद्धि के बल पर आदर्श समाज की स्थापना की बात लिखी थी, अब वे क्या लिख रहे हैं ? "बुद्धि के बल पर नहीं होने का, अंतरस्थ भगवान् को जगाओ, उठ खड़े होओ, आओ, भगवान् के सैनिक बन, आत्मा के बल पर, भगवान् की शक्ति से पृथ्वी पर, स्वर्ग-राज्य, भगवद्-राज्य की स्थापना करें।" Noyes (नॉयज़) जैसे अंग्रेज कवि भी वैसी ही बातें लिख रहे हैं—भगवान् का राज। श्रीहक महाकापुरुष भगवान् को देश से निकाल बाहर करने की बात करते हैं, यूरोप से कहें जाकर ऐसी बातें। सिर्फ हम ही स्वर्ग-राज्य की बात नहीं कर रहे, यूरोप के बुद्धिजीवी भी यही राग आलाप रहे हैं। पूर्व-पश्चिम एकमत हो रहे हैं।

अब प्रश्न यह उठता है—यूरोप बुद्धिवाद को तज रहा है, हम किसे पकड़ें ? आध्यात्मिक ज्ञान के बल पर या बुद्धि के बल पर बलीयान् बनें ? यदि जीवन को पूर्णतः आध्यात्मिक विज्ञान द्वारा गठित करना श्रेयस्कर है तो उसका वास्तविक पथ क्या है ? इसकी आलोचना बाद में होगी।

*

जो पत्र तुमने मेरे पास भेजा है उस पत्र का पत्रलेखक श्रीहक के मनपसंद का संतोषजनक उत्तर देना कठिन है। विक्षिप्त मन की उत्तेजना और हृदय के तीव्र आवेग में लेखक ने जिस तरह बेतरतीब तरीके से बातों को उड़ा दिया है, उनके चिंतन का यदि अनुसरण किया जाये तो उसी भंवर में फंसना पड़ेगा। पर दूसरी तरह और दूसरे पहलू से इसका ठीक-ठीक उत्तर दिया भी नहीं जा सकेगा। तिसपर चन्द शब्दों में विश्व-समस्या की चर्चा करना ! दो-चार मोटे-मोटे शब्दों में विश्व-समस्या की मीमांसा असाध्य है यद्यपि थोड़े शब्दों में इसका उल्लेख हो सकता है। खैर, जो हो, दो शब्दों में, सहज तरीके से यथा संभव इन प्रश्नों और आपत्तियों का उत्तर देने की चेष्टा करूंगा। पहले तो यह कहे बिना नहीं चलने का कि लेखक मानवी बुद्धि के क्षण-स्थायी ऐश्वर्य से विमुग्ध हैं, बुद्धि के बल से आस्थावान् और बलवान् होना चाहते हैं। अच्छी बात है, यदि यही एक राह हो तो पहले बुद्धि को धीर-स्थिर और शृंखलित करना होगा। हृदय के आवेग, उद्वेग, विक्षोप से, उद्वेलित विचार से किसी भी समस्या का समाधान नहीं होता और न ही जीवन-यापन का कोई स्थिर पथ मिलता है। यूरोप के बुद्धिजीवी भी इस बात से अवगत हैं और वे कहते हैं कि हृदय और मन से मत के दुराग्रह का वर्जन कर, अपने तुच्छ अहं को नीरव बना विराट् सत्य को देखना चाहिये। जगत् दुःखपूर्ण है कह चंचल होने से कोई लाभ नहीं। स्थिर चित्त से देखो कि घपला कहां है। रोग के मूल कारण का निदान कर दवा और पथ्य देना विधेय है। एक और अप्रिय बात कहने के लिये मैं बाध्य हूं। राष्ट्र या व्यक्ति यदि दुनिया में हजारों आघातों के बीच टिका रहना चाहता हो तो उसे धीरता के साथ अडिग, अटल रहना होगा। विपद् में निराशाभरा हाहाकार और रोना-धोना दुर्बलता और अक्षमता का लक्षण है। इससे तो हजार गुणा अच्छा है विपदा को "मूक और बधिर की तरह" शान्त रह सहना। आत्मरक्षा, सहनशीलता या तितिक्षा, स्थिरता और क्षमता से स्वराज्य, आत्मशक्ति से साम्राज्य—ये हैं आत्मोन्नति के चार सोपान, विश्वरूप विद्यालय के चार सबक। लेखक ने भगवान् को "महाकापुरुष" कहा है, पर भगवान् का जगत् है वीरों की दिग्विजय का रणक्षेत्र। देखो जीवन की आकृति, गति, स्थिति : जड़ से लेकर आत्मतत्त्व तक यही है इसकी पहली और अंतिम शिक्षा। वे यदि सचमुच लक्ष्य और पथ को सुनिश्चित कर principle (सिद्धांत) को सामने रख चलना चाहें—बुद्धि के खाम-ख्याली के वश नहीं, प्राण की तरंग और अधीर उच्छ्वास नहीं—तो पहले स्थिर चित्त से देखें, फिर जिस सत्य से साक्षात्कार हो उसका पूरी श्रद्धा के साथ अनुसरण करने पर फल मिलेगा। बुद्धि के पथ हैं अनंत, बुद्धिमान् एक पथ निश्चित कर लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं, इधर-उधर भटकने से अस्थिरता ही आती है, कहीं पहुंचा नहीं जा सकता। यही है बुद्धि का नियम।

'प्रवर्तक' का निर्दिष्ट मार्ग अलग है । वह सिर्फ बुद्धि का नहीं, आत्मा और समग्र सत्ता का भी है। हम ठहरे पूर्णयोग के साधक, भगवान् को पूर्ण रूप से प्राप्त कर

जगत् में खड़े होना चाहते हैं। इस साधना में नाना विरोधों में सामंजस्य प्राप्त करना, नाना जटिल समस्याओं और परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। तथापि हमारा भी एक सिद्धांत है, उसका दृढ़ता से पालन करते हैं। वह क्या है बाद में व्याख्या करने का प्रयास करूंगा। पत्र-लेखक प्रवर्तक में विरोधी उक्तियां देखकर हमें कोसते हैं, विरोधों में सामंजस्य नहीं देखते क्योंकि वे केवल बहिर्मुखी तार्किक बुद्धि के भरोसे ही समझना चाहते हैं, पर हम देखते हैं आत्मज्ञान और साधना की दृष्टि से, उसीके इंगित पर चलते हैं। आत्म-विरोध का एक दृष्टांत देते हैं कि हमने एक जगह कहा है, "जो जहां हो, बैठ जायें"। और कहीं कहा है कि "भगवान् जिधर हांक ले जाते हैं, उधर ही जाओ।" योगपथ में बैठ जाना जितना सत्य है उतना ही सत्य है दौड़ पड़ना। यह है साधना की बात। साधना की अनेक अवस्थाएं होती हैं। पहला वाक्य है एक साधारण नियम, दूसरा वाक्य विशेष अवस्था में लागू होता है। साधक की प्रथम अवस्था में भगवान् चलाते जरूर हैं पर हम दौड़ लगाते हैं अहंकारवश, राजसिक उत्तेजना के वश प्रेरणा को विकृत कर। तब होता है बैठने का आदेश, निश्चेष्टता की साधना अनिवार्य हो उठती है। सदा ही यदि उसी अशुद्ध मन की विकृत प्रेरणा से चलते रहे तो किसी गहरी खाई में गिर हड्डी टूटने के सिवा और कुछ हाथ नहीं आयेगा। भगवान् जब चलाते हैं चलो, जब बैठाते हैं बैठ जाओ, इसमें ऐसा क्या असंगत है ? जब सिद्धि की स्थिति आयेगी तब इस विकृति के जंजाल से छुटकारा मिल जायेगा। तब न हो लगातार बिना रुके दौड़ता जाऊंगा; वह भी निर्भर है भगवान् की इच्छा-शक्ति, आदेश और प्रेरणा पर। और तब भी सभी चेष्टाओं के पीछे रहेगी एक महती निश्चेष्टता। आत्मतत्त्व की कथा और योग की बात में केवल तार्किक बुद्धि से काम नहीं चलता। तार्किक बुद्धि के हिसाब से उपनिषद् के भगवान् को एक साथ ही निर्गुण और गुणी कहना है असंगत, दोष से दूषित वर्णन, जैसे एक फूल एक साथ ही सुगन्धित और गंधहीन नहीं हो सकता। किंतु यह भगवान् पर लागू नहीं होता। वे हैं गुण में निर्गुण, चेष्टा में निश्चेष्ट, जैसे जमी बरफ से ढका तरल जल। बुद्धिमान् के mechanical (मशीनी) नियम से किये काम में और साधक के असंगठित पर जीवन्त कर्म में भी वही भेद है . . .

इस पत्र में कुछ एक गौण बातों की चर्चा कर लूं, असल बात पर बाद में।

*

प्रथम पत्र आम लोगों के लिये नहीं लिखा था, लिखा था तुम्हारे पत्र के दो-एक प्रश्नों के उत्तर में। हमारे काम की राह में अति आवश्यक जानकर लिखा था कि बंगालियों में कहां है दोष-त्रुटि, कार्य की सिद्धि में कहां है अड़चनों की संभावना, अपने मन के विचार व्यक्त किये थे पत्र में। ये बातें लिखने की जरूरत नहीं थी कि किस दिशा में हैं बंगालियों की आशाएं, कहां है उनका बल, क्षमता, कार्य-सिद्धि के

साधन, किसमें निहित है उनकी शक्ति। हमारी उदात्त आशाओं की भित्ति, हमारे कर्म की प्रेरणा में प्रधान सहायक क्या है वह सर्वविदित है। बंगालियों के जागरण, महत्त्व, सीमाहीन potentiality (सामर्थ्य), उज्ज्वल भविष्य के बारे में हम जो ऊंची धारणा और ऊंची आशा का पोषण करने का साहस करते हैं, बंगाल के भविष्य का जो उज्ज्वल चित्र मन के पट पर अंकित है वह इतना ऊंचा, इतना उज्ज्वल है कि वह बहुत ही कम लोगों की कल्पना में आ सकता है, वह आशा देश-अभिमानी का मिथ्या स्वप्न नहीं, वास्तव को बीज रूप में देख भावी बृहत् वृक्ष की आकृति का निरूपण है, actual (वास्तव) को पहचान संभाव्यता को पहचानना इसी कारण से...

*

जाति के दोष और अभाव के बारे में जो theory (अभिमत) है वह है तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर का एक पहलू-मात्र। छाया की तरफ देखकर यह मत समझना कि यही है विषयसंबंधी अंतिम उक्ति। हमेशा सत्य के दो पहलू होते हैं, छाया का पक्ष दिखा दिया, प्रकाश का पक्ष दिखाना होगा असली काम, उसी पर ज्यादा जोर देना बेहतर होगा। शुद्धि के हेतु भीतर के दोष-त्रुटि, अभाव को दूर करने के लिये negative (नकारात्मक) को दिखाना जरूरी होता है; सकारात्मक है सिद्धि का बीज, आत्मा का मूल capital (पूंजी), भावी उन्नति का मुख्य साधन।...

*

फिर से जब मायावाद की बात उठी है तो उसके बारे में कुछ स्पष्टतः आलोचना करने की जरूरत महसूस करता हूं। सत्य क्या है, असत्य क्या है, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि दुरूह दार्शनिक तर्क छोड़ दे रहा हूं। असल बात है सहज[१] उद्देश्य के बारे में, practical spiritual result, आध्यात्मिक चरम-सिद्धि—जगज्जीवन के साथ उसके संबंध और परिणाम। हमारे विचार के क्या सिद्धांत मनोनीत हैं, क्या सोचते हैं, चिंतन की प्रणाली और लक्षण क्या हैं, यह है गौण, क्या बनते हैं यही है मुख्य बात। आध्यात्मिक चिंतन अध्यात्म-सिद्धि में सहायक है अतः है आदरणीय। चिंतन महान् है क्योंकि वह बनने का उपाय है, शक्ति का एक प्रधान यंत्र।

'प्रवर्तक' में मायावाद के विरोध में पहले भी बहुत बार लिखा जा चुका है, अबतक गौण भाव से ही लिखा गया है। मायावाद-प्रसूत कुछ साधारण भ्रांतियां हमारे गंतव्य पथ में अंतराय बनकर खड़ी हो गयी हैं, उनके अपसारण के लिये दो-चार मोटी-मोटी

---

[१] अनिश्चित पाठ 'परम्' भी हो सकता है।

बातें। आजकल एक प्रधान संन्यासी प्रचारक ने इस आक्रमण से क्षुब्ध होकर उसी दार्शनिक शुष्कवाद के आधुनिक एक सरस[१] प्रकाशित किया है। इस मौके पर जरा विस्तार से असल बात कह देनी ठीक होगी। शुरू में ही यह बात स्वाभाविक रूप से क्यों उठती है इसकी कैफियत देनी जरूरी है। मायावाद पर हमारी इतनी वितृष्णा क्यों ? वाद-विवाद की आवश्यकता ही क्यों ? भगवान् के पास जाने के लिये प्रत्येक का अपने-अपने मनोनीत पथ पर चलना ही तो काफी है। भगवान् हैं अनंत, उनके पास जाने के पथ भी हैं अनंत। निश्चय ही यह नियम लागू होता है सिर्फ व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना के बारे में, पर यह विषय व्यक्तिगत साधना को लेकर नहीं है, बात है समष्टि की, भारत के जीवन की, जगत् के जीवन की। मायावाद केवल साधना में एक मार्ग नहीं है, उसके हाथ जगत् को ग्रसने के लिये प्रसारित हैं। उसके प्रभाव की छाया सारे जीवन पर छा गयी है। उसकी छाया तले भारत का जीवन सूखकर अधमरा हो गया है। उसे पुनः पुनरुज्जीवित, बलवान्, परिपुष्ट सर्वांग सुन्दर बनाने की आवश्यकता है। मायावाद के एकछत्र आधिपत्य को उखाड़ फेंकना होगा।

*

स्वामी सर्वानन्द की सभी उक्तियों का उत्तर देना कोई जरूरी नहीं; मुझे नहीं लगता है कि ऐसे वाद-विवाद से कोई भला होता है। यदि कुछ भला हुआ भी तो वह बुद्धि के घेरे में बद्ध रहता है। हो सकता है कि ऐसे तर्कों से, दार्शनिक युक्ति-तर्क और वाद-विवाद से बुद्धि के सूक्ष्म चिंतन की क्षमता में वृद्धि हो पर आत्मा की स्फूर्ति में न सरसता आती है न पूर्णता वरन् वह क्षरित ही होती है, सूख जाती है। जो वास्तविक है, जो प्रत्यक्ष है उसपर आधारित है आत्मा की अनुभूति का जीवंत विस्तार और प्रगति। तथापि, जब बात उठी है, इन सभी तर्कों से कच्ची बुद्धिवाला कोई विचलित हो सकता है, अतः इस बारे में हमें जो कहना है वह कहकर अंत करना ही श्रेयस्कर होगा।

हमारा विश्वास है कि बुद्धि-प्रसुत दर्शन द्वारा न तो भगवान् का दर्शन मिलता है न आत्मा से साक्षात्कार होता है। संदेह नहीं कि दर्शन की आवश्यकता है, परंतु वही दर्शन कल्याणकारी होता है जो प्रकृत दर्शन है, दृष्टि, अनुभूति और intuition (सहज-बोध) पर प्रतिष्ठित होता है। तर्क कर जिस सिद्धांत को हम मनोनीत करते हैं उसे ही स्थापित कर एकांगी सत्य का प्रतिपादन करना—यही है बुद्धि-प्रसूत दर्शन का नियम . . .

*

---

[१] पाण्डुलिपि में 'सरस' शब्द के बाद काफी जगह रिक्त छोड़ दी गयी है, उसके बाद की पंक्ति 'प्रकाशित किया है' से आरंभ होती है।

मायावाद का आधिपत्य, मायावाद ही है भारत-आत्मा का एकमात्र सच्चा ज्ञान, अन्य सर्वविध दर्शन और आध्यात्मिक अनुभूतियां हैं अर्ध सत्य या भ्रांतियां, यह धारणा जो शंकर के समय से आज तक हमारी बुद्धि (मानस) को आक्रांत और अभिभूत किये हुए है, 'प्रवर्तक' में इसके विपक्ष में बहुत बार लिखा जा चुका है। कुछ दिन पहले ही 'प्रवर्तक' में इसी आशय का एक छोटा-सा लेख छपा था। यह ठीक है कि वह लेख अवश्य ही गभीर सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व की गहराई नहीं नापता, केवल प्रश्न के एक पहलू को लेकर ही लिखा गया था। उसीके विरोध में स्वामी सर्वानन्द ने 'उद्बोधन' के आषाढ़ के अंक में मायावाद का समर्थन करते हुए एक लंबा लेख लिखा है। दार्शनिक वाद-विवाद में पड़ हम समय खोना नहीं चाहते। एक तो 'प्रवर्तक' का आकार छोटा है, दूसरे दार्शनिक वाग-वितण्डा का कोई अंत नहीं। सम्यक् रूप से यदि हमें इस युक्ति, उस युक्ति का निरसन, खण्डन, समर्थन प्रतिष्ठित करना हो तो अपने असली उद्देश्य को प्रतिपादित करने का अवसर मिलना कठिन होगा। मायावाद के बारे में भी दो-चार बातें कहकर हम संतुष्ट थे, वह भी सिर्फ इसलिये कहना पड़ा क्योंकि आधुनिक भारत के मन पर उस दार्शनिक मत की छाप, मायावाद का एकछत्र राज पूर्णयोग का प्रधान अंतराय बनकर खड़ा है, अतः कुछ कहे बिना गुजारा नहीं। मानव की सारी सत्ता को जागृत कर, आध्यात्म ज्ञान से आलोकित कर, आत्म-अनुभूतियों से परिपूर्ण कर भगवत्-चिंतन द्वारा ज्योतित कर मानव की सारी वृत्तियों को भगवान् के सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य, साधर्म्य में, भगवद्-भावना में प्रतिष्ठित कर राष्ट्र और धरती के मानवी जीवन को प्रकृत उन्नति, संपूर्णता और संसिद्धि की ओर प्रेरित करना ही है हमारा लक्ष्य। यदि अकेला मायावाद ही एकमात्र सत्य है तो यह प्रयास है केवल पशुश्रम। एक ही मार्ग रह जाता है—कोपीन या गेरूआ धारण कर अरण्य में, पर्वत-गुहाओं में या मठों में बैठकर लय और मोक्ष के लिये घोर परिश्रम करना। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि मठ की स्थापना भी है अज्ञानता और माया का इन्द्रजाल। यदि यही एकमात्र सत्य धर्म है तो हम असमर्थ हैं। जबतक सामर्थ्य नहीं आ जाती तबतक माया के बीच ही रहते हुए सारे दुःख-क्लेश, देश के दारिद्र्य और अवनति को सिर-आंखों पर बिठाकर किसी तरह बचे रहना और सब कुछ ही माया है, जगत् मिथ्या है, चेष्टा भी मिथ्या है यही . . . बड़बड़ाते-बड़बड़ाते उसी एकमात्र सत्य-ज्ञान को . . . मन में जाग्रत् करना बुद्धिमानों का श्रेष्ठ पथ है।

साधनाविषयक पत्र*

'न' को

यह सच नहीं है कि विरोधी शक्ति तुम्हारे भीतर ही है—विरोधी शक्ति बाहर है। आक्रमण करके भीतर प्रवेश करने की चेष्टा करती है—इस तरह के भय और उद्वेग को प्रश्रय न दो।

६.२.३४

*

न: दो-तीन दिन से देख रही हूं कि आश्रम में और आश्रम के वातावरण में एक खराब शक्ति और एक अच्छी शक्ति घूम रही हैं। मेरी अनुभूति में कुछ सच्चाई है क्या?

उ०: जैसे बहिर्जगत् में वैसे ही आश्रम में भी ये दोनों शक्तियां आरंभ से ही विद्यमान हैं। अशुद्ध शक्ति को विजित कर सिद्धि पानी होगी।

६.२.३४

*

न: मां, सब लोग हर पल तुम्हें अनुभव कर, ध्यान कर शांतभाव से बढ़ रहे हैं। मैं ही क्यों तुम्हें भूलकर द्वंद्व, मिथ्या शक्ति और विरोधी शक्तियों की बाधा से हमेशा आक्रांत हो जाती हूं?

उ०: सब कौन? दो-एक को छोड़कर कोई शांतभाव से नहीं चल रहा, सभी बाधाओं को चीरकर आगे बढ़ रहे हैं।

८.२.३४

*

महेश्वरी का दान, शांति, समता, मुक्ति की विशालता की तुम्हें विशेष जरूरत है। इसीलिये तुम्हारे आवाहन पर वे दिखायी देती हैं।

९.२.३४

*

---

* ये पत्र 'न', 'स' और 'ए' को लिखे गये थे। इनमें से 'न' और 'स' थीं आश्रम की साधिकाएं—श्रीमां को संबोधन कर बंगला में चिट्ठी लिखती थीं। उन सब चिट्ठियों का उत्तर श्रीअरविन्द देते थे। 'ए' थीं दशवर्षीया बालिका, उन्होंने कलकत्ते से श्रीअरविन्द को चिट्ठी लिखना आरंभ किया था।

इससे भयभीत अथवा विचलित न होओ। योगपथ का यह नियम है कि आलोक और अंधकार की अवस्था अतिक्रम कर चलना होता है। अंधकार छा जाने पर भी शांत बनी रहो।

९.२.३४

*

Persevere in the attitude of firmness and courage. इस दृढ़ता और साहस के भाव को हमेशा पकड़े रहो।

९.२.३४

*

(Red Lotus)–The Divine Harmony. (लाल कमल)—भागवत सामंजस्य।

(Blue Light)–The Higher Consciousness. (नील वर्ण)—उच्चतर चेतना।

(Golden Temple)–The Temple of the Divine Truth. दिव्य सत्य का देवालय।

स्थिर धीर बनी रहो, तभी तुम्हारे बाहर भी, बहिर्प्रकृति में, जीवन में धीरे-धीरे यह सब प्रतिफलित होगा।

१२.२.३४

*

बाधाएं सबके सामने आती हैं। आश्रम में ऐसा कोई साधक नहीं जिसे इसका सामना नहीं करना पड़ता। अपने भीतर स्थिर बनी रहो, बाधाओं के होते हुए भी सहायता पाओगी, सत्य चैतन्य सब स्तरों पर प्रस्फुटित होगा।

१२.२.३४

*

शांतभाव से मां की शक्ति को पुकार कर, सब उद्वेगों को छोड़कर हर समय स्थिर रहो।

१३.२.३४

*

तुम्हारा सबसे बड़ा अंतराय है प्रति क्षण बाधा के बारे में ही बात, मैं खराब हूं, मैं

खराब हूं, इत्यादि के बारे में ही चिंता। शांतभाव से मां पर निर्भर रह, स्थिर भाव से साधारण प्रकृति का परिहार कर धीरे-धीरे विजय पाना ही है परिवर्तन लाने का एकमात्र उपाय।

२३.२.३४

*

यह क्या और भी बड़ा अहंकार नहीं है कि तुम्हारे लिये ही इतना काण्ड घटा है ? मैं बहुत अच्छी हूं, खूब शक्तिशाली हूं, मेरे द्वारा ही सब हो रहा है, मेरे बिना मां का काम नहीं चल सकता—यह है एक तरह का अहंकार। मैं खराब से भी खराब हूं, मेरी बाधा के कारण सब बंद हुआ है, भगवान् अपना काम नहीं कर पा रहे—यह है और एक तरह का उल्टा अहंकार।...

२३.२.३४

*

यह है तुम्हारे भीतरी मन और मां के भीतर मन का संबंध—भ्रूमध्य में है उस मन का centre (केंद्र)—यह संबंध जब स्थापित हो जाता है तब उस भीतरी मन में भागवत सत्य के प्रति आकर्षण होता है और वह उठना आरंभ करता है।

२६.२.३४

*

यही है उचित पथ। हर समय अच्छी अवस्था, हर समय भीतर मां का दर्शन श्रेष्ठ साधक को भी नहीं मिलता। वह होता है साधना के परिपक्व होने पर, सिद्धि की अवस्था आने पर। कभी भरा-भरा लगना और कभी रीतापन सबको लगता है। रीतावस्था में भी शांत रहना चाहिये।

२६.२.३४

*

निस्संदेह अनुभव सच्चा है—इसे बनाये रखना होगा तथा बार-बार repeat (दोहराना) करना होगा। और विपरीत अनुभव या बाधा या रीतावस्था आने पर क्षुब्ध न हो, शांतभाव से अच्छे अनुभव की प्रतीक्षा करना उचित है।

२६.२.३४

*

न: कल रात सपने में देखा कि मेरा मन, प्राण और प्रकृति भी तुम्हारे पथ पर

चलने में सहायता कर रही है। यह क्या कभी सच होगा ?

उ० : यदि तुम शांत और स्थिर बनी रहो तो वे आज से ही सहायता कर सकती हैं।

२६.२.३४

*

...तपस्या की अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर कंपन और सिर में एक तरह की असाधारण अवस्था सबकी होती है। स्थिर बने रहने से वह और नहीं टिकती, सब शांत हो जाता है।

२६.२.३४

*

न : कल रात से सिर के ऊपर खूब शांत और गभीर चीज अनुभव कर रही हूं। कभी तो वह विस्तृत होकर पूरे आधार पर फैल जाती है, या कभी हृदय और मन में उतर कुछ देर तक रहती है।

उ० : यह शुभ लक्षण है। यह है असली अनुभूति। यही शांति जब समस्त आधार में व्याप्त हो जाती है और दृढ़, ठोस एवं स्थायी हो जाती है तभी भागवत चेतना की पहली भित्ति स्थापित होती है।

२७.२.३४

*

ऐसा करना सबके लिये कठिन है। शांति सत्य इत्यादि पहले भीतर स्थापित होते हैं, इसके बाद कार्य में लक्षित होते हैं।

२८.२.३४

*

खालीपन से डरो नहीं। खालीपन में ही भागवत शांति उतरती है। मां हमेशा ही तुम्हारे भीतर विराजमान हैं। लेकिन शांति, शक्ति और प्रकाश अपने अंदर स्थापित न होने से उनकी उपस्थिति का अहसास नहीं होता।

२८.२.३४

*

जिसने तुम्हें आवाज लगायी वह तुम्हारी मां नहीं। इन सब अनुभूतियों में पार्थिव मां का मतलब होता है पार्थिव प्रकृति, साधारण बाह्य प्रकृति है प्रतीक-मात्र।

फरवरी १९३४

*

सब बाधाएं तो विरोधी शक्तियों की सृष्टि नहीं हैं—साधारण अशुद्ध प्रकृति की सृष्टि हैं जो सभी के अंदर है।

फरवरी १९३४

*

तपस्या सिर्फ यही है कि स्थिर रहो, मां को पुकारो, खूब शांत दृढ़भाव से अशान्ति का, निराशा का, कामना-वासना का वर्जन करो।

फरवरी १९३४

*

आश्रम में जो बीमारी जिस-तिस को घेर रही है यह उसीका लक्षण है—स्थिर रहने से यह मात्र छूकर चली जायेगी।

फरवरी १९३४

*

न : कभी-कभी मेरे भीतर एक ऐसी शक्ति और तेज आता है तब लगता है कि कोई मिथ्यात्व की शक्ति मुझे छू नहीं सकती।

उ० : हां, ऐसी शक्ति आधार में हमेशा बनी रहे तो साधना बहुत-कुछ आसान हो जाती है—यदि इसमें अहंकार न आ मिले।

फरवरी १९३४

*

बाधाएं सब के सामने आती हैं—जो काम नहीं करते उनके सामने भी विशेष प्रबलता से बाधाएं आती हैं।

१.३.३४

*

न : ध्यान करते समय पहले की तरह गहराई में और समाधि में क्यों नहीं जा पाती मां ?

उ० : क्यों होता है बता चुका हूं। योगशक्ति का जोर अभी प्रकृति के रूपांतर पर, शांति और ऊर्ध्व चेतना के अवतरण और प्रतिष्ठा पर ज्यादा है, गभीर ध्यान की अनुभूति पर उतना नहीं—जैसा पहले होता था।

१.३.३४

*

न: आज देखा कि मूलाधार का मां की चेतना के साथ एक स्वर्ण-डोर से संबंध जुड़ा है।

उ०: इसका अर्थ हुआ कि मां की चेतना के साथ तुम्हारी physical (भौतिक) चेतना का एक संबंध जुड़ा है। स्वर्ण-डोर उसी संबंध का प्रतीक है।

२.३.३४

*

न: . . . मेरे अंदर मन-मरा अलसाया-सा भाव आया है। और दो दिन से देख रही हूं कि मन, प्राण की चेतना मुझे छोड़ बाहर की चीजों के साथ और चेतना के साथ लिप्त हो चक्कर काट रही है। तुम्हें खोकर शून्य निर्जनता के बीच में पड़ी हूं जैसे।

उ०: यदि ऐसा ही है तो इसका अर्थ है कि तुम्हारे भीतर की सत्ता बहुत-कुछ स्वतंत्र और मुक्त हो गयी है। बाहरी सत्ता ही बाहरी चीजों से युक्त होती है। इस बाहरी सत्ता को भी आलोकित और मुक्त करना जरूरी है।

३.३.३४

*

सफेद गुलाब का अर्थ है मां के प्रति प्रेममय आत्मसमर्पण। उसका फल होगा सत्य के आलोक का आधार में विस्तार। सफेद कमल = तुम्हारे मानसिक स्तर पर मां की प्रस्फुटित चेतना। नारंगी रंग का आलोक (Red Gold) = देह में अतिमानस का प्रकाश (supramental in physical)।

५.३.३४

*

सत्य तक सीधा पहुंचने का रास्ता है आधार खोलना। आधार में उस अवस्था में जो समर्पण किया जाता है वह सहज-सरल भाव से मां के पास जाकर ऊपर सत्य के साथ मिल जाता है, सत्यमय हो जाता है।

५.३.३४

*

न: मां, मैंने देखा कि overmind (अधिमन) के ऊपर एक infinite (अनन्त) जगत् है। उस जगत् में देखा कि तुम्हारे जैसी अनेक बालिकाएं खेल रही हैं। कुछ देर बाद देखती हूं कि उनमें से दो बालिकाएं मुझे बुलातीं-बुलातीं मेरी ओर उतर आयीं। मां, ये बालिकाएं कौन हैं?

उ० : सत्य का जगत् था यह, उस जगत् से दो शक्तियां उतरी थीं बुलाने—सत्य की ओर ले जाने के लिये।

५.३.३४

*

न : ऊपर से एक बड़े चक्र की तरह मेरे मस्तक में कुछ उतरा है। . . . और उसका यह प्रभाव देखती हूं कि सब स्तरों पर थोड़ा-थोड़ा फैल रहा है।

उ० : यह है मां की शक्ति की एक क्रिया। जो ऊर्ध्व चेतना से मानसिक स्तर पर उतर सारे आधार में कार्य करने के लिये फैल रहा है।

७.३.३४

*

न : आत्मा के गभीर प्रदेश में एक गभीरतम जगत् है। इस जगत् में ऊर्ध्व की ओर जाता एक सीधा रास्ता-सा देखा।

उ० : अर्थ—वहां परम सत्य के साथ एक संबंध स्थापित हो गया है।

७.३.३४

*

न : नाभि के ऊपर से एक चमकीले सांप को रेंगते, बलखाते ऊपर की ओर चढ़ते देखा।

उ० : इसका अर्थ है देह और प्राण की शक्ति ऊर्ध्व सत्य के साथ मिलने के लिये उठ रही है।

७.३.३४

*

न : मां, जितना ही तुम्हारी शक्ति का शांत दवाब पड़ता है उतना ही, देखती हूं, सिर में दर्द होता है।

उ० : भौतिक मन खुल जाने पर उस तरह का सिरदर्द नहीं होगा।

७.३.३४

*

न : मां, अंतर में जो सब सुन्दर अनुभूतियां होती हैं उससे लगता है कि अब से मैं इसी तरह के सुन्दर भाव में रहूंगी। किंतु बाहरी और चेतना में आते ही सब क्यों विला जाता है ? तुम्हें दुबारा याद करने से और दृष्टि अंतर की तरफ डालने से वे अनुभूतियां लौट आती हैं।

उ०: ऐसा ही होता है। यदि याद करने पर सुन्दर अवस्था को दुबारा देख या अनुभव कर सकती हो तो यह उन्नति का लक्षण है। ऐसा लगता है कि बहिर्प्रकृति के विपरीत भाव का वेग कम होता जाता रहा है।

९.३.३४

*

न: कोई छोटी-छोटी बालिकाओं की तरह करुण मधुर स्वर में केवल तुम्हें बुला रही हैं, "मां, हम तुम्हें चाहते हैं, हमें अपना बना लो।" मैं उन्हें देख नहीं पा रही। इनमें कुछ सच्चाई है क्या ? ये कौन हैं ?

उ०: हां, यह सच है। या तो ये बालिकाएं नाना स्तरों पर तुम स्वयं हो या तुम्हारी चेतना की कुछ-एक शक्तियां (energies)।

९.३.३४

*

ज्ञान कई तरह का होता है—जैसी चेतना वैसा ही ज्ञान। ऊर्ध्व चेतना का ज्ञान सच्चा और परिष्कृत होता है—निम्न चेतना के ज्ञान में सत्य और मिथ्या मिले रहते हैं, अपरिष्कृत रहते हैं। बौद्धिक ज्ञान एक तरह का होता है, supramental (अतिमानसिक) चेतना का ज्ञान और एक तरह का, बुद्धि से परे। शांत ज्ञान है ऊर्ध्व चेतना का।

१२.३.३४

*

न: तुम्हें अपने अंदर अनुभव करने पर मानों मैं अपने अस्तित्व को भूल जाती हूं। मेरी चेतना, इच्छा, अनुभूति और सारी सत्ता मानों यंत्रवत् चलती है। कुछ समय बाद वह खो देती हूं।

उ०: ऐसी अनुभूतियां भी ऊर्ध्व चेतना की हैं। वह चेतना जब मन, प्राण और तन में उतरती हैं तब जाग्रतावस्था में ऐसा होता है।

१२.३.३४

*

न: मैंने एक छोटे-से सुन्दर पौधे को देखा। उसके पत्ते चांदनी जैसे धवल और उज्ज्वल थे। पौधा क्रमशः बड़ा और उज्ज्वल होता गया और अपने-आपको भगवान् की तरफ खोलने लगा। और देखा कि एक शांत स्वच्छ समुद्र तुम्हारी ओर बह रहा है, मैं जो समर्पण करती हूं वह इस समुद्र के साथ एक हो जाता है।

उ० : पौधा तुम्हारे भीतर आध्यात्मिकता की वृद्धि का प्रतीक है। समुद्र हुआ तुम्हारा vital (प्राण)।

१२.३.३४

*

न : अतिमानस का प्रकाश (supramental light) क्या नारंगी रंग का होता है ?

उ० : हां, आदि supramental light (अतिमानसिक प्रकाश) ऐसा नहीं होता, पर जब वह प्रकाश physical (भौतिक स्तर) पर उतरता है तब इसी रंग का हो जाता है।

१२.३.३४

*

यह बहुत अच्छा है। सत्य और मिथ्या का इस प्रकार अलग-अलग हो जाना psychic (चैत्य पुरुष) के जाग्रत् भाव का लक्षण है। Psychic discrimination (चैत्य पुरुष के विवेक) द्वारा ऐसी छंटाई होती है।

१४.३.३४

*

साधक-साधिकाओं की बात के बारे में बहुत सोचना नहीं—उससे मन सहज ही साधारण बाह्य चेतना में उलझ जाता है—यह सब मां को समर्पण कर, मां के ऊपर निर्भर रह भीतर निवास करना चाहिये।

१६.३.३४

*

न : मानों एक छोटी बालिका मेरे साथ-साथ घूम-फिर रही है। जब वह बाह्य सत्ता पर प्रभाव डालती है तो मानों बाह्य सत्ता का कोई भाग तुम्हें पाने को aspire (लालायित होता) करता है।

उ० : लगता है वह बालिका तुम्हारा अपना psychic being (चैत्य पुरुष) है—मां का अंश।

१७.३.३४

*

यह सब विलाप और आत्म-ग्लानि की बात लिखने से विशेष कुछ उपकार नहीं

होगा। शांतभाव से मां के ऊपर निर्भर रह चलना होता है। यदि बाधा आती है तो शांतभाव से साधना करते हुए, मां को पुकारते हुए, मां की शक्ति द्वारा उसे अतिक्रम करना होता है। यदि अपने अंदर प्रकृति की कोई त्रुटि या wrong movement (गलत प्रक्रिया) देखो तब भी विचलित, चंचल और दुःखी होने से कोई लाभ नहीं—साधना आगे बढ़ने से यह सब दूर हो जायेगा ऐसा शांत विश्वास रखकर अपने को ऊपर की ओर खोलना चाहिये। योगसिद्धि या रूपांतर एक दिन में या कुछ दिनों में साधित नहीं होता। धीर और शांत रह पथ पर बढ़ना होता है।

१७.३.३४

*

न: बीच-बीच में अपने भीतर देखती हूं कि गभीर स्तर से बहुत सुन्दर, आलोकमय, पवित्र, शांत कोई फूल जैसी चीज तुम्हें पुकारती हुई ऊपर उठती है। कुछ ऊपर उठने के बाद देखती हूं कि ऊपर से आपकी कई सारी चीजें नीचे उतर उसके साथ मिल जाती है।

उ॰ : जो ऊपर उठती है वह है तुम्हारी psychic (चैत्य) चेतना—जो ऊर्ध्व चेतना के स्तर पर उठती है। वह उस स्तर की शक्ति, प्रकाश, शांति आदि के साथ मिलकर उन्हें आधार में नीचे ले आती है।

२०.३.३४

*

फूल बनने का अर्थ है तुम्हारा psychic surrender (चैत्य समर्पण) हो रहा है।

२०.३.३४

*

न: मां, अब देख रही हूं कि सिर के चारों ओर एक शांत, शक्तिशाली और प्रकाशमय कुछ घूम रहा है और तन, मन, प्राण से कुछ शुष्क और बासी फूल जैसा झर रहा है।

उ॰ : यह है ऊर्ध्व चेतना का अवतरण और आधार पर उसका प्रभाव।

२०.३.३४

*

समय के मांग के अनुसार साधना होती है। पहले थी आंतरिक साधना, सहज ध्यान

की अवस्था—अब मांग है भीतर-बाहर को एक करने की—देह चेतना तक को भी।

२१.३.३४

*

न: आपने लिखा था " . . . कि काम के समय खूब गभीर अवस्था में न जाना ही बेहतर है।" मां, गभीर अवस्था में जाना क्या बुरा है ? मेरी जब ऐसी अवस्था होती है तब देखती हूं कि मेरा बाहरी भाग जो करना होता है कर रहा होता है . . .।

उ०: वही ठीक है। 'गभीर' में जाने का मेरा मतलब था गभीर ध्यान में मग्न होना। कोई यदि अचानक ध्यानभंग कर दे तो उसका परिणाम अच्छा न भी हो।

२१.३.३४

*

ये सब अनुभूतियां होनी बहुत अच्छी हैं। पहले-पहल ये अनुभूतियां केवल आती-जाती हैं, फिर आती हैं, टिकती नहीं लेकिन धीरे-धीरे जोर पकड़ती हैं, आधार भी अभ्यस्त होता जाता है। बाद में ज्यादा स्थायी होती हैं।

२२.३.३४

*

बड़ा राज्य true physical (spiritual physical) सच्चा भौतिक (आध्यात्मिक भौतिक) हो सकता है और बालक-बालिका उस राज्य के पुरुष-प्रकृति शायद।

२३.३.३४

*

और सब ठीक है किंतु psychic (चैत्य) सत्ता तन-मन-प्राण के पीछे रहती है और तीनों का स्पर्श करती है। मन के उस पार है अध्यात्म सत्ता और ऊर्ध्व चेतना।

२३.३.३४

*

जो तुमने देखा है वह ठीक ही है—फिर भी जिसे तुम खराब शक्ति कहते हो वह है सिर्फ साधारण प्रकृति। वह प्रकृति ही मनुष्य से प्रायः सब कुछ कराती है—साधना द्वारा उसके प्रभाव को अतिक्रम करना होता है—हां, आसानी से यह नहीं होता—दृढ़ स्थिर प्रयास से अंततः संपूर्ण रूप से हो जाता है।

२६.३.३४

*

न: मां, प्राण के नीचे एक समतल भूमि देखी। वहां देखी एक गाय। और मन के नीचे भी समतल भूमि देखी। उसपर देखा एक मयूर।

उ०: समतल भूमि का अर्थ है मन और प्राण में चेतना की दृढ़ प्रतिष्ठा—मयूर है सत्य की शक्ति की विजय का लक्षण। गाय है सत्य के प्रकाश का प्रतीक।

२८.३.३४

*

साधारण मन के तीन स्तर हैं। चिंतन का स्तर अथवा बुद्धि, इच्छाशक्ति का स्तर (बुद्धिप्रेरित will) और बहिर्मुखी बुद्धि। ऊर्ध्व मन के भी तीन स्तर हैं—Higher Mind, Illumined Mind, Intuition (ऊर्ध्वतर मन, प्रकाशित मन, अंतःप्रेरणा)। जब मस्तक में देखा है तो उसी साधारण मन के तीन स्तर होंगे—ऊपर की तरफ प्रकाश का अर्थ है प्रत्येक के अंदर एक विशेष भागवती शक्ति काम करने उतरी है।

३०.३.३४

*

प्राण की ऊर्ध्वगामी अवस्था है भगवान् की ओर, सत्य की ओर उठना। सत्य का (सुनहली) और Higher Mind (उच्चतर मन) का (नील वर्णा) प्रभाव मूर्त हो ऊपर उठ, नीचे उतर घूम रहा है उस ऊर्ध्वगामी प्राणचेतना में।

३०.३.३४

*

जो चक्र तुमने देखा है वह प्राणिक psychic (चैत्य) हो सकता है—समुद्र है vital consciousness (प्राणिक चेतना), अग्निकुंड है प्राण की aspiration (अभीप्सा), ईगल पक्षी (चील) है प्राण की ऊर्ध्वगामी प्रेरणा—मन्दिर है psychic (चैत्य) से प्रभावित प्राण प्रकृति का मन्दिर।

३०.३.३४

*

जब साधक शुद्ध चेतना में निवास करने लग जाता है तब भी अन्य भाग रह जाते हैं, फिर भी शुद्ध चेतना का प्रभाव बढ़ते-बढ़ते धीरे-धीरे उन्हें निस्तेज कर देता है।

२.४.३४

*

Higher Mind (उच्चतर मन) में निवास करना उतना कठिन नहीं है—जब चेतना मस्तक से जरा ऊपर उठती है तब उसका आरंभ होता है—किंतु Overmind (अधिमन) तक उठने में काफी समय लगता है, खूब बड़ा साधक न बन जाने तक नहीं होता। इन सब स्तरों पर वास करने से मन के बन्धन टूट जाते हैं, चेतना विशाल हो जाती है, क्षुद्र अहंकार कम हो जाता है, सब एक हैं, सभी भगवान् में हैं, इत्यादि भागवत और अध्यात्म ज्ञान की उपलब्धि सहज हो जाती है।

२.४.३४

*

शिशु है तुम्हारा psychic being (चैत्य पुरुष) जो तुम्हारे भीतर के सत्य को बाहर ले आ रहा है—रास्ता है Higher Mind (ऊर्ध्व मन) का रास्ता जो सत्य की ओर जा रहा है।

६.४.३४

*

यह सच नहीं है—बहुतों को कुण्डलिनी-जागरण की अनुभूति नहीं होती, कुछ को होती है—इस जागरण का उद्देश्य होता है सब स्तरों को खोल देना और ऊर्ध्व चेतना के साथ जोड़ देना—लेकिन यह उद्देश्य अन्य उपायों से भी पूरा किया जा सकता है।

६.४.३४

*

बड़ा स्तर अध्यात्म चेतना होगी, उसके बीच सत्य का मन्दिर, तुम्हारे vital (प्राण) के साथ इस स्तर का संबंध स्थापित हुआ है, मानों इस सेतु पर से ऊर्ध्व की शक्ति vital (प्राण) में चढ़ना-उतरना कर रही है।

६.४.३४

*

मां की ही एक emanation अर्थात् उनकी सत्ता और चेतना का अंश, प्रतिकृति और प्रतिनिधि बनकर प्रत्येक साधक के पास उसकी सहायता करने के लिये बाहर आती हैं या उसके साथ रहती हैं—असल में तो मां ही स्वयं वह रूप धर कर आती हैं।

९.४.३४

*

न: देख रही हूं कि तुम्हारे जगत् से दो बालिकाएं मेरी प्रिय सखियों की तरह

बार-बार नीचे आती हैं। एक का रूप है नीलवर्णी आलोक की तरह और दूसरी का है सूर्यालोक के समान। एक का परिधान नीला, दूसरी का पीला।

उ० : ऊर्ध्व मन की शक्ति (नील) और उसके ऊपर जो मन अथवा Intuition (अंतःप्रेरणा) है, संभवतः ये इन्हीं दो की शक्तियां हैं।

९.४.३४

*

वेदयज्ञ में पांच प्रकार की अग्नियां होती हैं, पांच नहीं होने से यज्ञ पूर्ण नहीं होता। हम कह सकते हैं कि psychic (चैत्य), मन, प्राण, तन और अवचेतना में अग्नि, ये पांचों अग्नि आवश्यक हैं।

९.४.३४

*

नील—Higher Mind (उच्चतर मन),
सूर्यालोक—Light of Divine Truth, (दिव्य सत्य का प्रकाश),
उज्ज्वल लाल—या तो Divine Love (दिव्य प्रेम) नहीं तो ऊर्ध्व चेतना की Force (शक्ति)।

११.४.३४

*

न : मेरी हर समय नीरव गंभीर एकांत में रहने की इच्छा होती है। बहिर्मुखी होकर और हल्की-फुल्की गपशप में चंचल हो जाती हूं।

उ० : Inner being (आंतरिक सत्ता) में जो हो रहा है उसी के फलस्वरूप अंदर से नीरवता की ओर खिंचाव है।

११.४.३४

*

ये सब हैं symbols (प्रतीक) जैसे कमल चेतना का प्रतीक है, सूर्य ज्ञान का या सत्य का, चन्द्र आध्यात्मिक ज्योति का, तारे सृष्टि का, अग्नि तपस्या या aspiration (अभीप्सा) का, सुनहला गुलाब सत्य चेतनामय प्रेम और समर्पण का।

सफेद कमल—मां की चेतना (divine consciousness)।

गाय है चेतना और प्रकाश का प्रतीक। सफेद गाय का अर्थ है ऊपर की शुद्ध चेतना।

११.४.३४

*

तुमने कहा था कि तुमने ध्यान में कुछ लिखा हुआ देखा—उसके उत्तर में मैंने कहा था कि जैसे ध्यान में नाना दृश्य दिखायी देते हैं, उसी तरह ध्यान में कई तरह की लिखावट भी दिखाई देती है। इन सब लेखों को हम लिपि या आकाशलिपि कहते हैं। इन लेखों को बंद आखों से भी देख सकते हैं, खुली आंखों से भी।

१३.४.३४

*

न: मैंने देखा गले के नीचे एक पोखर, छाती के नीचे एक पोखर और नाभि के ऊपर एक पोखर। इन तीनों में ही पानी नहीं, सब सूखा है। काफी देर बाद देखा कि बहुत ऊंचाई पर एक पर्वत है। उस पर्वत से होकर पवित्र जल उन पोखरों में गिर रहा है। और मां, देखा कि इस जल में कमल खिलने लगे हैं।

उ० : साधारण मन, हृदय, प्राण ही हैं ये तीन सूखे पोखर—उनके अंदर ऊर्ध्व चैतन्य की धारा प्रवाहित हो रही है—और मन, हृदय, प्राण फूलों की तरह खिल रहे हैं।

१६.४.३४

*

लाल-गुलाबी हैं भागवत प्रेम का प्रकाश, सफेद है भागवत चेतना का।

१६.४.३४

*

न: Outer being (बाह्य सत्ता) को कैसे बदलूं और तुम्हारे श्रीचरणों में समर्पित करूं ? मेरा चिंतन, खाना, पहनना, बोलना, करना, सोना सब मानों तुम्हारा ही हो। मेरा प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मानों तुम्हारी ओर से ही आ रहा है ऐसा अनुभव होता है।

उ० : बाहर की ओर यह पूर्णावस्था बाद में आती है। अभी जाग्रत् चेतना में सत्य की अनुभूति को पनपने दो। उसके परिणामस्वरूप यह सब होगा।

१६.४.३४

*

पेड़ है भीतरी spiritual life (आध्यात्मिक जीवन), उसके ऊपर बैठा है सत्य का विजयस्वरूप स्वर्ण-मयूर, प्रत्येक भाग में चन्द्र है आध्यात्म शक्ति का आलोक।

१८.४.३४

*

('न' को लग रहा है कि इतने दिन उसने गलत ही साधना की। सब कुछ व्यर्थ हो गया, चेतना की कोई प्रगति नहीं हुई।)

उ० : जो हुआ था वह न गलत था न व्यर्थ—जैसे-जैसे चेतना खुलती जाती है दृष्टि और साधना करने का ढंग बदलता जाता है। साधना में जो अहंकार, प्राणिक कामना का मिश्रण था वह झड़ना शुरू कर देता है।

२०.४.३४

*

अनुभूतियां अच्छी हैं—यह अग्नि है psychic fire (चैत्य अग्नि)। —और जिस अवस्था का तुमने वर्णन किया है वह है psychic condition (चैत्य अवस्था) जिसके अंदर अशुद्ध प्रवेश नहीं पा सकता।

२३.४.३४

*

यह चिंता और स्वप्न, लगता है, 'म' के मन से निकल अलक्षित भाव से तुम्हारी अवचेतना में प्रकट हुआ है। दूसरों के विचारों के आक्रमण से अवचेतन मन-प्राण की सदा रक्षा करना कठिन होता है। ये मेरे नहीं हैं ऐसा सोचकर ही अस्वीकार करना होता है।

२६.४.३४

*

न: मैं अब देख रही हूं कि मेरा अंतर अहंकार, आत्मगरिमा, वासना, कामना, मिथ्या कल्पना, हिंसा, विरक्ति, उत्तेजना, अधिकार, आसक्ति, चंचलता, जड़ता, आलस्य आदि अजस्र दोषों से भरा है। मेरा कुछ भी तुम्हारी ओर नहीं खुला है, सिर्फ हृदय ही जरा-सा खुला है और psychic being (चैत्य) तुम्हें चाहता है।

उ० : अवश्य ही इन दोषों को निकाल बाहर करना होगा। किंतु जब हृदय खुल गया है और चैत्य सचेतन हो रहा है तब और सब खुलेगा ही खुलेगा, दोष बाधाएं धीरे-धीरे झड़ जायेंगी।

२६.४.३४

(संभवतः इस रेखांकित अंश की व्याख्या 'न' ने श्रीअरविन्द से मांगी होगी।)

अर्थ : मनुष्य-मात्र में ये सब दुर्बलताएं रहती हैं, (उन्हें अपनी दृष्टि से बिना छिपाये) उनके बारे में सचेतन होना होता है—फिर भी चैत्य जब सचेत हो गया है तो डर की कोई बात नहीं। ये सब दूर हो जायेंगी।

*

साधकों में चैत्य पुरुष जब सचेत होता है तब मनुष्य-स्वभाव की सब दोष-दुर्बलता वह दिखा देता है—निराशा के हेतु से नहीं, समर्पण और रूपांतर करने के लिये।

२७.४.३४

*

न: प्रायः दिन भर अनुभव होता रहा है कि कमल-पुष्प की तरह मेरे अंदर कुछ खुलता जा रहा है, और ऊपर से नील-धवल प्रकाश और शांति उतर रही हैं। जब तुम्हें याद करती हूं तब देखती हूं कि ज्योतिर्मय और चंद्रालोक की तरह कुछ पतला-सा तुम्हारे जगत् की ओर उठ रहा है।

उ०: जो खुल रहा है वह है psychic (चैत्य) और heart (हृदय) की चेतना—ऊपर से आ रही है Higher Mind (ऊर्ध्वतर मन) और भागवत चेतना की ज्योति और शांति। जो चांद की तरह उठ रहा है वह है psychic (चैत्य) से आध्यात्मिक aspiration (अभीप्सा) का स्रोत।

२७.४.३४

*

आक्रमण होने पर रोना-धोना न मचाओ, मां को पुकारो—मां को पुकारने से शक्ति मिलेगी, आक्रमण निरस्त्र हो जायेगा।

४.५.३४

*

कुछ तो वैसा ही है, तब हां, बाधा किसी को आसानी से नहीं छोड़ती, खूब बड़े योगी को भी नहीं। मन की बाधा से पार पाना अपेक्षाकृत आसान होता है किंतु प्राण और शरीर की बाधा उतनी आसानी से नहीं छूटती, समय लगता है।

१८.५.३४

*

सांप है energy (ऊर्जा) का प्रतीक। ऊर्ध्व की एक energy (ऊर्जा) मस्तक के ऊपर higher consciousness (उच्चतर चेतना) में खड़ी है।

३०.५.३४

*

न: मैंने देखा है कि मैं अपनी इस देह में नहीं हूं। एक आनंदित, मुक्त छोटी बालिका की तरह शायद तुम्हारे श्रीचरणों में हूं।

उ० : तुम्हारे inner being (अंतर सत्ता) का रूप है यह।

३०.५.३४

*

निस्संदेह, इस तरह की आलोचना न करना ही श्रेयस्कर है। मनुष्य का स्वभाव है दूसरों के बारे में इस तरह की आलोचना करने का—बहुत-से अच्छे साधक भी इस तरह की आदत छोड़ना नहीं चाहते या छोड़ नहीं सकते। किंतु इससे साधना में क्षति ही होती है, उपकार नहीं।

१.६.३४

*

हां—किंतु अंदर से भोग, वासना इत्यादि का त्याग करना होता है—बाहर से सब कुछ रिक्त करने की जरूरत नहीं—मां जो देती हैं उसे स्वीकार कर निरासक्त हो रहना अच्छा है।

८.६.३४

*

यथासमय सब बाधाएं चली जायेंगी—जैसे-जैसे ऊर्ध्व चेतना तन, मन, प्राण में फैलती जायेगी वैसे-वैसे बाधा का वेग कम होता जायेगा, अंततः अदृश्य हो जायेगा, नाम-निशान नहीं रहेगा।

९.६.३४

*

चेतना बहिर्मुखी हो जाती है, हर समय अंतर्मुखी नहीं रहती, यह कोई बहुत संगीन बात नहीं है—जबतक अंदर का संपूर्ण रूपांतर नहीं हो जाता तबतक सबके साथ ऐसा ही होता है। इस सप्रमाण की अभिज्ञता और अनुभूति मिथ्या हैं।

९.६.३४

*

शांतभाव से बैठ मां को याद करो, उनके प्रति अपने को खोलो—यही है ध्यान का नियम।

१९.६.३४

*

यह तो सबके साथ ही घटता है—हर समय अच्छी अवस्था में रहना बहुत कठिन है, बहुत समय लगता है इसमें—स्थिर होकर साधना करो, विचलित न होओ। यथा-समय सब हो जायेगा।

२५.६.३४

*

जाग्रत् अवस्था में ही सब अवतरित कराना और सारी भागवत अनुभूतियां पाना इस योग का नियम है। निस्संदेह, प्रारंभिक अवस्था में ध्यान में ही ज्यादा होता है और वह अंततः उपकारी हो सकता है—लेकिन सिर्फ ध्यान में ही अनुभूति होने से समस्त सत्ता का रूपांतर नहीं होता। इसीलिये जाग्रतावस्था में वैसा होना खूब शुभ लक्षण है।

२५.६.३४

*

कमल और सूर्य का अर्थ तो तुम्हें पता है। उसे खाट पर देखने का कोई विशेष अर्थ नहीं, सिर्फ इतना ही कि यह सब physical (भौतिक) तक उतर रहा है।

२५.६.३४

*

न : आज देखा कि तुम्हारी गोद में सिर रखकर मानों ध्यान कर रही हूं। और तुम्हारे शरीर से अग्निल प्रकाश बाहर निकल मेरी समस्त मलिनता को दूर कर रहा है, और एक शांत और खूब उज्ज्वल रूप बाहर निकल मुझे शांत और आलोकित कर रहा है।

उ० : यही है psychic (चैत्य) की सच्ची अनुभूति, अति उत्तम। यही चाहिये।

२५.६.३४

*

. . . हर रोज चिंतन न कर physical mind relax (भौतिक मन को ढीला छोड़) कर सदा मां को याद रखना विरले ही कर पाते हैं। ऊर्ध्व चेतना के पूर्ण अवतरण के बाद ही यह संभव होता है।

२६.६.३४

*

स्वर्ण = सत्य-ज्ञानमयी चेतना, रूपल = अध्यात्म चेतना।

२७.६.३४

*

'न' के लिखे पत्र में "सफेद प्रकाश" और "अग्निल प्रकाश" के सामने यथाक्रम श्रीअरविन्द ने लिखा, "भागवत चैतन्य का प्रकाश" एवं "aspiration (अभीप्सा) और तपस्या का प्रकाश"।

*

सोने की डोरी—मां के साथ सत्य चेतना का संबंध। सोने का गुलाब—सत्य चैतन्यमय प्रेम और समर्पण। सफेद कमल—मां की चेतना (Divine Consciousness) Higher Mind (उच्चतर मन) और psychic (चैत्य) में खुल रही है। चक्र का अर्थ है निम्न स्तर में मां की शक्ति काम कर रही है।

२८.६.३४

*

हीरक प्रकाश है मां का प्रकाश at its strongest (अपने प्रखर रूप में)—यदि साधक अच्छी अवस्था में हो तो इस तरह से मां के शरीर से निकल साधक के ऊपर पड़ना बहुत स्वाभाविक है।

२९.६.३४

*

किसी भी साधक के बारे में आलोचना करना अच्छा नहीं। इससे किसी का भला नहीं होता, वरन् अनिष्ट ही होता है। आश्रम में सब ऐसा करते हैं। किंतु इससे atmosphere troubled (वातावरण मलिन) होता है, साधना की हानि होती है। इससे मां के बारे में सोचना, योग या अन्य अच्छी बातों के बारे में बोलना ज्यादा अच्छा है।

२९.६.३४

*

बड़े-बड़े साधकों को भी बाधा आक्रांत कर सकती है, उससे क्या हुआ ? Psychic (चैत्य) अवस्था में रहने पर, मां के साथ युक्त रहने पर इन सब आक्रमणों का प्रयास बेकार हो जाता है।

२९.६.३४

*

नीला तो Higher Mind (उच्चतर मन) का वर्ण है—नील पद्म है तुम्हारी चेतना में ऊर्ध्व चेतना का उन्मीलन।

३०.६.३४

*

हो सकता है कि शरीर में ध्यान करने के लिये कुछ बाधा हो जिससे वह बैठना नहीं चाहता। बहुत-से लोगों के साथ ऐसा भी होता है कि साधना अपने-आप चलती है, जबर्दस्ती ध्यान में बैठना और नहीं होता, किंतु वैसे चलते-फिरते, सोते-जागते साधना चलती है।

२.७.३४

*

न: देखा कि आधार में एक बहुत बड़ा वृक्ष है जो ऊर्ध्व की ओर बढ़ रहा है।

उ०: वृक्ष है तुम्हारा आध्यात्मिक जीवन जो तुम्हारे अंदर बढ़ना शुरू हुआ है।

६.७.३४

*

हां, किसी कामना, मांग आदि का पोषण न कर मां को ही पुकरना होता है। उन सबके उठने पर उन्हें प्रश्रय न दे फेंक देना चाहिये। उसके बाद भी प्रकृति के पुराने अभ्यासवश वे आ सकती हैं, लेकिन अंततः वह अभ्यास क्षीण हो जायेगा, और नहीं आयेगा।

६.७.३४

*

Sex-force (काम-शक्ति) मानव-मात्र में है। वह impulse (आवेग) प्रकृति का एक प्रधान यंत्र है जिसके द्वारा वह मनुष्य को चलाती है। संसार, समाज और परिवार का सृजन करती है, मनुष्य का जीवन बहुत-कुछ उसके ऊपर निर्भर करता है। इसलिये सबके अंदर sex-impulse (कामावेग) है, कोई भी अपवाद नहीं है—साधना करने पर भी यह आवेग छोड़ना नहीं चाहता, आसानी से नहीं छोड़ता। वह प्राणिक शरीर की प्रकृति रूपांतरित होने तक लौट-लौट कर आता है। फिर भी साधक सावधान हो उसको संयत करता है, निराकरण करता है, जितनी बार आये उतनी बार उसे लताड़ देता है—ऐसा करते-करते अंततः यह विलीन हो जाता है।

१०.७.३४

*

मेरी बात, जो तुम्हें अनेक बार कही है, भूल न जाना। उतावली न हो स्थिर शांत-भाव से साधना करो। इसीसे धीरे-धीरे सब सही रास्ते पर आ जायेगा। जोर-जोर से रोना अच्छा नहीं—शांतभाव से मां को पुकारो, उनके प्रति समर्पण करो। प्राण जितना ही शांत होता है, उतनी ही साधना steadily (धीर गति से) एक पथ पर चलती है।

१७.८.३४

*

शांत और सचेतन रहो, मां को पुकारो, अच्छी अवस्था लौट आयेगी। संपूर्ण समर्पण करने में समय लगता है—जहां देखो कि नहीं हुआ है उसे भी समर्पित करो—इस तरह करते-करते अंततः संपूर्ण होगा।

२७.८.३४

*

It is good (यह अच्छा है)।
यदि हृदय मां की ओर खुला रहे तो बाकी सब जल्दी खुल जाता है।

२९.८.३४

*

हां, अंदर ही सब कुछ है और वह नाशवान् नहीं—इसलिये बाहरी बाधा-विपत्तियों से विचलित न हो उस भीतरी सत्य में संस्थित होना होता है और उसके फलस्वरूप बाह्य भी रूपांतरित होगा।

४.१०.३४

*

जब खूब गभीर अवस्था होती है तो उठने और चलने पर इस तरह के चक्कर आते हैं—शरीर की दुर्बलता के कारण नहीं, वरन् चेतना भीतर चली गयी, शरीर में पूर्ण चेतना नहीं रही इसलिये। ऐसी अवस्था में चुपचाप बैठे रहना अच्छा है—जब चेतना शरीर में पूरी तरह लौट आये तब उठ सकती हो।

२४.१०.३४

*

यह बहुत बड़ी opening (उद्घाटन) है—जो सूर्य की ज्योति उतर रही है वह सत्य की ज्योति है—वह सत्य ऊर्ध्व मन से भी बहुत ऊपर है।

२४.१०.३४

*

मूलाधार है physical का inner centre (भौतिक का अंतर-चक्र), पोखर है चेतना की एक opening या formation (उद्घाटन अथवा आकार), उस चेतना के बीचों-बीच श्रीअरविन्द की उपस्थिति=लाल कमल और inner physical (अंतर-भौतिक) में प्रेम का गुलाबी प्रकाश उतर रहा है।

२४.१०.३४

*

कल्पना नहीं है। मां के अनेक व्यक्तित्व हैं, वे उन सभी के different (भिन्न-भिन्न) रूप हैं, वे सब समय-समय पर मां के शरीर में व्यक्त होते हैं। जैसा साड़ी का रंग होता है मां उसी रंग की ज्योति व शक्ति लेकर आती हैं। क्योंकि प्रत्येक रंग एक-एक शक्ति (force) का द्योतक है।

२६.१०.३४

*

न : मां, देखती हूं कि मूलाधार का लाल कमल धीरे-धीरे खिलता जा रहा है और लगता है उसमें से तुम्हारा प्रकाश भी उतरने लगा है।

उ० : That is very good. (यह बहुत अच्छा है)। वहीं से शरीर-प्रकृति का रूपांतर शुरू होता है।

२६.१०.३४

*

बाधा तो कुछ खास नहीं है, मनुष्य की बहिर्प्रकृति में जो होती है वही है—वे सब मां की शक्ति की working (क्रिया) द्वारा क्रमशः दूर हो जायेंगी। उसके लिये चिंतित या दुःखित होने का कोई कारण नहीं।

१२.११.३४

*

हां, जो कहती हो वह सच ही है। बहिश्चेतना अज्ञानमयी होती है, ऊपर से जो आता है उसका मानों एक गलत transcription (गलत नकल या गलत अनुवाद) करना चाहती है, अपने जैसा बनाना चाहती है, अपने कल्पित भोग या बाहरी सार्थकता या अहंभाव की तृप्ति की ओर घुमाने का प्रयास करती है। यही है मानव स्वभाव की दुर्बलता। भगवान् को भगवान् के लिये ही चाहना होता है, अपनी चरितार्थता के लिये नहीं। जब psychic being (चैत्य पुरुष) भीतर सबल होता है तभी बहिर्प्रकृति के

ये सब दोष कम होते-होते अंत में निर्मूल हो जाते हैं।

(१९३४)

*

अज्ञान, अहंकार और कामना ही हैं बाधा—तन, मन, प्राण यदि ऊर्ध्व चेतना के आधार बन जायें तो यह भागवत ज्योति शरीर में उतर सकेगी।

८.१.३५

*

ऊपर का यही जगत् है ऊर्ध्व चेतना का स्तर (plane)। हमारी योगसाधना द्वारा उतर रहा है। पार्थिव जगत् आजकल विरोधी प्राण जगत् के तांडव से भरा हुआ और ध्वंसोन्मुख है।

८.१.३५

*

निम्न प्राण और मूलाधार ही हैं sex-impulse (कामावेग) के स्थान। गले के नीचे है vital mind (प्राणिक मन) का स्थान। अर्थात् जब नीचे sex impulse उठती है तब vital mind में उसी की (sex impulse) चिंता या कोई mental (मानसिक) रूप लेने का प्रयास होता है, उससे मन विक्षिप्त-सा हो जाता है।

१५.१.३५

*

लगता है बाह्य स्पर्श से यह सब हुआ है। इस समय यह प्राणिक गड़बड़ें कुछ लोगों में बार-बार हो रही हैं। एक से होकर दूसरे में जा रही है एक रोग की तरह। ज्यादातर भाव यह रहता है कि मैं मर जाऊं, यह शरीर न रखूं, इस शरीर से योगसाधना नहीं होगी, यही भाव प्रबल होता है। लेकिन यह शरीर छोड़ दूसरा शरीर धारण करने पर बिना बाधा के योगसिद्धि होगी यह धारणा बिलकुल भ्रांत है। बस इस भाव से यह देह त्यागने पर दूसरे जन्म में ज्यादा बाधाएं आयेंगी और मां के साथ संबंध रहेगा ही नहीं। यह सब है विरोधी शक्तियों का आक्रमण, उनका उद्देश्य है साधकों की साधना भंग करना, मां का शरीर भंग करना, आश्रम का और हमारा काम भंग कर देना। तुम सजग रहना, इन सबको अपने अंदर घुसने मत देना।

बाहर के लोग मुझे डांटते हैं, मुझे चोट पहुंची है, मैं मर जाऊंगी, ये बातें हैं प्राणिक अहंकार की, साधक की नहीं। मैं तुम्हें सतर्क कर चुका हूं, अहंकार को तूल

न दो। कोई यदि कुछ बात कहता है तो अविचलित रहो, शांत, सम, निरहंकार भाव से रहो, मां के साथ जुड़ी रहो।

२७.१.३५

*

सूर्य के अनेक रूप होते हैं; बहुत-से रंगों के प्रकाश का सूर्य, जैसे लाल वैसे ही हिरण्यमय, नीला, हरा इत्यादि।

२९.१.३५

*

इस तरह मां में मिल जाना ही है असली मुक्ति का लक्षण।

३१.१.३५

*

इस तरह शरीर में मां की ज्योति फैल जाने से physical (शारीरिक) चेतना का रूपांतर संभव हो जाता है।

३१.१.३५

*

It is very good. (अति उत्तम)। सोते समय चेतना एक-पर-एक कई स्तरों में जाती है। जगत् पर जगत्—जैसा जगत् है वैसा स्वप्न देखती है। बुरे स्वप्न हैं प्राण जगत् के कुछ प्रदेशों के दृश्य और घटना-मात्र—और कुछ नहीं।

२.२.३५

*

न: मां, दो दिन से प्रणाम करके आने के बाद अवस्था मानों कुछ और ही हो जाती है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता। कहां जाऊं, कहां जाने से मां मिलेंगी, भगवान् मिलेंगे, शांति और आनंद मिलेंगे और कब अपने को मां को दे सकूंगी—ऐसे विचार उठते हैं।

उ०: ऐसे विचारों को घुसने मत दो—इन्हीं विचारों ने बहुतों के अंदर घुसकर उनकी साधना में विषम व्याघात पहुंचाया है—इससे मां के प्रति असंतोष, अस्थिर चंचलता, चले जाने की इच्छा, मर जाने की इच्छा, स्नायविक दुर्बलता इत्यादि घुस पड़ते हैं। जो एक तामसिक शक्ति आश्रम में घूमती-खोजती फिर रही है कि किसको पकड़ूं वही शक्ति ये सब अज्ञानमयी चिंताएं घुसा देती है, इन feelings (चिंता-

विचारों) का कोई सिर-पैर नहीं होता—मां को छोड़ कहां जाकर मां को पाओगी। शांति और आनंद लाभ करोगी। इन सब को पल-भर के लिये भी प्रश्रय मत देना।

२२.४.३५

*

सांप है प्रकृति की शक्ति—मूलाधार (physical centre) है उसका प्रधान स्थान—वह वहां कुंडलित अवस्था में सोयी रहती है। जब साधना करने से जगती है तब सत्य के साथ मिलने के लिये ऊपर की ओर उठती है। मां की शक्ति के अवतरण से वह इस बीच स्वर्णमय हो उठी है, अर्थात् भागवत सत्य की ज्योति से ज्योतित।

२५.४.३५

*

नहीं, यह कल्पना या मिथ्या नहीं है—ऊपर का मन्दिर ऊर्ध्व चेतना का है, नीचे का मन्दिर इस मन, प्राण, शरीर की रूपांतरित चेतना है—मां ने नीचे उतर इस मंदिर को गढ़ा है और वहां से तुम्हारे अंदर सर्वत्र सत्य का प्रभाव फैला रही हैं।

२६.४.३५

*

न: मां, मैं तुम्हारे चरणों के पास क्यों कुछ नहीं देखती और अनुभव करती, सब कुछ तुम्हारी गोद और हृदय से ही क्यों अनुभव करती हूं ?

उ०: सबके साथ प्रायः ऐसा ही होता है—हृदय से ही मां की सृष्टि और शक्ति बाहर निकल सबके अंदर अपना काम करती हैं। और स्थानों पर से भी करती है लेकिन केंद्र है हृदय।

२६.४.३५

*

समीपता और भीतर मां की सन्निधि को feel (अनुभव) करना, मां ही सब कर रही हैं ऐसा अनुभव करना, मां का सब कुछ अपने भीतर ग्रहण करना ही साधना है। ऐसी अवस्था रहने पर और मन लगाकर पढ़ने से कोई क्षति नहीं हो सकती।

२९.४.३५

*

मां तुम्हें चाहती हैं और तुम मां को। तुम मां को पा रही हो, और भी पाओगी।

फिर भी हो सकता है कि तुम्हारी physical consciousness (भौतिक चेतना) में बीच-बीच में यह आकांक्षा जग उठे कि जो मां का बाहरी घनिष्ठ संबंध और शारीरिक सान्निध्य इत्यादि हैं वह होना चाहिये। मां वह सब मुझे क्यों नहीं देतीं, शायद मुझे नहीं चाहतीं। किंतु जीवन और साधना की इस अवस्था में वैसा हो नहीं सकता। देने पर भी उससे साधक उसीमें मशगूल हो जायेगा और असली भीतरी रूपांतर और साधना होंगी नहीं। मैं सिर्फ मां का आंतरिक घनिष्ठ संबंध और सान्निध्य एवं रूपांतर चाहती हूं—बाह्य तन, मन, प्राण भी संपूर्ण रूप से ऐसा अनुभव करेंगे और रूपांतर होगा। ऐसा ही मानकर चलो।

१७.५.३५

*

न: बीच-बीच में लगता है कि सारी सत्ता खूब खुलकर रो ले तो बहुत कुछ परिवर्तित हो जायेगा। मां, तुम्हारे लिये अब रोने-धोने की जरूरत है क्या?

उ०: रोना यदि psychic being (चैत्य) का हो, सच्ची-शुद्ध चाहना या चैत्य भाव का क्रन्दन-पुकार हो तो ऐसा फल हो सकता है। Vital (प्राणिक) दुःख या कामना या निराशाजनित रोना-धोना करने से तो सिर्फ हानि ही होती है।

१७.५.३५

*

मैं यह बात बहुत बार बता चुका हूं कि मनुष्य की बाहरी चेतना का पूर्ण रूपांतर थोड़े समय में नहीं होता। भागवत शक्ति उसे धीरे-धीरे बदलती जाती है जिससे अंत में कुछ बचा नहीं रह जाता, क्षुद्रतम भाग में भी निम्न प्रकृति की कोई पुरानी हरकत नहीं रह जाती। इसलिये अधीर हो haste (उतावली) नहीं करते। सिर्फ सब कुछ समर्पित करना होता है, मां के प्रति खोलना होता है। बाकी सब धीरे-धीरे ठीक हो जायेगा।

१.६.३५

*

न: ... काम-काज करते हुए, चलते-फिरते, अंदर-बाहर हर समय एक ही अवस्था—शांत, नीरव और आनंदित।

उ०: यह बहुत अच्छी है—पूर्ण समता और असली ज्ञान की अवस्था—जब यह स्थायी हो जाती है तब कह सकते हैं कि साधना ने जड़ पकड़ ली है।

७.६.३५

*

मूलाधार का स्वर्णिम सर्प—रूपांतरित सत्यमयी शरीर-चेतना का प्रतीक।

१३.६.३५

*

तुम यदि भीतर शांत और समर्पित रहो तो बाधा-विघ्न इत्यादि तुम्हें विचलित नहीं करेंगे। अशांति, चंचलता और "क्यों नहीं हो रहा, कब होगा" आदि भावों को घुसने देने से बाधा-विघ्नों को बल मिलता है। तुम बाधा-विघ्नों की तरफ इतना ध्यान देती ही क्यों हो ? मां की ओर निहारो। अपने अंदर शांत और समर्पित बनी रहो। निम्न प्रकृति के छोटे-छोटे defect (दोष) आसानी से नहीं जाते। उनके कारण विचलित होना व्यर्थ है। जब मां की शक्ति संपूर्ण सत्ता और अवचेतना पर पूर्ण प्रभुत्व पा लेगी तब होगा—इसमें यदि बहुत दिन लग जायें तो भी क्षति नहीं। सर्वांगीण रूपांतर के लिये बहुत समय की आवश्यकता होती है।

१९.६.३५

*

ऊपर जो खूब बड़ा-सा कुछ है वह है ऊर्ध्व चेतना की असीम विशालता। तुम्हें जो यह अनुभव हो रहा है कि सिर घूम-घूम कर नीचे आ रहा है वह स्थूल मस्तक तो निश्चय ही नहीं है, वह है मनबुद्धि। वह उस विशालता में उठकर इसी तरह नीचे आता है।

२२.६.३५

*

कितनी दूर आ गयी हूं और कितनी दूर जाना है इन सब प्रश्नों का कोई लाभ नहीं। मां को खिवैया बनाकर प्रवाह में बढ़ती चलो, वे तुम्हें गंतव्य स्थान पर पहुंचा देंगी।

२५.६.३५

*

मस्तक के ऊपर एक कमल है, वह है ऊर्ध्व चेतना का केंद्र, हो सकता है कि वह कमल खिलना चाहता है।

२४.८.३५

*

मस्तक के ऊपर है ऊर्ध्व चेतना का स्थान, ठीक मस्तक के ऊपर से वह शुरू होता है एवं और भी ऊपर अनंत तक जाता है। वहां जो विशाल शांति और नीरवता हैं उन्हीं

का pressure (दबाव) तुम अनुभव कर रही हो। वह शांति और चेतना समस्त आधार में उतरना चाह रही हैं।

२४.८.३५

*

जब चेतना विशाल और विश्वमय हो जाती है और अखिल विश्व में मां ही दिखायी देती हैं तब अहं और नहीं रह जाता, रह जाती है सिर्फ मां की गोद में तुम्हारी वास्तविक सत्ता, मां की संतान और मां का अंश।

२४.८.३५

*

क्यों दुःख पा रही हो ? मां पर निर्भर रह, समता बनाये रखने से दुःख पाने का कोई कारण नहीं। मनुष्यों से सुख, शांति और आनंद पाने की आशा व्यर्थ है।

८.९.३५

*

तुम्हीं मेरी बात समझ नहीं सकीं। मैंने यह नहीं कहा था कि तुम्हें बीमारी नहीं है, मैंने यह कहा था कि यह बीमारी nervous (स्नायुजात) है। एक तरह की बदहजमी है जिसे डॉक्टर नाम देते हैं nervous dyspepsia (स्नायुजात अजीर्ण) जो सब sensation (भाव) तुम अनुभव कर रही हो, गले और छाती में खाना उठकर अटकना इत्यादि, वे सब उसी रोग के लक्षण हैं, nervous sensation (स्नायुजात अनुभव)। इस रोग से मुक्ति बहुत-कुछ मन पर निर्भर करती है। मन यदि रोग के suggestion (सुझाव) के अनुसार खाता-पीता है तो रोग बहुत दिन तक बना रहता है, मन यदि उन सब suggestions (सुझावों) को नकार देता है तो रोग से छुटकारा आसान हो जाता है, विशेषकर जब मां की शक्ति भी हो। मैंने यही कहा था कि उल्टी-उल्टी के भाव को accept न करो (प्रश्रय न दो), मां को पुकारो। बीमारी चली जायेगी।

मैंने बार-बार एक बात तुम्हें लिखी है, उसे भूल क्यों जाती हो ? शांति और दृढ़ता के साथ, मां पर पूरी तरह निर्भर रह पथ पर आगे बढ़ना होगा। अधैर्य और चंचलता को प्रश्रय नहीं देना, समय लगने या बाधा आने पर भी विचलित, अधीर या उद्विग्न न हो चलना होगा। अधीर होने, अस्थिर और उद्विग्न होने से बाधा बढ़ जाती है, और भी देर लगती है। यह बात सदा याद रखकर साधना करो।

बिलकुल निराहार रहना ठीक नहीं—उससे कमजोरी बढ़ जाती है, कमजोरी बढ़ने से बीमारी लंबी हो जाती है। निदान है दूध तो पीना ही चाहिये, संभव हो तो पेट को

थोड़े-थोड़े खाने का भी अभ्यास करना चाहिये। मां कह रही हैं yellow (पीला) केला खाने को, lithine (लिथनी पाऊडर) लेना भी अच्छा है।

इस रोग में यकृत की distrubances (गड़बड़ें) हो सकती हैं। खाते ही जरा देर में जी का मिचलाना है nervous dyspepsia (स्नायुजात अजीर्णता) का लक्षण।

१०.९.३५

*

दोनों तरह से करना अच्छा है। यदि केवल दूर रहकर साधना करना संभव होता तो वही सर्वश्रेष्ठ होता, किंतु ऐसा हमेशा होता नहीं। असली बात तो यह है कि चैत्य में अपनी दृढ़ अवस्थिति कर या निरापद दुर्ग बना साधना करनी होती है—अर्थात् स्थिर-धीर भाव से मां पर निर्भर करना, अधीर न हो प्रसन्न चित्त से चलना। तुम जो कह रही हो वह ठीक है—बड़ी बाधाओं की अपेक्षा ये छोटी-छोटी असंपूर्णताएं इत्यादि ही हैं इस समय असली अंतराय। लेकिन इन्हें धीरे-धीरे बाहर निकालना होता है, असंपूर्णता को पूर्णता में बदलना होता है, आनन-फानन में सब कुछ नहीं हो जाता। अतएव उन्हें देखकर दुःखी या अधीर नहीं होते, मां की शक्ति ही धीरे-धीरे वह काम कर देगी।

१२.९.३५

*

जैसे इस साधना में चंचलता दूर करनी होती है उसी तरह दुःख को भी स्थान नहीं देना चाहिये। मां पर भरोसा रखकर स्थिर चित्त और शांत प्रसन्न मन से आगे बढ़ना होता है। जब मां पर भरोसा हो तब दुःख की गुंजायश ही कहां ? मां दूर नहीं हैं, हमेशा पास ही हैं यह अहसास और विश्वास हमेशा बना रहना चाहिये।

१७.९.३५

*

उससे घबराओ नहीं। हर समय प्रयास करके याद रखना आसान नहीं—जब मां की presence (उपस्थिति) से सारा आधार भर उठेगा तब उसका स्मरण स्वतः बना रहेगा, भूलने का कोई कारण नहीं रहेगा।

२३.९.३५

*

जो feel (अनुभव) कर रही हो वह ठीक ही है—यही है मनुष्य की बाधा, दुःख और अवनति का कारण। मनुष्य स्वयं ही है अपने अशुभ का निर्माता, प्रश्रयदाता और उससे चिपटा रहता है।

२६.९.३५

*

यदि गभीर हृदय (चैत्य) का पथ अनुसरण करो, मां की गोद में शिशु की नाईं रहो तो ये सब sex-impulse (कामावेग) इत्यादि धावा बोलने पर भी कुछ नहीं कर सकेंगे और अंततः तो घुस भी नहीं सकेंगे।

३०.९.३५

*

यदि मां के प्रति शुद्ध प्रेम और भक्ति हों, उन पर भरोसा हो तो उन्हें पाया जा सकता है। ये न हों तो कठिन प्रयास द्वारा भी उन्हें नहीं पाया जा सकता।

२.१०.३५

*

यह सब है बाह्य प्रकृति जो अंदर घुसने के लिये साधक के चारों ओर मंडराती रहती है। अपने तन, मन, प्राण यदि इस बाह्य प्रकृति के कवल से कवलित रहें तो निस्संदेह इस तरह का पर्दा रह सकता है लेकिन यदि मां पर भरोसा हो, उनसे युक्त हो जायें तो उनकी शक्ति वह पर्दा फाश कर देगी और तन, मन, प्राण और चेतना को अपने यंत्र के रूप में परिणत कर देगी।

२.१०.३५

*

शरीर में मां की शक्ति को पुकार कर इन सब व्यथा और बीमारियों को दूर भगाना होगा।

९.१०.३५

*

Yes, this is the true psychic attitude. (हां, यही सच्चा चैत्य मनोभाव है।) जो यह मनोभाव हमेशा, हर घटना में बनाये रख सकता है वह सीधे गंतव्य पर पहुंच जाता है।

११.१०.३५

*

मनुष्य का मन ही है अविश्वासी कल्पना, गलत धारणा और अश्रद्धा से भरा, अज्ञानमय और दुःख से संकुल। अज्ञान ही है अश्रद्धा का कारण, दुःख का मूल। मनुष्य की बुद्धि है अज्ञान का यंत्र, वह प्रायः ही गलत चिंतन और गलत धारणाएं बनाती है पर सोचती है मैं ही ठीक हूं। उसके चिंतन में गलती है कि नहीं और गलती कहां है यह देखने और

विचारने का धैर्य उसमें नहीं। यहांतक कि भूल दिखाने से अहंकार को चोट लगती है, क्रोध या दुःख होता है, स्वीकार करना नहीं चाहती। लेकिन दूसरों के दोषों और गलतियों को दिखा सकने से उसे खूब तृप्ति मिलती है। दूसरों की निंदा सुन तत्काल उसे सच मान बैठती है, वह कितनी सच है या झूठ इसपर विचार भी नहीं करती। इस तरह के मन में श्रद्धा और विश्वास आसानी से नहीं जमते। इसीलिये लोगों की चर्चा सुनते नहीं, सुननी भी पड़े तो उससे अपने को प्रभावित नहीं करते। असली चीज है अपने अंतरस्थ चैत्य पुरुष को जगाना। उसीमें से सत्य बुद्धि धीरे-धीरे मन में पनपती है, सत्य भाव और feeling (भावना) हृदय में आती हैं, सत्य प्रेरणा प्राण में उठती है। चैत्य के प्रकाश में मनुष्य सब चीजों, घटनाओं और जगत् को नयी दृष्टि से देखता है, मन की अज्ञानमयी गलत दृष्टि, गलत विचार, अविश्वास और अश्रद्धा और नहीं आते।

२२.१०.३५

*

[किसी ने 'न' के साथ दुर्व्यवहार किया]

इस समय प्रायः ही साधकों का अहंकार उठकर साधना में घोर अवरोध पैदा कर रहा है, बहुतों से अनुचित व्यवहार करा रहा है। तुम स्वयं अचल हो अंतरस्थ रहो, उसे जगह न दो।

२३.१०.३५

*

This is very good. (अति उत्तम)। ये सब अतिक्रमण यदि घुस नहीं सकते, या घुसने पर भी टिक नहीं सकते तो समझो कि outer being (बाह्य सत्ता) की चेतना जागृत हो गयी है और उसकी शुद्धि में प्रचुर progress (प्रगति) हुई है।

२७.१०.३५

*

आत्मा ही इस तरह से असीम विराट् इत्यादि है, भीतर का मन, प्राण और physical consciousness (भौतिक चेतना) जब संपूर्ण रूप से खुलते हैं तो वे भी वैसे ही हो जाते हैं—बाहरी तन, मन, प्राण तो इस जगत् की बाह्य प्रकृति के साथ व्यवहार करने और खेलने के लिये यंत्र-मात्र हैं। बाह्य तन, मन, प्राण भी जब प्रकाशमय, चैतन्यमय हो जाते हैं तब वे संकीर्ण और आबद्ध नहीं रह जाते, अनन्त के साथ मिल जाते हैं।

३०.१०.३५

*

जब physical consciousness (भौतिक चेतना) प्रबल हो और सबको आच्छादित कर सारी जगह हथिया लेने का प्रयास करती है तब ऐसी अवस्था होती है—क्योंकि जब अकेली भौतिक चेतना की प्रकृति प्रगट होती है तब सब कुछ जड़बद्ध, तमोमय, ज्ञान के प्रकाश से रहित, शक्ति की प्रेरणा से रहित अनुभव होता है। इस अवस्था को प्रश्रय मत मत दो—यदि आये तो मां की ज्योति और शक्ति को पुकार लाओ इस भौतिक चेतना के भीतर जिससे यह आलोकमय और शक्तिमय हो उठे।

३०.१०.३५

*

हां, खाना अच्छा है—कमजोर हो जाने से तमोमयी अवस्था आने की संभावना ज्यादा हो जाती है।

३१.१०.३५

*

न : मां, तुम्हारी होकर सिर्फ तुम्हारे लिये काम करती हूं। 'क' मेरे साथ दुर्व्यवहार करे तो भी मैं नीरव और शांत रहती हूं। . . . किसी का कोई व्यवहार, कोई बात मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

उ० : काम में यह मनोभाव ही अच्छा है। हर समय यह बना रहना चाहिये, इससे काम में मां के साथ जुड़ना आसान हो जाता है।

२.११.३५

*

वही तो चाहिये—हृदय-कमल सर्वदा खुला, सारी nature (प्रकृति) हृदयस्थ चैत्य के आधीन, इसी से होता है नवजन्म।

३.११.३५

*

न : मैं आज भी तुम्हें अपने से बहुत दूर क्यों महसूस करती हूं मां ?

उ० : क्यों महसूस करती हो ? क्योंकि inner being (चैत्य पुरुष) को physical mind (भौतिक मन) द्वारा आच्छादित होने देती हो इसलिये। तुम्हारा चैत्य पुरुष अपने को हमेशा ही मां के शिशु के रूप में पहचानता है, मां के पास, मां की गोद में रहता है—physical mind (भौतिक मन) के लिये वैसा सोचना, उस सत्य तक पहुंचना उतना आसान नहीं होता। इसीलिये हमेशा गहराई में चैत्य पुरुष में

रहना होता है। जो अंदर तुम्हारी आत्मा जानती है उसे बाहर से भौतिक मन द्वारा खोजने की क्या आवश्यकता है ? जब बाह्य मन पूर्ण रूप से ज्योतित हो जायेगा तब वह भी जान जायेगा।

६.११.३५

*

हां, पूरी सत्ता (physical mind और physical vital—भौतिक मन और भौतिक प्राण तक) को एक तरफ ही मोड़ना होता है। वे भी जब उस तरफ मुड़ जाते हैं तब कोई serious difficulty (गंभीर कठिनाई) और नहीं रह जाती।

७.११.३५

*

जो बहुत बार कह चुका हूं वही दोहरा रहा हूं। शांत समाहित होकर साधना करो, सब कुछ ठीक रास्ते पर चलेगा, बाह्य प्रकृति भी बदलेगी, लेकिन एकाएक नहीं, धीरे-धीरे। दूसरी तरफ यदि विचलित और चंचल होओ, कल्पना या अधिकार का भाव उठे तो निरर्थक दुःख-कष्ट को जन्म दोगी। मां गंभीर हो गयीं, मुझसे प्यार नहीं करतीं आदि ये सब मां पर आक्रोश, किसी कामना या मांग के लक्षण हैं, क्योंकि कामना और मांग पूरी नहीं हुईं इसलिये ऐसी धारणा बनती है। इन सबको स्थान मत दो, इन सबसे बेकार साधना में क्षति पहुंचती है।

२९.११.३५

*

यह अवस्था और ऐसे विचार ही ठीक हैं, इन्हें सब समय बनाये रखो। अहंपूर्ण विचारों से और लोगों व घटनाओं को न देख अध्यात्म-बुद्धि से भीतर की चैत्य-दृष्टि से देखना चाहिये।

७.१२.३५

*

जिसमें मां के ऊपर संपूर्ण विश्वास और श्रद्धा है वह हर समय मां की गोद में, मां के हृदय में वास करता है। बाधाएं आ सकती हैं पर हजारों बाधाएं भी उसे विचलित नहीं कर सकतीं। यह अटूट विश्वास, यह श्रद्धा हर समय, सब अवस्थाओं में, सब घटनाओं में बनाये रखनी चाहिये। यह है योग का मौलिक सिद्धांत। बाकी सब गौण बातें हैं, यही है वास्तविक रहस्य।

१६.१२.३५

*

इस समय शक्ति physical consciousness (भौतिक चेतना) पर काम कर रही है इसलिये बहुत-से लोगों में भौतिक चेतना की यह बाधा बहुत प्रबल भाव में उठी थी—तुम्हारी छटपटाहट का कारण यही था कि तुमने अपने को इस बाहरी भौतिक चेतना के साथ identify (तदात्म) कर लिया था मानों वह चेतना ही तुम हो। किंतु असली सत्ता भीतर है जहां मां के साथ तदात्मता है। इसीलिये physical consciousness (भौतिक चेतना) के अज्ञान, तामसिकता, गलतफहमी आदि अपने बल के साथ नहीं मिलाने चाहियें। ये हैं मानों बाहरी यंत्र, इस यंत्र के जितने दोष और असंपूर्णताएं हैं वह सब मां की शक्ति दूर कर देगी ऐसा मान कर भीतर से साक्षी की तरह, अविचलित रहकर देखना होता है—मां पर संपूर्ण विश्वास और श्रद्धा रखते हुए।

१६.१२.३५

*

भीतर सब कुछ है और मां का काम वहां हो रहा है। लेकिन बाहरी मन के साथ मिले रहने से, उसके पूर्ण आलोकित न होने तक और अंदर तदात्मता न होने तक उस काम की भनक नहीं मिलती।

१९.१२.३५

*

तुम जो वर्णन कर रही हो, "भीतर गहराई में शांतिमयी, प्रेममयी वेदना होती है और तब भीतर कुछ मुझे खींचता-सा है" यह psychic वेदना के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। ये सभी psychic sorrow (चैत्य दुःख) के लक्षण हैं।

२०.१२.३५

*

इन सब बाधाओं को देखकर विचलित मत होओ। भीतर जाकर स्थिर भाव से देखती जाओ, भीतर से ही ज्ञान बढ़ेगा। मां की शक्ति ही धीरे-धीरे इन सब बाधाओं को दूर कर देगी।

२०.१२.३५

*

असली बात यह है कि कर्म करते समय अहंकार या बाह्य प्रकृति के वश में न हो जाओ। यदि ऐसा होता है तो फिर काम साधना का अंश नहीं रह जाता, वह हो जाता है एक सामान्य काम की तरह। काम भी समर्पित भाव से अंदर से करना होता है।

२७.१२.३५

*

न: आज कुछ दिनों से दुःख, निरानन्द और हताशाभरे विचार और प्रेरणाएं आनी शुरू हुई हैं। मैं सिर्फ छोटे-से शिशु के समान मां-मां पुकारती हुई चल रही हूं। इससे देखती हूं कि कुछ समय बाद सब कुछ old (सूखे) पत्तों की तरह झड़कर गिर गये हैं और तुम्हारी शांति, प्रकाश, पवित्रता और आनंद उतरने लगे हैं।

उ०: इस तरह reject (परित्याम) कर देने से, फेंक देने से वे सब suggestion (सुझाव) नष्ट हो जाती हैं—उनका जोर क्रमशः कम होता जाता है और अंत में वे निष्प्राण हो जायेंगी।

४.१.३६

*

न: सिर्फ बाधा को लेकर ही उद्विग्न हो उठी थी, उसीके बारे में बहुत सोच रही थी इसीलिये इतना दुःख-कष्ट और आघात मिला। तुम्हें और नहीं बिसराऊंगी।

उ०: यही अच्छा है। यदि ऐसा कर सको तो बाधा बाधा की तरह नहीं आयेगी वरन् रूपांतर की सुविधा के लिये आयेगी।

४.१.३६

*

इस सब गड़बड़-झमेले के बारे में एक बात कहनी आवश्यक हो गयी है—तुम किसके साथ घनिष्ठता रखती हो या ज्यादा मिलती-जुलती हो इस विषय में इस समय बहुत सावधान रहो। जैसे D. R. (भोजनालय) में 'च' और 'ज'। 'च' के अंदर अशुद्ध शक्तियां खुल खेलती हैं, उस समय उसके शरीर में एक ज्वाला उठती है और मति उलट जाती है, hunger-strike (भूख हड़ताल) करके जबदरस्ती मां से अपनी इच्छा मनवाना चाहता है, विद्रोह करके हमारी बुराई तक करता है, साधिकाओं के मन में हमारे प्रति असंतोष पैदा करने की चेष्टा करता है। मैंने देखा है कि 'च' के साथ जो ज्यादा मेलजोल बढ़ाते थे उनके अंदर भी पेट में अग्निज्वाला की गड़बड़ और मतिभ्रष्ट हो जाने की अवस्था संक्रामक रूप से आरंभ हुई थी। 'ज' के साथ उतना नहीं होता फिर भी जाने से अहंकार और अशुद्ध अवस्था सहज ही उठ खड़ी होती हैं, शरीर में भी अग्निज्वाला और बहुत-सी गड़बड़ें होती हैं। तुम्हारी गड़बड़ की, unsafe condition (असुरक्षित अवस्था) की feeling (भावना), और शरीर में कटे घाव पर लाल मिर्च लगने की-सी feeling (संवेदना) उनकी उसी अशुद्ध शक्ति का धावा बोलने का प्रयास हो सकता है। इसीलिये कहता हूं सावधान रहो, मां के सिवाय और किसी के प्रति अपने को open न करो (मत खोलो)। यह बात सिर्फ तुम्हारे लिये ही लिख रहा हूं, और किसी को नहीं बताना। प्रणाम के समय मां देख रही थीं कि तुम्हारे अंदर कुछ गड़बड़ की feeling क्यों हो रही है। प्रकृति की बाधाएं तो सबमें ही होती

हैं—लेकिन उनसे गड़बड़ न हो इसके लिये सजग रहना अच्छा है।

२१.१.३६

*

यह अनुभूति बहुत अच्छी है। प्रणाम के समय मां भीतर से क्या दे रही हैं वही feel (अनुभव) करना चाहिये—सिर्फ बाहरी appearance (दिखावे) को देखकर लोग कितना गलत समझते हैं, भीतरी दान लेना भूल जाते हैं या ले नहीं सकते।

२२.१.३६

*

यह change (परिवर्तन) (पीछे की तरफ) बहुत अच्छा है, बहुत बार पीछे से इस तरह का आक्रमण होता है लेकिन मां की शक्ति और चेतना वहां हों तो वह प्रवेश नहीं कर सकता। सफेद कमल का अर्थ है कि वहां मां की चेतना प्रकट हो रही है।

पीछे की तरफ है चैत्य पुरुष का स्थान और वहां जितने भी केंद्र हैं, जैसे heart centre, vital centre, physical centre (हृदय केंद्र, प्राण-केंद्र और भौतिक केंद्र) जहां मेरुदण्ड के साथ मिलते हैं वहां उनकी अवस्थिति है। इसीलिये इस पीछे की चेतना की अवस्था बहुत important (महत्त्वपूर्ण) है।

२४.१.३६

*

यह जो feeling होती है (महसूस होता है) कि मां दूर हैं, यह धारणा गलत है। मां तुम्हारे पास ही हैं लेकिन जब बाहरी मन, प्राण का पर्दा पड़ जाता है तो ऐसी धारणा बनती है। जो एक बार अंदर ही अंदर मां की गोद में रहता है उसके लिये इस पर्दे को सरकाना मुश्किल नहीं होता।

३१.१.३६

*

एक बात याद रखो कि मां दूर नहीं जातीं, हमेशा तुम्हारे पास भीतर ही होती हैं—जब बाहरी प्रकृति में किसी भी तरह की चंचलता होती है तब वह एक लहर की तरह भीतर सत्य को ढक देती है, इसीलिये ऐसा महसूस होता है। अंदर रहो, अंदर से ही सब देखो, करो।

१२.२.३६

*

ये सभी ठीक हैं। बाह्य अहंकार और अज्ञान हैं असत्य। बाहरी तुम्हारा निजी नहीं, आत्मा का नहीं, ऐसा समझकर reject (अस्वीकार) करना होता है। इसलिये भीतर रहना होगा, वहां से सब समझना, देखना, करना होगा।

१३.२.३६

*

जब हम बाहरी भौतिक चेतना में रहते हैं तब इस तरह की साधना-शून्य अनुभूति शून्य अवस्था होती है—ऐसा सबके साथ होता है। ऐसा न हो इसका एकमात्र उपाय तुम्हें बताया था—भीतर रहना, बाहरी अज्ञान, अहंकार और साधारण प्राणवृत्तियों के अधीन न हो भीतर चैत्य लोक से इन सबको देखना, परिहार करना। भीतर से ही मां की शक्ति धीरे-धीरे इन सब अंधकारमय भागों को आलोकित और रूपांतरित करती है। जो ऐसा करते हैं उन्हें बाधा भी बाधा नहीं दे सकती। बहुत-से लोग ऐसा नहीं करते, जबतक भौतिक के ऊपर से आलोक, शक्ति इत्यादि नहीं उतरते वे भौतिक में ही निवास करते हैं।

२३.२.३६

*

इस बात का उत्तर मैं पहले ही दे चुका हूं। भीतर रहो, बाहरी आंख से नहीं, भीतर से सब देखो। चेतना बहिर्मुखी होने से सोचने करने में बहुत भूलें हो सकती हैं। भीतर रहने से चैत्य क्रमशः प्रबल होता है, चैत्य ही सत्य को देखता है, सब कुछ सत्यमय कर देता है।

२५.२.३६

*

इस चिंता और भय के बदले यह निश्चयता और श्रद्धा रखनी चाहिये कि जब एक बार भीतर मां के साथ तार जुड़ गया है तब चाहे हजार बाधाएं आयें या बाहरी प्रकृति के कितने ही दोष और असंपूर्णताएं हों, मेरे अंदर मां की विजय अवश्यंभावी है, अन्यथा हो ही नहीं सकता।

२६.२.३६

*

जब यह शून्यावस्था आती है तब मन को खूब शांत रखो, बाहरी प्रकृति में उतारने के लिये मां की शक्ति और आलोक को पुकारो।

७.३.३६

*

यह सब बाहरी प्रकृति से आता है। जैसे ही आये वैसे ही 'यह मेरा नहीं है' कह reject (वर्जन) करो। बाहर से जो आता है उसे स्थान न मिलने से अंत में आ ही नहीं सकेगा।

९.३.३६

*

"लोगों ने चोट पहुंचायी" मतलब तुम्हारे अहंकार ने चोट खायी। जितने दिन अहंकार रहेगा उतने दिन उसपर आघात पड़ेगा ही। अहंकार को छोड़कर शुद्ध, समर्पित अंतःकरण में समभाव से काम करना होता है। यही है साधना का मुख्य अंग। ऐसा करने से आघात नहीं लगेगा, मां को पाना भी आसान होगा।

१८.३.३६

*

भीतर से जो आवाज आयी है वह सच है। बहिश्चेतना के अज्ञान से सिर्फ भूल-भ्रांति और व्यर्थ का कष्ट होता है, वहां सब कुछ अहं का खेल है। भीतर ही रहना चाहिये—जिसके अंदर असली सत्य-चेतना, सत्य-भाव, सत्य-दृष्टि है, वहां अहंकार, अभिमान, कामना या दावा रत्ती-भर भी नहीं रहना चाहिये, उसे ही grow करने (पनपने) दो, तब मां की चेतना तुम्हारे अंदर प्रतिष्ठित होगी, मानवी प्रकृति का अंधकार, विरोध और विभ्राट् नहीं रहेगा।

१८.३.३६

*

ऐसी बात। पहले भीतर से पाना होगा मां को, बाहर से नहीं। बाहर से पाने जाने पर वैसा भी होता तो है, लेकिन भीतर का कभी भी उसके द्वारा आलोकित नहीं होता। भीतर में पूर्णरूपेण पा लेने के बाद बाहर जो भी आवश्यक हो वह realised (सिद्ध) हो सकता है। दो-एक को छोड़ कोई भी अभीतक इस सत्य को अच्छी तरह नहीं समझ पाया है।

२२.३.३६

*

न : सपने में देखा कि एक पुरुष सामने आ खड़ा हुआ है। उसकी छाती पर चढ़कर मैंने उसे मार डाला और उसके पुरुषांग को काट डाला। . . . तब मैंने देखा कि मेरा रूप काली की तरह हो उठा है।

उ० : यह पुरुष कोई vital force (प्राणिक शक्ति) हो सकता है, शायद sex impulse (कामावेग) की कोई force (शक्ति) हो। इस अनुभूति से ऐसा लगता है कि तुम्हारी प्राण-सत्ता ने उसे काट फेंका। साधक की प्राण-सत्ता को ऐसा ही योद्धा होना चाहिये। खराब प्राण-शक्ति के वश में न हो, भयभीत न हो उसका सामना करो और उसका नाश करो।

२३.३.३६

*

न: मां, मैं देख रही हूं कि मेरा मन खूब शांत, पवित्र और आलोकित हो विश्वमय हो रहा है।

उ०: बहुत ही सुन्दर अनुभूति है। इससे लगता है कि mind (मन) में ऊर्ध्व चेतना उतर रही है, आत्मा की उपलब्धि को नीचे उतार ला रही है। तभी मन ऐसा शांत, पवित्र, आलोकमय और विश्वमय होता है—क्योंकि आत्मा या true (यथार्थ) सत्ता वैसी ही शांत, पवित्र, आलोकमयी और विश्वमयी है।

२७.३.३६

*

हां, ऐसे ही ऊर्ध्व चेतना को शांत, विश्वमय भाव लेकर नीचे उतरना चाहिये, पहले मन में, बाद में हृदय में (emotional vital and psychic में)—उसके बाद नाभि में और नाभि के नीचे vital (प्राण) में, अंत में सारे physical (भौतिक) पर छा जाये।

२८.३.३६

*

नीला प्रकाश मेरा है, श्वेत प्रकाश मां का—जब ऊर्ध्व चेतना (higher consciousness) विश्वमय भाव लेकर आधार में उतरना आरंभ करती है तब नीले प्रकाश का दिखना बहुत स्वाभाविक होता है।

२८.३.३६

*

भीतर मां के साथ युक्त रहना चाहिये और वहां से बाहरी प्रकृति के दोष-त्रुटियों को देखना चाहिये, देखने पर न विचलित होना चाहिये न निराश। स्थिर रहते हुए उसका प्रत्याख्यान कर मां के प्रकाश और शक्ति के बल से उसमें सुधार लाना चाहिये।

१६.४.३६

*

जिस चिंता की बात कह रही हो उसे दूर करना चाहिये। मैंने जो चाहा हुआ नहीं, जिसे पाने की आशा की वह मिली नहीं। कैसे करूंगी, मेरा तो कुछ भी नहीं होने का—प्राणों की चाहना और पाने न पाने की चिंता—ये सब अश्रद्धा की बातें हैं। मां के पास से मैं क्या पा सकूंगी यह सोच है अहं की—मां को किस तरह अपना सर्वस्व दे सकूं यह भाव है अंतरात्मा का—साधकों में सभी छिपी बाधाओं के मूल में है यही पाने की भावना। जो सर्वस्व भगवान् को देता है वह भगवान् को और भगवान् का सब कुछ पाता है, न चाहने पर भी पाता है। जो इस और उस की मांग करता है उसे वह मिलता है पर भगवान् नहीं मिलते।

१८.४.३६

*

बाधाओं से सामना होने पर कोई यदि मां पर निर्भर कर, सचेतन रह, मां की शक्ति के जोर से, धीर भाव से उन्हें परे ठेल देता है, चाहे वे जितनी बार भी क्यों न आयें, तो अंततः वह बाधाओं से मुक्त होगा ही होगा।

२०.४.३६

*

It is good. (यह अच्छा है)। सब समय मां पर ऐसी संपूर्ण आस्था रखनी चाहिये कि हम उसीके हाथ में हैं, उसकी शक्ति से सब कुछ होगा। ऐसा होने पर बाधा के लिये न दुःख आयेगा न निराशा।

१७.५.३६

*

ऐसी अवस्था होनी चाहिये कि चेतना तो रहेगी भीतर मां के साथ युक्त और मां की शक्ति काम करायेगी, बाहरी चेतना उस शक्ति का यंत्र बन काम करेगी—किंतु ऐसी अवस्था पूरी तरह सहज ही नहीं आती। साधना द्वारा धीरे-धीरे आती है और धीरे-धीरे complete (पूरी) होती है।

२३.५.३६

*

साधना-पथ में बहुत बार शून्यता का अनुभव होता है—शून्य अवस्था से विचलित नहीं होना चाहिये। शून्यता बहुत बार नूतन उन्नति की राह prepare (तैयार) करती है। पर नजर रखनी होगी कि शून्यता की अवस्था में कहीं विषाद या चंचलता न आ जाये।

२५.५.३६

*

यही ठीक है। देह के मरने से मुक्ति नहीं मिलती, इसी देह में नवीन देह चेतना और उसी नवीन चेतना की शक्ति चाहिये।

२५.५.३६

*

ऐसी अवस्था ही तो चाहिये—अंदर सब विराट्, शांत, नीरव, मां-मय और आनंदमय।

२८.५.३६

*

'स' के बारे में लिखा था कि 'प' की अधखायी रोटी ग्रहण करना बड़ी भूल थी। ऐसी जगह में उस व्यक्ति में यदि कोई खराब शक्ति अधिकार किये हुए हो तो इस आहार को साधन बना वह शक्ति खानेवाले के शरीर पर, प्राण पर आक्रमण कर सकती है।

३.६.३६

*

न: 'त' और 'स' के साथ और दिनों से ज्यादा बातें करने के कारण सिर में बहुत दर्द हो रहा था और बेचैनी महसूस कर रही थी। फिर जब थोड़ा शांत हुई, तुम्हें पुकारा और मेरे भीतर एक 'तुम'-मय तीव्र इच्छा और विश्वास जगा कि यह दूर होगी ही। थोड़ी देर बाद देखा, सचमुच वह दूर हो गया है और मैं असीम शांति, आनंद, प्रेम और पवित्रता से और तुमसे भर उठी हूं।

उ०: यही है असली उपाय—इसी उपाय से चेतना के lowering और deviation (निम्न गति और भ्रांत गति) से मुक्ति मिल सकती है।

९.६.३६

*

न: सारी रात मानों अंधकारमय अचेतन, तमोमय जगत् में मुर्दे की तरह पड़ी रहती हूं। सवेरे उठ नहीं पाती। जबर्दस्ती उठती हूं तो देखती हूं कि शरीर बहुत ही जड़-सा, अलस, बलहीन, उत्साहहीन शांति और आनंदरहित हो जाता है। मां, ऐसा होने पर नींद को मुझसे दूर कर दो।

उ०: अचेतना की नींद ऐसी ही होती है। पर नहीं सोने से अचेतना में दबाव बढ़ जाता है, कम नहीं होता। ऐसे में एकमात्र उपाय है ऊपर से प्रकाश और चेतना को उतार लाना।

२०.६.३६

*

बाधा की अवस्था कभी भी स्थायी नहीं रह सकती—मां की गोद से तुम दूर जा भी नहीं सकती—कभी-कभार पर्दा पड़ जाता है केवल, इसलिये बाधा के सिर उठाने पर डरो मत, दुःखी मत होओ, बाधा को reject (परे) करते-करते, मां को पुकारते-पुकारते अच्छी अवस्था लौट आती है—अंत में बाधा के उठने पर भी वह स्थायी यथार्थ अवस्था को cover नहीं कर सकती (ढक नहीं सकती)।

२२.६.३६

*

यह है ऊर्ध्व चेतना का सोपान—इस चेतना के अनेक plane या स्तर हैं, इस सोपान में स्तर-पर-स्तर पार करते हुए अंत में हम supermind (अतिमानस) में भगवान् के सीमाहीन आलोकमय, आनन्दमय, अनंत में उठते हैं।

२७.६.३६

*

जब अज्ञान का मिथ्यात्व उठता है तब पथ ढक जाया करता है—इसका उपाय है इस मिथ्यात्व पर विश्वास न करना, इस suggestion (सुझाव) को reject (परित्याग) करना कि यह सब सत्य नहीं हो सकता। बाधाएं हैं तो क्या हुआ, सीधे पथ पर बढ़ते चलो, अंततः बाधाएं झड़ जायेंगी।

२७.६.३६

*

यह है बाहरी गड़बड़ी का फल। शरीर पर आक्रमण—शांतभाव से, अपने में संयत रह उसे दूर करना होगा।

१.७.३६

*

बाहर प्रिय या अप्रिय जो कुछ घटे, सब समय अविचलित रहना, भीतर मां के साथ युक्त रहना—यह तो अच्छी बात है। ऐसी ही अवस्था साधक के लिये उचित है।

२.७.३६

*

अभी भी शरीर बाहर के साधारण influence (प्रभाव) से ऊपर नहीं उठा है—सर्दी, वर्षा, ठंड, नम हवा का फल है यह। किंतु शरीर मां की शक्ति की ओर खुला है, उस

शक्ति को पुकारने से ये सब बाहरी स्पर्श शीघ्र ही पुंछ जाते हैं।

१२.७.३६

*

न: मेरे अंदर अब और दुःख, रोना, हताशा, मर जाऊंगी, चली जाऊंगी, मां मुझे प्यार नहीं करतीं आदि मानव प्रकृति की चीजें प्रवेश नहीं कर पा रहीं। यदि कभी आ भी जायें तो न जाने कौन मुझे सचेत कर जाता है और मैं एक छोटे शिशु की तरह मां-मां पुकारने लगती हूं और हृदय की गहराई में जाती हूं...

उ०: It is very good. (यह तो बड़ी अच्छी बात है)। इस तरह चलते रहने पर मानव-प्रकृति की ये सब पुरानी पड़ गयी movements (गतिविधियां) झड़ जायेंगी, फिर लौटकर नहीं आयेंगी।

१२.७.३६

*

न: मां, अब मैं feel (अनुभव) करती हूं कि तुम मेरे भतर से काम करती हो और मेरे भीतर हो...। आजकल कोई यदि काम के लिये बक-झक करे तो मैं शांत रहती हूं और सतर्क हो भीतर के आनंद से काम करने की चेष्टा करती हूं। किंतु कभी-कभी बाहरी और मानवी प्रकृति की चीजें आ मुझे घेर लेती हैं, तब मैं घपले में पड़ जाती हूं, चिंता और चंचलता अनुभव करती हूं और तुम्हें भूल जाती हूं।

उ०: This also is very good. (यह भी बहुत अच्छी बात है)। बाहरी प्रकृति और भूलना हैं स्वभाव की habit (आदत) के कारण। किंतु इस भीतरी भाव को यदि सर्वदा यत्न से बनाये रखो तो ये सभी habits (आदतें) झड़ जायेंगी, फिर पास नहीं फटकेंगी। वास्तविक चेतना की movements (गतिविधियां) ही मन-प्राण की natural habits (स्वभाव) बन जायेंगी।

१८.७.३६

*

हमने तुम्हें छोड़ नहीं दिया है। जब depression (निराशा) आता है तब तुम ऐसी बातें करती हो। रह-रह कर तुम बाहरी चेतना में आ जाती हो और मां को अनुभव नहीं करतीं। इसीलिये ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि मां ने तुम्हें छोड़ दिया है। पुनः भीतर पैठो, वहां उन्हें feel (अनुभव) करोगी।

५.९.३६

*

जब चेतना physical (भौतिक) में उतरती है तब ऐसी अवस्था होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि साधना का सारा फल व्यर्थ गया है या ऊपर चला गया है। सब कुछ है पर आवरण की आड़ में हो गया है। इस obscure physical (अंधकारमय भौतिक) में भी मां की चेतना, प्रकाश और शक्ति को उतारना चाहिये—जब वह प्रतिष्ठित हो जायेगी तब फिर वह अवस्था लौट कर नहीं आयेगी। यदि विचलित होओ, निराश होओ या ऐसे विचार प्रवेश करें कि अब मेरा इस जीवन में कुछ नहीं होगा, मरना ही अच्छा है, आदि, तब चेतना प्रकाश और शक्ति के उतरने की राह में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। अतः इन सबको बहिष्कृत कर मां पर निर्भर रहते हुए शांत भाव से aspire (अभीप्सा) करना और उन्हें पुकारना उचित है।

१९.९.३६

*

मां ने तो तुम्हारे बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा। यह बात ठीक है कि हर एक को मां ने एक मुख्य काम दिया है, वही है प्रधान कार्य। उसके बाद बच रहे समय में वे जो कुछ करना चाहें वह अलग बात है। असल बात है, बाहरी कुछ न चाहते हुए, मां के चरणों में समर्पण करते हुए सब काम right spirit (सही भावना) से करना चाहिये।

२१.९.३६

*

यह सीधा आलोकमय पथ ही है असली पथ। पर हां, उसतक पहुंचने में समय लगता है। एक बार इस पथ पर पहुंच जाने पर और कोई खास कष्ट, बाधा या स्खलन नहीं होता।

२१.९.३६

*

मैं बता चुका हूं कि क्यों हठात् और संपूर्णतः नहीं हो जाता—बाह्य physical consciousness (भौतिक चेतना) के ऊपर उठ आने के कारण सभी की ऐसी अवस्था होती है। तब धैर्य के साथ उस अवस्था में मां की चेतना को उतारना होता है, ज्यादा समय लगे भी तो कोई हानि नहीं। रूपांतर तो बहुत कठिन और महान् काम है, उसमें समय लगना स्वाभाविक है। धैर्य रखना चाहिये।

२६.९.३६

*

यह सच है कि बाहरी मन, आंख, मुंह को अपना न मानते हुए सब कुछ मां को देना होता है ताकि सब उसके ही यंत्र बनें, और कुछ नहीं।

१.१०.३६

*

ये विलाप और आक्रोश तामसिक अहंकार के लक्षण हैं—मैं नहीं कर सकती, मैं मर जाऊंगी, मैं चली जाऊंगी आदि कहने-सोचने से बाधाएं और भी घनी हो उठती हैं और तामसिक अवस्था की वृद्धि करती हैं, इससे साधना में उन्नति के लिये कोई सहायता नहीं मिलती। मैं तुम्हें यह बार-बार लिख चुका हूं। असली बात एक बार और लिख रहा हूं। तुम्हारी साधना नष्ट नहीं हुई है, जो पाया है वह खो नहीं गया है, सिर्फ पर्दे के अंतराल में हो गया है। साधना करते हुए एक समय ऐसा आता है जब चेतना एकदम ही physical plane (भौतिक स्तर) पर उतर आती है। तब भीतरी सत्ता पर, भीतर की अनुभूतियों पर एक अप्रवृत्ति और अंधकार का परदा पड़ जाता है, ऐसा लगने लगता है कि साधना-वाधना कुछ नहीं है, aspiration (अभीप्सा) नहीं, अनुभूति नहीं, मां का सान्निध्य नहीं, नितांत साधारण मनुष्य की तरह हो गयी हूं। ऐसी अवस्था सिर्फ तुम्हारी ही हुई हो सो बात नहीं, सभी की ऐसी होती है या हुई है या होगी, यहांतक कि श्रेष्ठ साधकों की भी ऐसी अवस्था होती है। पर वास्तविकता तो यह है कि यह साधना-पथ का एक passage (पड़ाव) मात्र है, यद्यपि बड़ा लम्बा पड़ाव। ऐसी अवस्था न होने पर पूर्ण रूपांतर नहीं होता। इस स्तर पर उतर, वहां स्थिर रह मां की शक्ति की लीला को, रूपांतर के काम को पुकारना होता है, धीरे-धीरे सब clear (साफ) हो जाता है, अप्रकाश के बदले दिव्य प्रकाश, अप्रवृत्ति के बदले दिव्य शक्ति और अनुभूतियों का प्रकाश होता है। सिर्फ भीतर ही नहीं, बाहर भी, सिर्फ ऊंचे स्तर पर नहीं, निम्न स्तर पर भी, शरीर की चेतना में, अवचेतना में भी होता है। और जिन सब अनुभूतियों पर परदा पड़ गया था वे सब बाहर निकल आती हैं, इन सभी स्तरों को भी अपने अधिकार में कर लेती हैं। पर ऐसा सहज ही और शीघ्र नहीं होता, धीरे-धीरे होता है—चाहिये धैर्य, चाहिये मां पर विश्वास, चाहिये दीर्घकालव्यापी सहिष्णुता। जो भगवान् को चाहता है उसे भगवान् के लिये कष्ट स्वीकार करना पड़ता है। जो साधना चाहता है उसे साधना-पथ की कठिनाइयों, कष्टों और विपरीत दशा को सहना पड़ता है। साधना में केवल सुख और विलास चाहने से नहीं चलेगा, बाधाएं हैं, विपरीत अवस्था आती है कह रोने-धोने और निराशा का पोषण करने से नहीं चलेगा। उससे पथ और भी लंबा हो जाता है। धैर्य चाहिये, श्रद्धा चाहिये और चाहिये मां पर पूर्ण निर्भरता।

१४.१२.३६

*

यही attitude (मनोभाव) अच्छा है। जब भी कठिनाइयां आती हैं, चेतना पर पर्दा पड़ जाता है। तब विचलित न हो शांत भाव से मां को पुकारना चाहिये जबतक कि परदा सरक न जाये। पर्दा पड़ता जरूर है पर सब कुछ अंतराल में रहता है।

१५.१२.३६

*

मां ने स्वेच्छा से चोट नहीं पहुंचायी ! पर हां, यदि भीतर कोई कामना या अहंकार रहे तो वे उठ खड़े होते हैं और मां से उसकी स्वीकृति या पोषण न पाने के कारण आहत महसूस करते हैं और साधक मान बैठते हैं कि मां हमें चोट पहुंचा रही हैं। कभी मां यदि चोट करें भी तो अहंकार और कामना को चोट पहुंचाती हैं, तुम्हें नहीं। अहंकार और कामना को वर्जित कर संपूर्ण आत्मसमर्पण करने से प्रकृति के सब दोष क्रमशः तिरोहित हो जाते हैं एवं मां का चिर सान्निध्य उपलब्ध हो सकता है।

१५.१.३७

*

शारीरिक चेतना में नीचे उतर आना तो सभी साधकों में होता है—नीचे नहीं उतरने से उस चेतना का रूपांतर होना कठिन है।

२४.१.३७

*

न : मां, मैं प्रायः हर समय तुम्हारे प्रकाश और चेतना को अपने अंदर उतार लाने की कोशिश करती हूं पर मेरे अंदर वैसा कुछ नहीं हो रहा। मैं क्या करूं मां ?

उ० : धीरज रख चेष्टा करते रहने से अंततः नतीजा निकलना आरंभ होता है। शरीर-चेतना खुलती है, थोड़ा-थोड़ा कर परिवर्तन आरंभ होता है।

२४.१.३७

*

इससे विचलित मत होओ। योग-पथ में ऐसी अवस्था आती ही है—जब निम्नतम शरीर-चेतना में और अवचेतना में उतर आने का समय आता है तो वह सब अनेक दिन टिक जाते हैं। किंतु इस पर्दे के पीछे मां हैं, बाद में दिखायी देंगी, यह निम्न राज्य ऊर्ध्व आलोक के राज्य में परिणत होगा ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर सब समर्पण करते-करते इस बाधापूर्ण स्थिति का अंत आ जाने तक आगे बढ़ती चलो।

८.३.३७

*

मां तुमसे दूर नहीं चली गयी हैं, साथ ही हैं—बाह्य चेतना के परदे के कारण अनुभव नहीं कर पा रही हो—यह विश्वास रखकर चलना होता है कि मां मेरे साथ हैं, मेरे अंदर ही हैं। ये कठिनाइयां तो कुछ भी नहीं, मनुष्य-मात्र में ये कठिनाइयां रहती हैं, "उपयुक्त" तो कोई भी नहीं। अच्छे-बुरे को गिनते रहना व्यर्थ है। मां पर विश्वास और अटूट aspiration (अभीप्सा) रखना ही सार है। इससे सारी बाधाओं को अतिक्रम किया जा सकता है।

१४.३.३७

*

जितना भी नीचे, अतल गहराई में जाओ, मां वहां तुम्हारे साथ हैं।

१८.३.३७

*

मां और भगवान् के बिना तुम नगण्य हो—मां तो तुम्हारे साथ ही हैं। साधक पाताल में उतरते हैं वहां ऊर्ध्व के प्रकाश और चेतना को उतार लाने के लिये—ऐसा विश्वास रख धीर चित्त से चलो; वह प्रकाश, वह चेतना उतरेगी ही उतरेगी।

३.४.३७

*

अंतिम पत्र में जो लिखा है सब सच है—इसी तरह सतत सचेत रहो। बाहरी स्पर्श या मिथ्यात्व की शक्ति के suggestion (सुझाव) से अब और विचलित या विमूढ़ नहीं होना चाहिये। अपने अंदर रहो जहां मां हैं—बाहर तो बाहर है, बाहर को भीतर से सत्य की आंखों से देखना चाहिये, तभी साधक निरापद होता है। अज्ञान में डूबे रहने के कारण साधक खुद मां के पास से दूर हो जाते हैं। मां तो कभी दूर नहीं होतीं, चिरकाल के लिये अंदर, साथ ही हैं। भीतर रहने पर उन्हें खोने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पुनश्च—रोग शायद इस आक्रमण का फल है। शांत रह, मां की तरफ शरीर-चेतना को खोल दो, ठीक हो जायेगा।

३.६.३७

*

न: आजकल प्रतिपल, हर श्वास-प्रश्वास में, हर सोच-विचार और दृश्य में असंख्य छोटे-छोटे ओसकणों की तरह अनुभव करती हूं कठिनाइयों को। प्रायः ही सिरदर्द रहता है, खासकर तब जब भीतर डूबी होती हूं यह असह्य हो उठता है। कभी-कभी

छाती में भय की तरह कुछ कंपित होता है, मन-प्राण छटपटाते हैं, कभी तो कांटे की तरह कुछ गले में अटक-सा जाता है . . . ।

उ० : शरीर-चेतना तो ऐसी कठिनाइयों को उभारती ही है। इनकी उपेक्षा कर, दृढ़ हो मां के पास जाने के लिये अटल संकल्प रखो तब बाधाएं पथ पर रोड़े नहीं अटकायेंगी।

६.६.३७

*

मां की सहायता तो है ही। बाधा से निराश न हो, भीतर से नीरव हो अपने को खोल दो। जो सहायता पाओगी उसे ग्रहण कर सकोगी।

३१.८.३७

*

मां का प्रेम और सहायता सदा ही हैं, उसका कभी भी अभाव नहीं होता।

२६.९.३८

*

न : अभीतक भी मैं क्यों नहीं मां को काम करते समय याद रख सकती ?

उ० : मन का स्वभाव है कि जो वह करता है उसमें मग्न रहता है। साधना के अभ्यास से मन की इस साधारण गति को अतिक्रम किया जा सकता है।

*

सारी सत्ता को detail (विस्तार) से खोलने और संपूर्णतः समर्पित होने में समय लगता है, खासकर lower vital और physical (नाभि के नीचे और पांव के तल तक) में ऊर्ध्व चेतना को उतारने में समय लगता है। तुम्हारा higher vital (उच्चतर प्राण) काफी खुला है, निम्न प्राण और शरीर-चेतना खुल रहे हैं—पर पूरी तरह नहीं खुले हैं इसीलिये बाधाएं अब भी हैं पर उनसे विचलित नहीं होना चाहिये। तुम्हारे अंदर मां का काम द्रुत गति से हो रहा है। सब हो जायेगा।

*

मैंने लिखा था कि किसी तरह की कामना या दावे को कोई प्रश्रय न दे मां को ही चाहना चाहिये। कामना आदि आती हैं प्राणों की पुरानी आदत के कारण। पर तुम

यदि हामी न भरो और हर बार उसे झाड़ फेंको तो आदत का जोर कम पड़ जायेगा, अंततः कामना और दावा नहीं रह जायेंगे।

*

It is very good. (यह बहुत अच्छा है)। जब अंदर परिवर्तन हुआ है तब बाहर भी धीरे-धीरे हो जायेगा। बहिस्सत्ता भीतर के प्रकाश का, मां का यन्त्र बनेगी।

*

न: मैं पूरे आधार में तुम्हारी शक्ति और काम को अनुभव कर रही हूं। बोध हो रहा है कि पीछे की तरफ अर्थात् पीठ के मध्य कुछ खुल रहा है और वहां तुम्हारी शक्ति और ज्योति को देखती हूं और अनुभव करती हूं।

उ० : अति उत्तम। पीछे की सत्ता प्रायः अचेतन ही रहती है और उसके द्वारा बाधाएं सहज ही घुस आती हैं। इस तरह पीछे के भाव का खुलना और सचेतन होना खूब अच्छा फल लाता है।

*

नींद न आना, शरीर का दुर्बल होना किसी भी तरह ठीक नहीं। नींद न आने से शरीर कमजोर होगा ही। नींद में भी साधना की स्थिति रह सकती है। यानी मां की गोद में सोना, किंतु नींद तो आनी ही चाहिये।

*

कभी अच्छी अवस्था, कभी कंटकाकीर्ण अवस्था तो सबकी होती है। यह तो साधना की परंपरा है। धीरता से काम लो। धीरे-धीरे अच्छी अवस्था बढ़ेगी, बाधाएं कम हो जायेंगी, अंत में खतम हो जायेंगी।

*

अशान्ति और अचेतनता आने पर शांत हो उनका प्रत्याख्यान कर मां को समर्पित करो, तब ये नहीं टिक पायेंगी।

*

मां की सहायता तो तुम्हारे पास है ही। अपने को खुला रखने से तुम्हारे भीतर उनका काम फलीभूत होगा।

*

यही तो चाहिये—यदि बाधा आयेगी और वह तुम्हें डिगा न पाये तब तो चेतना की दृढ़ प्रतिष्ठा हो रही है—जैसे भीतर वैसे ही बाहरी प्रकृति में भी।

*

क्लांति का बोध होना शरीर चेतना का, तमोगुण का प्रधान लक्षण है जब शरीर-चेतना यह सोचती है कि 'मैं काम कर रही हूं' तब ऐसा क्लांति-बोध होता है। आजकल आश्रम में शरीर-चेतना में इस तमोगुण का खूब खेल हो रहा है, एक की चेतना से दूसरे की चेतना में इसका प्रसार हो रहा है।

*

'मां आज गुरु-गंभीर थीं। मुझसे असंतुष्ट हैं। मैं योग के अयोग्य हूं, मेरा कुछ नहीं होने का', ऐसे ख्यालों से आश्रम के अनेक साधक विरोधी शक्ति के आक्रमण को अपने भीतर प्रवेश करने देते हैं, यंत्रणा भोगते हैं, यहांतक कि चरम विपदा में गिरने की तैयारी करते हैं। तुम उनकी तरह मत करो। जब ऐसे विचार आयें तब उन्हें दूर ठेल दो। Confidence in the Mother (मां पर विश्वास) है इस योग का प्रधान अवलम्ब। यह विश्वास कभी नहीं खोना चाहिये।

*

निःसंदेह वाक्-संयम साधना के पथ में बहुत उपकारी हैं। अनावश्यक बात बोलने से शक्ति का क्षय होता है और बहुत आसानी से निम्न चेतना में गिर पड़ते हैं।

*

बहिर्मन की बाधा को अतिक्रम करने में समय लगता है क्योंकि उसकी जड़ स्वभाव की मिट्टी में बड़ी गहरी और दृढ़ता से रोपी हुई होती है। इस बाधा से विचलित होना ठीक नहीं, इस stage (अवस्था) में वह स्वाभाविक है। उसे पूरी तरह निर्मूल

करने के लिये patience (धैर्य) और perseverence (अध्यवसाय) चाहिये।

*

तुम्हें कहा है कि कुछ बाधाएं ऊपरी सतह पर रहेंगी, भीतर शांत-स्थिर रहने से वे भीतर नहीं घुस सकेंगी—साधना करते-करते वे ऊपरी बाधाएं भी धीरे-धीरे लुप्त हो जायेंगी—ये सब प्रायः आनन-फानन में नहीं चली जातीं।

*

न: मां, जैसे ध्यान में शांति और प्रकाश अनुभव करती हूं, जाग्रतावस्था में भी जैसे वही अनुभव करती हूं। तुम क्या अभी पुनः मेरे अंदर उतर आयी हो? लगता है तुम्हारे चरण-युगल मेरे भीतर उतर आये हैं और वहां विराजमान हैं।

उ०: It is very good (यह बहुत अच्छा है)। सब अंदर ही निहित था, कुछ भी खोया नहीं था—देख ही रही हो कि सब कुछ लौट रहा है[१]।

*

न: कल जो मैं सारा दिन रोती रही वह इसलिये कि क्यों मैं तुम्हारे साथ युक्त नहीं, क्यों मैं pure (पवित्र) और तुम्हारे प्रति पूर्ण रूप से open (खुली) नहीं। आज वह मनस्ताप नहीं है। आज मैं तुम्हें हर समय, हर चीज में feel (अनुभव) कर रही हूं और तुम मानों धीरे-धीरे मेरी ओर बढ़ती आ रही हो और अपने शांति और आलोक से भर मुझे उठा रही हो।

उ०: यह सब अच्छा ही है। अभी तक जो हर समय और संपूर्ण रूप से नहीं होता तो इसमें कोई आश्चर्य करने की, दुःखी होने की कोई बात नहीं। साधना में इतनी जल्दी और इतनी दूर तक जो प्रगति हुई है वही आश्चर्यजनक और सुखद है।

*

न: मां, आज प्रणाम करने के समय मेरे भीतर तुमसे कुछ पाने के लिये लालायित था। किस कारण से मेरे भीतर ऐसा हुआ? क्यों मैं प्रफुल्ल अंतर से, मुक्त भाव से सब कुछ तुम्हारे श्रीचरणों में अर्पित नहीं कर सकी?

---

[१] श्रीमां को संबोधन करके लिखे गये साधकों के अनेक पत्रों के उत्तर श्रीअरविन्द दिया करते थे। —सं०

उ० : लगता है पुराने अभ्यासवश कुछ पाने की चाह मन में उठी थी। कामना दुःख की जननी है। जरा सजग हो प्रत्याख्यान करने से चली जायेगी।

*

न : लगता है मां को सर्वत्र और सर्वदा देख पा रही हूं और आंखें सजल हो उठती हैं। ये आंसू तो निजी दुःख के आंसू नहीं। फिर ये किसलिये ?

उ० : आंसू जब दुःख के नहीं हैं तो प्रेम-भक्ति के ही आंसू होंगे।

*

न : मां, तुमने अपने शिशु को और शिशु के सारे भार को ओढ़ लिया है और तुम्हारे और मेरे बीच कोई भेद नहीं रहा। चलचित्र की तरह, काल्पनिक वस्तु की तरह मैं यह सब क्या देख रही हूं ?

उ० : यह अवस्था अच्छी ही है। जब भेद नहीं रहा तो उसका मतलब है कि भीतरी चेतना मां के साथ मिल गयी है, इसीलिये ऐसा अनुभव हो रहा है।

*

न : हृदय में तुम्हारे आसन के दोनों ओर काफी ऊंचाई से दो सीढ़ियां उतर रही हैं, एक रुपहली दूसर सुनहली। छोटी बालिका की न्याईं इस सीढ़ी से बहुत-सी शक्ति उतर रही है; उसका रूप, परिधान और प्रकाश दो तरह का था—शुभ्र धवल और उज्ज्वल सूर्य की तरह।

उ० : आध्यात्मिकता का पथ और आध्यात्मिक शक्ति और ऊर्ध्व सत्य का पथ और उस सत्य की शक्ति।

*

न : कभी-कभी ऐसा feel (महसूस) करती हूं कि काफी ऊंचाई से कोई मधुर भाव से कह रहा है, "आओ, आओ, सब कुछ छोड़ समर्पण कर ऊपर उठ आओ।" और इस वाणी को सुनने के साथ-साथ खूब उज्ज्वल नीला प्रकाश भी पाती हूं। मां, मुझे कौन बुला रहे हैं ?

उ० : एक दिन ऊपर, मन से ऊपर उठना होगा। ऊपर की शांति और शक्ति को

नीचे उतारना और ऊपर आरोहण कर मन के ऊपर रहना—ये दोनों योग के आवश्यक अंग हैं।

*

न: आज मेरे साथ किसी का कुछ संबंध नहीं, मैं मानों सब कुछ से मुक्त हो गभीर शांति और मातृमयी चेतना में डूबी हुई हूं। आज दो बार दो खराब शक्तियों को देखा था, तब समझ लिया था कि वे मेरी पुरानी चेतना और अंधकार के रास्ते मेरे अंदर प्रवेश करना चाहती हैं। किंतु मैं अचंचल बनी रही और उन सब की तुम्हारी श्रीचरणों में बलि चढ़ा दी।

उ०: It is very good. (अति उत्तम)। खराब शक्ति या अवस्था के आना चाहते ही, इसी तरह शांत और सचेतन मन से मां को पुकारने से वह चली जायेगी।

*

न: मां, तुम मानों अब अपने शिशु के मस्तक में हो। पहले तुम्हें हृदय में महसूस करती और देखती थी, अब क्यों मस्तक में देखती हूं ?

उ०: लगता है मां तुम्हारे मन को विशेष रूप से ऊर्ध्व चेतना की ओर खोलना चाहती हैं इसीलिये उन्होंने मस्तक में अपना आसन जमाया है।

*

न: मां, अब देखती हूं कि मेरे गले में किसी ने सफेद कमल की माला पहना दी है। मुझे इतना आनंद अनुभव क्यों हो रहा है मां, पता नहीं।

उ०: It is very good. (यह बहुत अच्छा है)। इसका अर्थ है physical mind (भौतिक मन) में मां की चेतना के प्रकाश की स्थापना।

*

न: एक साधिका ने स्वप्न में देखा कि श्रीमां उसका बड़ी कठोरता से तिरस्कार कर रही हैं। किंतु उस साधिका को विश्वास है कि कोई विरोधी शक्ति श्रीमां का रूप धरकर उसे विचलित और उद्विग्न कर रही है।

उ०: ये सब झूठे सपने आते हैं प्राण की अवचेतना से—जाग्रत् अवस्था में उनका जोर नहीं चलता अतः नींद में अवचेतन अवस्था में मिथ्या रूप धर यदि विचलित

कर सकें, अच्छी अवस्था को रौंद सकें—विरोधी शक्ति की यही चेष्टा रहती है। इस तरह के स्वप्न का विश्वास न करना, जागने पर झाड़ देना।

*

यह sex-difficulty (कामशक्ति की कठिनाई) आश्रम में अधिकांश साधकों की प्रधान बाधा है। एकमात्र मां की शक्ति ही इससे पिंड छुड़ा सकती है—उस शक्ति के प्रति अपने को खुला रखो और समस्त मन-प्राण में उससे छुटकारे के लिये aspiration (अभीप्सा) जगाओ।

*

यह दुर्बलता आयी है सोना, खाना छोड़ देने से। इस तरह की न खाने की इच्छा को भगा देना होगा—जोर करके खाना होगा और धीरे-धीरे खाना बढ़ाना होगा जबतक पहले की तरह न हो जाओ। दर्दें आदि सब कमजोरी के कारण हैं। अच्छी तरह खाने से नींद भी आती है। . . . असली बात तो यह है कि बीमार होते ही तुम बड़ी चंचल हो जाती हो, इसीलिये यह सब होता है। यदि शांत रहो तो थोड़े में और जल्दी ही बीमारी भाग जाती है। और फिर तुम दवा भी खाना नहीं चाहतीं, यह और एक मुसीबत है—दवा लेने से भी जल्दी मुक्ति मिल जाती है। यदि दवा नहीं खाना चाहतीं तो खूब शांत, सचेतन रहना चाहिये। जो हो, इस समय खाने, सोने और शांत रह विश्राम करने से शरीर की स्वस्थ अवस्था शीघ्र ही लौट आयेगी।

इस साधना में प्राण और शरीर को तुच्छ समझ फेंक देने की इच्छा एक बड़ी भारी भूल है। यह प्राणहीन अशरीरी योग साधना नहीं है। प्राण और शरीर हैं मां के यन्त्र, वासस्थान और मन्दिर। इन्हें स्वच्छ रखना होता है, सबल सजग रखना होता है। खाने, सोने इत्यादि में neglect (लापरवाही) नहीं करते, जिससे शरीर भला-चंगा रहे वही करना चाहिये। और यह बात सदा याद रखो कि शरीर है साधना का साधन। उसे सम्मान देना होगा, स्वस्थ अवस्था में रखना होगा।

*

न : मां, मैं दूर-दूर से कुछ भी देखना, अनुभव करना नहीं चाहती। मां का शिशु क्यों मां के पास रहकर भी दूरत्व का अनुभव करेगा ?

उ० : इस बात की चिन्ता करना छोड़ दो—पहले भीतर सब कुछ प्रतिष्ठित करो, बाहर का सब कुछ बाद में होगा।

*

न: मां, आजकल मैं कभी-कभी साधारण चेतना और आमोद-प्रमोद में जा पड़ने की भूल कर बैठती हूं, सांसारिक विषयों के बारे में चिंतन और आलोचना करती हूं।

उ०: मां की चेतना तुम्हारे अंदर जितना-जितना स्थान बनाती जायेगी और सारे आधार पर अधिकार करती जायेगी उतना-उतना ही वे चीजें बहिष्कृत और रूपांतरित होती जायेंगी। तबतक स्थिर, धीर भाव से साधना करती चलो।

*

न: मां, चिट्ठी लिखने बैठते ही कितनी मिथ्या कल्पना-जल्पना और कामनाएं घिर रही हैं...

उ०: कठिनाइयों को अपनी न मान, उनसे अलग होकर उन्हें देखो और ये मेरी नहीं हैं कहकर reject (अस्वीकार) करो। इससे उन्हें अतिक्रम करना बहुत आसान हो जाता है।

*

न: मां, मेरे मन में ये विचार उठ रहे हैं कि तुम मेरे से नाराज और असंतुष्ट हो इसीलिये तुम मेरी ओर देखकर मुस्कराती नहीं, देखकर भी देखती नहीं। यह भी मन में आता है कि मैं बहुत खराब हूं, तुम्हारे योग के लिये अनुपयुक्त हूं।

उ०: ये सब हैं बाहरी प्राण-प्रकृति के suggestions (सुझाव) तुम्हें निराशा की ओर ठेलने के लिये तथा बाधाएं सामने खड़ी करने के लिये—इन सब कल्पनाओं को तूल नहीं देते।

*

न: अचानक देववाणी की तरह किसी ने मुझसे कहा, "तुम्हारी यह बाधा अंतिम बाधा है, इसको जीत लेने पर और बाधा नहीं, तुम्हारी स्थूल चेतना का परिवर्तन और रूपांतर करने के लिये यह बाधा आयी है। संपूर्ण रूपांतर कर मातृमय होकर रहना होगा।" क्या यह सब सच है, मां ?

उ०: जिस-दिन चैत्य हर समय जागरूक रहेगा, सम्मुख रहेगा, उस दिन यह वाणी सत्य सिद्ध होगी। अभी उसी की तैयारी चल रही है।

*

ध्यान करने के लिये प्रयास करने की जरूरत नहीं—स्वतः जो हो जाये वही यथेष्ट है।

*

न: मां, किसी ने जैसे मुझसे कहा, "तुम्हें और कुछ करने की जरूरत नहीं, किसी तरफ ताकने-झांकने की और ध्यान देने की जरूरत नहीं। सिर्फ मां के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर दो और उन्हें ही निरंतर गुहारती चलो। मां और मां की शक्ति सब कर देंगी।"

उ०: यह बात ठीक है। चैत्य की ही वाणी है। जहां मां के विरुद्ध या मां द्वारा की गयी व्यवस्था के विरुद्ध साधक में अहंकार उदित होता है वहां संघर्ष होगा ही—उस सब में मत उलझना, मां की शक्ति जो करेगी वही होगा।

*

न: बाहरी सत्ता पर कब और कैसे तुम्हारा राज्य स्थापित होगा ?

उ०: कब होगा यह तो अभी नहीं कह सकता—लेकिन भीतर की चेतना जब मां-मय हो जायेगी तो उसके बल से बाह्य प्रकृति भी बदलेगी, यही कहा जा सकता है।

*

मैंने तो तुम्हें बार-बार कहा है कि जैसा तुम्हारा स्वभाव है और जैसी तुममें बाधाएं हैं—प्रायः सभी में वैसी मानुषी स्वभाव और बाधाएं होती हैं—साधकों की difficulties (कठिनाइयों) में थोड़ा हेर-फेर हो सकता है किंतु मूलतः सभी मनुष्य हैं, बाह्य प्रकृति अभी भी अशुद्ध और असिद्ध है।

*

न: किसी चीज की माला-सी मेरे गले में झूल रही है, उसमें से तुम्हारा आलोक विकीर्ण होकर तुम्हारे शिशु का सब कुछ आलोकित कर रहा है और तुम से ओतप्रोत करे दे रहा है।

उ०: गले में का अर्थ है मनबुद्धि का बहिर्गामी अंश (physical mind), यहां जो काम हो रहा है और उस काम का जो फल मिल रहा है वह समझ में आ रहा है।

*

यदि दुर्बलता महसूस होती हो तो धीरे-धीरे मां की शक्ति को शरीर में उतार लाओ—बल मिलेगा।

*

न: मां, तुम्हारी अपेक्षा लोगों की बातों में ध्यान ज्यादा जाता है। बार-बार मन संसार की ओर दौड़ना चाहता है। मेरी प्रकृति बहुत चंचल और unconscious (अचेतन) है। मन और प्राण की चेतना में असंख्य अदिव्य चीजें आ घुसी हैं।

उ०: इसलिये कि तुम अपनी शांत साधना की गति नहीं रख सकीं, और इसलिये कि बाधाएं आने पर व्याकुल हो अशांति और चंचलता को निमंत्रण दिया। यह जो बाहर से आनेवाले दर्शनार्थी अपने साथ बाहर का atmosphere (वातावरण) लाते हैं उससे आश्रम के वातावरण में एक कोलाहल और confusion (अस्त-व्यस्तता) आ गयी थी। उसीका प्रभाव तुम्हारे ऊपर भी पड़ा। स्थिर हो जाओ, अशांति को स्थान न दे दृढ़ भाव से मां को बार-बार पुकार कर वही पुरानी अच्छी अवस्था वापिस ले आओ।

*

न: मां, आज दोपहर को अंधकार मुझे घेर लेना चाहता था, जैसे कुछ नीचे की ओर खींच रहा था, और इसी बीच देखा कि ऊपर से शांति और प्रकाश उतर रहे हैं। शुरू में डर लगने पर भी दृढ़ता से कहा कि मेरे अंदर मां आसीन हैं; ये मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। थोड़ी देर बाद देखा सब बिला गये।

उ०: हां, ऐसा ही करना चाहिये, दृढ़ रहना होता है—ऐसा हो जाये तो निम्न प्रकृति के आक्रमणों से आसानी से निपटा जा सकता है।

*

न: मां, मैं अभीतक भी काम करते-करते या पढ़ते हुए क्यों तुम्हें कुछ देर के लिये भूल जाती हूं ?

उ०: पढ़ते और काम करते हुए मां को याद रखना आसान नहीं है—काम व पढ़ाई में लीन हो मन भूल जाता है। प्रयास करते-करते स्मरण करने का अभ्यास हो जाता है।

*

न : बीच-बीच में जब शरीर शांत भाव से विश्राम लेता है तब देखती और अनुभव करती हूं कि समूची सत्ता तुम्हें समर्पित हो रही है एवं सब कुछ सुन्दर रीति से तुमसे ओतप्रोत हो रहा है। अपने-आपको जबर्दस्ती बाहर की तरफ या काम की तरफ लगाने से यह सुन्दर अवस्था जैसे नष्ट हो जाती है।

उ० : चेतना की बहुत उन्नति का लक्षण है—अंततः यह मां-मयी चेतना काम के समय संपूर्ण रूप से बनी रहती है किंतु अभी जबर्दस्ती काम की तरफ मोड़ने की जरूरत नहीं।

*

न : आजकल मेरी नींद जैसे शांत, आलोकित और सचेतन हो रही है। लगता है जैसे मैं प्रकाश और शांति से घिरी सो रही हूं।

उ० : ऐसी नींद की अवस्था बहुत ही शुभ है। नींद ऐसी ही सचेतन होनी चाहिये।

*

न : मां, कभी-कभी तुम्हारी मुद्रा देखकर लगता है कि तुम मुझे देखकर मुस्करायी नहीं क्योंकि मेरे अंदर कुछ प्रगति नहीं हुई। मेरे भीतर सब कुछ खराब है।

उ० : इसीका मैंने निषेध किया था क्योंकि यह है मन की कल्पना। पहली बात—साधक मां के बारे में केवल गलत धारणाएं बनाते हैं—दूसरी बात, साधक की अच्छी अवस्था या खराब अवस्था पर मां का मुस्कुराना या गंभीर होना निर्भर नहीं। और इसके ऊपर इन सब कल्पनाओं के साथ मिली हुई हैं प्राण की मांगें। इसीलिये ऐसा सब सोचकर निराशा और रोना-धोना आता है। अतः ये सब कल्पनाएं और निरर्थक अनुमान नहीं करने चाहियें।

*

न : मेरे भीतर हर समय जैसे एक अग्नि जल रही है और वेदना के जैसा कुछ हो रहा है, मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा।

उ० : इस तरह की ज्वाला और अच्छा न लगना अशांत प्राण का लक्षण है, इसे शह न दो।

*

Sex-impulse (कामावेग) मानव प्रकृति का प्रबल अंग है अतः बार-बार आता

है। किसी तरह का प्रश्रय न दे (मन की कल्पना इत्यादि से) अविचलित रहो, यह मेरा नहीं है समझकर परित्याग करो, अंत में उसका वेग और नहीं रह जायेगा, आने पर भी चेतना का स्पर्श और नहीं कर पायेगा, उसके बाद उसका आना भी बंद हो जायेगा।

*

एक बार तुम्हें कहा था कि मनुष्य में एक नहीं अनेक व्यक्ति होते हैं—many persons in one being—सभी अलग-अलग। फिर भी यदि central being (केंद्रीय पुरुष) स्थिरभाव से साधना करता चले तो बाकी सब मां के वश में हो जायेंगे।

*

ध्यान में जैसे अंतर्दर्शन होते हैं वैसे ही लिपि भी दिखायी देती है—यहांतक कि खुली आंखों से भी देख सकते हैं। इसे लिपि या आकाशलिपि कहते हैं।

*

न: मां, जिस चीज की जरूरत होती है वह तुम्हें लिख देने की इच्छा होती है। किंतु यदि तुम देती हो तो खुले दिल से ग्रहण नहीं कर पाती। और नहीं देने से दुःखी होती हूं।

उ०: यदि नहीं देने से दुःख होता है तो इससे यह प्रमाणित होता है कि उस जरूरत में कामना-वासना छिपी थी। साधक को कामना-शून्य होना होता है।

*

कितने भी बाधा-विरोध आयें, साधना नष्ट नहीं हो सकती—यहां हो या अन्यत्र, साधना शुरू करते ही बाधाएं सिर उठाती हैं क्योंकि प्रकृति का रूपांतर करना होता है, उस रूपांतर की प्रक्रिया में सब ऊपर उठता है, पुरानी प्रकृति का सब कुछ दिखायी देने लगता है, साधक उससे भयभीत नहीं होता, मां की शक्ति की सहायता से सब रूपांतरित कर देता है।

*

न : देखती हूं कि ऊपर से बहुत मधुमयी सघन शांति आधार के एक स्तर में उतर रही है।

उ० : इस शांति को सर्वत्र उतारना होता है—मानों सारा शरीर चिर-स्थिर शांति से भर उठा।

*

न : . . . मस्तक के ऊपर एक आलोकमय चक्र को घूमते देखती हूं, मां। यह क्या है ?

उ० : आलोकमय चक्र के घूमने का अर्थ है ऊपर के आलोक की शक्ति मन के ऊपर काम कर रही है।

*

पांच साल तो कुछ भी नहीं—बड़े-बड़े योगियों ने उससे कहीं ज्यादा समय तक प्रयास करके भी भगवान् को नहीं पाया, रूपांतर भी नहीं कर सके—इसके लिये चिल्लाना और योगसाधना छोड़कर चली जाऊंगी कहना, ऐसी मांग और अहंकार करना उचित नहीं। शांति से, धैर्य के साथ साधना करो—यदि कोई विशेष गुरुतर स्खलन हो तो वह भी . . . मां को बता दो और उनसे सहायता मांगो। साधारण कठिनाइयां तो सभी को होती हैं, उनके लिये अंदर ही अंदर मां को पुकारती रहो, अंततः फल मिलेगा लेकिन ये सब निराशाभरी बातें और कुछ नहीं हुआ, कुछ नहीं हुआ इत्यादि की बोली बोलना छोड़ दो।

*

यह दवा खाकर किसी को कभी भी उल्टी नहीं हुई—लगता है तुम्हारे nervous mind (स्नायविक मन) की कल्पना बहुत प्रबल है इसीलिये शरीर पर ऐसा असर हुआ है। लेकिन अगर दवा के प्रति इतनी घृणा है तो खाने से क्या लाभ ? बिना खाये शक्ति द्वारा जो हो—शरीर को शक्ति के प्रति खोलना होगा।

*

न : मां, मैं कपड़े बहुत जल्दी फाड़ देती हूं। बचपन में भी ऐसा ही होता था, इसके लिये मेरे मां-बाप खूब नाराज होते थे।

उ०: शरीर-चेतना शांत-स्थिर हो जाने से आदत सुधर जायेगी।

*

न: मां, बिना मसहरी के मजे से सो सकती हूं, मुझे मच्छर नहीं काटते। जो अनावश्यक है उसका और व्यवहार नहीं करूंगी, अपनी मसहरी और दो छोटी-छोटी चीजें आपके चरणों में निवेदित करती हूं।

उ०: ये क्यों दी हैं ? मां को जरूरत नहीं, तुम्हें है। गर्मियों में मच्छर उतने नहीं काटते किंतु बरसात के बाद दुबारा आयेंगे। मां ये सब वापस कर रही हैं, मां का दान समझकर ले लो। यदि मां को कुछ देना है तो अपने-आपको दो, मां सहर्ष स्वीकार कर लेंगी उसे।

*

Very good. (अत्युत्तम)। जो कुछ अशुद्ध-अपवित्र है वह शांत हो मां की शक्ति की अग्नि में होम दो। ऊपर का सब कुछ आधार में उतर आने दो—अंतर में निम्न स्तर की किसी चीज के लिये जगह नहीं रह जायेगी।

*

न: क्यों इतना नीचे उतर गयी ? मन में आता है कि सब कुछ तुम्हारे श्रीचरणों में अर्पित कर दूं जिससे तुम्हारे जगत् से उनका समूल ध्वंस हो जाये। हे भगवान्, क्या यह कोरी कल्पना है ?

उ०: यह कल्पना नहीं है। नीचे जाने का उद्देश्य ही यही है। नीचे जो कुछ है उस सबका समर्पण करना, आलोकित और रूपांतरित करना।

*

न: बीच-बीच में सिर में न जाने कैसा-कैसा लगता है—किसी समय अवश और शांत होता है और किसी समय झन-झन करता है और वहां से जैसे कुछ ऊपर की ओर आरोहण करता है और किसी समय ऐसा लगता है मानों ऊपर से कुछ उतरकर खोल रहा है।

उ०: जब ऊपर से शक्ति मस्तक में उतरती है तो कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है।

*

न: बहुत ऊपर एक तरंगहीन प्रशांत महासागर देखती हूं। वह सागर मानों अनंत के साथ मिल गया है और एक स्वर्ण-तरी को अपने वक्ष में छिपा धीरे-धीरे नीचे की ओर आ रहा है।

उ०: ऊर्ध्व चेतना की धारा के अवरोहण का लक्षण ।

*

न: ऊपर से सूर्य समान और नीले प्रकाश के समान दो प्रकाश वर्तुलाकार हो केवल हृदय में उतर रहे हैं।

उ०: इसका अर्थ है कि सत्य का प्रकाश और ऊर्ध्व मन का प्रकाश पुनः नीचे आ रहे हैं।

*

न: अपने चारों ओर असंख्य छोटी-छोटी बाधाएं देख रही हूं। लगता है, क्योंकि मैं सब बाधाओं को खोज-खोजकर बाहर निकाल रही हूं और दृढ़ता से संपूर्ण रूप से उन्हें विजित कर रही हूं इसीलिये ये बाधाएं इस तरह से दिखायी दे रही हैं। मेरी अनुभूति में कुछ तथ्य है क्या ?

उ०: तुम्हारी अनुभूति सच्ची है। बाधाओं से डरो मत—सब देख-जानकर हटाना होता है, इसीलिये दिखायी दे रही हैं।

*

शरीर-चेतना का बहिर्मन ही साधना की इस stage (स्थिति) में विशेष बाधा देता है, वह बड़ा ही obstinate (जिद्दी) होता है, छोड़ता नहीं—साधक को उससे भी ज्यादा जिद्दी बनना होता है, धीर-स्थिर, मां को भीतर पाने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ होना होता है। अंत में, कितना ही जिद्दी क्यों न हो, यह मन और जिद नहीं कर सकेगा, रास्ते पर आ ही जायेगा।

*

न: सुना, कोई मुझे कह रहा है, "तुम्हारी भीतरी मानसिक, प्राणिक, शारीरिक जितनी सब कठिनाइयां हैं उन्हें रूपांतरित कर अथवा दूर कर नूतन जन्म ले मां के पास जा सकोगी।" मां, क्या यह ठीक है ?

उ०: ये सारी बातें ठीक हैं, सभी साधकों पर लागू होती हैं। फिर भी इन सब कठिनाइयों के बावजूद, परिवर्तन की लम्बी अवधि के बीच भी मां सर्वदा समीप हैं, सहायता कर रही हैं यह बात सदा याद रखने से शांत मन से निरापद हो पथ पर चलना आसान होता है।

*

न: अनुभव कर रही हूं कि मन-प्राण की चेतना अंतर्मुखी न हो बाहर की ओर भाग रही है।

उ०: ऐसा सबके साथ होता है। साधना पथ पर बहुत आगे बढ़ जाने के बाद भीतर-बाहर एक हो जाते हैं, इसके बाद ऐसा नहीं होता।

*

न: बीच-बीच में जब करुणामयी मां को अनुभव करती और पुकारती हूं तो बहुत जोर से रोना आता है और उसके साथ-ही-साथ हृदय के गंभीरतम प्रदेश में एक मधुर शांतिपूर्ण अहसास होता है।

उ०: इस प्रकार का क्रन्दन प्रायः ही चैत्य पुरुष से आता है—जो भावना उठती है इसके साथ वह चैत्य पुरुष की भावना ही होती है।

*

स्थिर भाव से साधना करती चलो—समय पाकर कठिनाइयां सरक जायेंगी।

*

न: मां, मैं इस समय एक शुष्क मरुभूमि में पड़ी हूं। लगता है मेरे भीतर तुम लोगों के लिये कुछ नहीं है। क्यों इतनी निम्नावस्था में गिर गयी हूं?

उ०: साधना में चेतना के उतार-चढ़ाव अनिवार्य हैं—जिस समय नीचे गिरो उस समय विचलित न होओ, धैर्यपूर्वक मां की ज्योति और शक्ति को उस शुष्क भाग में पुकार लाओ—यही है right attitude (उचित मनोभाव) और उत्कृष्ट उपाय।

*

न: मां, मेरी प्राण-जगत् की एक शक्ति की ऊपर की और एक शक्ति ने आकर

तुम्हारे श्रीचरणों में बलि चढ़ा दी। कुछ समय बाद देखती हूं कि इस बलि के रक्त में से एक कमल खिल रहा है।

उ० : निम्न प्रकृति की एक शक्ति के नाश हो जाने पर प्राण के एक भाग में सत्य चेतना खुल गयी।

*

अब समझ में आता है कि तुम्हारी बीमारी nervous (स्नायविक) है, क्योंकि ये सब sensations (संवेदन) nervous (स्नायविक) को छोड़ और कुछ नहीं हैं। यह वमन का suggestion (सुझाव) भगा दो—जब ऐसे सब संवेदन आयें तो शांत बनी रहो, श्रद्धा के साथ मां को पुकारो। इन सुझावों का दबाव कम होते ही बीमारी झड़ जायेगी।

*

जब किसी कठिनाई को दूर करने का प्रयास हो रहा होता है तब वैसा ही होता है—एक दिन सबसे मुक्ति मिल जाती है, लगता है सब चले गये हैं, दूसरे दिन फिर वही बाधा दिखायी देती है। Perseverence (अध्यवसाय) के साथ लगे रहने से बाधा दुर्बल हो जाती है, फिर नहीं आती, यदि आये भी तो उसमें दम नहीं होता।

*

न : मां, आजकल और चीजों की अपेक्षा मैं वाणी ही क्यों अधिक सुन रही हूं और लिपि भी क्यों देख रही हूं ?

उ० : साधना की गति का वेग बढ़ते-बढ़ते यह सब होता है। फिर भी खूब सावधानी से लिपि और वाणी को देखना-सुनना होता है—क्योंकि वे सच्ची और उपकारी हो सकती हैं और झूठी और विपज्जनक भी।

*

न : जब मैं 'क', 'ख' इत्यादि के साथ बात करती हूं तो शरीर में दुर्बलता लगती है, भीतर अशांति और बेचैनी-सी महसूस होती है, सिरदर्द हो जाता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किंतु 'द', 'स' इत्यादि के साथ बातचीत करते हुए कभी ऐसा नहीं लगता। क्यों मां ?

उ० : जब मिलना-जुलना और बातचीत होती है तब उस आदमी की चेतना की vibrations (स्पंदन) तुम्हारे ऊपर आती हैं। आपस में ज्यादा मेल-मिलाप और बातचीत करने से ही ऐसा होता है, किंतु साधारण अवस्था में किसी को कुछ महसूस नहीं होता, conscious effect (सचेतन प्रभाव) भी नहीं होता और यदि हो भी तो लोगों को समझ में नहीं आता कि इसलिये ऐसा हुआ है। जब साधना करने पर चेतना सजग और sensitive (संवेदनशील) हो जाती है तब महसूस होने लगता है और ऐसा फल भी मिलता है। जिनकी चेतना तुम्हारी चेतना के अनुकूल हो उनके साथ बात करने से कुछ नहीं होता, लेकिन जहां चेतना अनुकूल नहीं होती अथवा उस आदमी में दुर्भावनाएं हों तो तुम्हारे ऊपर ऐसा effect (प्रभाव) हो सकता है।

*

यह है पुरानी प्राण-प्रकृति जो एक मांग का भाव लेकर उठती है, 'कहां, मैं जो चाहती हूं वह तो मुझे मिलता नहीं। इसी भाव से ये सब कल्पनाएं आती हैं कि मां मुझे दूर रखती हैं, मुझे नहीं चाहतीं इत्यादि। ये जब उठें तो उन्हें समझाना होता है, झाड़ फेंकना होता है, चैत्य यह सब नहीं चाहता। वह सिर्फ मां को चाहता है, जानता है कि मां को चाहने से, उनपर श्रद्धा-भक्ति रखने से सब हो जाता है। हर समय गहराई में, चैत्य में रहना होता है।

*

न : मैं प्रायः हर समय अपने सामने एक सीधा रास्ता देखती हूं। कोई जैसे अंदर से कहता है, "सब कुछ दूर फेंककर, किसी भी तरफ ध्यान न दे सिर्फ मां-मां कहते हुए बढ़ती चलो—मां ले चलेंगी।"

उ० : यही सच्चा रास्ता है—इस रास्ते पर कठिनाइयां आयें तो disturbed (क्षुब्ध) मत होओ, मां ही इन सबको सुधार लेंगी, मुझे भय या दुःख करने की जरूरत नहीं। ऐसा सोचकर हा सीधे पथ पर बढ़ती चलो।

*

क्या किया जा सकता है, 'स' की उम्र हो गयी है, स्वभाव को आसानी से नहीं बदला जा सकता। उसके साथ धैर्यपूर्वक यथासंभव काम करना होगा। जिस दिन psychic atmosphere (चैत्य वातावरण) सर्वत्र स्थापित होगा उस दिन और ऐसा नहीं लगेगा।

*

तुमने क्या green (हरा) केला खाया था ? जिनमें पित्त की अधिकता हो उनके लिये यह अच्छा नहीं। खाने से जी मिचलाता है। इन्हें खाना नहीं चाहिये।

*

जैसे भी हो ध्यान में, काम करते हुए या वैसे ही बैठे हुए मां की चेतना और शक्ति को आधार में उतारना और उसे काम करने देना ही वास्तविक चीज है—वह जिस भी तरह से, जिस भी उपाय से क्यों न हो।

*

न : देखती हूं कि यहां साधक-साधिकाओं में पारस्परिक हिंसा और परनिन्दा करने की आदत काफी फैली हुई है।

उ० : तुम जो कह रही हो वह ठीक है—मनुष्य का मन प्रायः इन्हीं सब दोषों से भरा रहता है। साधक अभी भी इन सब क्षुद्रताओं को मन-प्राण से झाड़ फेंकना नहीं चाहता, इससे मां के काम में अनेक विघ्न आते हैं। लेकिन तुम यह सब देखकर विचलित नहीं होना—अपने को इन सबसे . . . स्वतंत्र रखकर, सबके लिये मंगल कामनाएं करते हुए शांत मन से अपनी साधना करती चलो।

*

झील का अर्थ—चेतना का ऐसा एक स्थायी स्रोत जिससे ऊर्ध्व स्तर और भौतिक स्तर का संबंध होता हो—ऐसा संबंध हो जाये तो ऊर्ध्व स्तर का प्रकाश physical (भौतिक) में उतर सकता है।

*

यदि उससे भीतर की चेतना भटक नहीं जाती तो विशेष क्षति नहीं। जो भी करो, उसमें सचेतन रहते हुए मां के साथ युक्त रहना चाहिये, यही असली चीज है।

*

तुमने मेरी बात को गलत समझा—मैंने लिखा था कि अहंकार दो तरह का है—एक है राजसिक अहंकार जो सोचता है मैं शक्तिशाली हूं, मेरे द्वारा ही सब होता है—और

एक है इससे ठीक उल्टा—तामसिक अहंकार जो सोचता है मैं सबसे खराब हूं इत्यादि, जैसे तुम बार-बार बोलती हो, "आश्रम में मेरे जैसा खराब और कोई नहीं है।" और इसके ऊपर यदि कहो, "मेरे कारण से सब बन्द हुआ है, मेरी ही कठिनाई से आश्रम की यह अवस्था हुई है।" तब यह शेषोक्त तामसिक अहंकार के सिवा और क्या हो सकता है ?

*

पहले जो अवस्था थी या जो प्राप्त किया था वह सब नष्ट नहीं हुआ, नष्ट होगा भी नहीं लेकिन तुम्हारी अशांति और असावधानता से पर्दा पड़ गया था। शांत और सचेतन होते ही सब लौट आता है। वही अभी हो रहा है। अब पहले की तरह साधना करो—फिर से द्रुत उन्नति होगी।

*

जब ऊर्ध्व चेतना की अवस्था के बदले निम्न चेतना की अवस्था आती है—और ऐसा सभी साधकों के साथ होता है—तब अपने को quiet (शांत) रखकर मां की शक्ति को पुकारना चाहिये और जबतक ऊर्ध्व अवस्था वापिस नहीं आ जाती, अपने को खुला रखना चाहिये। निम्न अवस्था स्थायी नहीं हो सकती, अच्छी अवस्था आयेगी ही आयेगी। ऐसा करने से प्रत्येक बार निम्न प्रकृति की कुछ उन्नति होती है, एक भाग—जो पहले खुला नहीं था—खुल जाता है—अंत में सब खुल जायेगा और सब ऊर्ध्व चेतनामयी अवस्था में स्थायी भाव से रहने लगेगा।

*

मां ने तुम्हें छोड़ नहीं दिया है और छोड़ेंगी भी नहीं। क्योंकि यह बाधा शरीर-चेतना में आयी है इसीलिये वहां ठिठक गयी है, बहुतों के साथ ऐसा हुआ है। यह चिरस्थायी नहीं होती। बाधा होते हुए भी धैर्यपूर्वक चलो—अच्छी अवस्था आयेगी।

*

'त' के बारे में मैंने तुम्हें पहले ही सावधान कर दिया था और इन सबमें न उलझ मां का काम, मां के लिये ही करने को कहा था, तुमने भी अपनी सहमति जतायी थी। इसके अलावा इन सबको सहन करना न सीखने से साधक में उचित समता

कहां से आयेगी ? अप्रिय व्यवहार, अप्रिय बात, अप्रिय घटना ये सभी साधक को भगवान् के प्रति एकनिष्ठ और जगत् की सब घटनाओं में अविचल रहने की opportunity (अवसर) प्रदान करती हैं। और सब जो लिखा है उसका निदान रोना-कलपना नहीं है, निदान है अपने चैत्य में वास कर, मां की शक्ति पर निर्भर कर अग्रसर होना, इससे सब कठिनाइयां, सब अपूर्णताएं चुपचाप कम हो जायेंगी, विनष्ट हो जायेंगी। तुम्हारी अच्छी अवस्था लौट आयी है जानकर राहत मिली। वह अवस्था अचल बनी रहे !

*

जब vital (प्राण) में और गड़बड़ नहीं रहेगी, physical (शरीर) में जब शांति पूर्णतया और हर समय रहेगी तब शरीर की ये सब गड़बड़ियां और नहीं टिकेंगी।

*

न: आज कुछ दिन से निम्न प्रकृति से उठी असंख्य बाधाएं मुझे ग्रस रही हैं, अधिकार जमाना चाह रही हैं। किंतु इस सबके होते हुए भी अपने हृदय में तुम्हारा स्मरण और तुम्हारे प्रति आत्मसमर्पण करने की इच्छा और तुम्हारे लिये प्रेम अनुभव कर रही हूं।

उ० : बाधाओं के होते हुए यदि वह भाव, वह स्मृति रख सक रही हो तो फिर चिंता करने की कोई बात ही नहीं है; उसीसे अंततः सब बाधाओं को अतिक्रम करके मां की चेतना में स्थायी भाव से निवास करो।

*

ये सब तो हैं प्राण की तामसिक कल्पनाएं, निम्न प्रकृति के suggestion (सुझाव)। विरोधी शक्तियां भी निराशा और दुर्बलता लाने के लिये इन सब अयोग्यताओं का और मरने का idea suggest करती हैं (विचार सुझाती हैं)। इन सब suggestions (सुझावों) को भीतर प्रवेश नहीं करने देना चाहिये।

*

Sex-impulse (कामावेग) किस तरह उठ रहा है ? साधारण भाव में या किसी के प्रति आकर्षण द्वारा ? जैसे भी क्यों न उठे, उसे प्रश्रय न दे, उसका प्रत्याख्यान कर

मां को पुकारो, मां की शक्ति को आधार में नीचे उतारो—फिर से सत्य चेतना आकर शरीर में स्थापित होगी।

*

न: . . . सिर के ऊपर से कुछ अवतरण और दबाव का अनुभव कर रही हूं, उस समय सिरदर्द क्यों होता है ?

उ०: उस सिरदर्द को तूल न दो। ऊपर की चीज उतरने पर वह दूर हो जाता है।

*

न: . . . मां, कल रात स्वप्न में अपनी पार्थिव मां को देखा। वे कह रही थीं, "अपने को संपूर्ण रूप से मां को अर्पित कर साधना करो, मैं तुम्हारे रास्ते में और रोड़े नहीं अटकाऊंगी। तुझे मां मिल जायें तो मैं भी मुक्त हो जाऊंगी।"

उ०: इस तरह के स्वप्नों में पार्थिव मां physical nature (पार्थिव प्रकृति) की प्रतीक बनकर आती हैं। जिसने तुमसे यह बात कही वे तुम्हारी पार्थिव मां नहीं थीं, वह थी पार्थिव मां के रूप में पार्थिव प्रकृति।

*

न: आज से मैं धैर्यहीन, अशांत और अधीर नहीं होऊंगी और रुकावटें देख भयभीत नहीं होऊंगी . . .। अब जितने भी विरोध आयें शांत भाव से, गभीर विश्वास के साथ तुम्हारी ओर मुड़ूंगी और उन्हें तुम्हारे पदकमलों में अर्पित कर दूंगी।

उ०: यही है right attitude (उचित मनोभाव)। हमेशा यही मनोभाव रहना चाहिये, तभी मां की शक्ति अंदर ही अंदर अवचेतना के क्षेत्र को रूपांतरित करने के लिये आसानी से काम कर सकेगी।

*

न: मां, मैं उसे (एक बहुत शांत भाव) अनुभव कर रही हूं लेकिन आंख से देख नहीं रही। वह रूपहीन क्यों है ?

उ०: शांति का काम रूपहीनता में ही होता है।

*

न : मैं बीच-बीच में अपनी चेतना क्यों खो देती हूं ? यह खराब है या अच्छा ? कुछ काम करते-करते देखती हूं कि अचानक चेतना कहीं चली गयी, पुनः अपने-आप लौट आती है।

उ० : चेतना जब अंतर्मुखी होती है तब ऐसा होता है। खराब तो नहीं है पर हां, काम के समय बहुत गहराई में न जाना ही अच्छा है।

*

न : मां, मेरे अंदर एक भाव उठता है कि तुम मुझे बड़े-बड़े साधक-साधिकाओं की तरह पसंद नहीं करतीं, नहीं चाहतीं, नहीं देखतीं और अपना नहीं समझतीं।

उ० : जो देख रही हो उसमें सच्चाई है। सिर्फ तुम्हारा ही नहीं, सारे आश्रम में यह भाव फैला हुआ है, बहुतों की साधना में विषम बाधाओं को जन्म दे रहा है। इसमें निहित है तामसिक अहंकार और क्षुद्र प्राण की मांग। इस भाव को कभी अपने अंदर जगह न दो। जो मां से कुछ भी न मांग अपने को देता है वह मां को संपूर्णभाव से पाता है, मां को पाने पर सब कुछ मिल जाता है, भागवत चेतना, शांति, विशालता, भागवत ज्ञान और प्रेम इत्यादि। लेकिन छोटी-छोटी मांगों को लेकर बैठ जाने से बाधा-ही-बाधा हाथ आती है।

*

न : दो-तीन दिन से मेरे सिर में दर्द हो रहा है . . . । लगता है सिर के ऊपर पहले की तरह बड़ा-सा कुछ धरा है। और अब सिर से लेकर सारे शरीर तक में फैल रहा है।

उ० : शायद इस 'बड़े-से कुछ' के अवतरण के लिये शरीर में कोई difficulty (कठिनाई) है इसीलिये सिर में दर्द है। यदि ऐसा है तो मन को खूब शांत और wide (विशाल) कर के खोल देने से वह difficulty (कठिनाई) चली जाती है।

*

यही तो चाहिये—सारे स्तरों में चैत्य का प्रभाव और आधिपत्य।

*

यह भी कितनी बार कहा है—शांत होकर अंतरस्थ रहो—जैसे ही सत्य की चेतना

आती है, यह सब चंचलता सत्य को दूर भगा देती है, रह जाते हैं सिर्फ मिथ्यात्व, निराशा इत्यादि। मां के ऊपर निर्भर रह शांत चित्त बनी रहो, कठिनाइयां सबके जीवन में आती हैं, उनके रहते हुए भी स्थिर रहकर पथ पर बढ़ना होता है।

*

एक आवरण अभी भी है—संपूर्ण शक्ति अभी भी उतर सकती है। उसके बिना अनेक साधकों की अवस्था अधसोये जैसी है—पूरा-पूरा जागना नहीं चाहते।

*

हताश और दुःखी नहीं होते, रोना-धोना नहीं मचाते। शांत हो विचारो और स्थिर-शांत हो (दोष-त्रुटि को) सुधारो।

*

न: आज देखती हूं कि ऊपर से एक चक्र नाभि के निचले भाग में उतर रहा है।
उ० : इसका अर्थ है शक्ति की working lower vital (क्रिया निम्न प्राण) में उतर आयी है।

*

'क' को मिलने के बाद तुम्हारे जाग्रत् मन पर तो नहीं परंतु अवचेतना में सब पुरानी घटनाओं की छाप रह गयी—उसके ऊपर स्पर्श पड़ा था इसीलिये रात को ऐसा स्वप्न आया। अवचेतना की ये सब पुरानी यादें और छापें स्वप्न में प्रायः ही उभरकर आती हैं, उससे विचलित होने का कोई कारण नहीं। ये सब छापें धीरे-धीरे एक बार में ही पुंछ जायेंगी—तब ऐसा और नहीं होगा।

*

न: मां, आजकल जरा ज्यादा बात कर लूं तो सिर घूमता है और कांपने लगता है और उसके बाद दुर्बलता लगती है, चंचल हो उठती हूं।
उ० : यह सब न होना अच्छा है—जैसे भीतर शांत रहना चाहिये वैसे शरीर में भी सब शांत, सुखमय, अचंचल होना चाहिये। Peace in the cells, (अणु-अणु में

शांति) व्याप जायेगी, सिर चकराना आदि और नहीं रहेगा।

*

न: काम की बात कहते-कहते अनावश्यक बात भी बोल जाती हूं। उसके बाद देखती हूं कि इससे मेरी आंतरिक शांति और गभीरता नष्ट होती हैं।

उ०: अंतरस्थ रह, सचेतन हो बात करना—यही चाहिये। यह अभ्यास पक्का हो जाये तो ऐसी अड़चन और नहीं रहेगी।

*

उस घर में कुछ disturbance in the atmosphere (वातावरण में क्षुब्धता) है, यह ठीक ही है—लेकिन क्षुब्धता चाहे बाहर से हो या भीतर से, धीर भाव से दृढ़ता के साथ मां के ऊपर भरोसा करने से कोई force (शक्ति) कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

*

Very good. (अत्युत्तम)। मां की जय होगी ही, यह विश्वास हर समय रखकर शांत, धीर, भयशून्य होकर साधना करनी होगी।

*

रुकावटें इसीलिये आती हैं कि मां की शक्ति उतरकर रास्ता साफ कर दे। निम्न प्रकृति को मां के प्रकाश, शांति और शक्ति से भर रूपांतरित करने के लिये उसकी तह में चली जाओ।

*

यही ज्ञान ठीक है—मूलाधार है शरीर चेतना का केंद्र, वह है sex-impulse (कामावेग) का स्थान, वहां मां का राज्य स्थापित करना होगा।

*

न: . . . देख रही हूं कि सत्य की, ज्ञान की, शांति की, चेतना की, पवित्रता की

सीढ़ी की तरह कुछ नीचे उतर रहा है; बीच-बीच में उस सीढ़ी पर मानों चढ़ जाती हूं और वहां अनेक बालिकाओं के साथ भेंट होती है।

उ० : जिन बालिकाओं की बात तुमने लिखी है वे विभिन्न स्तरों पर मां की शक्ति हैं। तुम्हारी अनुभूति बहुत अच्छी है—अवस्था भी अच्छी है—साधना भली प्रकार चल रही है—बाधाएं आती हैं बहिःप्रकृति से अवस्था को disturb (तंग) करने के लिये—इन्हें ग्रहण मत करो।

*

दो अग्नियां हैं मन की शांत और प्राण की तीव्र aspiration (अभीप्सा) जो ऊपर उठ रही हैं—उसके फलस्वरूप ऊर्ध्व चेतना का ज्योतिर्मय प्रकाश नीचे उतरता है।

*

न : ... गले से बांये हाथ तक मानों कुछ हो गया है और हो रहा है ... feel (महसूस) कर रही हूं कि इतना-सा भाग झिन झिन कर शांत-अवश हुए जा रहा है और प्रत्येक रोमकूप के अंदर नीले प्रकाश की तरह बूंद-बूंद कर कुछ गिर रहा है।

उ० : ऊर्ध्व चेतना ही उतर रही है। गले में है बहिर्मुखी बुद्धि का केंद्र, बाह्य कर्मेन्द्रिय का एक स्थान। गला, कंधा और वक्ष का ऊपरी हिस्सा। (हृदय के ऊपर) है कर्मोन्मुख vital mind (प्राणिक मन) का स्थान। वहां ऊपर की शक्ति का विस्तार हो रहा है।

*

सफेद जवा पुष्प—मां की शुद्ध शक्ति।

*

न : मां, सीढ़ी से नीचे प्रणाम हॉल की ओर आते हुए मैं अनुभव करती हूं कि तुम ऊपर से मेरे भीतर ही उतर रही हो और बीच-बीच में अनुभव करती हूं कि तुम्हारे पग रखते ही मेरे अंदर कमल खिल रहा है।

उ० : यह अनुभव सच्चा है। उस समय मां तुम्हारे भीतर उतर चेतना (कमल) को खिला देती हैं।

*

शांति उतरना अच्छा ही है—भीतर और बाहर सब ओर प्रगाढ़ शांति उतरे।

*

न: अहंकार, वासना, कामना, मांग, हिंसा, गर्व, आसक्ति, अचेतनता कहां से आती हैं ? उनका वास कहां है ? मां, ये सब कब और कैसे पूर्णतः दूर होंगी ?

उ० : उनका वास अंदर कहीं नहीं है—**ये बाह्य प्रकृति से आती हैं। पर जब मनुष्य के अंदर स्थान मिला है** तो ये प्राणिक स्तर पर अधिकार किये बैठी हैं—जैसे अतिथि बुलाये जाने पर घर पर **अधिकार करके बैठ जाये**। योगसाधना द्वारा हम उन्हें बाहर धकेलते हैं, फिर ये बाहर से दुबारा अधिकार जमाने के प्रयास में रत रहती हैं—जबतक ये विनष्ट नहीं हो जातीं।

*

इस तरह साधारण चेतना में उतर आने की physical consciousness (भौतिक चेतना) की पुरानी आदत सब में आसानी से ही आ जाती है। उसके लिये दुःखी मत होओ, स्थिर हो पुनः ऊर्ध्व चेतना में लौट जाओ। लौट जाना पहले की अपेक्षा अब सरल है।

*

. . . सबकी बाह्य सत्ता में इस तरह का जन्मजात अंधकारमय अंश होता है। वह अपना नहीं वंशगत होता है। इसे नये रूप में गढ़ना होता है।

*

It is very good. (यह बहुत अच्छा है)—जो देखा है, समझा है वह ठीक है। अंतर में जो पथ देखा है उसी पर चलना होगा, जिस आंतरिक अवस्था पर ध्यान दिया है उसे बनाये रखना होगा। बाहर जो है उसे देख लो, जो जरूरी है वह कर लो किंतु उसमें डूब नहीं जाओ, उससे जुड़ नहीं जाओ, उसकी चाहना न करो। यदि कोई यह अवस्था बनाये रख सके तभी वह साधनापथ पर शीघ्रता से आगे बढ़ सकता है, बाधा-विघ्न आदि आयें भी तो उसे छू नहीं सकते और बाह्य प्रकृति भी धीरे-धीरे अंतर प्रकृति की सुन्दर अवस्था को प्राप्त करेगी।

*

न: कोई भी मुझे 'न' कहने से पहचान नहीं रहा, 'न' कहने से सब अवाक् हो उठते हैं। मां, कल जैसे इसी स्वप्न में पूरी रात बीत गयी। सवेरे जगने के बहुत देर बाद तक भी इसका प्रैशर शरीर तक में महसूस करती रही।

उ०: स्वप्न का अर्थ है पुराने देह-स्वभाव की मृत्यु और देह-चेतना में नवजन्म की प्राप्ति।

*

... यदि प्राण समर्पित हो जाये तो बाकी सब समर्पित करने में विशेष रुकावट नहीं आती।

*

'क' और 'ख' के साथ जो बेमेल है वह उनकी मानव प्रकृति की natural movement (स्वाभाविक हरकत) का फल है। चैत्य परिवर्तन को छोड़ अन्य कोई उपाय नहीं। इस सबको एक आंतरिक शांत समता के स्तर से देख अविचलित भाव से observe (निरीक्षण) करना सीखना होगा। मानव प्रकृति सहज ही नहीं बदलती—जिनके भीतर चैत्य जागरण और अध्यात्म भित्ति स्थापित हो गयी है उनके लिये भी इस पथ पर प्रकृति को संपूर्ण रूप से अतिक्रम करना, रूपांतरित करना सहज नहीं। जो अभी भीतर से इन चीजों के लिये कच्चे हैं उनके लिये तो असंभव ही है।

*

सदा मां का स्मरण करो, मां को पुकारो, कठिनाई विदा ले लेगी। उससे भयभीत मत होओ, विचलित न होओ—स्थिर हो मां को पुकारो।

*

बाधाएं अनंत दीखती तो हैं पर वह दिखावा सच नहीं है,—राक्षसी माया-भर है—ठीक रास्ते पर चलते-चलते अंत में पथ परिष्कृत हो जाता है।

*

Very good. (शाबाश)—स्थिर भाव से साधना करती चलो—पुरानी प्रकृति का जो कुछ भी अभी अवशिष्ट है, धीरे-धीरे चला जायेगा।

*

यह बाधा सबके सामने है। हर पल मां के साथ युक्त होना आसान नहीं। धीर भाव से साधना करते-करते हो जाता है।

*

मन की बहुत प्रकार की गतियां होती हैं जिनका आपस में कोई सामंजस्य नहीं। ऐसा साधक में भी होता है, साधारण मनुष्य में भी, सबमें होता है। अंतर इतना ही है कि साधक देखता और जानता है, साधारण मनुष्य अंदर क्या हो रहा है वह नहीं समझता। सब कुछ भगवान् की तरफ मोड़ते-मोड़ते मन एकोन्मुखी होता जाता है।

*

जब मां के साथ भीतर मिलन हो गया है तब और डरने की जरूरत नहीं। जो परिवर्तन करना होगा वह मां की शक्ति ही कर देगी। वह सब परिवर्तन करने में समय लगता है किंतु उसके लिये चिंता करने की कोई बात नहीं। केवल मां के साथ युक्त और मां के प्रति समर्पित बनी रहो, बाकी सब निश्चित ही हो जायेगा।

*

न: मां, मैं इस समय तुम्हारी नीरवता और शांति तो ग्रहण कर रही हूं लेकिन तुम्हारी चेतना नहीं। प्रयास हर समय यही रहता है कि किसी भी अवस्था में, काम-काज करते, बातचीत करते समय तुम्हारे प्रति conscious (सचेतन) हो सकूं . . .।

उ०: पहले शांति उतरती है—समस्त आधार शांत न हो तो ज्ञान का आना दुष्कर है। शांति स्थापित हो जाने पर मां की विशाल अनन्त चेतना आती है, उसमें डूब जाने से अहंभाव भी मग्न हो जाता है, ह्रास को प्राप्त हो जाता है—अंत में उसका नाम-निशान भी नहीं रहता। रह जाता है केवल भागवत अनंत के भीतर मां का सनातन अंश।

*

बाधाएं पूरी तरह आसानी से पिंड नहीं छोड़तीं। खुलते-खुलते, चेतना बढ़ते-बढ़ते शरीर-चेतना तक जब रूपांतरित होती है तब बाधाएं पूरी तरह नष्ट होती हैं। उससे पहले कम हो जायेंगी, बाहर निकल जायेंगी, बाहर-ही-बाहर मंडरायेंगी—तुम उनसे विचलित न हो अपने को असंपृक्त करके रखो। उन्हें अपनी समझ और स्वीकार न

करो—ऐसा हो जाये तो उनका दम कम हो जायेगा।

*

प्राण का ध्वंस नहीं करते, प्राण को त्याग कर कोई काम नहीं किया जा सकता, जीवन ही नहीं रहता। प्राण का रूपांतर करना होता है, उसे भगवान् का यंत्र बनाना होता है।

*

अपने अंदर शांति, मां की शक्ति और प्रकाश रखकर शांतभाव से सब करती चलो—और किसी चीज की जरूरत नहीं—पथ परिष्कृत हो जायेगा।

*

शून्यावस्था दो तरह की होती है—भीतर physical (भौतिक) तामसिक जड़ निश्चेष्टता और दूसरी शून्यता और निश्चेष्टता आती है ऊर्ध्व चेतना की विराट् शांति और आत्मबोध उतरने से पहले। इन दोनों में से कौन-सी आयी है यह देखना होगा, क्योंकि दोनों में ही सब स्तब्ध हो जाता है, आंतरिक चेतना शून्य हो पड़ी रहती है।

*

जब शून्यावस्था आये तब शांत हो मां को पुकारो। शून्यावस्था सब की होती है पर वह शून्यावस्था होनी चाहिये शांत, तभी साधना के लिये उपकारी होती है—अशांत होने से वह फलप्रद नहीं होती।

*

अशुभ शक्ति को छोड़ और कौन इतना नीचे खींच सकता है, दुर्बल और उथल-पुथल करके फेंक सकता है? साधक प्रश्रय देते हैं इसीलिये atmosphere (वातावरण) में इस तरह की अनेक शक्तियां घूम रही हैं। यदि तुम्हारे ऊपर आ पड़ती हैं तो मां को पुकार कर उनका प्रत्याख्यान कर दो। वे कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगी, सामने टिक नहीं सकेंगी।

*

यह तो सभी मनुष्यों में होता है—प्रशंसा से प्रसन्न और निन्दा से दुःखी—इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। लेकिन साधकों को इस दुर्बलता को अतिक्रम करना नितांत आवश्यक है—स्तुति-निन्दा में, मान-अपमान में अविचलित रहना चाहिये। लेकिन यह आसानी से नहीं होता, समय आने पर ही होता है।

*

मन में जब यह विराट् अवस्था आती है तो उसका अर्थ है मन विशाल होकर विश्व-मन के साथ युक्त हो रहा है। गले इत्यादि के विराट् होने का अर्थ है—उस-उस केंद्र में जो चेतना है उसकी भी वही अवस्था शुरू हुई है।

*

यदि कामनाओं का पोषण करते जाओ और साधना के फल के लिये अधीर हो जाओ तो शांत और नीरव कैसे रह सकोगी ? मनुष्य-स्वभाव के रूपांतर जैसा बड़ा काम क्या पलक झपकते हो सकता है ? स्थिर हो मां की शक्ति को काम करने दो, ऐसा हो जाये तो समय लेकर सब हो जायेगा।

*

हम दूर न गये हैं न छोड़ ही दिया है। तुम्हारे मन-प्राण जब अशांत होते हैं तब ये सब ऊल-जलूल कल्पनाएं तुम्हारे मन में उठती हैं। जब कठिनाइयां सामने हों, अंधकार घिरा हो तो मां के ऊपर भरोसा नहीं गंवाते—स्थिर भाव से उसे पुकारते हुए अचंचल बनी रहो, कठिनाई और अंधकार सरक जायेंगे।

*

प्रणाम या दर्शन के समय मां की बाह्य appearance (आकृति) देखकर यह अनुमान लगाना कि वे सुखी हैं या दुःखी, उचित नहीं है। लोग ऐसा करके केवल भूल ही करते हैं, मिथ्या अनुमान करते हैं कि मां असंतुष्ट हैं, मां कठोर हैं, मां मुझे नहीं चाहतीं, अपने से दूर रखती हैं इत्यादि कितनी झूठी कल्पनाएं और उससे निराश हो अपने पथ पर अपने ही कुठाराघात करते हैं। यह सब न कर अपने अंदर मां के ऊपर, उनके love और help (प्रेम और सहायता) पर अटल विश्वास रखकर प्रफुल्ल शांत मन से साधना में आगे बढ़ना चाहिये। जो ऐसा करते हैं वे निरापद रहते हैं—बाधाएं

और अंधकार घिर आने पर भी वे उनका स्पर्श नहीं कर सकते। वे कहते हैं, "नहीं, मां ही हैं, वे जो करें वही अच्छा—यदि मैं उन्हें इस पल नहीं देख सक रहा तो भी वे मेरे पास ही हैं, मुझे घेरे हुए हैं, मुझे किसी का डर नहीं।" यही करना चाहिये—इसी भरोसे साधना करनी चाहिये।

*

तामसिक समर्पण के साथ तामसिक अहंकार का कोई संबंध नहीं। तामसिक अहंकार का अर्थ है "मैं पापी हूं, में दुर्बल हूं, मेरी कोई उन्नति नहीं होगी, मेरी साधना नहीं हो सकती, मैं दुःखी हूं, भगवान् ने मुझे स्वीकार नहीं किया है। मरण ही मेरा एकमात्र आश्रय है, मां मुझे प्यार नहीं करतीं, अन्य सभी को करती हैं" आदि-आदि विचार। Vital nature (प्राण-प्रकृति) इस तरह अपने को हीन समझ अपने पर प्रहार करती है। अपने को सबसे खराब, दुःखी, दुष्ट, निष्पीड़ित समझ अहंभाव को चरितार्थ करना चाहती है—विपरीत भाव से। राजसिक अहंकार इससे ठीक उल्टा है, मैं बड़ा हूं ऐसा समझ अपने को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना चाहता है।

*

सफेद प्रकाश divine consciousness (दिव्य चेतना) का प्रकाश है—नीला प्रकाश higher consciousness (उच्चतर चेतना) का—रुपहला प्रकाश है आध्यात्मिकता का प्रकाश।

*

यह है मन के ऊपर की ऊर्ध्व चेतना जहां से आते हैं शांति, शक्ति, प्रकाश इत्यादि—श्वेत कमल है मां की चेतना और लाल कमल मेरी—वहां ज्ञान और सत्य का प्रकाश हमेशा ही विद्यमान है।

*

न: दो-तीन दिन से प्रायः ही तुम्हारा हाथ अपने मस्तक पर feel (अनुभव) कर रही हूं, तुम आशीर्वाद दे रही हो जिससे कि तुम्हारी गभीरतम शांति और चेतना में डूबी रहूं। हर समय तुम्हारा मधुमय प्रेममय आवाहन सुन रही हूं।

उ०: यही सत्य चेतना की अवस्था और दृष्टि है। गहराई में जाने पर या बाह्य

चेतना में आने पर यदि यह बनी रहती है तो भागवत उद्देश्य की तरफ सब ठीक-ठीक आगे बढ़ता रहेगा।

*

बहिर्जगत् के साथ संबंध तो रहना चाहिये किंतु वह सब ऊपरी सतह पर होना चाहिये—तुम अपने अंदर स्थित मां के पास रहोगी और वहां से सब देखोगी—यही चाहिये, यही है कर्मयोग का प्रथम सोपान—इसके बाद दूसरी अवस्था है भीतर रह मां की शक्ति द्वारा बाहरी सब कर्म इत्यादि निभाना। यदि ऐसा कर सको तो और कोई गोलमाल नहीं रह जायेगा।

*

पहले मां को अंदर से पाना चाहिये। बाद में जब बाह्य भी पूर्णतया वश में हो जाता है तो वहां भी सर्वदा अनुभव कर सकती हो।

*

सदा स्मरण रखो कि जैसी भी अवस्था हो, जितनी भी बाधाएं आयें, जितना भी समय लगे पर मां के ऊपर संपूर्ण श्रद्धा रखकर चलना होता है, तब गंतव्य स्थान पर पहुंच पाना निश्चित है—कोई भी बाधा, कितना भी विलंब, कैसी भी मंद अवस्था उस अंतिम सफलता को व्यर्थ नहीं कर सकेगी।

*

ठीक ही देखा। चैत्य चेतना का रास्ता है ऊपर की सत्य चेतना की ओर—उसी चैत्य को केंद्र बनाकर सारे स्तर एकमुखी हो भगवान् की तरफ मुड़ना आरंभ कर रहे हैं। वही रास्ता ऊपर की ओर उठ रहा है—छोटा शिशु है तुम्हारा चैत्यपुरुष।

*

नारंगी रंग का अर्थ है Divine (भगवान्) के साथ मिलन और अपार्थिव चेतना का स्पर्श।

*

शांत भाव से साधना करते-करते अग्रसर होओ—दुःख और निराशा को फटकने मत दो—अंत में सारा अंधकार विदीर्ण हो जायेगा।

*

यह भाव, यह श्रद्धा और विश्वास सदा बनाये रखना चाहिये, साधक का यही श्रद्धा और विश्वास, faith, conviction मां की शक्ति के प्रधान सहायक हैं।

*

दृढ़, शांत मन से, मां के ऊपर अटूट श्रद्धा और निर्भरता रख साधना करनी होती है। Depression (अवसाद) को कभी अवसर न दो। यदि आये तो प्रताड़ित कर दूर भगा दो। मैं नीच और अधम हूं, मुझ से कुछ नहीं होगा, मां ने मुझे दूर कर दिया है, मैं चली जाऊंगी, मर जाऊंगी आदि विचार यदि घेर लें तो समझ लेना कि ये सब निम्न प्रकृति के suggestions (सुझाव) हैं, सत्य और साधना विरोधी। इन सब भावों को कभी भी टिकने न दो।

*

अर्थ यही है—जो अच्छा साधक अच्छी तरह साधना करता है, उसकी साधना अच्छी होते हुए भी अहंकार, अज्ञान, वासना की छाप बहुत दिन तक उसके अंदर रह सकती है—लेकिन चेतना जब खुलते-खुलते कुन्दन बनती है—जैसी तुम्हारी होनी शुरू हुई है—तब वह सब अज्ञान का मिश्रण खिसकने लगता है।

*

यह सब है प्राण की निरर्थक disturbance (गतिरोध)। योगपथ पर शांत हो चलना होता है, क्षोभ और निराशा के लिये कोई जगह नहीं।

*

निश्चित ही इस तरह की बात करने में क्षोभ, मां के ऊपर असंतोष, दूसरों के प्रति हिंसा, विषाद, दुःख आदि प्राण की अनेक अशुद्ध गतियां घुस सकती हैं। इन सबको पकड़ कर मत बैठी रहो।

*

शिशु है तुम्हारा चैत्य पुरुष। जो वक्ष से चढ़-उतर रही है वह है बहिःप्रकृति की बाधा, आंतरिक सत्य को स्वीकार करना नहीं चाहती, ढक कर रखना चाहती है।

*

वह स्थान है पीछे मेरुदण्ड के बीच में चैत्य का स्थान। जो वर्णन कर रही हो वे सब हैं चैत्य पुरुष के लक्षण।

*

हां, मनुष्य की चेतना का केंद्र है वक्ष में जहां चैत्य पुरुष का स्थान है।

*

मूलाधार से पैर की तली तक को physical (भौतिक) का स्तर कहते हैं, पैर से नीचे अवचेतना का राज्य है।

*

ऊपर और नीचे अनेक स्तर हैं पर प्रसिद्ध हैं नीचे के चार स्तर—मन का स्तर, चैत्य का स्तर, प्राण का स्तर और शरीर का स्तर—और ऊपर के हैं ऊर्ध्व मन के अनेक स्तर, उसके बाद विज्ञान का स्तर और सच्चिदानन्द।

*

यदि नीचे चली भी जाओ तो वहां भी शांत हो मां की ज्योति और शक्ति का आवाहन कर उन्हें वहां उतारो। जैसे ऊपर वैसे ही नीचे, अपने अंदर मां का राज्य संस्थापित कर दो।

*

जल चेतना का प्रतीक है—जो उठ रहा है वह है चेतना की आकांक्षा या तपस्या। यदि सफेद मिश्रित नीला प्रकाश (whitish blue) हो तो वह मेरा प्रकाश है—यदि साधारण नीला हो तो वह है ऊर्ध्व ज्ञान का प्रकाश।

*

हमेशा स्थिर रहो और मां की ऊर्ध्व चेतना को अवतरित होने दो—उससे ही बहिश्चेतना क्रमशः रूपांतरित हो जायेगी।

*

शांत भाव से समर्पण करती-करती बढ़ती चलो, जिन पुरानी चीजों का रूपांतर अपेक्षित है वह क्रमशः हो जायेगा।

*

भगवान् की संतान होने पर भी ऐसा कोई भी साधक नहीं जिसमें प्रकृति के अनेक छोटे-छोटे दोष न हों। जब इन सबका सुराग मिल जाता है तो इनको reject (त्याग) करना होता है, मां की शक्ति का संबल और भी दृढ़भाव से चाहना होता है जिससे धीरे-धीरे इस क्षुद्र प्रकृति के सारे दोष विनष्ट हो जायें, लेकिन विश्वास और मां पर निर्भरता और उनके प्रति समर्पण होने चाहियें सतत और अटूट। इन सब दोषों को पूरी तरह बाहर निकालने में समय लगता है, ये अभी भी बने हुए हैं जानकर विचलित मत होओ।

*

कौन चले जायें ? जिनमें आंतरिक भाव नहीं, जिन्हें मां पर श्रद्धा-विश्वास नहीं, जो मां की इच्छा की अपेक्षा निजी कल्पना को बड़ा समझते हैं, वे जा सकते हैं। लेकिन जो सत्य को चाहता है, श्रद्धा और विश्वास चाहता है, जो मां का वरण करता है उसे डरने की जरूरत नहीं, उसके सामने हजारों बाधाएं भी आयें उन्हें वह अतिक्रम कर लेगा, यदि स्वभाव में अनेक दोष हों तो भी उन्हें वह सुधार लेगा, यदि पतन भी होता है तो फिर उठ खड़ा होगा—अंत में वह एक दिन साधना के गंतव्य स्थल पर पहुंचेगा ही।

*

यह right attitude (उचित मनोभाव) नहीं है। तुम्हारी साधना ध्वस्त नहीं हुई, मां ने तुम्हारा त्याग नहीं किया, तुम से दूर नहीं गयीं, तुमसे नाराज नहीं हैं—ये सब हैं प्राण की कल्पनाएं, इन सब कल्पनाओं पर ध्यान न दो, प्रश्रय न दो इन्हें। शांत, सरल भाव से मां पर भरोसा रखो, कठिनाइयों से डरो नहीं, मां की शक्ति को भीतर

पुकारो—तुमने जो उपलब्ध किया है वह सब तुम्हारे भीतर ही है, नयी उन्नति भी होगी।

*

चेतना ऊर्ध्व सत्य की ओर खुल रही है। स्वर्ण-मयूर—सत्य की विजय। मां की शक्ति physical (भौतिक) तक उतर रही है—उसके फलस्वरूप सत्य का प्रकाश (स्वर्णिम प्रकाश) उतर रहा है और तुम मां की ओर शीघ्रता से बढ़ रही हो।

*

शरीर का पिछला भाग सबसे ज्यादा अचेतन होता है—प्रायः सबसे अंत में आलोकित होता है। तुमने जो देखा है वह सच है।

*

मां की विजय होगी ही यह विश्वास हर समय रखकर शांत, धीर, भयशून्य हो साधना करनी चाहिये।

*

मां ही हैं गंतव्य-स्थल, उनके अंदर सब कुछ है, उन्हें पाने से सब कुछ मिल जाता है, उनकी चेतना में वास करने से और सब कुछ अपने-आप खिलने लगता है।

*

मां का भाव तो बदलता नहीं—एक ही रहता है। लेकिन साधक अपने मन के भाव के अनुसार देखता है कि मां बदल गयी हैं—पर यह सच नहीं है।

*

ध्वंस हो जाने से परिवर्तन किसका होगा ? प्राण और शरीर की पुरानी प्रकृति का ध्वंस करना होगा, प्राण और शरीर का नहीं।

*

यह बात ठीक है कि मां सबके भीतर विराजमान हैं और उनके साथ एक संबंध रहना चाहिये लेकिन वह संबंध personal नहीं है, वह लोगों के साथ होता हुआ भी मां के साथ है, एक विशाल ऐक्य का संबंध।

*

एक ओर शांति और सत्य चेतना की वृद्धि, दूसरी ओर समर्पण, यही है सच्चा पथ।

*

प्राण का नाश करने की इच्छा गलत इच्छा है—प्राण के नाश से शरीर नहीं बचेगा, शरीर नहीं बचेगा तो साधना भी नहीं होगी।

लगता है तुमने शक्ति बहुत ज्यादा ही खींच ली है—इसीलिये शरीर जैसे उसे ठीक धारण नहीं कर पा रहा। जरा शांत रहने से सब ठीक हो जायेगा।

*

हां, तुमने ठीक ही देखा—मस्तक के ऊपर सात कमल या चक्र हैं—फिर भी ऊर्ध्व मन न खुलने तक ये दिखायी नहीं देते।

*

चैत्य पुरुष के पीछे और चैत्य अवस्था के पीछे अहंकार टिक नहीं सकता। लेकिन प्राण से अंहकार आकर उसके साथ युक्त होने का प्रयास कर सकता है। यदि इस तरह का कुछ देखो तो उसे ग्रहण न कर, उसे त्यागने के लिये मां के प्रति समर्पण करो।

*

सीधा रास्ता है चैत्य का पथ जो समर्पण के बल से और सत्य दृष्टि के प्रकाश में बिना मुड़े-तुड़े सीधा ऊपर की ओर जाता है—जो पथ थोड़ा सीधा, थोड़ा घुमावदार होता है वह होता है मानसिक तपस्या का पथ। और जो एकदम घुमावदार है वह है प्राण का पथ, आकांक्षाओं, कामनाओं से संकुल पथ, ज्ञान भी नहीं, फिर भी प्राण में सच्ची अभीप्सा है, इसीलिये किसी तरह चला जा सकता है।

*

जितना लोग बाधाओं के बारे में सोचते हैं उतना ही वे उनपर हावी होती हैं। मां के प्रति अपने को खोलकर भगवान् के बारे में ज्यादा सोचना चाहिये—प्रकाश, शांति और आनंद की बात।

*

यह असीम शांति जितनी बढ़े उतना ही अच्छा। शांति ही है योग का आधार।

*

जो देखा है वह बिलकुल ठीक है। गले के मध्य में सत्ता का एक केंद्र है। वह है externalising mind or physical mental (बाह्य अथवा भौतिक मन) का केंद्र, अर्थात् जो मन बौद्धिक क्रिया-कलाप को बाह्य रूप देता है, जो मन speech (वाणी) का अधिष्ठाता है, जो मन physical (भौतिक) को सब कुछ देखता है, उसी को लेकर व्यस्त रहता है। मस्तक का निचला भाग और मुख उसी के अधिकार में हैं। यही मन यदि ऊर्ध्व चेतना किंवा आंतरिक चेतना के साथ संश्लिष्ट हो जाये, इन्हें व्यक्त करे तो अच्छा है। किंतु इसका घनिष्ठ संबंध होता है निम्न भाग के साथ, lower vital और physical consciousness (निम्न प्राण और भौतिक चेतना) के साथ (जिसका केंद्र है मूलाधार)। इसीलिये ऐसा होता है। इसीलिये साधना में वाणी का संयम बहुत जरूरी है जिससे वह ऊपर और भीतर की चेतना को व्यक्त करने का अभ्यस्त हो, निम्न अथवा बाह्य चेतना को नहीं।

*

यही तो चाहिये—बाहरी चीजें अंदर की ओर मुड़ें, उसे चाहें, उसके साथ एक हों, भीतरी भाव को ग्रहण करें।

*

शरीर को इस तरह से देखना अच्छा है। फिर भी चेतना देहबद्ध न होने पर भी, चेतना विशाल और असीम हो जाने पर भी देह को चेतना के एक भाग और मां के यंत्र के रूप में अंगीकार करना चाहिये, शरीर चेतना का रूपांतर करना चाहिये।

*

यह बहुत अच्छा लक्षण है। ऊर्ध्व चेतना के साथ मिलने के लिये निम्न चेतना ही उठ रही है। ऊर्ध्व चेतना भी जाग्रत् चेतना के साथ मिलने के लिये अवतरित हो रही है।

*

यह है तुम्हारा आज्ञाचक्र अर्थात् भीतरी बुद्धि, चिंतन, दृष्टि और इच्छाशक्ति का केंद्र—वह इस समय pressure (दबाव) के कारण इस तरह से खुल गया है, ज्योतिर्मय हो गया है कि ऊर्ध्व चेतना के साथ एक हो उसके प्रभाव को समस्त आधार में फैला रहा है।

*

यह अनुभूति बहुत सुन्दर और सच्ची है—प्रत्येक आधार इसी तरह मन्दिर बने। जो सुना है कि मां ही सब करेंगी, सिर्फ उनके अंदर डूब जाओ, यह भी बहुत बड़ा सत्य है।

*

जो विशालता अनुभव कर रही हो उसमें ऊर्ध्व में वास करना होगा, भीतर गहराई में भी उसी में वास करना होगा—किंतु इसके अतिरिक्त सर्वत्र प्रकृति में, यहांतक कि निम्न प्रकृति में भी उसी विशालता को उतारना होगा। तभी निम्न प्रकृति और बहिःप्रकृति के संपूर्ण रूपांतर की स्थायी प्रतिष्ठा संभव है। क्योंकि यह विशालता है मां की चेतना की विशालता—संकीर्ण निम्नप्रकृति जब मां की चेतना में विशाल और मुक्त हो जायेगी तभी उसका आमूल रूपांतर हो सकेगा।

*

जब हम अपनी अनुभूति को बातों में या लेखों में व्यक्त करते हैं तब वह या तो कम हो जाती है या बन्द हो जाती है, यही तो बहुत-से लोगों के साथ होता है। इसीलिये योगी प्रायः अपनी अनुभूतियों की बात किसी से नहीं कहते या फिर स्थायी हो जाने के बाद कहते हैं। तथापि गुरु को या मां को कहने से कम नहीं होती वरन् बढ़ती है। तुम्हें इसी अभ्यास का पालन करना उचित है।

*

बालक है हृदयस्थ भगवान् और शक्ति तो मां ही होंगी।

*

चक्र घूमने का मतलब है कि outer being (बाह्य सत्ता) में मां की शक्ति का काम चल रहा है—उसका रूपांतर होगा।

*

जब अनुभूतियां आयें तो उनपर अविश्वास न कर उन्हें ग्रहण करना चाहिये। यह थी सच्ची अनुभूति—उपयुक्त या अनुपयुक्त की बात नहीं हो रही, इन सब बातों का साधना में विशेष कोई महत्त्व नहीं, मां के प्रति खुलने से ही सब संपन्न होता है।

*

मस्तक में जो अनुभव कर रही हो वह है भौतिक मन (physical mind) और नाभि के नीचे है lower vital (निम्न प्राण)।

*

मस्तक में ऐसा होने का अर्थ है कि मन पूरी तरह खुल चुका है और ऊर्ध्व चेतना को receive (ग्रहण) करने लगा है।

*

हां, नींद जब सचेतन हो उठती है तब ऐसा होता है। जैसे जाग्रत् अवस्था में वैसे ही निद्रावस्था में साधना अनवरत चलती रहती है।

*

बाह्य प्रकृति से छुटकारा नहीं मिल रहा है अतः हैं ये कठिनाइयां। बाह्य प्रकृति का जब नया जन्म होगा तब बाधाएं और नहीं रहेंगी।

*

ये दो बाधाएं सभी साधकों में होती हैं। पहली है प्राण की, दूसरी शरीर-चेतना की। इनसे अपने को अलग रखने पर ये कम हो जायेंगी और अंत में मिट जायेंगी।

*

सभी को इन बाधाओं का सामना करना पड़ता है। यदि ऐसा न होता तो चन्द दिनों में योग-सिद्धियां मिल जाया करतीं।

*

कठिनाइयां सहज ही दूर नहीं होतीं। खूब बड़े साधकों की भी "आज ही" पल-भर में सब बाधाएं नहीं मिट जातीं। मैं तो बहुत बार कह चुका हूं कि शांत और अचंचल रह मां पर पूरा भरोसा रखते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ना होगा। यह पलक झपकते ही नहीं हो जाता। "आज ही" सब चाहिये ऐसे दावों से कठिनाइयां और बढ़ जाती हैं। धीर-स्थिर रहना चाहिये।

*

जब अवचेतना से तमोभाव उठकर शरीर पर आक्रमण करता है तब बीमार-बीमार जैसा लगता है—ऊपर से मां की शक्ति को शरीर में उतारो—सब ठीक हो जायेगा।

*

अवचेतना की बाधाओं से छुटकारा पाने का उपाय है पहले उन्हें पहचान लेना, फिर उन्हें झाड़ फेंकना, अंत में मां के भीतर के या ऊर्ध्व के प्रकाश और चेतना को शरीर की चेतना में उतारना। उससे अवचेतना में ignorant movement (अज्ञ वृत्तियां) भागेगीं और उसके बदले में उस चेतना की वृत्तियां स्थापित होंगी। पर यह सहज ही नहीं होता, धीरज के साथ करना होगा। अटूट patience (धीरता) चाहिये। मां पर भरोसा ही है संबल। फिर भीतर रह पाने पर, भीतरी दृष्टि और चेतना रख पाने पर न उतना कष्ट होता है न परिश्रम करना पड़ता है। ऐसा हर समय नहीं हो पाता। तब श्रद्धा और धैर्य की नितांत आवश्यकता होती है।

*

मनुष्य का स्वभाव है कि वह हमेशा अपने भीतर नहीं रह पाता—किंतु मां को भीतर-बाहर सभी स्थितियों में अनुभव कर सकने से ये कठिनाइयां नहीं रह जातीं। वैसी अवस्था आयेगी।

*

अशुद्ध प्रकृति ही साधकों में बाधाओं का सृजन करती है। काम-भोग की इच्छा, अज्ञानता आदि मनुष्य की अशुद्ध प्रकृति के ही अंतर्गत हैं। ऐसी कठिनाइयां सब में ही होती हैं। जब आयें तब विचलित न हो शांत रह अपने को उनसे अलग रख उनका प्रत्याख्यान करना चाहिये। यदि कहो कि "हम पापी हैं" आदि तो दुर्बलता की ही वृद्धि होती है। कहना चाहिये—"यह है मानव की अशुद्ध प्रकृति, यह मनुष्य के साधारण जीवन में रहती है तो रहे—मैं नहीं चाहती, मैं भगवान् को चाहती हूं, भगवती मां को चाहती हूं—ये सब हमारी यथार्थ चेतना की बातें नहीं। जब-जब ये आयें तब-तब स्थिर रह उनका प्रत्याख्यान करूंगी—न ही विचलित होऊंगी न हामी भरूंगी।"

*

मैंने तुम्हें इसके बारे में बार-बार समझाया है—बाधाएं पल-भर में नहीं जातीं। बाधाएं हैं मानवी बहि:प्रकृति के स्वभाव का फल—वह स्वभाव एक दिन में या चन्द दिनों में नहीं बदलता। श्रेष्ठ साधकों का भी नहीं। तब हां, मां पर संपूर्ण निर्भर रह, शांत और धीर भाव से, उत्कंठित न हो यदि मां को सदा याद करती रहो तो बाधाएं आने पर भी वे कुछ नहीं बिगाड़ पायेंगी। समय पर उनका जोर कम हो जायेगा, वे नष्ट हो जायेंगी, तब और नहीं रह जायेंगी।

*

न: जब ध्यान करने बैठती हूं तब मेरे पांव झन-झन करने लगते हैं और अंदर कुछ छटपट करता है।

उ०: यह है शरीर (शरीरस्थ प्राण) में चंचलता। बहुतों में ऐसा होता है। स्थिर रहने पर यह प्रायः छंट जाती है।

*

न: मैं अंदर जो देखती हूं वही कभी-कभी बाहर खुली आखों से भी क्यों देखती हूं ? यह क्या महज कल्पना है ?

उ०: नहीं, जो अंदर दीखता है वही physical (चर्म) चक्षुओं से भी देखा जा सकता है। पर भीतरी दृष्टि सहज ही खुलती है, बाहर सूक्ष्म दृश्य देखना जरा कठिन होता है।

*

Physical consciousness (भौतिक चेतना) का प्रभाव ज्यादा बढ़ गया था इसीलिये अध्यात्म अनुभूतियां परदे की ओट में हो गयी हैं, एकदम चली नहीं गयीं।

*

बिलकुल ही नीरव नहीं हुआ जाता, उचित भी नहीं। पर पहले-पहल जितना संभव हो नीरव, गंभीर होना साधना के लिये अनुकूल होता है। जब बाह्य प्रकृति मातृमय हो जायेगी तब बातें करने, हंसने इत्यादि में भी वास्तविक चेतना बनी रहेगी।

*

हां, उस तरह रोने-धोने से दुर्बलता आती है। सर्वदा, सब अवस्थाओं में धीर और शांत रह, मां पर भरोसा रख उन्हें पुकारो। ऐसा करने से अच्छी अवस्था जल्दी लौट आती है।

स: मां, आज मैं तुम लोगों को अपने इतने पास अनुभव कर रही हूं, फिर भी सारी सत्ता में तुम लोगों का अभाव खटक रहा है। मेरे ये भाव किस तरह स्थायी रह सकते हैं मां ?

उ०: मां पर पूर्ण श्रद्धा रखने से, बाधा-विपत्तियों से विचलित न हो, स्थिर रहते हुए, सामना करते हुए, मां की शक्ति से उसे अतिक्रम करना—ऐसा भाव रखने पर ही यह अवस्था स्थायी होती है।

७.२.३४

*

स: अपने प्रधान प्राण-स्तर में देखती हूं एक अर्धचन्द्र, मानों राहु-ग्रस्त हो। उसके बाद देखती हूं सारा स्तर भर उठा है protection (रक्षा) की अग्नि से। पहले था हरा प्रकाश, अग्नि के जल उठने के साथ-साथ अर्धचन्द्र के बदले एक प्रकाण्ड सूर्य उदित हुआ। सारा प्राण जगत् सूर्य की अरुणिम किरणों से जगमगा रहा था।

उ०: प्राण में जिस आध्यात्मिकता का प्रकाशित होना आरंभ हुआ था, वही है अर्धचन्द्र। चन्द्रग्रहण था वह। हरे रंग का अर्थ है विशुद्ध प्राण-शक्ति। सूर्य का उदय=प्राण जगत् में सत्य-चेतना का प्रकाश।

८.२.३४

*

चन्द्र=अध्यात्म का आलोक।
हस्ती=बल का प्रतीक।
सोने का हस्ती=सत्य की चेतना का बल।

९.२.३४

*

सफेद सच्चिदानन्द का आलोक हो सकता है। लेकिन पीला तो है मन-बुद्धि का आलोक।

१०.२.३४

*

स: मां, सोते-जागते मैंने देखा कि "म" की निम्न प्राण-शक्तियां आ मेरी प्राण-शक्ति के साथ आदान-प्रदान करना चाहती हैं, भावविनिमय करना चाहती हैं, मुझे

दुर्बल बना, लक्ष्य-भ्रष्ट कर, स्नेह-परवश करके अपनी ओर खींच लेना चाहती हैं।

उ०: 'म' के प्राण की कामनाएं इन शक्तियों का रूप धर तुम्हारे पास आती हैं। उनका प्रत्याख्यान करो, अंततः नहीं आयेंगी।

१२.३.३४

*

स: मां, सीढ़ी पर बैठे हुए मैंने देखा कि तुम अपने आसन पर बैठी हो। एक काली मूर्ति तुम्हारे पांव से निकल कर साष्टांग तुम्हें प्रणाम कर रही है।

यह सब मैं क्या देखती हूं मां ? इन अनुभूतियों में कोई सच्चाई भी है क्या ?

उ०: इन अनुभूतियों का दाम है, इनमें सच्चाई है, इनसे साधना में उन्नति होती है। पर इतना ही यथेष्ट नहीं है, अनुभूति चाहिये, भागवत शक्ति, समता, पवित्रता, ऊर्ध्व चेतना, ज्ञान, शक्ति और आनंद का अवतरण और प्रतिष्ठा—यही है असली बात।

१४.२.३४

*

स: मां, मैं स्पष्ट अनुभव कर रही हूं कि हमारी प्राण-शक्ति और प्राण-प्रकृति की एक चेतना है। हमारे चाल-चलन, खान-पान, परस्त्री कातरता, हिंसा, लोभ, मोह, आलस्य—ये सभी हैं प्राण-प्रकृति के आवरण। हम अचेतन हैं अतः ये हमारे प्रकृत "मैं" को ढके हुए हैं। जब ऊर्ध्व के ज्ञान-आलोक की रश्मियां हमारे आधार पर पड़ती हैं तब इन आवरणों का खर्व होता है और हम उनका त्याग कर सकते हैं। आज मैं अपने आधार के अंदर जिस तरह इनका सारा खेल देख सकती हूं उसी तरह बाहरी जगत् में उस खेल को देख पाती हूं—खुली आंखों से ही देख रही हूं, कुछ भी अज्ञान, अंधकाराच्छन्न या स्थूल नहीं—सब में ही तुम्हारे स्वरूप और सौंदर्य को देख पा रही हूं।

उ०: हां, यह है सच्ची अनुभूति—आवरण रूप में जिस प्राण-शक्ति का खेल देख रही हो वह है मिथ्या, अविद्या की प्राण-प्रकृति का खेल, उस आवरण के पीछे है सत्य की प्राण-प्रकृति जो भागवत शक्ति का यन्त्र बन सकती है।

१७.२.३४

*

स: मां, आपने लिखा है कि इतने थोड़े दिनों में वह शक्ति नहीं उतारी जा सकती। अगर आप वह शक्ति उतार लातीं तो हमें कई तरह से सुविधा होती, नहीं क्या ?

उ०: शक्ति उतारने में बहुत दिन लगते हैं, चन्द दिनों का काम नहीं।

२४.२.३४

*

[साधिका को बहुत तरह के सूक्ष्म दर्शन हो रहे हैं, सुगंधें आ रही हैं। सुन्दर फूलों की गंध से मन, प्राण शीतल हो रहे हैं। ध्यान के समय विभिन्न रंगों के जगत् और देवी-देवता दिखायी देते हैं। साधिका को दुःख है कि यह सब मानों एक पतले आवरण के पीछे है, उनका पूर्ण रहस्य और अर्थ समझ में नहीं आता।]

ये सब vision (दर्शन) और अनुभूतियां सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म इन्द्रियों की हैं (जैसे गन्ध) जो सूक्ष्म चेतना से स्थूल चेतना में आयी हैं—ये टिकती नहीं, सब याद भी नहीं रहतीं। और अन्य जगतों के हाव-भाव सिर्फ दृष्टि द्वारा स्पष्ट दिखायी नहीं देते। आवरण तो रहता ही है—जो समाधिस्थ हो वहां जा सकते हैं वे ही देखते हैं, किंतु उन्हें भी सब याद नहीं रहता।

२७.२.३४

*

[खाना कम कर देने के लिये मना करने पर साधिका ने लिखा—खाना तो है निम्न प्रकृति के लिये जो माया की अविद्या से आच्छन्न है। अतः`उसे इतना अधिक खाने देने में क्या सार्थकता है?]

आहार है देह-धारण के लिये और देह की बल-पुष्टि के लिये। इसमें अविद्या की, माया की बात कहां से घुस आयी ?

२७.२.३४

*

स: मां, जिन अनुभूतियों के बारे में मैं तुम्हें लिखती हूं वे यदि असत्य हों या उनका कोई मूल्य न हो तो लिखकर व्यर्थ में तुम्हें क्यों कष्ट देना ?

उ०: अनुभूतियां असत्य नहीं हुआ करतीं, इनकी भी अपनी जगह है,—पर अभी ज्यादा जरूरत है असली अनुभूतियों की जिनके द्वारा प्रकृति का रूपांतर होता है।

२८.२.३४

*

स: मां, चारों तरफ हवा में एक गभीर व्यथा क्यों विराज रही है ? सिर्फ तुम्हारे लिये है यह व्यथा। सारी सत्ता, समस्त प्रकृति गभीरता से तुम्हें पाना चाहती है, किंतु उनकी अंधता, अज्ञानता और मलिनता के कारण तुम्हें नहीं पा रही और भविष्य में भी पाने की कोई आशा नहीं दीखती। इसीलिये यह असहनीय जीवन धारण करना बेकार मान हताश हो रही हैं, रो रही हैं, मानों दावानल में जल रही हों।

उ०: ये सब हैं प्राण-प्रकृति के विलाप—इससे साधना में कोई मदद नहीं मिलती, अवरोध ही खड़ा होता है। भगवान् में शांत और समाहित श्रद्धा, दृढ निश्चयता, सहिष्णुता

है साधक के प्रधान सहायक, दुःख व निराशा योग-पथ में आगे नहीं ले जातीं।

१.३.३४

*

अनुभूतियां बेकार नहीं होतीं—उनका भी मोल है, यानी वे अनुभूतियां prepare (तैयारी) करती हैं, आधार को खुलने में मदद करती हैं, दूसरे लोकों का, नाना स्तरों का ज्ञान देती हैं। असली अनुभूति है भागवत शांति, समता, प्रकाश, ज्ञान, पवित्रता, विशालता, भागवत सान्निध्य, आत्म-उपलब्धि, भागवत आनंद, विश्व-चेतना की उपलब्धि (जिससे अहंकार विनष्ट हो), निर्मल कामनारहित भागवत प्रेम, सर्वत्र भागवत दर्शन इत्यादि सम्यक् अनुभूतियां और उनकी प्रतिष्ठा। इन सब अनुभूतियों का पहला सोपान है ऊर्ध्व शांति का अवतरण और पूरे आधार में और आधार के चारों ओर उसकी दृढ़ प्रतिष्ठा।

१.३.३४

*

स : मां, रोग क्यों मुझे पुनः इस तरह आक्रांत कर रहा है ? शरीर में एकाएक ऐसा दर्द उठा कि मानों हड्डी-पसली चूर-चूर हो जायेंगी। चलते-बैठते कहां दर्द उठेगा इसका कोई ठिकाना नहीं। कम खाकर रह रही हूं—सोचा था कि शरीर दुबला-पतला रहेगा तो आक्रमण कम होगा और कष्ट सह सकूंगी पर इससे कोई अंतर नहीं पड़ रहा।

उ० : ये सब दर्दें स्नायु-प्रसूत रोग हैं। कम खाने से कम नहीं होता। तन-मन प्राण की शांति ही है इसकी श्रेष्ठ दवा।

२.३.३४

*

पेड़ों में भी प्राण है, चेतना है। पेड़ों के साथ भावों का आदान-प्रदान सरलता से होता है।

३.३.३४

*

स : मां, ऊर्ध्व से तरल जल की तरह क्या उतरता है ?

उ० : ऊर्ध्व चेतना का प्रवाह जब उतरना आरंभ होता है तब उस तरह पतले जल की तरह current (धारा) का बोध होता है।

३.३.३४

*

ऐसी अनुभूति होती है—शरीर में मां का प्रवेश—पर उसके फलस्वरूप चेतना का जो रूपांतर होता है वह दीर्घ साधना पर निर्भर करता है—एकाएक नहीं हो जाता।

६.३.३४

*

शरीर में मां तो हैं ही—गूढ़ चेतना में—किंतु जबतक बाह्य चेतना में अविद्या की छाप रहती है तबतक उसके फल तुरत-फुरत एक मुहूर्त में दूर नहीं हो जाते।

६.३.३४

*

जबतक कामना, दावा, कल्पना-जल्पना का जोर रहता है तबतक प्राण का राज तो रहेगा ही। ये हैं प्राण की खुराक, खुराक मिलने पर वह (प्रचण्ड) और बलवान् क्यों न हो भला ?

८.३.३४

*

जो देखा है वह ठीक है, ऊपर की शक्ति नीचे उतर धीरे-धीरे सत्य-चेतना को स्थापित करती है। पर मानवी प्रकृति ऐसा नहीं चाहती—अन्य विचारों में व्यस्त रहती है, अवहेलना करती है, विरोध तक करती है—नहीं तो शीघ्र ही हो जाता।

१0.३.३४

*

स: मां, एक नूतन अवस्था मेरे अंदर परिलक्षित हो रही है। लोगों के साथ बात करती हूं, उनसे मिलती-जुलती हूं सिर्फ प्रयोजन हेतु, उसमें प्राण का कोई आकर्षण नहीं, आमोद-प्रमोद में भी निस्तब्धता में रहती हूं। दिन भर एक नीले आलोक में मानों तुम्हें ही देखती हूं, ऊर्ध्व की चेतना ने नीचे उतर सारी सत्ता को कांच की तरह स्वच्छ और खास तौर से सचेतन बना रखा है।

उ०: ऐसा यदि हो तब तो बड़ी अच्छी बात है। सर्वदा अनासक्त रह लोगों के साथ संसर्ग करना चाहिये।

१0.३.३४

*

स: आज प्रणाम के समय ऊर्ध्व जगत् से एक प्रगाढ़ शांति का प्रवाह उतर आया—मुझे पता ही नहीं चला कि मेरे सारे रोग कहां बिला गये।

उ०: जबतक संपूर्ण आधार शांत-समाहित नहीं हो जाता तबतक शांति के अवतरण की ऐसी अनुभूति सबसे ज्यादा जरूरी है।

१३.३.३४

*

स: मां, आज सुबह से ही पेट में बड़ा दर्द हो रहा था। प्रणाम-हॉल में एकाग्र मन से तुम्हें पुकार रही थी और सारी चेतना और सत्ता को ऊर्ध्व की ओर खुला रखा था। ऐसे समय ऊपर से एक विराट् विश्व-व्यापक शांति की तरंग उतर आयी। मुझे लगा कि यह शांति-प्रवाह नाभि के नीचे तक नहीं उतर पाया। मैंने पुनः उस अंश को ऊर्ध्व की शांति के प्रवाह की ओर खुला रखने की कोशिश की। थोड़ी देर को तो असह्य यंत्रणा हुई—उसके बाद किंतु वह ज्यादा देर तक नहीं टिक पायी।

उ०: यही है रोगों से मुक्ति का श्रेष्ठ उपाय, पर देह की चेतना सब समय खुलना नहीं चाहती और शीघ्र ही अभ्यस्त लीक पर चलने लगती है।

१५.३..३४

*

स: मां, तुम्हारी दिव्य चेतना और दिव्य दृष्टि-शक्ति मेरे आधार में उतर आती है तब आध्यात्मिक पवित्रता के प्रवाह में सारा अंधकार, ग्लानि, मलिनता, व्याधि दूर हो स्वच्छ और पवित्र हो जाते हैं। किंतु ज्यादा देर तक यह अवस्था क्यों नहीं बनी रहती ?

उ०: थोड़ी देर रहने पर भी इससे बड़ा लाभ है। पहले-पहल थोड़ी देर ही रहती है ऐसी अवस्था—फिर धीरे-धीरे इसकी अवधि बढ़ जाती है।

२०.३.३४

*

स: मां, आज मेरा मन किसी का भी संसर्ग पसंद नहीं कर रहा—लोग, वस्तु सब कुछ बोझ-सा बन गया है। तुम्हारी उपस्थिति को छोड़ और किसी सोच से गर्दन में, सिर में पीड़ा होने लगती है। नितांत प्रयोजनीय बात करने से भी दम फूलने लगता है और दुर्बलता अनुभव करती हूं।

उ०: इतना ज्यादा sensitive (संवेदनशील) होना ठीक नहीं।

२०.३.३४

*

[साधिका का कहना कि आजकल ऊर्ध्व की अनुभूतियां अब और नहीं हो रहीं, आधार में ही अनुभूति हो रही है।]

हर समय ऊर्ध्व में ऊर्ध्व की अनुभूतियां होते रहने से, आधार में अनुभूतियां न होने से आधार का रूपांतर क्योंकर होगा ?

२२.३.३४

*

स : मां, ध्यान में देखा कि सिर के ऊपर हर समय एक उज्ज्वल सफेद ज्योति विद्यमान है। स्थूल मन जब स्थूल का सोचता है तब आधार के स्थूल अंश का द्वार बंद रहता है—तभी ऊर्ध्व की ज्योति और शांति नहीं उतर पातीं। जब भी मैं ऊर्ध्व की ओर देखती हूं तभी मेरी जड़-सत्ता के स्थूल अंश में भी ऊर्ध्व की शांति, शक्ति और पवित्रता नीचे उतर सारे जंजालों को दूर कर देती हैं।

उ० : ऐसा तो प्रायः होता है। जब पूरा आधार खुल जाता है तब ऐसा नहीं होता—स्थूल मन स्थूल के बारे में सोचे भी तो उस समय ऊर्ध्व की ज्योति व शांति बनी रहती हैं।

२२.३.३४

*

स : मैं अब समझ पा रही हूं कि मेरी एक ज्योतिर्मयी सत्ता है। पर कोई शक्ति उसे ढके हुए है। आज देखा कि तुम्हारे संगीत के सारे सुर मानों ज्ञान-ज्योति की एक-एक शिखा हैं। ये शिखाएं जड़भूमि पर उतर उस अज्ञान और तामसपूर्ण जंजालों को मिटा देती हैं।

उ० : सब में ही ज्योतिर्मयी सत्ता होती है, सभी में अज्ञान के बंधन होते हैं। सत्य की शक्ति उन बंधनों को खोल देती है। मां बजाने के समय सत्य को, उस सत्य की शक्ति को नीचे उतार लाती हैं।

२२.३.३४

*

हरा रंग है emotion (भावुकता) का।

२२.३.३४

*

स : मां, सफेद फीका नीले रंग का एक शक्ति-प्रवाह उतर रहा है। स्वच्छ जल की तरह चेतना की एक धारा नीचे उतर मेरे वक्र शरीर को सीधा कर दे रही है, दुर्बल स्नायुओं को सतेज, सबल, नीरोग और निस्तब्ध कर दे रही है।

उ० : वह तो है ऊर्ध्व चेतना का प्रवाह ताकि सब कुछ रूपांतरित हो सके।

२४.३.३४

*

यह है दो विपरीत प्रभावों का द्वंद्व—सत्य की शक्ति का प्रभाव जब तन को छूता है तब सब स्वस्थ हो जाता है—अविद्या के प्रभाव से रोग, कष्ट, स्नायविक विकार लौट आते हैं।

२४.३.३४

*

ये सब बातें तो बिलकुल स्पष्ट हैं, क्यों नहीं समझ पातीं ? आत्मा है अनश्वर, अनंत, दुःख-कष्ट हैं सब अविद्या के फल, आत्मा का, यहां तक कि आधार का भी यह स्वाभाविक धर्म नहीं। जिसे ऊर्ध्व चेतना कहते हैं वह आत्मा का ही धर्म है—उस उदात्त धर्म को शरीर में उतारना चाहिये, यदि उतर जाये तो रोग-दुःख-कष्ट नहीं रह जाते।

२६.३.३४

*

कोई भी नियम पालन करने से नहीं होता। स्थिर, शांत, दृढ़ संकल्प से प्रत्याख्यान करने से धीरे-धीरे अविद्या का प्रभाव चला जाता है। चंचल होने से (विव्रत होने से, अंधे बने रहने से, हताश होने से) अविद्या की शक्ति ज्यादा बल पकड़ती है और आक्रमण करने का साहस जुटाती है।

२७.३.३४

*

स० : मां, ध्यान में मेरी पूरी चेतना ऊपर को उठ जाती है। मैं और मेरा अपना बोलकर कुछ नहीं रह जाता। केवल एक निम्न चेतना आधार में बैठे-बैठे घर-गृहस्थी और बाहरी चिंता में मग्न रहती है। ऊर्ध्व चेतना को उतार इस निम्न चेतना में, जो अभी भी तुम्हारे असली काम से अलग रह गयी है, परिवर्तन न ला पाने के कारण दुःख पाती हूं।

उ० : इस तरह की दुविधाएं साधना में होती हैं, उनकी भी जरूरत है—उसके बाद निम्न चेतना में ऊपर के भाव को उतार लाना ज्यादा सहज बन जाता है।

२९.३.३४

*

साधना करते-करते ऐसी अवस्था आती है कि मानों दो स्वतंत्र सत्ताएं हैं, एक अंदरूनी, शांत, विशुद्ध, भागवत सत्य-दृष्टि और अनुभूति में मग्न रहती है या उसके साथ संयुक्त, और दूसरी है बाहरी जो छोटी-मोटी बातों में व्यस्त रहती है। उसके बाद दोनों के बीच भागवत एकता स्थापित होती है—ऊर्ध्व जगत् और बहिर्जगत् एक हो जाते हैं।

३१.३.३४

*

स: मां, मैं सारी दुनिया में तुम्हारी महान् आनन्दपूर्ण प्रेम-कल्लोलित एक ध्वनि सुन रही हूं और तुम्हारा अमृतमय, ज्ञानोज्ज्वल हास्यमय आनन्द-समीरण दुनिया के सारे दुःख-दैन्य को अपसारित कर रहा है और पिपासित शुष्क धरती आज सतेज हो उठी है। आज ध्यान नहीं कर पायी, केवल यही सब देखती रही।

उ० : ऐसी अनुभूतियां प्राण-जगत् में घटती हैं। कुछ बुरा नहीं, तब हां, सिर्फ इसे ही पकड़कर नहीं बैठ जाना चाहिये।

३१.३.३४

*

इन सब प्राण के व्यर्थ विलापों को शह देने से अनुभूतियां कैसे आयेंगी भला ? आयें भी तो टिकेंगी कैसे ? फलीभूत होंगी कैसे ? यह प्राण का क्रन्दन तो केवल अवरोध ही खड़ा करेगा। यह जो इतनी अच्छी अनुभूति आयी इससे आनन्दित न हो रोना-धोना क्यों ?

५.४.३४

*

ये विलाप और हायतौबाभरी बातें योगपथ में अग्रसर होने में केवल अवरोध ही बनती हैं—यह प्राण का एक प्रकार का खेल है मात्र। इन सबको दूर हटा, शांत रह साधना करने से शीघ्र उन्नति होती है।

५.४.३४

*

लोग क्या करते हैं और नहीं करते यह अलग बात है—साधक को क्या करना चाहिये, किस तरह साधना में उन्नति होगी, यही है सौ बात की एक बात।

६.४.३४

*

स: भावावेग का स्तर सामने की तरफ है, चैत्यपुरुष का स्तर पीछे की ओर। इन दोनों के बीच एक परदा-सा पड़ा है। मैंने देखा था कि कुण्डलिनी शक्ति चैत्य स्तर से बार-बार भावावेग के स्तर पर आ-जा रही है और ऊर्ध्व के सत्य का प्रभाव उतार लाती है। इन दोनों के बीच पड़े परदे को कुण्डलिनी उठा देना चाहती है।

उ०: Emotional being (भावावेगी सत्ता) और चैत्य के बीच जो आवरण है उसे हटा देने के लिये है यह आयोजन। ऐसा होने पर vital emotions (प्राणिक भावावेग) के बदले चैत्य भावावेग हृदय में विराजमान होगा।

६.४.३४

*

स: मैंने सपने में देखा कि 'म' मर गया है।

उ०: प्राण-जगत् के सपने में और वास्तविक स्थूल घटना में कोई संबंध नहीं। ऐसे सपने तो आते रहते हैं जिनका कोई दाम नहीं।

६.४.३४

*

स: अपने सिर पर एक कमल देखा। कमल का ऊपरला भाग सूर्य-रश्मि की तरह और निचला भाग सफेदी लिये नीला।

उ०: चक्र का ऊपरी भाग पाता है Overmind और Intuition (अधिमानस और अंतर्ज्ञान) का प्रकाश, सुनहला प्रकाश या सूर्य-रश्मि। निचला भाग Higher Mind और Spiritual Mind (उच्चतर मन और आध्यात्मिक मन) के साथ संश्लिष्ट है जिनका प्रकाश नीला व सफेद होता है।

७.४.३४

*

चैत्य पुरुष है भगवान् का अंश, उसका खिंचाव है सत्य की तरफ, भगवान् की तरफ, और वह खिंचाव होता है कामना-रहित, अधिकार-रहित, निम्न वासना-रहित। चैत्य भावावेग होता है पवित्र और निर्मल। भावावेग प्राण का अंश है, इसमें कामना, अहंकार, मांग, रूठना आदि काफी मात्रा में होते हैं। यह भगवान् को भी चाहता है तो अपने अहंकार, कामना को चरितार्थ करने के लिये—पर चैत्य के संस्पर्श से शुद्ध-पवित्र हो सकता है।

७.४.३४

*

ऊपर की चेतना अनेक रूपों में उतरती है—हवा के रूप में, वर्षा, तरंग, धारा या समुद्र के रूप में—जैसे शक्ति की जरूरत या सुविधा हो।

७.४.३४

*

मैंने कहा है कि इस तरह का रोना-धोना साधारण लोगों के लिये ठीक है, साधक के योग्य नहीं। यह साधना में अंतराय बन जाता है।

७.४.३४

*

स : मैं प्राण में एक गतिवेग देख रही हूं, यही है भावावेग—वह हर समय कितनी ही प्राणिक भाव-प्रवणता और अहंकारयुक्त हरकतों को खींच लाता है। वह अपने अहंकार में तुम्हें डुबाये रखना चाहता है और ओछी वासना के प्रभाव में आ तुम्हें चाहता है और अपनी ओर खींचता है।

उ० : यदि ऐसा समझती हो तो उस अहंकारात्मक भावावेग को झाड़ फेंको। जो शुद्ध है या चैत्य का है वही भावावेग साधना में सहायक होता है।

१०.४.३४

*

स : . . . उनको (प्राण की चंचलता, अहंकार की गति और जोर-जबर्दस्ती) त्यागने की क्षमता मुझमें नहीं। एक तरफ से बाहर फेंक देने पर तरह-तरह के स्वांग रचा और रूप धर कर दूसरी तरफ से अंदर घुस आते हैं। मुझ पर अपनी धौंस जमाते रहते हैं।

उ० : तामसिक शरीर-चेतना और राजसिक प्राण के कारण। वे सहमति देते हैं अतः है उनकी धौंस। यदि वे हामी न भरें तो क्या उनकी यह धौंस संभव है ?

१२.४.३४

*

मरना कोई समाधान नहीं। इसी जन्म में उन कठिनाइयों को नेस्तनाबूद नहीं कर देने से, तुम क्या समझती हो अगले जन्म में वे तुम्हें छोड़ देंगी ? इसी जन्म में उनसे छुटकारा पा लेना चाहिये।

१२.४.३४

*

[साधिका के मन में ख्याल उठा है कि मां उसे नहीं चाहतीं। अस्थिर होने के

कारण वह आश्रम को, मां को छोड़कर चली जाना चाहती है पर रहना भी चाहती है, वह दिशाहारा है।]

यह सब है केवल कामना-उद्‌भूत अशान्त प्राण का विद्रोह—उसे प्रश्रय क्यों देती हो ? तुम प्राण को चरितार्थ करने यहां नहीं आयी हो। दृढ़ता से प्राण को संयमित कर योग-साधना को ही एकमात्र उद्देश्य बना लो—तब ऐसी स्थिति नहीं आयेगी।

१३.४.३४

*

अपने को संयत रख लोगों से मिलने-जुलने में चेतना नीचे नहीं गिरती।

१३.४.३४

*

ऊर्ध्व चेतना का स्पर्श—उसी ऊर्ध्व चेतना के भाव, शांति, ज्ञान और गभीरता का अवतरण हैं योग-सिद्धि के साधन। प्राण को संयत रख उस शक्ति को ही तन, मन, प्राण को अधिकृत करने देना चाहिये।

१४.४.३४

*

स: कुण्डलिनी जाग उठी है और ऊपर की ओर उठ रही है—पर मां, कुण्डलिनी की पूंछ एक हरे रंग के मयूर में बदल गयी।

उ०: हरा रंग है emotional power (भावों की शक्ति) का लक्षण। मयूर है विजय का प्रतीक।

१४.४.३४

*

[साधिका श्रीअरविन्द के कमरे में काम करना चाहती है। पहले भी एक बार काम मांग चुकी थी पर नहीं मिला। अब श्रीअरविन्द के कमरे में काम करनेवाले के चले जाने से उसी पुरानी इच्छा को व्यक्त किया है।]

मेरी बात को गलत समझा है तुमने। मैंने कहा था कि जो काम कर रहे हैं उन्हें नये लोगों के लिये क्यों हटा दूं ? यदि कोई चला जाये तो तुम्हें वह काम क्यों मिलना चाहिये ? बहुत-से साधक और साधिकाओं ने इस काम की मांग की थी, मां ने नहीं दिया, तुमसे बहुत पहले वे मांग चुके थे, यहांतक कि दस साल पहले। उन सबको (कम-से-कम २० होंगे) छोड़ तुम्हें ही क्यों मिले ? इससे तो साफ जाहिर है कि यह है तुम्हारे अहंकार की मांग। प्राण की मांग पर कान मत दो। शांत और

अहंकार-रहित हो स्वयं को तैयार करो, योग-पथ में उन्नति को ही लक्ष्य बनाकर चलो, यही है उन्नति का श्रेष्ठ साधन।

१४.४.३४

*

चाहिये ऊर्ध्व की अनुभूतियां, चाहिये प्रकृति का रूपांतर। हर्ष, विषाद, हताशा, निरानन्द हैं साधारण प्राण के खेल, उन्नति में अंतराय। इन सबको अतिक्रम कर ऊर्ध्व की विशाल एकता और समता को प्राण में और सर्वत्र स्थापित करना चाहिये।

१७.४.३४

*

स: मां, अब भी कभी-कभी इच्छा होती है कि पढ़ना छोड़ दूं। मन में उठता है कि मैं तो यहां भगवान् के लिये आयी हूं तो लिखने-पढ़ने का क्या काम ? फिर तुरत ख्याल आता है कि अपने मन की भावनाओं और विचारों को तुमतक पहुंचाने योग्य होने की भी तो आवश्यकता है।

उ०: यह है मन-प्राण की चंचलता। जिसे आरंभ कर चुकी हो उसे स्थिर भाव से चालू रखना चाहिये जबतक कि वह उद्देश्य सिद्ध न हो जाये।

१७.४.३४

*

स: रात्रि के पिछले पहर में देखती हूं कि मैं एक पारदर्शी फीके नीले प्रकाश में डूबती जा रही हूं, तुम्हारे एकमात्र आनंद और प्यार ने मेरी सारी देह को भर दिया है, कहीं भी तिलभर भी न निरानन्द है न अपवित्रता।

उ०: ऐसी अनुभूतियां लाभदायक होती हैं। हताशा में निवास न कर आनंद में रहना है साधना की सच्ची अवस्था।

१९.४.३४

*

साधकों में शून्यता की ऐसी अवस्था तब आती है जब ऊर्ध्व लोक की चेतना उतर आ मन-प्राण को अपने अधिकार में करने की तैयारी करती है। आत्मा की अनुभूति जब होती है तब भी उसके प्रथम स्पर्श से एक विशाल शांत शून्यता का ही अनुभव होता है, उसके बाद उस शून्य में उतरती है एक विशाल, प्रगाढ़ शांति और नीरवता, स्थिर, निश्चल आनन्द।

२१.४.३४

*

स: आज दो दिन से देख रही हूं कि कुछ विरोधी सैन्यों के दल मुझपर आक्रमण करने के लिये चले आ रहे हैं, कूड़े-कबाड़ के कुछ एक पहाड़ अंधकार की तरह मुझे घेरना, दबाना चाहते हैं। मेरे भीतर से एक शक्ति सामने आ और मेरे सिर पर चढ़ सारी विरोधी सेना के पथ को रोक रही है, युद्ध की झूठी शक्ति की राह में रोड़े अटका रही है।

इस तरह के अस्वाभाविक तरीके का वीरत्व मैं क्यों देख रही हूं मां?

उ०: यदि इस अभिज्ञता पर भरोसा किया जाये तो समझना होगा कि प्राण-जगत् में जहां विरोधी शक्तियों का आक्रमण हो रहा है वहां भागवत प्राण-शक्ति प्रतिष्ठित हो चुकी है जो स्वतः ही उस आक्रमण को बेकार कर देती है।

२४.४.३४

*

स: ध्यान करना आरंभ करने पर एक शक्ति इतने जोर से उतरती है और इतना दबाव डालती है कि मैं न तो कुछ सोच सकती हूं न इधर-उधर ताक-झांक कर सकती हूं। शांत भाव से यथासाध्य उस शक्ति के सामने अपने को रखती हूं, बाद में सारी प्रकृति शांत, निश्चल और स्तब्ध हो जाती है। एक नीरव आनंद में मुझे डुबो रखती है।

उ०: यह शुभ ऊर्ध्व चेतना का (उस चेतना की शांति-शक्ति का) अवतरण है—स्वयं को आधार में दृढ़ता से स्थापित करने का पहला आयोजन।

२६.४.३४

*

स: मां, मेरा मन खाली हो गया है, सोचने की शक्ति न जाने कहां तिरोभूत हो गयी है। किंतु एक और पुरुष मन में जाग उठा है जो इस जगत् और अंतर्जगत् का छोटा-बड़ा जो कुछ भी मेरी चेतना में आता है उसे जांच-परख कर सत्य को चुन लेता है और मिथ्या का जड़-मूल से नाश कर देता है। पहले मिथ्यात्व के प्रपंच को झाड़ फेंकने में बड़ी तकलीफ होती थी। अब उस जाग्रत् चैतन्यमय पुरुष की सहायता से इन आक्रमणों से छुटकारा पाना मेरे लिये सहज हो गया है।

उ०: यह पुरुष है higher mental being (उच्चतर मनोमय पुरुष)—ऊर्ध्व चेतना के अवतरण के समय जाग्रत् हो जाता है—उसका ज्ञान साधारण मन का नहीं, ऊर्ध्व मन का है।

२६.४.३४

*

पहले-पहल चाहिये शून्य विशाल चेतना जहां ऊपर के प्रकाश, शक्ति आदि अपना स्थायी स्थान बना सकें। मन के खाली न होने तक पुरानी movements (हरकतें) ही अपना खेल दोहराती रहती हैं। ऊर्ध्व की वस्तुएं सुविधाजनक स्थान नहीं पातीं।

५.५.३४

*

प्राण चिन्तारहित विशालता की अवस्था से कोई लगाव नहीं रखता। वह चाहता है हलचल, चाहे जैसी भी हलचल क्यों न हो, ज्ञान की हो या अज्ञान की। कोई भी अचंचल-स्थिर अवस्था उसे नीरस लगती है।

८.५.३४

*

सत्ता के किसी भी अंश को नहीं छोड़ा जा सकता, रूपांतरित करना होता है। स्वभाव के किसी खास रंग-ढंग को त्यागा जा सकता है, सत्ता कें अंश तो स्थायी हैं।

८.५.३४

*

स : अब भी मेरी वही शून्य अवस्था बनी हुई है। ऊर्ध्व का उज्ज्वल प्रभाव नीचे उतर रहा है। आधार शून्य के अतल तल में डूबता जा रहा है। सारा जगत् हो गया है स्वच्छ, निर्मल, निराकार। इस निराकार के बीच भागवती नीरव निस्तब्धता और अविचलित शांति और आनंद का अनुभव कर रही हूं।

उ० : ऐसी ही होती है उन्नति की प्रतिष्ठा। ऐसी नीरवता में ही सब नीचे उतर सकता है और प्रकट हो सकता है।

१०.५.३४

*

स : मां, आज प्रणाम के समय मस्तक के ऊपर एक कमल देखा। कमल के एक तरफ इंजन लगाया जा रहा है। इंजन द्वारा निकली जल की धारा मेरे पूरे आधार को धो दे रही है। इंजन की एक दूसरी पाइप से जल की वेगवती धारा ऊपर की ओर उठ रही है और कोहरे की न्याईं नीले आकाश के साथ एकाकार हो रही है।

उ० : यह है, purification (पवित्रीकरण) का symbol (प्रतीक)। ऊर्ध्व चेतना की धारा से धुलने पर आधार पवित्र हो जाता है।

१०.५.३४

*

स: मैंने देखा, आध्यात्मिक स्तर पर एक प्रकाण्ड चक्र अविराम चक्कर काट रहा है और उसके घूमने के साथ-साथ नीला, सादा, हरा, लाल, सुनहरा सूर्य-रश्मि की तरह का प्रकाश मेरे चैत्य पुरुष के स्तर में और अन्यान्य निचले स्तरों में उतर रहा है। एक के बाद एक आलोक नीचे आ चक्र की गति से आधार के सारे अंधकार को धो-पोंछकर साफ कर दे रहा है; इसके बाद चक्कर की गति के साथ-साथ चेतना और सत्ता को ऊर्ध्व के राज्य में खींचे लिये जा रहा है और फिर से चक्कर की ही गति के साथ नीचे ला रहा है।

उ०: चक्र का घूमना है शक्ति का कर्म-प्रयोग। अध्यात्मशक्ति काम कर रही है आधार की सफाई करके और चेतना को ऊपर की ओर ले जाकर—ऊपर ले जाकर ऊर्ध्व चेतना के साथ संयुक्त कर वह उसको पुनः उसके स्थान पर उतार लाती है।

१५.५.३४

*

यदि बाहरी चेतना भीतर की चेतना के साथ संश्लिष्ट हो और दोनों ही मां के प्रति पूर्ण समर्पित, शांत, पवित्र हो जायें तो सब संभव है।

१७.५.३४

*

स: मां, आज प्रणाम के समय मेरी चेतना इतने गंभीर राज्य में पहुंच गयी थी कि लगता था कि शरीर भी उस स्तर पर उठ आया है।

उ०: स्थूल देह तो नहीं उठ सकता इन सब राज्यों में—सूक्ष्म देह उठ सकती है, वह भी आसानी से नहीं होता। पर जब प्राण उठ जाता है तो वह अपने साथ physical consciousness (पार्थिव चेतना) का कोई अंश खींच ले जा सकता है।

१९.५.३४

*

स: मैंने देखा है कि सारी दुनिया धूम्राच्छन्न है और नीचे सब कुछ एक सागर-सा है। उस सागर के बीच एक विशालकाय स्टीमर में तुम हम सभी को ऊर्ध्व की ओर लिये चली जा रही हो।

उ०: वह सागर और आकाश physical (पार्थिव) चेतना और प्रकृति की obscurity (तमिस्रा) को दर्शाता है। दिव्य आलोक को जड़ तक में पाने के लिये सभी उसी में से गुजर रहे हैं।

२४.५.३४

*

स : मां, मुझे ऐसा क्यों लगता है कि मेरी कोई उन्नति नहीं हो रही। इस अपवित्रता से भरे तन और स्वभाव को लेकर योग-पथ पर अब और अग्रसर नहीं हो सकती।

उ० : जड़ चेतना में उतरी हो इसीलिये ऐसा लगता है। पर यह सच नहीं—जहां उतरी हो वहां physical (भौतिक) के रूपांतर के लिये उतरी हो।

२४.५.३४

*

प्राणिक मन हृदय से ऊपर है और गले से नीचे। उच्च प्राण है हृदय में; नाभि में है central (केंद्रीय) या ordinary (साधारण) या middle (मध्य का) प्राण। नाभि के नीचे है निम्न प्राण। मूलाधार है physical (जड़) चेतना का केंद्र।

२४.५.३४

*

स : मां, आज जब ध्यान में बैठी तो देखा कि मेरे आधार के भीतर कुछ लोग गप्पों में मस्त हैं, एक दूसरे को हुकुम दे रहा है और तरह-तरह के आदेश दे रहा है।

उ० : या तो ये अवचेतना की आवाजें हैं या फिर general physical mind (साधारण पार्थिव मन) के सुझाव—उधर attention (ध्यान) देने की कोई आवश्यकता नहीं।

२५.५.३४

*

स : मैंने देखा कि ऊपर से एक सूर्य मेरे मस्तक में उतर आया है। उसके बाद देखा एक सांप—सांप का सिर ही था सूर्य—धीरे-धीरे नीचे की ओर सरक रहा है। जब वह मेरे पांव के नीचे तक उतरा तब वह एक बृहदाकार अग्नि में परिणत हो गया और मैं उस अग्नि के बीच में हूं। इसी तरह निम्न स्तर में उतरी। वहां एक जंगल को पार करके देखा एक बड़ा-सा मकान। उस मकान में से कई दैत्य निकले और उस अग्नि को देखकर जादू से चारों ओर अंधकार फैला दिया पर क्योंकि मैं इस अग्नि के बीच में थी अतः वे मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके। उसके बाद देखा कि तुम वहां प्रकट हुई और अंधकार का लोप हो गया और वह स्थान मानों तरल, एक तरह से जलमय हो गया।

उ० : यह जगत् होगा अवचेतना का राज। वहां होती है अंधकार और अज्ञान की आंख-मिचौली—यह है वहां सत्य के प्रकाश की उतरने की चेष्टा।

२५.५.३४

*

गला है बाह्य मन का केंद्र—physical मन, वह ठीक स्थूल मन का केंद्र नहीं, बुद्धि का जो अंश express (अभिव्यक्त) करता है वही है वह, बातें कहता है, मन के विचार और चिंतन को किसी तरह व्यक्त करता है, उनके प्रभाव को बाह्य जगत् में मूर्त रूप दे सफल बनाने की चेष्टा आदि करता है, पर स्थूल मन के साथ घनिष्ठता बनाये रखता है।

२६.५.३४

*

निम्न प्राण के संवेदन उठते हैं मन-बुद्धि पर आक्रमण करके प्राण की प्रेरणा में बहा देने के लिये या फिर बुद्धि की सम्मति और सहायता पाने के लिये—इसके बाद पूरे जोर-शोर से अपने को बातों में या कार्य में परिणत करते हैं। ऐसा न कर सकने पर बुद्धि को एक तरफ रख (स्थगित कर) अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। इससे त्राण पाने का एकमात्र उपाय है higher consciousness and will (उच्चतर चेतना और संकल्पशक्ति) और चैत्य पुरुष को आधार में अधिकाधिक सजग और बलवान् बनाना और उन्हें सर्वत्र सक्रिय करना।

२६.५.३४

*

स: कभी-कभी लगता है कि पुनः तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध पढ़ना आरंभ किया है इसलिये सुन्दर अवस्था से नीचे गिर गयी हूं। यह भी लगता है कि मैं बहुत अपवित्र हूं—मैं इस योग में ज्यादा उन्नति करने में समर्थ नहीं हूं।

उ०: ये सब दुश्चिंताएं outward (बाहरी) प्राण के स्वभाव से आती हैं—यह जल्दी से निराश हो जाता है—बुद्धि की परवाह नहीं करता—अपनी कल्पना को प्रश्रय दे कितनी ही दुश्चिंताओं को जनम देता है जिनका कोई मूल्य नहीं होता।

२६.५.३४

*

स: कल ध्यान के समय एक भारी-भरकम जानवर को अपने सामने खड़े देखा। तुम्हारी जो शक्ति उतर रही थी वह उतर न सके मानों इस भाव से वह अपनी भारी-भरकम देह को और फैलाकर मेरे सामने खड़ा था। जब चैत्य पुरुष की अभीप्सा और आवाहन से मेरे आधार में तुम्हारी शक्ति वेग के साथ उतरी तब इस विकट जानवर की देह चूरमार हो गयी। बाद में सोचा कि यह मेरी स्थूल निम्न प्रकृति की ही कोई मिथ्या शक्ति रही होगी—किंतु इतनी बड़ी कैसे हो गयी मां ?

उ० : स्थूल प्रकृति की ही शक्ति—किंतु तुम्हारी स्थूल प्रकृति की नहीं।

२.६.३४

*

स : पहले की तरह किसी के भी साथ मिलते-जुलते मैं प्राण की धारा में अपने को बह जाने नहीं देती, अपने को उससे पृथक् रखने की चेष्टा करती हूं। पहले जैसे क्रोध, असंतोष, निरानन्द इत्यादि बहुत जल्दी से मेरे अंदर घर बना लेते थे—अब देखती हूं वे मेरे अंदर घुस नहीं सकते, कभी आ जाने पर भी उसी क्षण उन्हें भगा देने की क्षमता मानों कुछ बढ़ी है।

उ० : यह उन्नति ही पहले चाहिये—यह न हो तो और कुछ भी स्थायी नहीं हो सकेगा।

२.६.३४

*

स : मां, निम्न शक्तियां क्यों जग उठती हैं ? साधारण अवस्था में इतना नहीं होता जितना नींद में उन्हें आने का सुयोग मिलता है।

उ० : नींद में उठने की मूल जड़ अवचेतना ही हो सकता है—तथापि प्राण के किसी भाग में छिपी प्रकृति किसी छोटी-सी छेड़खानी से अथवा अकारण ही उठ सकती है। ऐसा प्रायः ही होता है।

१९.६.३४

*

स : मां, सभी मेरी निन्दा करते हैं कि मैं तुम्हें शरीर के बारे में सब अनाप-शनाप बातें लिख देती हूं। वे कहते हैं कि साधना और प्रार्थना की बातों के सिवा वे और कुछ भी तुम्हें नहीं लिखते।

उ० : बीमारी यदि आती है—वह चाहे जैसी भी बीमारी हो—जैसे रोगी डॉक्टर से कुछ नहीं छिपाता, कुछ कहने में नहीं हिचकता वैसे ही मां को भी मुक्त भाव से सब कुछ कह देना उचित है। लोगों की बातों पर ध्यान न दो, वे नासमझी में जो-तो बोल जाते हैं।

२६.६.३४

*

जब शांत और उद्विग्न हो मां की शक्ति के प्रति अपने को खुला रखोगी तो मां की शक्ति काम कर सकेगी। मां एक दिन कठोर हैं एक दिन प्रसन्न यह साधक के मन

की उपज हैं, वास्तविकता नहीं। अपने को खुला रखो—यही है एकमात्र असली बात।
२७.६.३४

*

ऐसी सब चिन्ताएं और विलाप करने से साधना में कोई हित साधित नहीं होता। प्राण ही कठिनाइयों का जनक है और प्राण ही फिर उन कठिनाइयों के लिये विलाप करता है, निराश होता है। जैसे प्राण की बाधक शक्ति से कोई लाभ नहीं वैसे ही बाधाजनित निराशा से कोई लाभ नहीं। इससे तो नम्र और सरलभाव से श्रद्धा रख और समर्पण कर, प्राण की सब अशुद्ध movements (हरकतों) का त्याग कर प्राण में true consciousness (सत्य चेतना) को उतारने का प्रयास ज्यादा अच्छा है।
२८.६.३४

*

स: मां, केवल मुझे ही क्यों लगता है कि तुम कठोर और निर्दय हो ? प्रति पल मैं जो अन्याय और अनुचित करती हूं फिर भी तुम लेशमात्र भी विचलित न हो मुझे शांति देती हो यह मैं अच्छी तरह जानती हूं—तब क्यों तुम्हारी दृष्टि की कठोरता मेरे अंतर को छेद जाती है ?

उ० : प्राण की बाधा। मनुष्य का प्राण बाहरी चीजें चाहता है, लोगों के साथ प्राण का विनिमय चाहता है, अपनी निजी कामनाओं, मांगों आदि तक की संतुष्टि चाहता है, मां का अनुग्रह भी चाहता है लेकिन उसी भाव से, अपने को न देकर, मां मुझे प्यार देंगी, दुलार देंगी, प्रधान स्थान देंगी, अपनी करुणा, प्रकाश, शांति और बड़ी-बड़ी अनुभूतियों की वर्षा करेंगी—यह तो मां का कर्तव्य है—मैं तो मजे से भोग करूंगी। मां, यदि यह सब नहीं करतीं तो वे निर्दय, कठोर, करुणा-विहीन हैं। यही है प्राण का असली स्वभाव। इस सब की एकदम सफाई करनी होगी, वास्तविक विशुद्ध समर्पण करना होगा—यह होते ही बाधाएं भाग खड़ी होंगी।

२९.६.३४

*

बिल्ली है प्राणिक (emotional) वासनाओं इत्यादि की प्रतीक।

३०.६.३४

*

काम या पढ़ना छोड़कर कोई स्थाई फल नहीं होता। प्राण की ही सफाई करनी

होगी और उसमें ऊपर के शांति, समता और पवित्रता के भाव लाओ।

३०.६.३४

*

स : मां, आजकल मुझे जो सब अनुभूतियां हो रही हैं वे मिथ्या हैं क्या? तुम आजकल अनुभूतियों का उत्तर नहीं देतीं इसीलिये मन में शंका हुई।

उ० : अनुभूतियां मिथ्या नहीं हैं, किंतु इन सबका अर्थ पहले ही समझा चुका हूं इसीलिये उनके संबंध में और कुछ नहीं लिख रहा। ये सब अनुभूतियां ऊपर के स्तर की हैं, वहां ये सत्य हैं, निम्न स्तर में सत्य बनने की चेष्टा कर रही हैं। लेकिन उसके लिये आवश्यक है निम्न स्तर में शांति, नीरवता, पवित्रता, विशालता और ऊर्ध्व चेतना का अवतरण।

२.७.३४

*

स : प्राण ने तो पहले मुझे कभी तंग नहीं किया, कष्ट नहीं दिया। तुम्हारे पथ पर दौड़कर आने के लिये, समस्त पार्थिव बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिये इसने मुझे यथेष्ट सहायता दी है। आज इसी प्राण की इतनी अशुद्धता क्यों जग उठी मां?

उ० : प्राण में अशुद्धता तो थी ही, यह जगी नहीं। यहां उसपर बदलने के लिये मां की शक्ति का दबाव पड़ा इसीलिये कठिनाई उभर आयी।

३.७.३४

*

ये सब प्राणिक स्तर के स्वप्न हैं—किंतु इसमें अवचेतना के कल्पित रूप इस कदर घुलमिल गये हैं कि उनका कोई अर्थ और मूल्य नहीं रह गया। बहुत-से स्वप्न ऐसे ही होते हैं। जो स्पष्ट और अर्थपूर्ण होते हैं उनका ही मूल्य होता है।

१३.७.३४

*

समझ नहीं सका। जिस अवस्था का ब्यौरा दे रही हो वह आध्यात्मिक उन्नति के लिये श्रेष्ठ अवस्था है। प्रकृति शांत, चंचलता और उत्तेजना का अभाव, शांत गभीर आनंद, अडिग उत्साह—और अधिक क्या चाहती हो? यही तो उन्नति का आधार है।

१८.८.३४

*

स: मां, मेरे मन, प्राण और आत्मा कहां अंतर्धान हो गये ? मेरा शरीर एक क्षीण प्रकाश-किरण की तरह पड़ा है—किसी भी तरह का भाव, कष्ट और उत्तेजना का अनुभव मैं नहीं कर पा रही। . . . तुम्हारे पास पहुंचने के अनेक रास्ते देख रही हूं किंतु सीधा रास्ता एक भी नहीं। मां, पहले क्योंकि सीधा था, मैं सब देख सकती थी, अब क्यों नहीं देख पा रही ?

उ॰: तुम अभी physical (भौतिक) चेतना के बीच बैठी हो—वह चेतना प्रकाश के लिये प्रस्तुत हो रही है और प्रतीक्षारत है।

२१.८.३४

*

व्यथा, हताशा, निरानन्द और निरुत्साह से कभी किसी की योगपथ में उन्नति नहीं हुई। इनका न होना ही अच्छा है।

२४.८.३४

*

इस योगपथ में मिथ्यात्व ही है सबसे बड़ा अंतराय—किसी भी तरह के मिथ्यात्व की गुंजायश नहीं—मन में भी नहीं, वचन में भी नहीं, काम में भी नहीं।

१.९.३४

*

अविश्वास है मानों निम्न प्रकृति का धर्म—निम्न प्रकृति की बात नहीं सुनते। सत्य वही है जो ऊपर से आये।

१.९.३४

*

जब शरीर-चेतना तैयार हो जायेगी तब काम के द्वारा भी उन्नति हो सकेगी।

८.९.३४

*

मिथ्यात्व तो निम्न प्रकृति का स्वभाव है। वहां सत्य की स्थापना करनी होगी।

११.९.३४

*

केवल ऊर्ध्व में उठ जाने पर ही इस योग में सिद्धि नहीं मिल जाती—ऊपर का

सत्य, शांति, प्रकाश इत्यादि उतर कर जब मन-प्राण-देह में प्रतिष्ठित हो जायें तभी सिद्धि मिलती है।

यदि ऊर्ध्व चेतना उतरे और तुम मन-प्राण-देह के सारे मिथ्यात्व का बहिष्कार करो तभी सत्य प्रतिष्ठित हो सकता है।

१४.९.३४

*

यदि मानुषी प्रेम की ओर मन भागे या उससे आकर्षित हो तो भगवान् को पाना कठिन है, यह बात बिलकुल सच्ची है।

१९.९.३४

*

स : ज्ञान, आलोक और शक्ति मेरे भीतर उतर रही है और उनका प्रयोग करने का ज्ञान भी आ रहा है। किंतु उन्हें व्यक्त करने के लिये भाषा, छन्द और पथ ढूंढे नहीं मिल रहा।

उ० : भाषा और छन्द की जरूरत नहीं—यह जो उतरना चाह रहा है वह है ज्ञान—पहले ज्ञान पा लेने से ज्ञान के आलोक में उन्नति करना आसान हो जाता है—अभी बाहरी किसी भी व्यवहार की आवश्यकता नहीं।

२५.९.३४

*

साधारण मनुष्य का सामने का भाग ही जाग्रत् होता है, लेकिन यह सामने की जाग्रत् चेतना सच्चे अर्थों में जाग्रत् नहीं, वह अविद्यापूर्ण है, अज्ञ है। इसके पीछे है inner being (आंतरिक सत्ता) का क्षेत्र—वह ऐसे ढका हुआ है मानों सो रहा हो। किंतु इस आवरण को हटा देने से इस पीछे की चेतना को खुला देख सकते हैं, वहीं सबसे पहले प्रकाश, शक्ति और शांति आदि उतरते हैं। बाहर की जाग्रत् सत्ता जो नहीं कर सकती उसे यह पीछे की भीतरी सत्ता आसानी से कर सकती है। भगवान् की ओर, विश्व चेतना की ओर अपने को खोल चेतना विशाल और मुक्त बन सकती है।

२५.९.३४

*

जब चेतना शरीर को अतिक्रम कर ऊपर उठ सकती है—और यह उठना योग का प्रधान अंग है—तो कुण्डलिनी भी वैसे ही उठ सकती है। कुण्डलिनी केंद्रस्थित गुप्त

चेतना की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

२९.९.३४

*

स: बाबा, सिर्फ वास्तविक रूप में किस तरह लिखा जाता है वह तो मैं जानती नहीं। मेरे लिखने-पढ़ने की दौड़ तो बस यहीं तक है। मेरा भावावेग ऊर्ध्व चेतना की इन उदित हुई चीजों को रूप दे भाषा का जामा पहना इस जगत् में प्रकाशित करना चाहता है।

उ०: यदि ज्ञान उतरता है तो वही यथेष्ट है, लिखने की क्या जरूरत है?

२९.९.३४

*

आधार जितना परिष्कृत होगा उतना ही अच्छा है—भीतर और बाहर मां का सान्निध्य प्रकट हो सकेगा।

६.१०.३४

*

यदि भीतर सब ठीक हो जाये तो बाहरी बाधाएं क्या बिगाड़ सकती हैं?

१३.१०.३४

*

अपने अंदर ठीक रहने का मतलब है अपने को संयत करके रखना, किसी की ओर आकर्षित न होने देना, प्राणिक आकर्षण को प्रश्रय न देना, अपने आप भी किसी पर कोई प्राणिक मोह या आकर्षण न फेंकना।

१६.१०.३४

*

स: तब तुम्हारी शक्ति, शांति और ज्योति के साथ कितनी अनुभूतियां होती थीं—अब वे क्यों नहीं आतीं? अब केवल शांति, आनन्द और आस्पृहा उतरती हैं, अनुभूतियां नहीं आतीं।

उ०: जब चेतना का कोई भी स्तर उठता है जिसके साथ ऊपर का संबंध अभीतक स्थापित नहीं हुआ है या फिर बहिःप्रकृति का एक रौ आता है मन-प्राण के ऊपर और मन-प्राण उसके वशीभूत हो जाते हैं तब ऐसी अवस्था आती है—इन दो में से कोई एक कारण होगा।

३०.१०.३४

*

जो कुछ अविद्या में रहता है वह सब विश्व चेतना के अंदर ही रहता है प्रकाश और अंधकार की तरह किंतु इससे सबमें प्रकाश और अंधकार समान हैं ऐसा नहीं है। अंधकार का वर्जन और आलोक का वरण करना होता है।

३.११.३४

*

या तो चैत्य को आधार का नियामक (ruler चालक, पथप्रदर्शक) बनकर बुद्धि, मन, प्राण, शरीर की चेतना को भगवान् की ओर उन्मुख करना होगा नहीं तो ऊर्ध्व चेतना को शरीर-चेतना तक नीचे उतर समस्त आधार को अपने अधिकार में करना होगा। ऐसा हो जाये तो स्थूल चेतना की भित्ति सुदृढ़ हो जायेगी।

६.११.३४

*

जो स्थान तुम बता रही हो, गले के जरा-सा नीचे वह है vital mind (प्राणिक मन) का आरंभ, जहांसे vital being (प्राणिक सत्ता) का संकल्प और विचार निकलते हैं।

७.११.३४

*

सब कुछ निर्भर करता है चैत्य की प्रधानता पर—बाह्य प्रकृति क्षुद्र अहंकार और वासना-कामना को चरितार्थ करने में व्यस्त है—मानस पुरुष आत्मा को लेकर व्यस्त है—किंतु क्षुद्र अहं को इससे कोई तृप्ति नहीं मिलती, वह क्षुद्रता ही चाहता है। चैत्य भगवान् में रत है, समर्पण उसी का काम है—एक चैत्य पुरुष ही बाह्य प्रकृति को वश में कर सकता है।

१३.११.३४

*

पुरुष कुछ नहीं करता, प्रकृति या शक्ति ही सब कुछ करती है। फिर भी, यदि पुरुष की इच्छा न हो तो कुछ नहीं हो सकता। यह तो जानी हुई बात है, तुमने कभी सुनी नहीं ?

८.१२.३४

*

साधना का पथ तो दिखा दिया है। संयत रह, शांतभाव से मां की शक्ति के प्रति

अपने को खोल दो, उस शक्ति के काम में अपनी सहमति दो, निम्न प्रकृति की प्रेरणा का त्याग करो। अपने को बाहर खो जाने मत दो—भगवान् के लिये ही अपने को पवित्र और पृथक् रखो। यदि मां से प्रेम है तो वह प्रेम आंतरिक हो, बाहरी नहीं, प्राण का अशुद्ध प्रेम नहीं, कामना और अधिकार का नहीं—बाधा से डरो मत—निराशा का स्वागत मत करो। स्थिर शांत भाव से साधना ही किये जाओ। अंत में, अभी जो कठिन लगता है वह आसान हो उठेगा।

१३.१२.३४

*

स्नायविक कल्पना भी बीमारी को जन्म दे सकती है।

१४.१२.३४

*

शरीर के स्नायविक भाग में (nervous system में) शांति और शक्ति को उतारना—स्नायुओं को सबल बनाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।

१५.१२.३४

*

स: मां, नीरव निर्जन में केवल तुम्हारे साथ रहने की दिन-रात प्राणपण से चेष्टा करती हूं, लेकिन हमेशा इसमें सफल नहीं होती। चेतना आधार में उतर आती है और बाहरी जगत् में बिखर जाती है।

उ०: क्योंकि बाहर की ओर आकर्षण रहता है इसलिये। वह आकर्षण इतनी आसानी से नहीं जाता।

१८.१२.३४

*

बहुत अधिक शक्ति के दबाव से सिरदर्द हो सकता है, लेकिन बीमारी का अहसास नहीं होना चाहिये।

३.१.३५

*

स: मां, इतने दिन बाद मेरी देह और मस्तक शक्ति को बिना कष्ट के धारण करने में सक्षम हुआ है। हमेशा पहले-पहल आधार में शक्ति उतरने के समय इस तरह से अग्नि के समान होकर क्यों उतरती है ? जैसे रंग अग्नि की भांति उसी तरह तेज भी अग्नि की तरह।

उ० : यदि मन, प्राण, शरीर में अशुद्धता हो, resistance (प्रतिरोध) हो तो अग्नि की जरूरत पड़ती है।

५.१.३५

*

भीतरी nearness (सामीप्य) ही असली सामीप्य है—जो बाहर से मां के आस-पास रहते हैं वे ही समीप हैं ऐसी धारणा भ्रांत धारणा है।

१५.१.३५

*

असुर राह में हर समय खड़े हैं पर मनुष्य प्रायः ही उन्हें नहीं पहचानते—निम्न प्रकृति के वश में हो उनका दास बनकर रहते हैं।

१९.१.३५

*

पाप की बात क्यों—पाप नहीं, मानवी दुर्बलता। आत्मा सदा शुद्ध है, चैत्य पुरुष शुद्ध, साधना द्वारा आंतरिक भाग (inner mind, vital, physical आंतर मन, प्राण, शरीर) शुद्ध हो सकते हैं फिर भी external being (बाह्य सत्ता) और बाह्य प्रकृति में चरित्र की वही पुरानी दुर्बलता बहुत दिनों तक चिपकी रह सकती है, पूरी तरह शुद्ध करना कठिन है। उसके लिये चाहिये complete sincerity (पूर्ण ऋजुता), दृढ़ता और धैर्य, सदा जाग्रत् भाव। यदि चैत्य पुरुष सामने रहे, सदा जागरूक रहे, अपना प्रभाव विस्तृत करे तो भय की कोई बात नहीं। किंतु ऐसा हर समय होता नहीं। राक्षसी माया वही पुराने weak point (कमजोर अंगों) को पकड़, मन को फुसला अंदर घुसने का पथ पा जाती है। प्रत्येक बार उन्हें लताड़ कर रास्ता बंद करना होता है।

२२.१.३५

*

स : मां, आज कई दिन से सपने में देख रही हूं कि मैं सबको छोड़कर जा रही हूं। सभी पुराने आत्मीयजन मुझे विदाई-भोज देने में यत्नशील हैं और रो रहे हैं। मेरा ध्यान उस तरफ नहीं है। सुन्दर-सुन्दर नदी में स्नान कर रही हूं और मानों बन्धनहीन आनन्द में भार-मुक्त हो विहर रही हूं।

उ० : ये सब हैं प्राण-जगत् के व्यापार। वहां जो आत्मीयजनों की खींच और संबंध था वह शिथिल पड़ गया है और बिलकुल बंद होने की तैयारी में है। उसकी जगह

सच्चे प्राण का आनन्द और सौंदर्य तुम्हें पुकार रहा है। यह है स्वप्न का अर्थ।

२३.१.३५

*

जब कोई भी शक्ति आधार में उतरती है तब उसे receive (ग्रहण) करने की difficulty (कठिनाई) के रूप में कंपकंपी और उथल-पुथल होते हैं। शांत रहने से और सत्त्व गुणों को खोल देने से आधार absorb और assimilate करना (अपने में समाना और आत्मसात् करना) आरंभ करता है।

२६.१.३५

*

स: मां, आजकल नींद में, ध्यान में अथवा साधारण अवस्था में मेरे विचारों या कल्पनाओं में अचानक मेरा कोई बहुत उपकारी या आत्मीय जन आता है। मैं उसे पहचान नहीं सकती; अथवा कोई ऐसी चीज या दृश्य देखती हूं जिसके संबंध में मेरी कोई धारणा ही नहीं होती। फिर भी क्यों उस मनुष्य को मनुष्य कहने और स्वप्न को स्वप्न कहने का मन नहीं होता।

उ०: स्वप्न में या ध्यान में बहुत बार भीतर का कुछ उस तरह का रूप धरकर दिखायी देता है सही—किंतु वे सब बाहरी चीजें नहीं हैं, भीतर की किसी चीज की सूचना देने आते हैं।

२६.१.३५

*

स: मां, देखना एक बात है, अनुभव करना दूसरी बात और समझना बिलकुल अलग। मैं ध्यान में अथवा बाहर जो देखती हूं उसे हृदय में महसूस करती हूं लेकिन समझती नहीं, मां।

उ०: उसके लिये चाहिये ज्ञान का विस्तार। वह ज्ञान धीरे-धीरे भीतर से या ऊपर से आ सकता है।

२६.१.३५

*

जब मन-प्राण बाहर की ओर दौड़ते रहते हैं तब भीतर के किसी भी पुरुष की बात वह कैसे सुनेंगे ? या तो बाहरी कोलाहल में वह आवाज थम जाती है या फिर सुनी नहीं जाती। फिर भी ऐसी अवस्था आ जानी चाहिये जिसमें जब बाहरी कोलाहल हो तब भी भीतरी पुरुष सजग बना रहे या फिर अविचलित हो देख सके या फिर धीरे-

धीरे अपना प्रभाव फैलाये और बाहरी कोलाहल को रोक सके।

भीतरी पुरुष अनेक हैं। चैत्य पुरुष, भीतरी मनोमय पुरुष, भीतरी प्राण-पुरुष, भीतरी देह-पुरुष। ऊपर है केंद्रीय सत्ता—ये सब उसी की नाना आकृतियां हैं। चेतना का विकास होने पर इन सबको पहचाना जा सकता है।

२६.१.३५

*

भौतिक का केंद्र है मेरुदण्ड के अंतिम भाग में, जिसे मूलाधार कहते हैं, वहां—तब हां, वह अक्सर दिखायी नहीं देता, उसकी उपस्थिति का अहसास होता है।

२९.१.३५

*

यह तो है प्राणमय पुरुष, emotional vital (भावमय प्राण) में प्रतिष्ठित। प्राणमय पुरुष के तीन स्तर हैं—हृदय में, नाभि में और नाभि के नीचे। जो हृदय में है वह है emotional being (भावमय सत्ता), नाभि में है कामनामय, नाभि से नीचे है sensational (संवेदनप्रधान) अर्थात् इंद्रियों के आकर्षण और प्राण के छोटे-छोटे भावों को लेकर व्यस्त।

२९.१.३५

*

तुम्हारी अनुभूति बहुत सुन्दर है—ऊपर की शक्ति का चक्र (कार्यकारी गति) उतर रहा है निम्न प्रकृति को आलोकित और सचेतन करने के लिये, और इस तरफ मां के काम के लिये भीतर का उच्चतर प्राण पुरुष सामने आया है—जिसे हम कहते हैं true vital being (सच्चा प्राण पुरुष)।

तुम्हारा काम देखकर मां खूब संतुष्ट हैं। कोई डर नहीं—अहंकार आदि को प्रश्रय न दे सरल भाव से मां का काम करते जाओ, सर्वांगीण उन्नति होगी।

१८.४.३५

*

सामंजस्य होने तक ये सब कठिनाइयां साधना में आती हैं, विशेषकर प्राण और शरीर में। वह सामंजस्य साधित होता है जब (१) चैत्य सत्ता का आधिपत्य स्थापित होता है मन, प्राण, शरीर पर (२) ऊर्ध्व चेतना की शांति और पवित्रता जब ऊपर से नीचे सारी सत्ता में उतर आती है—अंत में अंतर-सत्ता में विशाल अतल भावसे स्थापित हो जाती हैं।

१०.६.३५

*

काम के लिये और साधना के लिये शरीर का स्वस्थ होना जरूरी है।

२०.६.३५

*

डॉक्टर खोजबीन कर रहे हैं—क्योंकि तुम्हारे शरीर में ऐसा कोई दोष नहीं मिल रहा जिसके ये सब स्वाभाविक लक्षण होते हैं। जो हो, इतना व्याकुल होने का कोई कारण नहीं। योगपथ की साधिका हो तुम, जो घटता है उसे शांत, अविचलित मन से देख, भगवान् पर आश्रित रहकर योगपथ पर अग्रसर होओ। यही है इस पथ का और प्रायः सभी योगपथों का नियम।

२१.६.३५

*

स: मां, कल रात देखा एक बड़े बगीचे में एक सरोवर, सरोवर में बहुत-से सांप खेल रहे थे। वहां एक सर्पाकृति विशालकाय मस्तकहीन जन्तु था; मस्तक के बदले था बड़ा विकराल मुख और दोनों तरफ दांत। सरोवर में छिपा हुआ था, अचानक उठ आया मुंह बाये सीधा मेरी ओर बढ़ा ग्रसने के लिये। मैं खड़ी देख रही हूं कि उसके पेट में और भी कितने ही जंतु हैं। मेरे पास पहुंचने से पहले ही एक असुराकृति जीव अपने-आप उसके मुख में घुस गया जैसे, तब वह और नहीं आया, अपने-आप पिछड़ गया। मेरे मन में आया कि मेरे प्राण में अशुद्ध शक्ति छिपी बैठी है। मैं तुम्हें पुकारती हूं इसीलिये वह मुझे अपना ग्रास नहीं बना सकी, आने पर भी नहीं।

उ० : तुम्हारी व्याख्या ठीक है—सरोवर है निम्न प्राण। वहां निम्न प्रकृति की अनेक छोटी-छोटी शक्तियां हैं किंतु उनके नीचे अवचेतना की सर्वग्रासी एक तामसिक शक्ति है जो सबको ग्रास बनाती है, साधक और साधना को ग्रसने आती है। उसके मुख में यदि उसकी निजी आसुरिक वृत्तियां पड़ जायें (ध्वंस हो जायें) तब वह तमस् साधक को और अपना ग्रास नहीं बना सकता।

१.७.३५

*

यदि मन-प्राण को हर समय मां की ओर, ऊपर की ओर उन्मुख रखो तो कोई राक्षस या और कोई तुम्हें नीचे की ओर नहीं खींच सकेगा।

४.७.३५

*

ये सब प्राण जगत् के स्वप्न हैं। वहां अपनी या लोगों की प्रेरणा, चिंता, कामना

और अच्छी एवं खराब शक्तियों को चरितार्थ करने की चेष्टा अनेक रूप धरती है—स्वप्न में वे ऐसे दिखायी देते हैं जैसे यथार्थ में घट रहे हैं।

२२.७.३५

*

यह सब रोना-धोना, चिल्लाना, भावों की उत्तेजना साधना-पथ के लिये अच्छा नहीं है, इन सबको त्याग दो। अहंकार-रहित भाव, भीतरी शांति, शांत समर्पण हैं योगसाधना की नींव और आधार। काम में भी यही भाव ही रहना चाहिये।

२५.१०.३५

*

यदि मन-प्राण शांत चाहो तो सब मांगों, दावों और अहंवृत्ति को अतिक्रम करना होगा। शांत मन-प्राण ही हैं साधना की उन्नति में मुख्य सहायक।

२६.१०.३५

*

एकमात्र पथ है प्राण के वश न हो निरहंकार भाव से काम करना और चैत्य पुरुष की साधना करना।

२३.१२.३५

*

प्रत्येक पुरुष का अपने-अपने केंद्र और क्षेत्र में स्थायी अवस्थान—चैत्य पुरुष का है गभीर हृदय में, प्राण-पुरुष का है हृदय में नाभि में या नाभि से नीचे जो केंद्र हैं वहां। अथवा पूरे प्राण-पुरुष को इस समस्त प्राण-क्षेत्र में व्याप्त अनुभव करता हूं। मूलाधार के ऊपर ही प्राण के क्षेत्र का अंत होता है। मूलाधार से पैरों तक अन्नमय (physical) पुरुष का क्षेत्र है, मूलाधार है उसकी अवस्थिति। लेकिन योगाभ्यास के समय निम्न चेतना ऊपर उठने लगती है—जैसे प्राण-चेतना—देख रहा हूं कि हृत्केंद्र और उसके निकटस्थ भाग से सारी ऊपर की प्राण-चेतना उठ रही है, मस्तक के ऊपर ऊर्ध्व चेतना के साथ मिल रही है। इसके साथ प्राण-पुरुष जहां उठ रहा है उसे भी अनुभव कर सक रहा हूं। इसका उद्देश्य है वहां तक उठ अध्यात्म के साथ एक हो अध्यात्म-स्वभाव के साथ प्राण-स्वभाव का मिलन। अंत में ऊर्ध्वचेतना नीचे उतर पूरी प्राणचेतना और प्राणप्रकृति को अधिकार में कर उसे भागवत चेतना में परिणत कर देती है। यही है योग का नियम।

१०.१.३६

*

स: मां, सारा दिन सब चीजों में देख रही हूं कि मेरे नाभि-प्रदेश से कोई चीज वक्ष तक उठकर मनुष्यों के प्रेम के विषय में सोच रही है, मानवी प्रेम मुझे उद्भासित करे दे रहा है। मस्तक से और एक चीज उतर कर, वक्ष में आ भगवान् को पाने के लिये भागवत प्रेम की आकांक्षा में सब कुछ को सतेज (उद्दीप्त) करे दे रहा है... मां, यह क्या हो रहा है ?

उ०: जो तुम्हारे प्राण से उठता है वह है तुम्हारी साधना की एक प्रधान बाधा, मानवी प्रेम और स्नेह का आकर्षण। ऊपर से जो उतरने की चेष्टा कर रहा है वह है ठीक इससे उल्टा भाव, भागवत प्रेम को पाने की आस्पृहा—यह बड़ी स्पष्ट अनुभूति है, इसमें ऐसा कुछ नहीं जो समझना कठिन हो।

११.३.३६

*

स: आज शाम को अपने सामने एक काले चतुष्पाद विराट् जन्तु को खड़े देखा। वह पीछे की तरफ से आया। उसकी जीभ लपलपा रही थी और गर्दन ऊपर-नीचे हो रही थी कुछ खाने के लिये। मैं प्राणपन से तुम्हें पुकारने लगी, उसके बाद जन्तु गायब हो गया।

उ०: अर्थात् एक निम्न प्राणशक्ति जिसे तुम खाना देने की अभ्यस्त हो।

२१.४.३६

*

(काम के प्रकोप के बारे में)

शरीर-चेतना को purify (पवित्र) करके ही यह सब जायेगा, अन्यथा जाना कठिन है।

२९.५.३६

*

स: एक दिन देखा कि मेरा एक साल का शिशु बहुत बीमार है। मैं उसकी चिकित्सा के लिये पवित्र के पास गयी और उन्होंने मुझे रोगी की अवस्था के बारे में बड़ी स्पष्टता से समझाया और दिखाया। इसके बाद एक दिन देखा कि शिशु उस बीमारी में मर गया। मैं किस शिशु को देख रही हूं, मां ? मेरा अपना जो शिशु था वह तो अब दस-ग्यारह साल का हो गया है। और यदि इसे चैत्यपुरुष समझूं तो वह मरेगा क्यों ? वह तो मरता नहीं।

उ०: यह तो चैत्य नहीं;* प्रकृतिजात और कुछ था जो तुम्हारे भीतर मर गया।

७.७.३६

*

---

* संशयपूर्ण पाठ।

स : मां, योगपथ पर मेरी जितनी कठिनाइयां हैं उनसे, मिथ्यात्व के आवरण से, प्राण की बाधाओं से अपने को मुक्त करना चाहती हूं, पर कर नहीं पाती। वे मुझ पर अपना आसन जमाये बैठी हैं। किस तरह से मन, प्राण और देह चेतना को शुद्ध और पवित्र कर सकूंगी मां, मेरा पथ-प्रदर्शन करो।

उ० : इस अवस्था से त्राण पाने का उपाय है—सरल स्पष्ट भाव से बुद्धि की सब भूलों और प्राण के दोषों को पहचान लेना, अपने से और मां से कुछ भी न छिपा प्रकाश के सामने रख देना, उनका वर्जन करना और मां की शक्ति को पुकारना। यह एक दिन में फलीभूत नहीं हो जाता क्योंकि मन-प्राण resist (विरोध) करेंगे ही, प्रकृति का पुराना अभ्यास आसानी से नहीं जाता। लेकिन यदि sincere will (सच्चा संकल्प) हो और उसके साथ हो perseverence (अध्यवसाय) तो धीरे-धीरे आसान हो जाता है और अंततः पूर्ण सफलता मिलती है।

१०.७.३६

*

देह-प्राण ऐसे ही स्वच्छ नहीं हो जाते—साधना और आत्मसंयम द्वारा प्राण को पवित्र करना होता है। प्राण स्वच्छ हो तो शरीर के अनेक रोग-कष्ट उपशम हो जाते हैं।

११.७.३६

*

स : मां, बुद्धि की भूल के बारे में जो तुमने लिखा है वह मैं समझ नहीं पायी। साधना में मन-प्राण बाधा उत्पन्न करते हैं यह तो जानती थी किंतु बुद्धि में दोष हैं और बुद्धि भी भागवत पथ पर चलने में रुकावट डालती है यह नहीं जानती थी।

उ० : जब बुद्धि प्राण की भ्रांतियों का समर्थन करती है, अहंकार का समर्थन करती है, गलत अवतरण के लिये खोज-खोज कर justifying reasons (पुष्टियां और तर्क) उपस्थित करती है, मिथ्या कल्पनाओं को आश्रय देती है तब ये सब बुद्धि की भूलें हैं। और भी बहुत-सी हैं। मनुष्य की बुद्धि बहुत तरह के असत्य को स्थान देती है।

११.७.३६

*

अंतर की गभीरतम गहराइयों में डूबे रहना बहुत अच्छा है किंतु वहां से काम-काज करने की सामर्थ्य भी develop (विकसित) करनी चाहिये।

१५.९.३६

*

जब स्वभाव के दोष जान गयी हो तो उन्हें और अधिक प्रश्रय न दे, मां की शक्ति को पुकार कर स्वभाव में से बाहर फेंक दो। साधकों में आंतरिक अनुभूतियां रहने पर भी बाहर का स्वभाव नहीं बदलता। यही है सारे अशुभों की जड़। इस समय इस तरफ विशेष ध्यान देना और चेष्टा करना सबके लिये उचित है।

२४.९.३६

*

मानव-मात्र में इन सब शक्तियों का प्रभाव है। ये शक्तियां तुम्हारे अंदर नहीं हैं, ये हैं विश्व-प्रकृति की निम्न शक्तियां, लेकिन इनका प्रभाव सबके अंदर है। जबतक अपने अंदर की सारी wrong movement (गलत गतिविधियों) को पहचान नहीं लेते, acknowledge (स्वीकार) नहीं कर लेते तबतक इस प्रभाव से मुक्त होना कठिन है। यदि पहचान ली जायें तब मुक्त होने की संभावना हो जाती है। फिर भी विचलित न हो, दृढ़ भाव से देख उनको अस्वीकार करना उचित है। मां की शक्ति को पुकार सबको बुहार देना होता है।

१३.१०.३६

*

चैत्य पुरुष, अंतरात्मा, सूक्ष्म सत्ता जो मन-प्राण आदि को धारण किये हुए है, ये सब एक ही हैं, psychic being—आत्मा का स्थान मेरुदण्ड में नहीं है—आत्मा तो सर्वव्यापी है, सबकी आत्मा एक है।

१७.७.३७

*

उपवास आध्यात्मिकता का एक अंग है यह धारणा गलत है। लोभ नहीं रखना, लोभवश नहीं खाना, आवश्यकता से अधिक नहीं खाना—ये सब नियम अवश्य पालने चाहियें। लेकिन शरीर के लिये जितना आवश्यक हो उतना खाना चाहिये। गीता में कहा है कि बहुत ज्यादा खा लेने से योग नहीं हो सकता लेकिन न खाने से, खूब कम खाने से भी योग नहीं किया जाता।

२२.७.३७

*

चाय पीने के हानि और लाभ दोनों ही हैं। बहुत strong (कड़ी) बनाने से या ज्यादा चीनी डालने से शरीर के लिये हानिकारक है, ज्यादा मात्रा में पीने से भी ऐसा ही होता है। कम चीनी की light (हल्की) चाय (खौलते पानी में पत्ती डालकर तभी

या शीघ्र ही प्याले में डाल लेनी चाहिये चाहिये) लेने से हानि नहीं होती।

१४.६.३८

*

[साधिका की बेटी के यहां से कितनी ही तरह की समस्याएं लिये बहुत-सी चिट्ठियां आ रही हैं। साधिका श्रीअरविन्द को उन सबसे अवगत करा रही है।]

पिता के घर जाना नहीं चाहती, नानी के आधीन रहना अच्छा नहीं लगता तो फिर क्या किया जाय ? मनुष्य के जीवन में स्वेच्छा या स्वातन्त्र्य की गुंजायश बहुत कम है, कर्तव्य ही प्रधान है। जो बहुत शक्तिशाली है उसे भी पहले discipline (आत्म-संयम) सीखना होता है—जो सीखना नहीं चाहता उसके लिये दुःखभोग अनिवार्य है।

६.७.३८

*

तुम्हारी अनुभूति तो सच्ची है किंतु जो सब नाम तुमने गिनाये हैं वे गलत हैं। मनुष्य का पृथक् परमात्मा नहीं है, परमात्मा भगवान् है, भगवान् ही सबके परमात्मा हैं। जिसे तुम परमात्मा कह रही हो वह है तुम्हारी जीवात्मा, मस्तक के ऊपर है उसका स्थान, जो भगवान् के साथ, मां के साथ युक्त है। जिसे तुम जीवात्मा कहती हो वह जीवात्मा नहीं है, वह है तुम्हारा प्राण-पुरुष, बल्कि निम्न प्राण-पुरुष। प्राण हृदय के नीचे से मूलाधार तक फैला हुआ है, उसमें नाभि के नीचे जो है वह है निम्न प्राण। इसी तरह जिसे आत्मा कह रही हो वह आत्मा नहीं कहलाती, वह है psychic being, हृदय में चैत्य पुरुष। चैत्य पुरुष (इसे अंतरात्मा कह सकती हो) जीवात्मा के साथ युक्त होने पर, मां के साथ युक्त होने पर सत्य चेतना की नींव स्थापित होती है। यही अंतरात्मा मनुष्य के सारे मन-प्राण-देह को पीछे से धारण करती है लेकिन यह गुप्त है, साधारण आदमी का मन, प्राण, देह उसे देखता और पहचानता नहीं। मनुष्य प्राण-पुरुष को अपनी आत्मा समझने की भूल करता है, प्राण-पुरुष के अधीन हो दुःख भोगता है। जब प्राण-पुरुष के वश न हो अंतरात्मा के वश में होता है तब सब कुछ सुन्दर, सुखमय, मां के साथ तदात्म, मां-मय हो जाता है। यह सब तुमने देखा है और जो देखा है वह ठीक है, सिर्फ नाम बदलने होंगे।

ऐसी कोई जरूरत नहीं कि बाहर न निकल घर में ही बैठकर मां को पुकारना होगा। और इस संबंध में तुम जो करना चाहती हो उसे मां पसंद नहीं करतीं। क्योंकि तुम्हारी छोटी उम्र है, तुम कर नहीं सकोगी, केवल कष्ट पाओगी और मां नहीं चाहतीं कि तुम कष्ट पाओ।

नहीं, इससे तो यही अच्छा है कि तुम मन-ही-मन मां को याद करो, मां को पुकारो—सुख में, दुःख में उन्हीं का सान्निध्य सब अवस्था में उन्हीं की सहायता, उन्हीं के आशीर्वाद और रक्षा की कामना करो, तभी सब कुछ होगा।

१०.५.३५

*

पता नहीं तुम दोबारा कब आ सकोगी। लगता है तुम्हारे पिताजी इतनी जल्दी दोबारा आने नहीं देंगे, उससे दुःखी मत होना। सदा मां को याद रखना, वे तुम्हारे साथ ही रहेंगी। वे साथ हैं, रक्षा कर रही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास मानों सब समय तुम्हारे अंदर जाग्रत् रहे। तीन महीने कोशिश करना, उसके बाद फल न मिलने पर छोड़ देना—इससे कोई बात नहीं बनती। असली बात है उन्हें याद रखना और पुकारना, जितने दिन भी लगें, यह करते-करते ही तुम सचेतन होओगी, मां तुम्हारे साथ हैं यह अनुभव करोगी, दर्शन भी करोगी।

१३.५.३५

*

मैंने बंगाली में ही चिट्ठी लिखी है। इसके बाद वैसा ही करूंगा। भविष्य में क्या होगा कहना मुश्किल है फिर भी आशा करता हूं कि ऐसी घटनाएं घटेंगी जिससे तुम जल्दी ही लौटोगी और दर्शन लाभ करोगी। तबतक हमें याद करती हुई प्रतीक्षा करो। हमारे साथ मन-ही-मन जितना घनिष्ठ होकर रहोगी उतनी ही जल्दी जीवन में सफल होने की संभावना रहेगी।

१४.५.३५

*

जिस घर में कोई भगवद्-चर्चा नहीं वहां तुम्हारा न जाना ही अच्छा है। लेकिन यदि तुम्हें वहां जाना ही पड़े तो मां को ही पुकारो। जैसे अब करती हो वैसे यदि न कर सको तो चुपचाप अपने मन-ही-मन पुकारो—इस तरह न कोई समझेगा, न

जानेगा। लेकिन पुकारने का फल तुम्हें मिलेगा।

१७.५.३५

*

तुमने ऐसा क्यों लिखा कि हम लोग तुमसे नाराज हैं ? हम तुमसे कभी भी नाराज नहीं हुए, आज भी नहीं। नाराज होने का कोई कारण भी नहीं था, तुमने कोई गलती नहीं की।

क्या तुम्हें कल सवेरे मेरी चिट्ठी नहीं मिली ? मैंने तो चिट्ठी लिखी थी, उसमें लिखी थी हमारे स्नेह की बात और लिखा था कि तुम निश्चय ही हमें पाओगी। जो भी हो, मैं फिर से दोहरा रहा हूं।

हम तुम्हें बहुत प्यार करते हैं और यह प्यार हमेशा अटूट रहेगा। मन खराब न करना या निराशा को घुसने मत देना। यह दृढ़ विश्वास हमेशा मन में पोसती रहो कि मैं मां को पाऊंगी ही पाऊंगी, श्रीअरविन्द को पाऊंगी, दूर रहकर भी उनके दर्शन करूंगी। हमेशा हमें याद रखो और हमेशा हमारी ओर निहारो। जो यही करते हैं वे हमें प्राप्त करते हैं, तुम भी निश्चित ही पाओगी। और यदि यही करो तो ऐसी घटनाओं का समावेश होगा कि तुम यहां आ सकोगी, हमारा दर्शन कर सकोगी।

कल जरूर आना। मां को मिल जाना।

१७.५.३५

*

मुझे तुम्हारी तीन चिट्ठियां मिलीं, बहुत-से कामों में व्यस्त होने के कारण उत्तर नहीं दे सका—तीनों चिट्ठियों का आज एक साथ उत्तर दे रहा हूं। इस बार दर्शन पर आना असंभव है इस बात का काफी कुछ अंदाज था मुझे। इतने थोड़े समय की अवधि में दो बार आना आसान नहीं। दुःखी मत होओ, स्थिर रहो, मां को याद कर अपने अंदर विश्वास और बल का संचय करो। तुम मां भगवती की संतान हो, शांत, धीर, शक्तिमयी बन जाओ। मां को पुकारने का कोई विशेष नियम नहीं। मां का नाम लेना, उन्हें अंदर-ही-अंदर याद करना, मां से प्रार्थना करना—इन सबको कहते हैं मां को पुकारना। जैसे तुम्हारे अंदर से उठे, उसी तरह ही पुकारो। यह भी कर सकती हो कि सवेरे-सवेरे आंखें बंद कर कल्पना करो कि मां तुम्हारे सामने खड़ी हैं अथवा मानस चित्र बना उन्हें प्रणाम करो, वह प्रणाम मां के पास पहुंचेगा। जब समय मिले तो इस भाव के साथ कि मां तुम्हारे साथ हैं, सामने बैठी हैं, ध्यान कर सकती हो। ऐसा करने पर लोग अंततः मां के दर्शन लाभ करते हैं। मेरे आशीर्वाद लेना। मां के आशीर्वाद भी इसके साथ भेज रहा हूं। बीच-बीच में ज्योतिर्मयी प्रणाम के समय

तुम्हारे लिये आशीर्वादी फूल लेकर भेज देगी।

२८.५.३५

*

तुम्हारी दो चिट्ठियां मिलीं। जब तुम यहां थीं उस समय तुम्हें जो लिखा था उसे मन में रख धीर चित्त के साथ मां का स्मरण करो, उन्हें टेरो। पहले आंख बंद करने पर वे दिखायी देती हैं, अपने अंदर उनकी वाणी सुनायी देती है, किंतु यह भी आसानी से नहीं होता। मनुष्य बाहरी रूप देखता है, बाहरी बात और शब्द सुनता है—जो उसकी स्थूल आंखों के सामने पड़ता है, कानों में बजता है वही देखता है, वही सुनता है। और कुछ देखना और सुनना उसके लिये कठिन है। आंतरिक दृष्टि और श्रवण-शक्ति को खोलना होगा, उसके लिये प्रयास अपेक्षित है, समय लगता है, यदि शुरू में न हो तो दुःखी मत होना। मां सदा तुमसे स्नेह करती हैं और तुम्हारा ख्याल रखती हैं। एक दिन तुम उनके दर्शन करोगी, उनकी वाणी सुनोगी। दुःख मत करो, मां की शांति और शक्ति को अपने भीतर पुकारो, वहीं मिलेगा मां की उपस्थिति का सुराग।

१६.६.३५

[चिट्ठी के अंत में श्रीमां ने जोड़ा] :

Love and blessings to my dear little Esha.

The Mother

(अपनी प्यारी नन्हीं-सी एषा को प्यार और आशीर्वाद।)

—श्रीमां

*

नहीं, तुमसे हम नाराज क्यों होंगे भला ? बहुत व्यस्त था, लिखने का समय नहीं मिला। अभी दर्शन का महीना है अतः बहुत ही व्यस्त रहा। इस बार बहुत-से दर्शनार्थी आ रहे हैं। आशा करता हूं कि तुम्हारा स्वास्थ्य बेहतर होगा—तुमने लिखा था कि इस बीच दो बार अस्वस्थ हुई थीं—आशा है इसके बाद स्वस्थ ही रहोगी। तुमने लिखा है कि रांची जा रही हो। कब जाओगी और कितने दिन ठहरोगी ?

वर्तमान अवस्था से चिंतित या दुःखी मत होओ। मां पर संपूर्ण भरोसा रख शांत और प्रसन्न रहो, अच्छे समय की प्रतीक्षा करो। एक दिन तो मां के दर्शन करोगी ही। जो दृढ़ भाव से उनके ऊपर निर्भर करते और पुकारते हैं वे अंत में उनके पास पहुंच ही जाते हैं। इस पार्थिव जीवन में बहुत रुकावटें और व्याघात आ सकते हैं, समय लग सकता है, फिर भी वे मां तक पहुंचते हैं।

४.८.३५

*

बहुत दिन से चिट्ठी लिखना चाहते हुए भी लिख नहीं सका। काम का बोझ कम नहीं होता, बढ़ता ही जाता है, एक तरफ कम भी हो तो दूसरी तरफ बढ़ जाता है। यह सब काम करते-करते रात बीत जाती है, उसके बाद बाहर की चिट्ठियों का उत्तर देने का समय और नहीं रहता। आज भी यही हुआ है, फिर भी लिखने बैठा हूं।

पता लगा कि तुम और तुम्हारी मां बहुत बीमार रहीं। आशा करता हूं यह दोबारा नहीं होगा, अब खतम हो गयी बीमारी। बहुत-सी जगह ऐसा हुआ है, यहां और बंगाल में कई जगह हुआ है साधकों के साथ। इस अवस्था से गुजरना आसान नहीं था।

नहीं, तुमसे नाराजगी नहीं थी। नाराजगी होगी क्यों ? हमारा तुम्हारे ऊपर अटूट स्नेह है और अटूट ही रहेगा।

और कुछ लिखने का समय नहीं है, बाद में लिखूंगा। हमारे आशीर्वाद।

२६.१२.३५

*

[श्रीमां ने लिखा :]

Love and blessings to my dear little Esha.

(अपनी प्यारी बच्ची एषा को प्यार और आशीर्वाद।)

*

इतने दिन रोज पूरा दिन काम रहता था इसीलिये तुम्हारी चिट्ठियों के उत्तर नहीं दे सका। अभी भी वैसी ही हालत है, पर क्योंकि आज रविवार है, काम कुछ हल्का है अतः दो पंक्तियां लिखने बैठा हूं।

हमारे बारे में सोचने पर स्वप्न में हमें देखने पर मन क्यों खराब होता है ? स्वप्न में मां तुम्हारे पास आयीं यह तो आनन्द की बात होनी चाहिये थी। अब मिलना नहीं होगा समझ मन खराब न होने देना। मां मुझे याद करती हैं, प्यार करती हैं, भीतर हर समय मेरे पास रहती हैं ऐसा विश्वास रख शांतमन हो रहो, समय की प्रतीक्षा करो,—जो सब बाधाएं अब हैं वे चिरकाल नहीं रहेंगी।

हर समय मां को याद करो, उनके ऊपर निर्भर रहो। हर समय याद करते-करते एक दिन दर्शन भी होंगे, अपने अंदर भी देखोगी।

*

देखो, यदि मैं तुम्हें मिलने की अनुमति दूं तो क्या दूसरों से निस्तार पाऊंगा ? वे क्या नहीं बोलेंगे, "तुमने एषा को आने दिया और हमें दर्शन नहीं दे सके ? यह कैसी

व्यवस्था ? यह कैसा अन्याय ? हम मनुष्य नहीं हैं क्या ?" इसके बाद जब डेढ़ सौ लोग दनदनाते हुए मेरे ऊपर आ पड़ेंगे तो मेरी क्या दशा होगी, जरा सोचो तो ?

बंगला में बड़ी-सी चिट्ठी लिखनी होगी ? मेरी ऐसी क्षमता है क्या, या समय है मेरे पास ? यह छोटा-सा उत्तर लिखते-लिखते दम निकल गया और रात भी बीत गयी। इस बार तो बंगला में लिख दिया लेकिन इसके बाद ऐसी कसरत और नहीं कर सकूंगा, कहे देता हूं।

*

बहुत दिन से तुम्हें चिट्ठी नहीं लिख सका हूं—इच्छा थी पर संभव न हो सका। इस बार दर्शन पर सात सौ से अधिक लोग आये—बहुत-से १५ अगस्त के काफी पहले से आ गये, और बहुत-से १५ के बाद रह गये, आज भी हैं, अब जाने शुरू हुए हैं। इस कारण काम अत्यधिक बढ़ गया था, आश्रम का काम भी बहुत बढ़ गया है। पूरा दिन-रात एक करके भी काम समाप्त नहीं होता। इसलिये बाहर की चिट्ठियों का उत्तर नहीं दे सका। अब जाकर कुछ कम हुआ है काम इसीलिये यह चिट्ठी लिख पा रहा हूं। पर जो कम हुआ है वह कहने भर को है। अब भी मेरे अनेक आवश्यक काम पड़े हैं, कर नहीं सका, अभी भी समय नहीं मिल रहा।

ज्योतिर्मयी की चिट्ठी और फूल क्यों नहीं मिले यह ठीक समझ नहीं सका—लगता है इस बीच उसकी चिट्ठी मिल गयी होगी, उसने निश्चय ही अपनी कैफियत दी है।

आशा है तुम सकुशल होओगी। यदि कभी मां को पुकारने के लिये कोई निश्चित समय न भी पाओ तो हर समय उसे पुकार कर अपना सारा जीवन और सब काम उसे समर्पित करने का प्रयास करो।

[श्रीमां :]

Love and blessings to my dear little Esha.

(अपनी नन्हीं-सी प्यारी बच्ची एषा को प्यार और आशीर्वाद।)

कहानी

स्वप्न

एक दरिद्र अंधेरी कोठरी में बैठा अपनी शोचनीय अवस्था और भगवान् के राज्य में अन्याय-अविचार की बातें सोच रहा था। दरिद्र अभिमान से अभिभूत हो कहने लगा, "लोग कर्म की दुहाई दे भगवान् के सुनाम की रक्षा करना चाहते हैं। यदि गत जन्म के पाप से मेरी यह दुर्दशा हुई होती, यदि मैं इतना ही पापी होता हो तो निश्चय ही इस जन्म में भी मेरे मन में पाप-चिंतन का स्रोत बहता होता, इतने घोर पातकी का मन क्या एक दिन में निर्मल हो सकता है ? और उस मोहल्ले के तीनकौड़ी शील को तो देखो, उसकी धन-दौलत, सोना-चांदी, दास-दासियों को देखो, यदि कर्मफल सत्य हो तो निःसन्देह वह पूर्व जन्म में कोई जगद्विख्यात साधु-महात्मा रहा होगा। परंतु कहां, इस जन्म में तो उसका नाम-निशान तक नहीं दिखायी देता। ऐसा निष्ठुर, पाजी, बदमाश तो संसार में दूसरा नहीं। नहीं, कर्मवाद है भगवान् का छलावा, मन को फुसलाने का बहाना-मात्र। श्यामसुन्दर बड़े चतुरचूड़ामणि हैं, मुझे पकड़ाई नहीं देते, इसी से खैर है, नहीं तो ऐसा सबक सिखाता कि सब चालाकी धरी रह जाती।"

इतना कहते ही दरिद्र ने देखा कि हठात् उसकी अंधेरी कोठरी अतिशय उज्ज्वल आलोक-तंरग से प्रवाहित हो उठी है, फिर तुरत ही वह आलोक-तरंग अंधकार में विलीन हो गयी और उसने देखा कि उसके सामने एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक हाथ में दीपक लिये खड़ा है—धीरे-धीरे मुस्करा रहा है, पर कुछ बोलता नहीं। उसके सिर पर मोर-मुकुट और पांवों में नूपुर देख दरिद्र ने समझ लिया कि स्वयं श्यामसुन्दर ही उसे पकड़ाई दने के लिये आये हैं। दरिद्र अप्रतिभ हो उठा, एक बार उसने सोचा कि प्रणाम करूं, किंतु बालक का विहँसता चेहरा देख किसी तरह भी प्रणाम करने को मन नहीं हुआ। अंत में उसके मुंह से यह वाक्य निकल पड़ा—"अरे कन्हैया, तू क्यों आ गया ?"

बालक ने हँसकर कहा—"क्यों, तुमने ही तो मुझे बुलाया था ? अभी-अभी तो मुझे चाबुक लगाने की प्रबल इच्छा तुम्हारे मन में उठी थी ! अब तो मैं पकड़ में आ गया, उठकर चाबुक लगाओ न।"

दरिद्र और भी अप्रतिभ हुआ, भगवान् को चाबुक लगाने की इच्छा के लिये उसे हृदय में अनुत्ताप नहीं, किन्तु इतने सुन्दर बालक को स्नेह न कर उसपर हाथ उठाना उसे ठीक सुरुचि-संगत नहीं मालूम हुआ। बालक ने फिर कहा—"देखो हरिमोहन, जो मुझसे भय न कर मुझे अपना सखा मानते हैं, स्नेहभाव से गाली देते हैं, मेरे साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं, वे मुझे बहुत ही प्रिय हैं। मैंने क्रीड़ा के लिये ही जगत् की सृष्टि की है, मैं सर्वदा इस क्रीड़ा का उपयुक्त साथी खोजता रहता हूं। परंतु भाई, ऐसे साथी मिलते कहाँ हैं ? सभी मुझपर क्रोध करते हैं, दावा करते हैं, दान चाहते हैं, मान चाहते हैं, मुक्ति चाहते हैं, भक्ति चाहते हैं, न जाने क्या-क्या चाहते रहते हैं, किंतु कहां,

मुझे तो कोई नहीं चाहता! जो कुछ ये चाहते हैं वही दे देता हूं। क्या करूं, इन्हें संतुष्ट रखना ही पड़ता है, नहीं तो ये मेरी जान के गाहक बन जायें। देखता हूं, तुम भी कुछ चाहते हो। नाराज होने पर चाबुक खाने के लिये तुम्हें एक आदमी चाहिये, इसी साध को मिटाने के लिये तुमने मुझे बुलाया है। लो, चाबुक की मार खाने के लिये मैं आ गया— *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*। फिर भी प्रहार करने के पहले यदि तुम मेरे मुँह से कुछ सुनना चाहो तो मैं तुम्हें अपनी प्रणाली समझा दूँ। क्यों! राजी हो ?"

हरिमोहन ने कहा—"समझा सकेगा तू ? देखता हूँ, तू बड़ा ही वाचाल है, किंतु तेरे जैसा नन्हा-सा बालक मुझे कुछ सिखा सकेगा यह मैं कैसे विश्वास करूं ?"

बालक ने फिर हँसकर कहा—"आजमा कर देखो, सिखा सकता हूँ या नहीं।"

इतना कह श्रीकृष्ण ने हरिमोहन के सिर पर हाथ रखा। दरिद्र के समस्त शरीर में विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगी, मूलाधार में सुप्त कुंडलिनी-शक्ति अग्निमयी भुजंगिनी के रूप में गर्जन करती हुई ब्रह्मरंध्र की ओर दौड़ी, उसका मस्तिष्क प्राण-शक्ति की तरंगों से भर गया। तुरत ही उसे ऐसा लगने लगा कि घर के चारों ओर की दीवारें मानों दूर भागी जा रही हैं, नाम-रूपमय जगत् मानों उसे छोड़ अनन्त में छिप गया है। हरिमोहन बाह्यज्ञानशून्य हो गया। जब उसे फिर से चेतना आयी तो उसने देखा कि वह किसी अनजान जगह में बालक के संग खड़ा है, उसके सामने गाल पर हाथ रखे गद्दी पर बैठे हैं एक वयोवृद्ध पुरुष, प्रगाढ़ चिन्ता में निमग्न। उस घोर दुश्चिन्ता-विकृत, हृदय-विदारक निराशा-विमर्षित मुखमण्डल को देख हरिमोहन को यह विश्वास करने की इच्छा नहीं हुई कि यही हैं गांव के हर्ता-कर्ता तीनकौड़ी शील। अंत में अत्यंत भयभीत हो उसने बालक से कहा—"अरे, यह तूने क्या किया कन्हैया, चोर की तरह घोर रात्रि में दूसरे के मकान में घुस आया ? पुलिस आकर हमें पकड़ लेगी और मारते-मारते दोनों के दम निकाल देगी! तीनकौड़ी शील के प्रताप को क्या तू नहीं जानता ?"

बालक ने हँसकर कहा—"अच्छी तरह जानता हूं। परंतु चोरी तो मेरा पुराना धन्धा है, पुलिस के साथ मेरी खूब पटती है, तुम डरो मत। अब मैं तुम्हें सूक्ष्म-दृष्टि देता हूं, वृद्ध के मन के भीतर देखो। तीनकौड़ी के प्रताप को तो तुम जानते ही हो, अब मेरे प्रताप को भी देखो।"

अब देख पाया हरिमोहन वृद्ध तीनकौड़ी के मन को। देखी शत्रु-आक्रमण से विध्वस्त धनाढ्य नगरी। उस तीक्ष्ण और ओजस्वी मन में कितनी ही विकराल मूर्तियां, पिशाच और राक्षस घुसकर शांति नष्ट कर रहे हैं, ध्यान भंग कर रहे हैं, सुख लूट रहे हैं। वृद्ध ने अपने प्यारे कनिष्ठ पुत्र के साथ कलह किया है, उसे घर से निकाल दिया है; अब वे बुढ़ापे के प्यारे पुत्र को खो शोक से म्रियमाण हो रहे हैं, किन्तु क्रोध, गर्व और हठ उनके हृदय-द्वार पर सांकल चढ़ा पहरा दे रहे हैं। क्षमा को वहां प्रवेश करने

का अधिकार नहीं। उनकी कन्या के नाम दुश्चरित्रा होने का कलंक लगा है, अतः वृद्ध अपनी प्रिय कन्या को घर से निकाल अब उसके लिये रो रहे हैं; वृद्ध यह जानते हैं कि वह निर्दोष है, किंतु समाज का भय, लोक-लज्जा, अहंकार और स्वार्थ ने स्नेह को दबा रखा है, उसे वे उभड़ने का अवसर ही नहीं देते। हजारों पाप-स्मृतियों से डरकर वृद्ध बार-बार चौंक उठते हैं, तथापि पाप-प्रवृत्तियों को सुधारने का साहस या बल उनमें नहीं। बीच-बीच में मृत्यु और परलोक की चिन्ता वृद्ध को अत्यंत दारुण विभीषिका दिखा जाती। हरिमोहन ने देखा कि मरने की चिन्ता के परदे के पीछे से विकट यमदूत वृद्ध की ओर बार-बार झांक रहे हैं और दरवाजा खटखटा रहे हैं। जब-जब ऐसा शब्द होता है तब-तब वृद्ध की अंतरात्मा भयातुर हो चीत्कार कर उठती है। इस भयंकर दृश्य को देख हरिमोहन भयभीत हो उठा और बालक की ओर देख बोला—"अरे कन्हैया! यह क्या ? मैं तो सोचता था कि वृद्ध परम सुखी हैं।"

बालक ने कहा—"यही है मेरा प्रताप। अब बोलो, किसका प्रताप अधिक है, उस मोहल्ले वे तीनकौड़ी शील का या वैकुंठवासी श्रीकृष्ण का ? देखो हरिमोहन! मेरे यहां भी पुलिस है, पहरा है, सरकार है, कानून है, न्याय है, मैं भी राजा बनकर खेल कर सकता हूं। पसंद है तुम्हें यह खेल ?"

हरिमोहन ने कहा—"ना रे बाबा, यह तो बड़ा बुरा खेल है। तुझे अच्छा लगता है यह खेल ?"

बालक ने हँसते हुए उत्तर दिया—"मैं सभी खेल पसंद करता हूं, चाबुक लगाना भी और चाबुक खाना भी।" इसके बाद उसने कहा—"देखो हरिमोहन, तुम लोग केवल बाहर का ही देखते हो, भीतरी रूप देखने की सूक्ष्म-दृष्टि अभी तक विकसित नहीं की है। इसीलिये कहते हो कि तुम दुःखी हो और तीनकौड़ी सुखी। इस आदमी को किसी भी पार्थिव वस्तु का अभाव नहीं—फिर भी यह लखपति तुम्हारी अपेक्षा कितनी अधिक दुःख-यंत्रणा भोग रहा है। ऐसा क्यों ? बता सकते हो ? मन की अवस्था में ही सुख है और मन की अवस्था में ही दुःख। सुख और दुःख हैं मन के विकार-मात्र। जिसके पास कुछ नहीं, विपदा ही जिसकी संपदा है, वह अगर चाहे तो उस विपत्ति में भी परम सुखी हो सकता है। और देखो, जिस तरह तुम नीरस पुण्य में दिन बिताते हुए सुख नहीं पा रहे हो, केवल दुःख का ही चिंतन करते हो, उसी तरह ये भी नीरस पाप में दिन बिताते हुए केवल दुःख का ही चिंतन करते हैं। इसीलिये पुण्य से केवल क्षणिक दुःख और पाप से केवल क्षणिक सुख मिलता है। इस द्वंद्व में आनंद नहीं। आनन्द-आगार की छवि तो मेरे पास है। जो मेरे पास आता है, जो मेरे प्रेमपाश में बँधता है, मेरा सुमिरण करता है, मुझपर जोर-जुल्म करता है, अत्याचार करता है—वह मेरे आनन्द की छवि के दर्शन का हकदार बन जाता है।

हरिमोहन बड़ी तत्परता के साथ श्रीकृष्ण की बातें सुनने लगा। बालक ने फिर कहा—"और देखो, हरिमोहन, शुष्क पुण्य तुम्हारे लिये नीरस हो गया है फिर भी

संस्कार के प्रभाव को तुम नहीं छोड़ पा रहे, इस तुच्छ अहंकार को नहीं जीत पा रहे। इसी तरह वृद्ध के लिये पाप नीरस हो गया है फिर भी संस्कार के वश हो वे उसे नहीं छोड़ पा रहे और इस जीवन में नरक-यंत्रणा भोग रहे हैं। इसे ही कहते हैं 'पुण्य का बन्धन' और 'पाप का बन्धन'। अज्ञानजनित संस्कार है इस बंधन की रस्सी। परंतु वृद्ध की यह नरक-यंत्रणा बड़ी शुभ अवस्था है। इससे उनका परित्राण और मंगल होगा।"

हरिमोहन अबतक चुपचाप बालक की बातें सुन रहा था, अब उसने कहा—"कन्हैया, तेरी बातें तो बड़ी मीठी हैं, किंतु मुझे विश्वास नहीं हो रहा। सुख और दुःख मन के विकार हो सकते हैं, किंतु इनका कारण है बाह्य अवस्था। देख, क्षुधा की ज्वाला से जब प्राण छटपटा रहे हों तब क्या कोई परम सुखी हो सकता है ? अथवा जब रोग या यंत्रणा से शरीर कातर हो रहा हो तब क्या कोई तुझे याद कर सकता है ?"

बालक ने कहा—"चलो हरिमोहन, यह भी तुम्हें दिखा दूं।"

इतना कह बालक ने हरिमोहन के सिर पर पुनः अपना हाथ रखा। स्पर्श का बोध होते ही हरिमोहन ने देखा कि तीनकौड़ी शील के मकान का अब कहीं कोई पता नहीं। एक निर्जन सुरम्य पर्वत के वायुसेवित शिखर पर एक संन्यासी आसन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं, उनके चरणों के पास एक विराट्काय व्याघ्र प्रहरी की तरह लेटा हुआ है। बाघ को देख हरिमोहन के पैरों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया, किंतु बालक उसे खींच संन्यासी के निकट ले ही गया। बालक से पार न पा लाचार हो हरिमोहन को चलना पड़ा। बालक ने कहा—"देखो, हरिमोहन।"

हरिमोहन ने देखा कि संन्यासी का मन उसकी आंखों के सामने एक खुली बही के समान पड़ा है, इसके पन्ने-पन्ने पर 'श्रीकृष्ण' लिखा है। संन्यासी निर्विकल्प समाधि के सिंह-द्वार का अतिक्रमण कर सूर्यलोक में श्रीकृष्ण के संग क्रीड़ा कर रहे हैं। उसने यह भी देखा कि संन्यासी कई दिनों से अनाहार हैं तथा गत दो दिनों से उनके शरीर को भूख-प्यास से विशेष कष्ट हो रहा है। हरिमोहन ने कहा—"अरे कन्हैया ! यह क्या ? बाबाजी तुझसे इतना प्रेम करते हैं फिर भी ये भूख-प्यास की पीड़ा भोग रहे हैं। तुझे क्या जरा भी समझ नहीं ? इस निर्जन व्याघ्रसंकुल अरण्य में कौन आहार देगा इन्हें ?"

बालक ने कहा—"मैं दूंगा, किंतु एक और मजा देखो।"

हरिमोहन ने देखा कि बाघ ने उठकर अपने पंजे के एक आघात से निकटवर्ती वल्मीक को तोड़ दिया। फिर क्या था, छोटी-छोटी सैंकड़ों चीटियां बाहर निकल क्रोध से भर संन्यासी के बदन पर चढ़ काटने लगीं। संन्यासी ज्यों-के-त्यों बैठे रहे ध्यानमग्न, निश्चल, अटल। अब बालक ने संन्यासी के कान में अति मधुर स्वर से पुकारा—"सखे !" संन्यासी ने आंखें खोलीं। पहले तो उन्होंने इस मोह-ज्वालामय दंशन का अनुभव नहीं किया, अभीतक उनके कान में वही विश्ववांछित चित्तहारी

वंशीध्वनि बज रही थी—ठीक उसी तरह जिस तरह वृन्दावन में राधा के कानों में बजी थी। उसके बाद उन सैंकड़ों चीटियों के काटने से उनकी बुद्धि शरीर की ओर आकृष्ट हुई। संन्यासी अपने आसन से हिले नहीं—विस्मयपूर्वक मन-ही-मन कहने लगे—"यह क्या ? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ओहो ! यह तो श्रीकृष्ण मेरे संग क्रीड़ा कर रहे हैं, क्षुद्र चींटीसमूह के रूप में मुझे काट रहे हैं।" हरिमोहन ने देखा कि चींटियों के काटने की पीड़ा अब संन्यासी की बुद्धि तक नहीं पहुंचती, प्रत्येक दंशन में तीव्र शारीरिक आनंद अनुभव कर, 'श्रीकृष्ण' नाम लेते हुए आनन्दपूर्वक तालियां बजाते हुए नाचने लगे। चींटियां धरती पर गिर-गिर कर भाग गयीं। हरिमोहन ने आश्चर्य के साथ पूछा—"कन्हैया, यह कैसी माया ?"

बालक ताली बजा एक पैर के बल दो चक्कर काट ठठाकर हँस पड़ा। कहा—"मैं हूं जगत् का एकमात्र जादूगर ! इस माया को तुम नहीं समझ सकोगे, यह मेरा परम रहस्य है। देखा ? यंत्रणा में भी संन्यासी मेरा स्मरण कर सके न ! और देखो।"

संन्यासी प्रकृतिस्थ हो फिर बैठ गये; शरीर अब भूख-प्यास अनुभव करने लगा; किंतु हरिमोहन ने देखा के संन्यासी की बुद्धि उस शारीरिक विकार का अनुभव-मात्र करती है, न तो वह उससे विकृत ही हो रही है न लिप्त ही। तभी पहाड़ पर से किसी ने वंशीविनिन्दित स्वर से पुकारा : "सखे!" हरिमोहन चौंक पड़ा। यह तो श्यामसुन्दर का ही मधुर वंशीविनिन्दित स्वर था। उसके बाद देखा कि शिलाचय के पीछे से एक सुन्दर कृष्णवर्ण बालक थाली में उत्तम आहार और फल लिये आ रहा है। हरिमोहन हतबुद्धि हो श्रीकृष्ण की ओर देखने लगा। बालक उसके पास खड़ा है, फिर भी जो बालक आ रहा है वह भी अविकल श्रीकृष्ण का ही रूप है। दूसरा बालक वहां आया और संन्यासी को रोशनी दिखाकर बोला—"देख, क्या लाया हूं।"

संन्यासी ने हँसकर कहा—"आ गया ? इतने दिनों तक भूखा ही रखा न ? खैर, जब आया है तो बैठ, मेरे संग खा।"

संन्यासी और बालक उस थाली की खाद्य सामग्री खाने लगे, एक दूसरे को खिलाने लगे, आपस में छीना-झपटी करने लगे। आहार समाप्त होने पर बालक थाली ले अंधकार में विलीन हो गया।

हरिमोहन कुछ पूछने ही जा रहा था कि हठात् उसने देखा कि न वहां श्रीकृष्ण हैं न संन्यासी ! न बाघ और न पर्वत। वह अब एक भद्र गांव में वास कर रहा है। प्रचुर धन-दौलत है, स्त्री है, परिवार है, नित्य ब्राह्मणों को दान देता है, भिक्षुकों को दान देता है, त्रिकाल संध्या करता है, शास्त्रोक्त आचार-विचार की यत्नपूर्वक रक्षा करता हुआ रघुनंदन-प्रदर्शित पथपर चलता है। आदर्श पिता, आदर्श स्वामी और आदर्श पुत्र बनकर जीवन यापन करता है। परंतु दूसरे ही क्षण उसने भयभीत होकर देखा कि जो इस भद्र ग्राम में वास करते हैं उनमें लेश-मात्र भी सद्भाव या आनन्द नहीं, ये यंत्र की तरह बाह्य आचार-रक्षा को ही पुण्य समझते हैं। इस जीवन से हरिमोहन को आरंभ में

जितना आनन्द हुआ था, अब उसे उससे उतनी ही यंत्रणा होने लगी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानों उसे भयानक प्यास लगी है, किंतु जल नहीं मिल रहा, वह धूल फांक रहा है, धूल, केवल धूल, अनन्त धूल खा रहा है। वहां से भाग वह एक दूसरे गांव गया, वहां एक विराट् अट्टालिका के सामने अपार जनसमूह और उसके आशीर्वाद का कोलाहल मचा हुआ था। हरिमोहन ने कुछ आगे बढ़कर देखा कि तीनकौड़ी शील दालान में बैठे उस जनता में अशेष धन बाँट रहे हैं, कोई भी वहां से निराश नहीं लौट रहा। हरिमोहन ठठाकर हँस पड़ा, उसने सोचा—"यह कैसा स्वप्न! तीनकौड़ी शील और दाता!" उसके बाद उसने तीनकौड़ी के मन को देखा। उसे ज्ञात हुआ कि उस मन में लोभ, ईर्ष्या, काम, स्वार्थ आदि हजारों अतृप्तियाँ और कुप्रवृत्तियाँ 'देहि, देहि' चिल्ला रही हैं। तीनकौड़ी ने पुण्य के लिये, यश के लिये, गर्व के वश उन भावों को अतृप्त अवस्था में ही किसी तरह दबा रखा है, अपने चित्त से उन्हें भगा नहीं दिया है। इसी बीच हरिमोहन को पकड़ कोई जल्दी-जल्दी परलोक दिखा लाया। हरिमोहन हिन्दू का नरक, ईसाई का नरक, मुसलमान का नरक, यूनानी का नरक, हिन्दू का स्वर्ग, ईसाई का स्वर्ग, मुसलमान का स्वर्ग, यूनानी का स्वर्ग—न मालूम और कितने ही नरकों और कितने ही स्वर्गों को देख आया। उसके बाद उसने देखा कि वह अपने ही मकान में, अपनी परिचिता फटी चटाई पर मैले तोशक का अवलम्ब ले बैठा है, सामने ही श्यामसुन्दर खड़े हैं। बालक ने कहा—"रात अधिक हो गयी है, यदि मैं घर न लौटा तो घरवाले सभी मुझसे नाराज होंगे, मुझे पीटेंगे। संक्षेप में ही कहता हूं। जिन स्वर्गों और नरकों को तुमने देखा है, वे सब स्वप्न-जगत् के हैं, कल्पना-सृष्ट हैं। मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग-नरक जाता है, अपने गत जन्म के भाव को अन्यत्र भोगता है। तुम पूर्वजन्म में पुण्यवान् थे, किन्तु उस जन्म में प्रेम को तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं मिला। न तुमने ईश्वर से प्रेम किया न मनुष्य से। इसलिये प्राण त्याग करने के बाद स्वप्न-जगत् में उस भद्र पल्ली में निवास कर पूर्व जीवन के भावों का तुम भोग करने लगे, भोग करते-करते उस भाव से ऊब गये, तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे और वहां से निकल तुम धूलिमय नरक में वास करने लगे, अंत में जीवन के पुण्य फलों का भोग कर पुनः तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवन में छोटे-मोटे नैमित्तिक दानों को छोड़, नीरस बाह्य व्यवहार को छोड़, किसी के अभाव को दूर करने के लिये तुमने कुछ नहीं किया। इसीलिये इस जन्म में तुम्हें इतना अभाव है। और अभी जो तुम नीरस पुण्य करते हो उसका कारण यही है कि केवल स्वप्न-जगत् के भोग से पाप-पुण्य का संपूर्ण क्षय नहीं होता, इनका संपूर्ण क्षय तो पृथ्वी पर कर्मफल भोगने से ही होता है। तीनकौड़ी गत जन्म में दाता कर्ण थे, हजारों व्यक्तियों के आशीर्वाद से इस जन्म में लखपति हुए हैं, उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं। परंतु उनकी चित्तशुद्धि न होने के कारण उन्हें इस समय अपनी अतृप्त कुप्रवृत्तियों को पाप-कर्मों द्वारा तृप्त करना पड़ रहा है। कर्म का रहस्य कुछ समझ में आया? न तो यह पुरस्कार है न दंड—यह है

अमंगल द्वारा अमंगल की और मंगल द्वारा मंगल की सृष्टि। यह है प्रकृति का नियम। पाप अशुभ है, उसके द्वारा दुःख की सृष्टि होती है; पुण्य शुभ है, उसके द्वारा सुख की सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्त की शुद्धि के लिये, अशुभ के विनाश के लिये की गयी है। देखो हरिमोहन, पृथ्वी मेरी वैचित्र्यमयी सृष्टि का एक अति क्षुद्र अंश है, किंतु कर्म द्वारा अशुभ का नाश करने के लिये तुम लोग वहां जन्म ग्रहण करते हो। जब पाप-पुण्य के हाथों से परित्राण पा तुम लोग प्रेम-राज्य में पदार्पण करते हो तब इस कार्य से छुटकारा पा जाते हो। अगले जन्म में तुम भी छुटकारा पा जाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी शक्ति और उसकी सहचरी विद्या को तुम्हारे पास भेजूंगा, परंतु देखो, एक शर्त है, तुम मेरे खेल के साथी बनोगे, मुक्ति नहीं मांग सकोगे। राजी हो ?"

हरिमोहन ने कहा—"कन्हैया ! तूने मेरा बड़ा उपकार किया ! तुझे गोद में ले प्यार करने की बड़ी इच्छा होती है; मानों इस जीवन में अब कोई तृष्णा नहीं रह गयी।"

बालक ने हँसते हुए कहा—"हरिमोहन, कुछ समझा ?"

हरिमोहन ने उत्तर दिया—"समझा क्यों नहीं ?" इसके बाद उसने कुछ सोचकर कहा—"अरे कन्हैया, तूने फिर मुझे छला। अशुभ का सृजेन तूने क्यों किया इसकी तो कोई कैफियत दी ही नहीं।" इतना कह उसने बालक का हाथ पकड़ लिया। बालक ने अपना हाथ छुड़ा हरिमोहन को धमकाते हुए कहा—"दूर रहो, घंटे भर में ही मेरी सभी गुप्त बातें कहला लेना चाहते हो ?" इतना कह बालक ने हठात् दीपक बुझा दिया और हरिमोहन से कुछ दूर हटकर हँसते हुए कहा—"क्यों हरिमोहन, चाबुक मारना तो तुम एकदम भूल ही गये। इसी डर से तो मैं तुम्हारी गोद में नहीं बैठा, कहीं तुम बाह्य दुःख से क्रुद्ध हो मेरी खबर न लेने लगो ! मुझे तुम पर कतई विश्वास नहीं।"

हरिमोहन ने अंधकार में अपना हाथ बढ़ाया, किन्तु बालक और दूर हट गया, बोला—"नहीं, यह सुख मैं तुम्हारे अगले जन्म के लिये रख छोड़ता हूं। अच्छा अब चला।"

इतना कह उस अंधेरी रात में बालक न जाने कहां अदृश्य हो गया। हरिमोहन उसकी नूपुरध्वनि सुनते-सुनते जाग उठा। जगकर उसने सोचा, "यह कैसा स्वप्न देखा ! नरक देखा, स्वर्ग देखा, और भगवान् को 'तू' कहा, छोटा-सा बालक समझ कितना डाँटा, डपटा ! कैसा पाप किया। परंतु जो हो, मन में अपूर्व शांति का अनुभव कर रहा हूं।" हरिमोहन अब उस कृष्णवर्ण बालक की मोहिनी मूर्ति को याद करने लगा और रह-रह कर कह उठता—"कितनी सुन्दर, कितनी मनोहर !"

क्षमा का आदर्श

चांद धीर गति से मेघ के अंतराल में लुकता-छिपता, तिरता चला जा रहा था। नीचे, कलकल करती, समीर से सुर मिलाती, नाचती, बलखाती नदी बह रही थी। पृथ्वी का सौन्दर्य अपूर्व हो उठा था ज्योत्स्ना और अंधकार के मिलन से।

चारों ओर ऋषियों के आश्रम। एक-एक आश्रम नन्दन वन को लजा रहा था। पुष्पित तरु-लताओं से घिरी ऋषि-कुटी एक अनुपम श्री से शोभित थी।

एक दिन ऐसी ही ज्योत्स्ना-पुलकित रात्रि में ब्रह्मर्षि वशिष्ठदेव अपनी सहधर्मिणी अरुंधती से कह रहे थे—

"देवि, जाओ, ऋषि विश्वामित्र से थोड़ा नमक मांग लाओ।"

इस उक्ति से विस्मित हो अरुंधती देवी ने पूछा—"प्रभु, यह आपकी कैसी आज्ञा। मैं कुछ भी नहीं समझ पा रही। जिसने हमें शत पुत्रों से वंचित किया उसी . . . "

इतना कहते-कहते देवी बिलखने लगीं। सारी पूर्व स्मृतियां जाग उठीं। वह अपूर्व शांति का आलय, गंभीर हृदय व्यथित हो उठा। वे कहने लगीं—"मेरे शत पुत्र चांदनी रात में वेदगान करते हुए विचरते थे। मेरे सौ-के-सौ पुत्र वेदविद् एवं ब्रह्मनिष्ठ थे। मेरे ऐसे पुत्रों को उसने मार डाला और आप मुझे उसके यहां नमक मांग लाने के लिये भेज रहे हैं! मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी हूं।"

धीरे-धीरे ऋषि का श्रीमुख ज्योति से चमकने लगा और सागरोपम हृदय से एक वाक्य फूटा—"देवि, मैं उससे स्नेह जो करता हूं।"

यह सुन अरुंधती और भी विस्मित हुईं। बोलीं—"यदि आप उसे चाहते हैं तो उसे 'ब्रह्मर्षि' कहने से ही तो सारा बखेड़ा चुक गया होता और मुझे अपने सौ पुत्रों से वंचित न होना पड़ता।"

ऋषि के मुख पर एक अनोखी कांति विराज रही थी। बोले—"उससे स्नेह करता हूं तभी तो उसे 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहा। मैंने उसे 'ब्रह्मर्षि' संबोधित नहीं किया है इसीलिये उसके 'ब्रह्मर्षि' होने की आशा है।"

आज विश्वामित्र क्रोध से ज्ञानशून्य हैं। अब और उनका मन तपस्या में नहीं लग रहा। उन्होंने संकल्प किया है : आज यदि वशिष्ठ ने उन्हें 'ब्रह्मर्षि' नहीं कहा तो उनके प्राण लेकर ही छोड़ेंगे। संकल्प को कार्यान्वित करने के लिये हाथ में तलवार ले कुटी से बाहर हुए।

धीरे-धीरे वशिष्ठदेव की कुटी के पास आ वे ठिठक गये। खड़े-खड़े वशिष्ठदेव की सारी बातें सुनीं। मुष्टिबद्ध तलवार हाथ में शिथिल पड़ गयी। सोचने लगे : क्या किया! हाय, अनजाने मैंने कितना अन्याय किया! अनजाने मैंने किसके निर्विकार हृदय को व्यथा पहुंचाने की कुचेष्टा की?

हृदय में सौ-सौ बिच्छुओं के डंक की यंत्रणा अनुभव होने लगी। हृदय अनुताप से दग्ध होने लगा। दौड़े और जाकर गिर पड़े वशिष्ठ के पाद-प्रांत में। कुछ पल तो उनके मुंह से कोई शब्द ही नहीं निकला। फिर बोले, "क्षमा कीजिये! किन्तु मैं तो क्षमा मांगने योग्य भी नहीं।" घमण्डी हृदय और कुछ न बोल सका।

पर वशिष्ठदेव ने क्या किया?

उन्होंने दोनों हाथों से विश्वामित्र को उठाते हुए कहा—"उठो, ब्रह्मर्षि उठो!"

द्विगुणित लज्जा से लज्जित हो विश्वामित्र ने कहा—"प्रभु, क्यों लज्जित कर रहे हैं?"

वशिष्टदेव ने उत्तर दिया—"मैं कभी झूठ नहीं बोलता। आज तुम ब्रह्मर्षि हुए। आज तुमने अहंकार का त्याग किया। आज तुमने प्राप्त किया ब्रह्मर्षि पद।"

विश्वामित्र ने कहा—"आप मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिये।"

"अनन्तदेव के पास जाओ। वे ही तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देंगे," वशिष्ठदेव ने उत्तर दिया।

जहां अनन्तदेव पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण किये हुए हैं विश्वामित्र वहां गये।

अनन्तदेव ने कहा—"मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दे सकता हूं यदि तुम इस पृथ्वी को अपने सिर पर धारण कर सको।"

तपोबल के गर्व से चूर विश्वामित्र ने कहा—"आप पृथ्वी को अपने सिर से उतारिये, मैं उसे धारण करता हूं।"

शून्य में चक्कर काटते-काटते पृथ्वी गिरने लगी।

विश्वामित्र चिल्लाये—"अपने सारी तपस्या का फल अर्पण करता हूं। पृथ्वी, तू रुक जा।"

पृथ्वी फिर भी स्थिर न हुई।

ऊंची आवाज में अनन्तदेव ने पुकारा—"विश्वामित्र अबतक तुमने इतनी तपस्या नहीं की है जिसके बल पर पृथ्वी धारण कर सको। क्या कभी साधु-संग किया है? किया है तो उसका फल अर्पण करो।"

"कुछ पल वशिष्ठ का साथ था।"

"तब उसीका फल अर्पण करो।"

"अच्छा उसीका फल अर्पण करता हूं।"

और पृथ्वी धीरे-धीरे स्थिर होने लगी।

तब विश्वामित्र ने कहा—"अब मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिये।"

अनन्तदेव बोले—"मूर्ख विश्वामित्र, जिनकी मुहूर्त भर की संगति के फल से पृथ्वी स्थिर हो सकती है उन्हें छोड़ तुम मेरे पास आये हो ब्रह्मज्ञान पाने के लिये?"

विश्वामित्र तिलमिला उठे। सोचने लगे: "तब क्या वशिष्ठदेव ने मेरी प्रतारणा की?

अविलम्ब उनके पास जा पहुंचे और बोले—"आपने क्यों मेरी प्रतारणा की ?"

वशिष्ठदेव ने अति धीर गंभीर भाव से उत्तर दिया—"यदि उस समय मैंने तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी होती तो तुम विश्वास नहीं करते पर अब विश्वास करोगे।"

वशिष्ठदेव ने विश्वामित्र को ब्रह्मज्ञान दिया।

भारत में ऐसे थे ऋषि, ऐसे थे साधु और ऐसा था क्षमा का आदर्श। तपस्या का ऐसा प्रताप था कि सारी पृथ्वी का भार धारण किया जा सकता था। भारत में पुनः ऐसे ऋषियों का जन्म हो रहा है जिनके प्रभाव के सामने प्राचीन ऋषियों की ज्योति हतप्रभ हो जायेगी; जो पुनः भारत को अतीत के गौरव से अधिक गौरव प्रदान करेंगे।

कुछ अधूरे लेख

कुछ अधूरे लेख

भगवान् सन्मय, चिन्मय, आनन्दमय हैं, सच्चिदानन्द ही है सनातन सत्ता का सनातन सत्य; सच्चिदानन्द ही है जगत् का उत्स, जगत् का कारण, जगत् का प्रकृत स्वभाव, उसका गुह्य अर्थ . . .।

*

अखिल अध्यात्म सत्य की सूर्यकिरण-स्वरूप महीयसी श्रुति उपनिषद् ही है आदि परिपूर्ण प्रकृत वेदान्त। जो प्रसिद्ध दर्शन उसी नाम से जाने जाते हैं वे इसी महान् वेदान्त के मात्र एक पक्ष से सृष्ट हुए हैं, मानुषी बुद्धि द्वारा निर्मित हैं, बुद्धि के अंधकार में रत्नस्वरूप वेदान्तदर्शन दर्शन के रूप में एक बहुमूल्य कृति है, तथापि दर्शन ही आदि और असली वेदान्त नहीं है। जब सूर्योदय हो जाता है तो दीपक की आवश्यकता नहीं रह जाती, उपकारिता भी नहीं रह जाती।

*

माया प्रकृति शक्ति लीला

माया, माया है अनवरत बल। यह माया क्या है इसे एकबार इसके तल तक जाकर समझने की कोशिश करें क्या ? कथोपकथन के दास हैं हम, अध्यात्मवाद की बोली बोलनेवाले तोते, मनुष्य की स्वाधीन बुद्धि से सीखे शब्द के पीछे असली चीज क्या है, दार्शनिक वाद-विवाद के चक्कर में न पड़ असली अनुभूति क्या है एक बार उसकी तह में जाकर देखना अच्छा होगा।

तुम कहते हो जगत् माया है, और जो मायाप्रसूत है वह मिथ्या है, उसका सत्य वास्तविकता नहीं। जगत् जादूगर का इन्द्रजाल है, विकृत मस्तिष्क का दुःस्वप्न है।

*

मनुष्य के जन्म का अर्थ और उद्देश्य क्या है, उसकी चरम उन्नति कैसे हो सकती है, क्यों भगवान् इस तरह का संसार रचकर अनन्त काल से आनन्द भोग कर रहे हैं—ये प्रश्न उठते हैं। उत्तर है—जगत् है भगवान् का नानाविध आत्म-गोपन और आत्मप्रकाशन का क्षेत्र, यह आनन्द ही है जगत् का मूल कारण। यही आत्मविकास जगत् में धरती पर क्रमविकास का रूप धारण करता है, मनुष्य जीवन उसी

क्रमविकास का केन्द्र और यंत्र है, यही है मनुष्य के जन्म का अर्थ और उद्देश्य। आत्मवान् होना, भगवान् को पाना और अपने अंदर छिपे देवत्व को प्रकट करना ही है मनुष्य की चरमसिद्धि का पथ। और एक ही सूत्र में पिरोये ये तीनों, मनुष्य के मन-प्राण-शरीर में भगवान् की अभिव्यक्ति के तीन तथ्य हैं। जो मनुष्य आत्मवान् नहीं हुआ वह भगवान् को नहीं पाता, जिसने भगवान् को नहीं पाया उसके लिये अपने भीतर छिपे देवत्व को प्रकट करने की दुराकांक्षा आकाश-कुसुम खिलाने की कल्पना-मात्र है।

*

करतोया नदी

बंगाल के पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश में निविड़ वनों से आच्छादित दो पर्वत-मालाओं के मध्य उपत्यका में से होकर गुजरती है क्षिप्रगामिनी, कलकल-स्वर मुखरिता करतोया नदी। एक तरुण बाला की तरह चंचल, हिलती, डोलती, बलखाती, हंसती-खेलती दक्षिण-दिशा की ओर अग्रसर होती है। एक छलांग में शिला पर उठ बैठती है तो दूसरी छलांग में नीचे कूद जाती है, या कभी तटवर्ती वृक्ष के श्याम चरणों पर आघात कर भाग खड़ी होती है। इस तरह अनगिनत बाल-सुलभ क्रीड़ा-कौतुक कर अंततः मानों दूर से जननी की मधुर पुकार सुनती है। एकाएक उपत्यका से बाहर निकल मां-गंगा की पवित्र, स्नेहमयी गोद की ओर गाते-गाते दौड़ पड़ती है।

करतोया की उपत्यका को अनेक अर्थों में निकटस्थ समतल भूमि से अलग एक स्वंतत्र जगत् कहा जा सकता है। उच्च पर्वत-प्राचीरों में आबद्ध प्रकृति के निर्झर से संयुक्त* रमणीय क्रीड़ा-भूमि, पावन-पूत, स्वच्छ सलिल से सिक्त पूजा-गृह। विलम्ब से सूर्योदय, समय से पूर्व ही सूर्यास्त। अति दीर्घ प्रभात-वेला में जगत् का युगव्यापी आविर्भाव, अति दीर्घ गोधूलि-वेला में उस वृद्ध योगमग्न जगत् का युगव्यापी शान्त अवसान, प्रतिदिन की उपलब्धि हो जैसे। अहोरात्र वन के उच्छवास-मर्मर से पूरित निविड़ हरित पल्लवों के अन्तःस्थल में पवन की गंभीर, मरुत्-शांत-भावात्मक अविराम ब्रह्म-गाथा, अहोरात्र निम्न भूमि के छोटे-छोटे स्वच्छ पत्थरों के बीच निर्झरणी का मर्मव्यापी पर स्निग्ध, सुखदायी निनाद, अहोरात्र उपत्यका के बीच करतोया की मृदु तरंगों का अविराम हंसी-खेल। उपत्यका का जीवन है मुखर पर कोलाहल नहीं। उसने उस उत्तुंग अचल पर्वतमाला और निविड़ रहस्य-ध्यानमग्न वनराजी के गंभीर चंचल सलिल और मुखरित पवन को भी गहरी शांति से अभिभूत कर दिया है। इस स्थान की रमणीयता में जीवनमुक्त चरित्र का सुन्दर आदर्श प्रतिफलित है। बाहर संसार की चंचलता, हंसना-रोना, प्रेम, केलि, कलह, पुनर्मिलन व भीतर शुद्ध, गंभीर, ईश्वर-ध्यान, निरपेक्ष, प्राणी-मात्र की हित-कामना, चित्त-प्रसार, समता और अचल अद्वैत भाव।

---

* संदिग्ध पाठ।

ISBN 81-7058-555-4